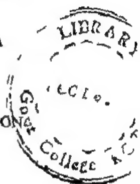
Parimal Sanskrit Series No 19

KĀVYAPRAKĀŚA

OF

MAMMAṬĀCĀRYA

WITH *ĀDARŚA* SANSKRIT
COMMENTARY OF
MAHESWARĀCĀRYA



WITH AN INTRODUCTION
IN HINDI

By
PT T C UPRAITI

Vol. 1.

1985

PARIMAL PUBLICATIONS

DELHI INDIA

Published by ·
Parimal Publications
27/28 Shakti Nagar
DELHI-110007
INDIA

Edition 1985

(The text portion with commentary has been taken from the edition, published under Calcutta Sanskrit Series 1936)

Price Rs 250 00 (Two Vols)



Printed at Laxmi Composing Agency Babarpur main Road Delhi & Kwality offset Printing Press, Indira Market Naraina, New Delhi-110028.

परिमल संस्कृत ग्रन्थमाला सख्या-१६

श्रीमम्मटाचार्यप्रणीतः

काव्यप्रकाशः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यकृत
'आदर्शाख्यसंस्कृतव्याख्यया'
समुद्भासित



भूमिकालेखक
पं० थानेशचन्द्र उप्रेती, साहित्याचार्य

प्रथमो भाग

१९८५
परिमल पब्लिकेशन्स
दिल्ली भारत

प्र . .
परिमल पब्लिकेशन्स
२७/२८ शक्ति नगर
दिल्ली-११०००७
(भारत)

संस्करण १९८५

मूल्य . २५०.०० (२ भाग)
(ग्रन्थ का मूल भाग एवं संस्कृत व्याख्या कलकत्ता संस्कृत सीरिज के अन्तर्गत पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ से साभार गृहीत है)

मुद्रक . भूमिकाभाग—लक्ष्मी कम्पोजिंग एजेन्सी बाबरपुर मेन रोड दिल्ली तथा मूलग्रन्थ—क्वालिटी आफसेट प्रिंटिंग प्रेस, इन्दिरा मार्केट, नरायणा नई दिल्ली ११००२८

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

काव्यप्रकाश:

यस्याः कृपाकटाक्षेण स्पन्दते निखिलं जगत् ।
तां वन्दे मातरं वाचां, रमणीयार्थभूषिताम् ॥१॥
वाग्देवतावतारस्य मम्मटस्य कृताविह ।
भूमिकाकल्पनाऽल्पस्य जल्पनेव विभाति मे ॥२॥
प्रयास सहसा योऽयमल्पज्ञस्य ममोऽपि यत् ।
सेवाऽधिकार एवाय मन्यतां धीधनैरिह ॥३॥

संस्कृत वाङ्मय भारत का ही नहीं, अपितु यह विश्व की एक अमूल्य निधि है। इस वाङ्मय के अनन्त रत्नों की आभा से कभी यह निखिल भूमण्डल प्रकाशित था, जिनकी मन्द मन्द कुछ धूमिल किरणें आज भी सुदूर देश देशान्तर को आलोकित कर रही हैं। भारत ही प्राधान्येन इस अमृत कल्प-वाङ्मय की उत्स भूमि रही है, क्योंकि इसी के अरुण प्रकाश से प्रकाशित प्राञ्जल प्राङ्गण में महर्षियों ने सर्वप्रथम सामगान किया था। शनैः शनैः इसके स्वर महाकाश के मध्य गूंजते हुए, यत्र तत्र सर्वत्र ही दिव्य सन्देश देते रहे।

परमपिता परमेश्वर के विश्वासस्वरूप वेद इसी वाङ्मय की दिव्य विभूति हैं, जहाँ से निरन्तर निगमागम की अजस्र धारा प्रवाहित हो रही है। वेद ही आर्य जाति के अमर काव्य हैं। जिनके विषय में कहा है—"पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति" संस्कृत वाङ्मय सम्बन्धी आगम निगमादि शास्त्र-प्रस्थान व सिद्धान्तों की जितनी भी शाखा प्रशाखायें हैं, वे सभी इसी वेद कल्पतरु के ही विवर्त हैं।

मनुष्य जीवन में समृद्धि-सुख-शान्ति व समुन्नत करने की जितनी भी विद्यायें हैं, वे सब वेदों में वर्णित हैं। धर्म-अर्थ-काम व मोक्ष चारों पुरुषार्थों का सम्पादन कराने वाले सुन्दर साधनों का यहाँ मनोरम वर्णन है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवनोपयोगी किसी भी विद्या या कला का कोई अंश ऐसा नहीं है, जिसका यहाँ वर्णन न किया हो। पुरुषार्थ चतुष्टय सम्बन्धी जिन उपायों का वेद में वर्णन पाया जाता है, वे शास्त्र सरणि में

परिष्कृत किये हुए प्रस्थान अतिगहन सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऊहापोह से परिपूर्ण, व तर्ककर्कश होने से अत्यन्त दुरूह हो गये हैं, इस कठिन मार्ग से लौकिक पुरुषार्थ त्रिवर्ग—धर्म-अर्थ-काम, तक प्राप्त करना ही जहां कठिन है, वहां परम पुरुषार्थ मोक्ष तक को पहुँचने की तो फिर चर्चा ही क्या ?

सुकुमारमति भी अनायास ही चारों पुरुषार्थों को जिससे प्राप्त कर सकें, ऐसे वाङ्मय के इस ललित अंश का नाम साहित्य शास्त्र, या काव्यमार्ग है। पुरुषार्थ चतुष्टय के सरलतया सम्पादन में यही काव्यमार्ग अत्यन्त उपादेय प्रतीत होता है। अन्य शास्त्रीय उपाय इसकी अपेक्षा कठिन, श्रमसाध्य व दुरूह होने के कारण सुकुमार मतिवालों के अनुष्ठान के योग्य नहीं है, अत एव काव्य की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथ कविराज का यह कथन भी युक्तियुक्त ही है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥

"मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की तरह आचरण करना चाहिए, न कि लङ्काधिपति रावण की तरह" इस तरह कृत्य में प्रवृत्ति तथा अकृत्य से निवृत्ति कराने के लिए काव्य के कान्तासम्मित उपदेश सर्वत्र प्रसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार चतुर्वर्ग फल की प्राप्ति के विषय में भी यही कहा जा सकता है कि परिनिष्ठित प्रौढ बुद्धि वाले भले ही बडे अध्यवसायपूर्वक वेदादिशास्त्रों से उक्त फल को कथञ्चित् प्राप्त कर लें, पर सरल तथा सुकुमार मति वालों के लिए तो यह कार्य अत्यन्त ही दुष्कर है। फिर जब एक सरल मार्ग का निर्माण उक्त गन्तव्य स्थान की प्राप्ति के लिए हो चुका है, तो कौन ऐसा बुद्धिमान होगा जो दुष्कर-गहन व कठिन मार्ग की शरण लेगा। कडवी औषधि के द्वारा शमनीय रोग यदि मीठी औषधि से भी शान्त हो जाता है, तो कहना न होगा कि रोगियों की प्रवृत्ति मीठी औषधि के लिए ही होगी।

इसीलिए अग्नि पुराण ने भी ऊँचे स्वर से काव्य की उपादेयता का उद्‌घोष किया है—

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

सर्वप्रथम इस संसार में प्रकृष्टसत्वसमनस्यूत मानव जीवन ही मिलना मुश्किल है, जन्मजन्मान्तरों के परिणत पवित्र संस्कारों के परिपाकजन्य पुण्यसञ्चय के द्वारा ही प्राणी मानव जीवन को प्राप्त करता है, उसमें भी

मानवता की स्थापिका विद्या (शास्त्रज्ञान) को प्राप्त करना और भी कठिन है। अध्ययन भी एक प्रकार का तप माना जाता है, अनेक प्रकार के संयम नियमों का पालन कर कठिन परिश्रम से शास्त्रों का चिन्तन करते हुए विद्यार्थी विद्याधिष्ठात्री देवी सरस्वती की उपासना करता है, तब किसी प्रकार विद्वान् बनता है।

अत विद्या भी सर्व साधारण सुलभ नहीं है, इसलिए इसे दुर्लभ कहा है। किसी प्रकार विद्या प्राप्त भी हो जाय तो कवि बनना तो और भी कठिन है, साधारण वृत्त पाद तुक आदि का नियमानुसार पद्यबन्धन कार्य हो जब मुश्किल है, तो फिर कवित्वशक्ति (प्रतिभा) के विषय में तो कहना ही क्या, अर्थात्—कवित्वशक्ति तो पूर्वजन्म के असाधारण परिपक्व सुसंस्कारों के परिणामरूप कोई विचित्र ही प्रसाद है, जो जनसामान्य के लिए सुलभ नहीं है।

इस प्रसङ्ग में ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति सर्वथा युक्तियुक्त मालूम पड़ती है कि प्रतिभाशक्ति सम्पन्न महाकवि तो अङ्गुलिगणनीय दो तीन ज्यादा से ज्यादा पाँच छं ही होंगे। "येनास्मिन् विचित्र कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास प्रभृतयो द्वित्रा पञ्चषा वा महाकवयो इति गण्यते।"

कवि अपने लोकोत्तर प्रतिभा के द्वारा नीरस, प्रस्तरप्राय इस जगत् के पदार्थों को सरस तथा सजीव बना देता है किञ्च अपनी अलौकिक कविता द्वारा ही प्रपञ्चाभिमुख मानव के भोगापवर्ग के निमित्त प्रवृत्ति निवृत्तिस्वरूप उभयविध मार्गों को प्रशस्त कर, परमपुरुषार्थ के उस महनीयप्रसाद के प्राङ्गणाभिमुख बना देता है। इसी हित को लक्ष्य करके मनीषियों ने काव्यमार्ग को साहित्य कहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति से भी यही अर्थ प्रतीत होता है—यथा—"हितेन निरतिशय प्रेमास्पदेन रसेन सहित इति। अथवा हित-विहित आवृत सन्निहित (सत्य) यस्य तत्सहित तस्य भाव साहित्यम् उक्तञ्चापि हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य पिहित मुखम।" इत्यादि।

यह साहित्य सदुपदेश का विधायक या शासक होने के कारण शास्त्र भी है, अत यह भी काव्यशास्त्र या साहित्यशास्त्र के नाम से पुकारा जाता है। उपमेय—(प्राप्तव्य परमपुरुषार्थ) की प्राप्ति का मनोरम साधन होने के कारण ही संगीत व साहित्य को वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती के दो स्तनों की तरह माना है, जिनसे अमृतवाङ्मधु निस्पन्दन होता रहता है, जिसका पान कर मनुष्य अमर हो जाता है—

संगीतमथ साहित्य सरस्वत्या स्तनद्वयम।
एकमापातमधुरमन्यदालोचनामृतम ॥१॥

सगीत जहाँ आपातत श्रवणमात्र से रमणीय है, वहाँ साहित्य-आलोचना से चर्चित होकर आस्वादातिरेक समर्पण करता है ।

सच भी यही है कि किसी साहित्य की सुन्दर कसौटी आलोचना ही है, बिना आलोचना के काव्य के न तो गुण का परिचय मिल सकता है, और न उसके दोषो का ही ठीक-ठीक पता चलता है। गुण दोषो के बिना जाने काव्य के वास्तविक आनन्द का आस्वादन नही हो सकता है। इसलिए काव्य के वैशिष्ट्य को समझने के लिए आलोचना की महती आवश्यकता है। आलोचक ही काव्य के मर्म को समझने मे सफल होता है, कभी-कभी तो आलोचक कुछ ऐसे भावो को समझाता है, जो कवि की दृष्टि से भी ओझल रहते हैं ।

इस प्रकार "आलोचना" भी सस्कृत साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है, आलोचक का पद भी कवि से कथमपि न्यून नही है। न सस्कृत साहित्य मे इसकी उपेक्षा ही है, आलोचक की अपेक्षा रखते हुए सस्कृत साहित्य के मान्य आचार्य राजशेखर ने तो आलोचनाशास्त्र को वेद का सप्तम अङ्ग माना है।

"उपकारकत्वादलङ्कार सप्तममङ्गम् इति यायावरीय." ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगति । यथा—

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।।
> तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।१।।

राजशेखर की सम्मति मे बिना अलकार शास्त्र के जाने वेद के अर्थ का ज्ञान अच्छी तरह हो ही नही सकता। इस प्रकार यह शास्त्र वेदाङ्ग के समान ही उपयोगी तथा उसी के समकक्ष माना जाता है।

उक्त "द्वा सुपर्णा सयुजा" इत्यादि मन्त्र मे ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीन अनादि अनन्त मौलिक तत्त्वो का वर्णन है। यहाँ इन तीन तत्त्वो का निरूपण अपने नामों से न कहकर "रूपकातिशयोक्ति" द्वारा दो पक्षियो और एक वृक्ष के रूप मे प्रदर्शित किया गया है। प्रकृति एक विशाल पिप्पल वृक्ष के रूप मे है। ईश्वर और जीव दोनो सुन्दर पखो वाले और साथ-साथ रहने वाले मित्र रूप पक्षी हैं। वे दोनो पक्षी समानवृक्ष अर्थात् प्रकृति पर स्थित हैं। उन दोनों मे से एक-जीव—उस वृक्ष के फलो को खाता है। अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार ससार मे सुखदु खरूप फलो का भोग करता है, और दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलो का भोग न करता हुआ, ससार मे चारो ओर अपने सौन्दर्य को प्रकाशित करता है। यही इस मन्त्र का भावार्थ है।

वैदिक ऋषियो की रूपकातिशयोक्ति की यह कल्पना अत्यन्त रमणीय है। इसके साथ "सुपर्णा सयुजा, सखाया, समान, परिषस्वजाते", के सुन्दर अनुप्रास

ने तो सोने मे सुगन्ध का काम किया है। "अनश्नन्नन्य अभिचाकशीति" मे नकारका अनुप्रास माधुर्य की अभिव्यञ्जना कर रहा है, "फलका भोग न करते हुए भी अपने तेज (सौन्दर्य) को प्रकाशित कर रहा है, यह विभावना अलकार का सुन्दर उदाहरण है, न केवल अलकार ही उक्त मन्त्र को अलकृत कर रहा है, अपितु सयुजा, सखाया ये विशेषण पददोत्य ध्वनि के भी अभिव्यञ्जक हैं। इन पदो से जीवात्मा तथा परमात्मा की निरतरता एव सच्चिदरूपता की भी अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मन्त्रो मे साहित्यशास्त्र के अनेक मौलिक तत्त्वो का सुन्दर समावेश हुआ है।

इसीलिए वेद से लेकर व्यवहार तक साहित्यशास्त्र या अलकार शास्त्र भी उतना ही उपयोगी है, जितने अन्य शास्त्र। अत राजशेखर की यह उक्ति भी अनुचित नही है कि—काव्य सभी विद्याओ का विश्राम धाम है कवि कल्पना प्रसूत होते हुए भी हितोपदेशक होने से वह शास्त्र है।

"सकल विद्यास्थानैकायतन पञ्चदश काव्य विद्यास्थानम्" इति, यायावरीय। गद्यपद्यमयत्वात कविधर्मत्वात हितोपदेशकत्वाच्च, तद्धि शास्त्राण्यनुधावति।"

अलङ्कार इस नाम का निदान—

आलोचना के लिए सस्कृत साहित्य मे अनेक नामो का प्रचलन प्राचीन काल से होता आया है। इनका प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' प्रतीत होता है, वात्स्यायन ने चौंसठ कलाओ के भीतर क्रियाकल्प को भी एक विशिष्ट कला माना है। क्रिया का अर्थ है काव्यग्रन्थ और कल्प का अर्थ है विधान।

इस प्रकार काव्य के विधायकशास्त्र होने मे इसका यह नाम सार्थक ही है। पर यह नाम आगे प्रसिद्धि नही पा सका।

इसी प्रकार दशम शती के प्रारभ मे राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमासा" मे इसका नाम साहित्य विद्या रखा।

'पञ्चमी साहित्य विद्या" इति यायावरीय, सा हि चतसृणामपि विद्याना निष्यन्द" इति।

इसको चारो वेदो का सारभूत माना है। परन्तु 'साहित्यविद्या विद्या' यह नाम भी आगे प्रचलित न हो सका।

काव्य के सौन्दर्य का परीक्षण करने वाले इस आलोचनाशास्त्र का सस्कृत साहित्य मे सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम अलङ्कारशास्त्र" है, और इस आलोचना या काव्य की सौन्दर्य समीक्षा के अभिज्ञ को "आलङ्कारिक" कहा जाता है। यद्यपि यह शास्त्र केवल अलङ्कार पर ही विचार न करके, काव्य की सभी

विद्याओं, गुण-दोष-रस-रीति व ध्वनि आदि पर प्रकाश डालता है, अलङ्कार तो काव्य के अनेक शोभाधायक तत्वों में से अन्यतम है, वह भी स्वरूपाधायक न होकर, केवल उत्कर्षाधायक ही माना है, "काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते" दण्डी के ये वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं। पर यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में हुआ है। "अलङ्क्रियते अनेन इति अलङ्कार" इस सकीर्ण अर्थ में नहीं हुआ है। अर्थात् काव्य केवल उत्कर्षाधायक तत्वों के लिए न होकर "अलङ्क्रियते इति" या "अलङ्कृतिरलङ्कार" इस व्यापक अर्थ में यहाँ अलङ्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् काव्य के यावत् सौन्दर्याधायक तत्व। अलङ्कार को इस व्यापक अर्थ में लेने का श्रेय आचार्य वामन को है। उनकी दृष्टि में अलकार शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषण मात्र नही है, प्रत्युत काव्य का मूल तत्व है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र है—"सौन्दर्यमलङ्कार ॥२॥" अर्थात् सौन्दर्य ही अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने भी तत्व हैं, उन सबका सामान्य अभिधान "अलङ्कार" है। फलतः "अलङ्कारशास्त्र" का अर्थ है, काव्य के सौन्दर्याधायक तत्वों का प्रतिपादक शास्त्र, इसी व्यापक रूप में इसका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। अलकार शब्द के सौन्दर्यपरक अर्थ पर टिप्पणी करते हुए काव्यालङ्कार सूत्रों के व्याख्याकार श्री गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने भी पूर्वोक्त पक्ष की ही पुष्टि की है। "यद्यपि काव्य ग्राह्य सौन्दर्यात्, तद्दोषगुणालङ्कारहानोपादानाभ्याम इति विन्यासान्तरे लाघव भवति तथापि योऽयमलङ्कार काव्यग्रहणहेतुत्वेनोपन्यस्यते तद्व्युत्पादकत्वाच्छास्त्रमप्यलङ्कारनाम्ना व्यपदिश्यते, इति शास्त्रस्यालङ्कारत्वेन प्रसिद्धि प्रतिष्ठिता स्यादिति सूत्रविन्यास कृत —काव्यग्राह्यम् अलङ्कारादिति ॥२॥

अथवा—"प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस न्याय के अनुसार रस-रीति-दोष-गुणों का प्रतिपादक होने पर भी यमक उपमादि अलङ्कारों की प्रचुरता के कारण इन्हीं से काव्य का व्यवहार होने लगा, अर्थात् अलङ्कारों की प्रधानता के कारण उस समय अलङ्कार ही काव्य व्यवहार के प्रयोजक हो गये, "काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्" इस ध्वनिकार की उक्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है कि अलङ्कारों में ही काव्य व्यवहार की प्रयोजकता है।

साहित्यशास्त्र के प्रारम्भिक युग में अलङ्कार ही काव्य का सर्वस्व माना जाता था, यद्यपि ध्वन्यमान अर्थ, रस, रीति आदि भी काव्य के जीवनाधायक तत्व विद्यमान थे, परन्तु आनन्दवर्धनाचार्य के पहले उन तत्वों की स्पष्ट व्याख्या नहीं थी, अत भट्टोद्भट्ट, रुद्रट, दण्डी आदि प्राचीन आलङ्कारिक ध्वन्यमान अर्थ को भी वाच्य का उपस्कारक मानकर, काव्य में अलङ्कारों की

ही प्रधानता मानते थे, और अलङ्कार तत्त्व को ही काव्य व्यवहार का प्रयोजक मानते थे। जब अलङ्कार ही एकमात्र काव्य का आश्रय है तो उसके विवेचक या प्रतिपादकशास्त्र का नाम भी "अलङ्कारशास्त्र" होना स्वाभाविक है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में करीब नवम शतक के मध्य भाग का काल स्वर्णाक्षरों से उल्लेखनीय है। साहित्य की इस शुभ वेला में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। काव्य की गहरी मीमांसा करने पर ध्वनि तत्त्व का आविर्भाव हुआ, इसका श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है। ये ही ध्वनि मार्ग के प्रवर्तक हैं। इन्होंने ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा करके काव्य क्षेत्र में एक नई धारा बहाई, जो ध्वनि सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है, और इसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक" में किया, इसी ग्रन्थ में इन्होंने बड़े सरम्भ के साथ प्रतीयमान अर्थ की काव्य में पृथक् सत्ता सिद्ध की।

आनन्दवर्धन का महत्त्व इसी में है कि उन्होंने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा काव्य में प्रतीयमान तत्त्व को काव्याङ्गों से पृथक् स्वतन्त्र कर दिया। यहीं से काव्याङ्गों का उचित मूल्याङ्कन हुआ, विशेषत इस अलङ्कार व गुणों को उनके उचित स्थान पर प्रतिष्ठित किया अब काव्य में अलङ्कार व अलङ्कार्य के विषय में भी विशेष विवेचन होने लगा। फलत अलङ्कार्य को काव्यसाम्राज्य के उच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर अलङ्कारों को उसका उत्कर्षाधायक अङ्ग माना गया।

आलोचक धीरे-धीरे काव्य के इस महत्त्वपूर्ण तत्त्व से परिचित होने लगे। ध्वनि को काव्य की आत्मा के रूप में उद्घोषणा हो गई।

तदनन्तर ध्वनि के व्याख्याता आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी प्रौढ़ व्याख्या द्वारा ध्वनि प्रासाद की चहारदीवारी को मजबूत किया, मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" में सदा के लिए इस सिद्धान्त की पूर्णरूप से स्थापना की, इसी से इनको ध्वनि प्रस्थापक परमाचार्य की पदवी मिली।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम आचार्य पण्डितराज जगन्नाथ हैं, जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक प्रौढ़ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलङ्कारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है।

"ध्वनिकृतामालङ्कारिक सरणि व्यवस्थापकत्वात ।"

इस प्रकार उत्तरोत्तर साहित्य क्षेत्र में गहरी छान बीन होने लगी। रस, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि अनेक काव्य तत्त्वों का उदय होने लगा। ध्वनि

वक्रोक्ति आदि के विषय मे एक तरफ से विरोध भी चलता रहा, पर रस काव्य की आत्मा है, इसके विषय मे किसी को विप्रतिपत्ति नही थी। अष्टम उल्लास मे मम्मट ने भी 'ये रसस्याङ्गिनो धर्मा' कहकर गुण और अलङ्कारो को साक्षात् और परम्परया रस के उत्कर्षक माना, और रस को काव्य की आत्मा माना। इस प्रकार तात्त्विक दृष्टि मे तो इस शास्त्र का नाम रसशास्त्र या ध्वनिशास्त्र होना चाहिए था, परन्तु पूर्व प्रचार या प्रसिद्धि के कारण अथवा काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे अलङ्कारो को प्रचुर परिमाण या व्याख्यान को देखते हुए 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से इस शास्त्र का नाम 'अलङ्कारशास्त्र' पड़ा।

अर्थात् साहित्यशास्त्र के आद्ययुग मे अलङ्कारो की ही महिमा व्याप्त थी। इसका "अलङ्कारशास्त्र" इस नामकरण का यही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट

संस्कृत साहित्यशास्त्र की समाराधना मे जिन यशस्वी मनीषियो ने अपना जीवन समर्पण किया है, उनमे आचार्य मम्मट का नाम भी उल्लेखनीय है। भरत से लेकर भोजराज तक लगभग एक हजार वर्ष के बीच मे काव्यशास्त्र पर जितना चिन्तन मनन व ऊहापोहपूर्ण समालोचन हुआ था, उन सभी साहित्य बिम्बो का सक्षेप मे प्रतिबिम्ब हमे आचार्य मम्मट की कृति काव्यप्रकाश मे स्पष्ट रूप मे मिल जाता है। इतने लम्बे अरसे म साहित्य-समालोचना के क्षेत्र मे विभिन्न दृष्टिकोणो से जितना मन्थन हुआ था, उसका साररूप नवनीत काव्यप्रकाश है। मम्मट का कार्य उन मधुमक्खियो की तरह है, जो निरन्तर अनेक उद्यानों के पुष्पो से परिश्रमपूर्वक मधुचयन कर, पुन उस मधु को अपने छत्ते मे सजाकर रख देती है। मम्मट ने विभिन्न आचार्यो की काव्यवाटिकाओ के पुष्पो मे—शब्द-अर्थ-दोष-गुणालङ्कारो का परिशीलन कर—"तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ कृती पुन क्वापि" तत्तत् पुष्पो मे बिखरे हुए इन मधुबिन्दुओ को कलात्मक ढग से दस उल्लासो मे सभाला है, तथा सुरक्षित रखा।

इधर नवम शताब्दी के मध्य भाग मे ध्वनि सिद्धान्त की काव्य क्षेत्र मे पूर्ण प्रतिष्ठा हो चुकी थी, काव्यालोचन मे अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का यथावत् विभाग कर दिया गया, गुण व अलङ्कारो का भी परस्पर विवेकपूर्ण विभाग हो चुका था, गुण काव्यात्मा रस के नित्य धर्म तथा आभ्यन्तर और अलङ्कार रस के अनित्यधर्म व बाह्य शोभाधायक तत्व माने गये। ये दोनो ही साक्षात् और परम्परया काव्यात्मा के उपस्कारक माने गये।

ध्वनि सिद्धान्त की इस प्रकार व्यापक व्यवस्था होने पर भी, कुछ कश्मीर के मान्य आलङ्कारिको को यह सिद्धान्त सर्वतोभावेन मान्य नहीं

हुआ, इस आन्दोलन के सर्वप्रथम नेता वक्रोक्तिसम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य कुन्तक थे। इन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा व प्रखर मेधा के द्वारा काव्य के मूल सिद्धान्तों का सर्वथा नवीनरूप में पुनराख्यान किया, और ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक आनन्दवर्धन की सार्वभौम प्रतिष्ठा को ललकारा—

'निर्मूलत्वादेव तयोर्भावाभावयोरिव न कथंचिदपि साम्योपपत्तिरित्यलमनुचितविषयचर्वणाचातुर्यचापल्येन।'

अर्थात्—भाव और अभाव के समान उन दोनों 'शिलौ हस्तावलग्न' इत्यादि पद्य में (रामी तथा तरागिन के सादृश्य) के निर्मूल होने से उन दोनों के साम्य का किसी प्रकार भी उपपादन नहीं हो सकता। इसलिए अनुचित विषय के समर्थन में चातुर्य दिखलाने का (ध्वन्यालोककार) का प्रयत्न व्यर्थ है। इसी महत्त्वपूर्ण मौलिक विवेचन के कारण कुन्तक का वक्रोक्ति सिद्धान्त केवल सिद्धान्त न रहकर सम्प्रदाय बन गया। पर ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे इस पर विशेष ध्यान न देकर केवल 'वक्रोक्तेरलङ्कारत्वात्' यह कह ही सन्तोष कर लिया। इसके बाद ग्यारहवी शती के मध्य में कश्मीर निवासी आचार्य महिमभट्ट के द्वारा ध्वनि का प्रबल विरोध हुआ। महिमभट्ट मूलतः नैयायिक थे, इन्होंने 'व्यक्तिविवेक' नामक अपने प्रौढ ग्रन्थ में ध्वनि तथा व्यञ्जनावृत्ति का बड़े जोरदार शब्दों में खण्डन किया। इनका कहना था कि ध्वनि नामक कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार है। इसी की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। मङ्गलाचरण में ही वे ग्रन्थ निर्माण का उद्देश्य बतलाते हुए लिखते हैं कि—

> अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियों का अनुमान में ही अन्तर्भाव दिखलाने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामक ग्रन्थ) की रचना करते हैं।

इन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि लक्षण का प्रतिपद खण्डन कर यह दिखलाने की चेष्टा की है कि यह ध्वनि का लक्षण तो बन ही नहीं सकता है, अपितु विचारपूर्वक देखा जाय तो यह अनुमान में ही सङ्गत होता है—'एतच्च विविच्यमानमनुमानस्यैव सङ्गच्छते नान्यस्य' (व्यक्तिविवेक)। इस प्रकार ध्वनि के सभी प्रकारों का प्रौढ तर्कों द्वारा खण्डन कर, तृतीय विमर्श में 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि सिद्धान्त की कठोर समीक्षा करता हुआ, लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर, उन्हें अनुमान में ही गतार्थ कर दिया।

सचमुच अपनी प्रौढ प्रतिभा से महिमभट्ट ने एक बार तो ध्वनि सिद्धान्त को सदा के लिए मिटा देना चाहा, और ध्वनि सिद्धान्त के स्थान मे अनुमिति-वाद को सुप्रतिष्ठित कर देना था।

ध्वनि की प्रतिष्ठा की स्थापना का यह सारा भार मम्मट जैसे महिमाशाली आचार्य पर था, मम्मट ने अनुमितिवादी तथा अन्य ध्वनि-विरोधियो का जब एक बार मुँहतोड उत्तर दे दिया, तो फिर ध्वनि के विषय मे आगे किसी को विरोध करने का साहस नही हुआ। आचार्य मम्मट के कडे हाथो से ध्वनि सम्प्रदाय की सुप्रतिष्ठा हुई। इसलिए इन्हें ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य की उपाधि से विभूषित किया गया।

मम्मट की कृति -

अलङ्कारशास्त्र के क्षेत्र मे "काव्यप्रकाश" मम्मट की सर्वोत्कृष्ट कृति मानी जाती है, जिसमे समग्र काव्य तत्त्वो का समावेश किया गया है। शुद्ध ध्वनि के विषय मे इनका एक अन्य ग्रन्थ भी मिलता है। जिसका नाम "शब्दव्यापारविचार" है। इस ग्रन्थ का विषय प्राय काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास मे गतार्थ हो जाता है।

भामह का "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" वाला काव्यलक्षण काव्यप्रकाश मे अधिक विशद, परिष्कृत तथा प्राञ्जल मालूम पडता है। भामह व दण्डी ने न शब्दशक्तियो का विवेचन किया है, और न रस व ध्वनि का ही प्रतिपादन किया, इसलिए वे आज अलङ्कारशास्त्र की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकते, और विषय प्रतिपादन की दृष्टि से अपूर्ण है, मम्मट ने भामह व दण्डी की इस कमी को समझा, और अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यप्रकाश मे इन सब विषयो का समावेश किया।

यह ग्रन्थ तीन अशो मे विभक्त है कारिका, वृत्ति, तथा उदाहरण, कारिका व वृत्ति के कर्ता एक ही हैं, कारिकायें स्वय मम्मट विरचित हैं, और वृत्तिमात्र भी जिसमे कारिका या सूत्रो की व्याख्या, विषय के विशद विवेचन के लिए है। उदाहरण स्वय मम्मट के नही है, वे अन्य काव्यग्रन्थों से लिए गये हैं। कहीं-कही भरत के सूत्रो का भी समावेश किया गया है, "यथा—विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति इति" पर जहाँ भी भरत के नाट्यशास्त्र से सूत्र लिये गये हैं, वहाँ "उक्त हि भरतेन" कहकर उनका निर्देश भी किया गया है।

कारिका तथा वृत्तिविषयक विवाद—

काव्यप्रकाश के कारिका तथा वृत्ति के विषय मे बहुत से विद्वानो का मत एक नही है। कुछ लोग कारिका तथा वृत्ति दोनो के निर्माता पृथक्-पृथक्

मानते हैं। ये लोग कारिका भाग के निर्माता भरत को मानते हैं, और वृत्ति-भाग मम्मट द्वारा विरचित मानते हैं।

यह मत वङ्गदेशीय विद्वानों का है, जिनमें साहित्यकौमुदी के टीकाकार श्री विद्याभूषण व काव्यप्रकाश के आदर्श टीकाकार श्री महेश्वर हैं। विद्याभूषण ने अपनी साहित्य कौमुदी में दो बार इस बात का उल्लेख किया है—

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मिता साहित्यकौमुदीम्।
वृत्तिं भरतसूत्राणां श्रीविद्याभूषणो व्यधात्॥

इसमें विद्याभूषण ने "काव्यप्रकाश" के सूत्रों को भरत सूत्र कहा है। दूसरी जगह उन्होंने फिर लिखा है—

"सूत्राणां भरतमुनीशवर्णितानां वृत्तीनां मितवपुषा कृतौ ममास्याम्।"

इसी प्रकार काव्यप्रकाश के आदर्श व्याख्या के निर्माता महेश्वर भट्टाचार्य ने भी वृत्तिभाग को ही मम्मट की कृति माना है। कारिका भरतनिर्मित मानी है। उन्होंने "ग्रन्थकृत् परामृशति" इत्यादि उद्धरण देते हुए अपनी आदर्श टीका में लिखा है—'ग्रन्थकृच्चात्र कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीय संहितामायासो कारिकाणां दर्शनात्। न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत्, परामृशती-त्यादिषु सर्वत्र नामपदोचित् प्रथम पुरुष निर्देशस्वरसात्, अन्यथाऽस्मद् योगोचितोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत।"

इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार मम्मट जिन कारिकाओं की व्याख्या करने जा रहे हैं, उनका बनाने वाला कोई भिन्न भरत मुनि है, जिसके लिए परामृशति यह प्रथम पुरुष का प्रयोग किया है। अन्यथा यदि वे अपनी बनायी हुई कारिका की वृत्ति लिखते तो प्रथम पुरुष का प्रयोग नहीं करते। इससे यही सिद्ध होता है कि कारिका मम्मट की न होकर भरत की है।

कारिका तथा वृत्तिभाग के भिन्न कर्तृत्व खण्डन—

पूर्वपक्षियों ने कारिकाकार तथा वृत्तिकार को भिन्न सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं, वे विचार करने पर निस्सार प्रतीत होती हैं। काव्यप्रकाश के आरम्भ में आये हुए "समुचितेष्ट देवता ग्रन्थकृत् परामृशति" इस प्रथम पुरुष के प्रयोग के आधार पर सूत्र या कारिकाभाग को वृत्तिकार से भिन्न की कृति सिद्ध करने का जो उपक्रम किया गया है, वह उपहास्यास्पद ही है। क्योंकि ग्रन्थों में इस प्रकार के अवसरों पर अपने लिए प्रथम पुरुष के प्रयोग की शैली तो संस्कृत साहित्य की बहुत-समादृत तथा बहुत प्रचलित सामान्य शैली है। अधिकांश लोग ऐसे प्रसङ्गों में प्रथम पुरुष का ही प्रयोग

करते हैं। जैसे—साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इसी प्रकार का प्रयोग कर "वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते" लिखा है।

"नागेशः कुरुते सुधी" में नागेश ने भी प्रथम पुरुष का ही प्रयोग किया है। संस्कृत साहित्य के ग्रन्थकारों की तो यह एक अलङ्कृत् शैली है।

आचार्य कुन्तक ने इसे पुरुष वैचित्र्य प्रयुक्त वक्रत्व कहा है—"पुरुष वैचित्र्यविहितं वक्रत्वं विद्यते—यत्र प्रत्यक्तापरभावविपर्यासं प्रयुञ्जते स्वबद्धकाव्यवैचित्र्यार्थं युष्मदि अस्मदि वा प्रयोक्तव्ये प्रातिपदिकमात्रं निबध्नन्ति—यथा—अस्मदभाग्यविपर्ययाद्यदि पर देवो न जानाति तम् ॥

अत्र त्वं न जानासीति वक्तव्ये वैचित्र्याय "देवो न जानाति" इत्युक्तम् ॥

अर्थात्—पुरुष वैचित्र्यवक्रत्व वहाँ होता है, जहाँ प्रथम पुरुष का मध्यम अथवा उत्तम पुरुष रूप अन्य के साथ विपर्यास का कवि लोग प्रयोग करते हैं। तात्पर्य यह है कि काव्य के वैचित्र्य के लिए (मध्यम पुरुष बोधक) युष्मद् शब्द अथवा (उत्तम पुरुष बोधक) अस्मद् शब्द के प्रयोग करने के स्थान पर प्रातिपदिकमात्र (प्रथम पुरुष) का प्रयोग करते हैं।

जैसे—यदि आप (रावण) उस (लोकप्रसिद्ध रामचन्द्र) को नहीं जानते हैं (यह अभिमानवश कहते हैं) तो यह हमारे (लङ्कावासियों के) दुर्भाग्य से ही है। अर्थात्—हमारे दुर्भाग्य का सूचक है।

यहाँ "त्वं न जानासि" इसके स्थान पर "देवो न जानाति" यह प्रथम पुरुष प्रातिपदिकमात्र का प्रयोग किया गया है।

इसी प्रकार व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने भी इसे गुण ही माना है। उनका कहना है कि—"यस्तु क्वचित् कविभिः प्रयुज्यमानो दृश्यते स कर्तृत्वव्यत्यासो नाम गुण एव न दोषः।"

कहीं-कहीं कवियों के द्वारा प्रयुक्त यह कर्तृत्वव्यत्यास नाम प्रक्रम भेद भी गुण ही होता है।

यदाह—जैसा कि वहीं कहा भी है—

> प्रकृतमपि यत्र हित्वा कर्तृत्वं युष्मदस्मदर्थस्य।
> चारुत्वायान्यस्मिन्नारोप्येत गुणः स तु न दोषः ॥

अतः इन सब प्रमाणों के आधारों पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वृत्ति तथा कारिका भाग के कर्ता एक ही हैं। यदि मम्मट केवल वृत्तिभाग के ही रचयिता होते तो वे अपने वृत्ति ग्रन्थ के आरम्भ में अवश्य मङ्गलाचरण करते यह सब नहीं किया।

अत मूल का मङ्गलाचरण ही वृत्तिभाग का भी मङ्गलाचरण है। इसलिए दोनो भागो को मम्मटाचार्य की ही कृति मानने मे कोई आपत्ति नही है।

काव्यप्रकाश के कर्ता के रूप मे साधारणत मम्मट ही प्रसिद्ध है। किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ निर्माता वे नही हैं, इसमे मम्मट के अतिरिक्त कश्मीर के एक दूसरे विद्वान् का भी इसके समाप्ति करने मे हाथ है। दूसरे विद्वान् का नाम "अल्लट" है। अधिकाश टीकाकारो का भी यही मत है। काव्यप्रकाश मे अन्त मे एक श्लोक दिया गया है। जिससे इस ग्रन्थ की समन्वयात्मक रचना प्रतीत होती है।

> इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत् ।
> न तद्विचित्र यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतु ॥

काव्यप्रकाश के प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

"अथ चाऽय ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समापित इति द्विखण्डोऽपि सङ्घटनावशादखण्डायते।"

तात्पर्य यह है कि—किसी कारणवश मम्मटाचार्य इस ग्रन्थ को समाप्त न कर सके तब दूसरे विद्वान् ने इसे पूर्ण किया। परन्तु टीकाकारो ने यह स्पष्ट निर्देश नही किया कि कितना अश मम्मटाचार्य का है और कितने अश की पूर्ति दूसरे विद्वान् ने की है, और वह दूसरा विद्वान् कौन है जिसने शेष भाग की पूर्ति की है। इन दोनो बातो का स्पष्ट सङ्केत राजनक आनन्द की निदर्शना टीका मे मिलता है, जो इस प्रकार है—

> कृत श्रीमम्मटाचार्यवर्यै परिकरावधि ।
> ग्रन्थ सम्पूरित शेषो विधायाल्लटसूरिणा ॥१॥

स्पष्ट है कि मम्मटाचार्य ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त ही काव्यप्रकाश ग्रन्थ की रचना की है, उसके बाद ग्रन्थ का अवशिष्ट अश "अल्लट" नाम के विद्वान् ने पूर्ण किया। इसी प्रकार की घटना "कादम्बरी" ग्रन्थ के विषय मे भी हुई है। बाणभट्ट कादम्बरी के केवल पूर्वार्धभाग को ही रचना कर सके थे। उसके बाद उत्तरार्ध भाग की रचना उनके सुयोग्य पुत्र पुलिन्दभट्ट ने की थी। इसी प्रकार मम्मटाचार्य के इस काव्यप्रकाश की समाप्ति भी अल्लट या अलकसूरि ने की।

इस ग्रन्थ मे दश उल्लास है, जिनमे क्रमशः (१) काव्यस्वरूप, (२) शब्दशक्तिविवेचन (३) शब्दार्थव्यञ्जकता का विवेचन (४) रस व ध्वनि

भेदो का वर्णन (५) व्यञ्जना स्थापना (६) शब्दार्थचित्रनिरूपण (७) दोषो का व्याख्यान (८) गुणविवेचन (९) शब्दालङ्कार निर्णय (१०) अर्थालङ्कार निर्णय।

इन दश उल्लासो मे प्राय काव्य के सभी तत्त्वो का समावेश हो जाता है।

काव्यप्रकाश की टीका सम्पत्ति—

टीका सम्पत्ति की दृष्टि से काव्यप्रकाश एक सौभाग्यशाली ग्रन्थ है, श्रीमद्भगवद्गीता को छोडकर संस्कृत साहित्य मे शायद ही कोई दूसरा ग्रन्थ हो जिस पर इतनी टीका लिखी गई हो। इसमे इसकी दुरूहता ही कारण है, प्राचीन आलङ्कारिको मे भामह, दण्डी, वामन, भोज आदि के ग्रन्थ प्रसादगुण-मण्डित प्राञ्जल प्राय सूक्ष्मविवेचनरहित थे।

वे अपने प्रकृतविषय के प्रतिपादन मे समर्थ थे। साहित्य के केवल शोभाधायक बाह्य तत्त्वो के प्रतिपादन मे निर्विवाद उनका उत्कर्ष था। मम्मट के बाद भी पण्डितराज जगन्नाथ का रस गङ्गाधर ध्वनिप्रस्थान का एक प्रौढ तथा उत्कृष्ट ग्रन्थ है इसमे सन्देह नही है कि पण्डितराज ने प्राय सभी विषयो को अपनी प्रौढ प्रतिभा से प्रकाशित किया है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुसन्धानपूर्वक पदार्थों का प्रतिपादन किया है, इसमे तनिक भी सन्देह नही, केवल एक ही दोष है, वह है नव्यन्याय की शैली का अनुसरण। वस्तुत यह दोष भी ग्रन्थकार पण्डितराज का अपना दोष नही है, यह तो उस वादयुग का दोष या गुण है जिसके बिना पाण्डित्य का रथ एक कदम भी आगे नही बढ सकता है। फिर दूसरा दायित्व पण्डितराज पर यह था कि साहित्य के क्षेत्र मे बढती हुई निरर्गलता का नियन्त्रण करना था, इसके लिए ही सबल, परिमार्जित व नपी-तुली भाषा की आवश्यकता थी। अत उस युग की परिस्थिति को देखते हुए पण्डितराज का यह दोष न होकर गुण या भूषण ही कहना चाहिए।

मम्मटाचार्य का यह काव्यप्रकाश तो सूक्ष्म विषय की विवेचना मे नि सन्देह उत्कृष्ट है, परन्तु किसी-किसी अश मे यह काफी जटिल भी हो गया है। जिसका अभिप्राय सामान्य तो क्या प्रौढ पण्डित भी सहसा अवगत नही कर पाते। टीकाकारो का भी परस्पर किसी अश विशेष मे मतभेद मालूम पडता है। एक टीकाकार यदि किसी पक्ति का एक अर्थ करता है तो दूसरा टीकाकार कुछ दूसरा ही अर्थ कर देता है। यही कारण है इसकी टीकाओ की प्रचुरता का।

साहित्य के क्षेत्र मे काव्यप्रकाश ही सबसे लोकप्रिय ग्रन्थ रहा। इस पर टीका लिखना पाण्डित्य की कसौटी समझा जाता था। अत पण्डितमण्डली मे

इसी ग्रन्थ का अध्ययन व अध्यापन होता था। साहित्य का पण्डित या साहित्य का विद्यार्थी काव्यप्रकाश पर अपनी पूर्ण प्रतिभा का व्ययकर प्रति पक्ति के प्रतिपद का पदकृत्य करने में ही अपना सौभाग्य समझता था। काव्यप्रकाश के विषय में प्रसिद्ध है कि उसकी टीकायें घर-घर में विद्यमान है, किन्तु यह ग्रन्थ आज भी वैसा ही दुरूह बना हुआ है—काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे सन्ति टीका तथाप्येष ग्रन्थस्तथैव दुर्बोध। करीब इसकी सत्तर टीकायें हैं, जिनमे—माणिक्यचन्द्र, सोमेश्वर, विश्वनाथ कविचक्रवर्ती, प्रदीपकार, सुधासागरकार महेश्वर इत्यादि प्राचीनटीकाकारो की टीकायें प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार काव्यप्रकाश पर बारहवें शताब्दी से लेकर आज तक सस्कृत व हिन्दी में कुछ न कुछ टीका टिप्पणी आदि शोध कार्य चल ही रहा है। वामनाचार्यझलकीकर की सस्कृत टीका वर्तमान समय मे सर्वाधिक प्रचलित टीका है इसमे सभी टीकाओ का सग्रह है। इसी तरह आचार्य विश्वेश्वर की काव्यप्रकाशदीपिका टीका भी सुन्दर है। जिसमे पूर्व टीकाओ के सभी सारगर्भित अश सगृहीत हैं।

मम्मट का जन्मस्थान—

काव्यप्रकाश की "सुधासागर" टीका के निर्माता भीमसेन ने मम्मट के परिचय के रूप मे कुछ पद्य लिखे हैं। उनसे यह प्रतीत होता है कि मम्मट "कश्मीरदेशीय" जैयट के पुत्र थे। इन्होने वाराणसी मे आकर विद्याध्ययन किया, पतञ्जलि प्रणीतमहाभाष्य के टीकाकार कैयट तथा चतुर्वेदभाष्यकार उव्वट दोनो मम्मट के छोटे भाई थे। इस भाव का वर्णन भीमसेन ने अपने जिन श्लोको मे किया, वे इस प्रकार हैं—

शब्दब्रह्म सनातन न विदित शास्त्रैः क्वचित् केनचित् ।
तद्देवो हि सरस्वती स्वयमभूत् काश्मीरदेशे पुमान् ॥१॥
श्रीमज्जैयटगेहिनीसुजठराज्जन्माप्य युग्मानुज ।
श्रीमन्मम्मटसज्ञयाश्रिततनु सारस्वतीं सूचयन् ॥२॥
मर्यादा किल पालयन् शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात् ।
शास्त्र सर्वजनोपकाररसिक साहित्यसूत्र व्यधात् ॥३॥
तद्वृत्तिं च विरच्य गूढमकरोत काव्यप्रकाश स्फुटम् ।
वैदग्ध्यैकनिदानमर्थिषु चतुर्वर्गप्रद सेवनात् ॥४॥
कस्तस्य स्तुतिमाचरेत् कविरहो को वा गुणान् वेदितुम् ।
शक्त स्यात् किल मम्मटस्य भुवने वाग्देवतारूपिण ॥५॥
श्रीमान् कैय्यट-ओव्वटौ ह्यवरजो यच्छात्रतामागतौ ।
भाष्याब्धि निगम यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धि गतौ ॥६॥

विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्ट्य धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यङ्ग्य-मुखेन, वेति त्रय पक्षा आद्येऽपि अलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणिति वैचित्र्येण, भोगकृत्त्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेसु आद्य,— उद्भटादिभिरङ्गीकृत, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनाचार्येण।"

उनका कहना है कि विशिष्ट शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार मे सभव है—

(१) धर्म से।
(२) व्यापार से।
(३) व्यङ्ग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं। (१) नित्य और (२) अनित्य। अनित्यधर्म की सत्ता काव्य मे उतनी अपेक्षित नही होती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलङ्कार, और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्म मूलक विशिष्टता को प्रतिपादन करने वाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलङ्कार सम्प्रदाय (२) रीति या गुण सम्प्रदाय।

व्यापार मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का होता है। (१) वक्रोक्ति, और (२) भोजकत्व। वक्रोक्ति-उक्ति वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है। और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य मे चमत्कार मानने वाले आचार्य हैं कुन्तक। अतः उनका मत वक्रोक्ति सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध है।

भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस निरूपण के प्रसङ्ग मे भट्टनायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रस सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भूक्त मानना उचित है।

शब्दार्थ मे व्यगमूलक वैशिष्ट्य मानने वाले आचार्य आनन्दवर्धन है, जिन्होने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है, आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ मे ध्वनि विरोधी तीन मतो का उल्लेख किया है, जो उनसे प्राचीन हैं और काव्य मे ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं—इन तीनो सम्प्रदायो के नाम इस प्रकार हैं। (१) अभाववादी (२) भक्तिवादी (३) अनिर्वचनीयतावादी। आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ ध्वन्यालोक की पहली कारिका मे इन तीनो वादो का निर्देश करते हुए, सहृदयजनो के हृदय मे प्रकाशमान ध्वनि तत्त्व का मिथ्या प्रवाद करने वाले निराकरण के लिए ही यह हमारा प्रयास है कहा हैं, जिससे कि सहृदयो की मानसिक चिन्ता दूर हो इसी अभिप्राय को उन्होने श्लोक के अन्तिमपाद से अभिव्यक्त किया है।

"तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्॥१॥"

उक्त पद्य का संक्षेप में रहस्योद्घाटन करते हुए अभिनव गुप्ताचार्यपाद ने इन तीन ध्वन्यभाववादियों को क्रमशः भ्रान्त, सन्दिग्ध, तथा अज्ञ माना है। क्योंकि काव्य में जो बिलकुल भी ध्वनि की सत्ता स्वीकार नहीं करते, वे देहात्मवादी चार्वाक के समान हैं। जैसे चार्वाक दर्शन देह से पृथक् आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करता है, इसी प्रकार ये भी ध्वन्यभाववादी भी काव्य में आत्मभूत ध्वनि की सत्ता नहीं मानते हैं। अतः ये विपर्ययज्ञान युक्त हैं अर्थात भ्रान्त हैं।

दूसरे भक्तिवादी यह तो जानते ही [redacted] कि वाच्यातिरिक्त भी कोई अर्थ है परन्तु अभिधा व लक्षणा व्यापार से भी अतिरिक्त कोई व्यापार है या नहीं इस विषय के सन्देह से मुक्त नहीं हैं। अतः ये सन्दिग्ध हैं। अन्तिम अनिर्वचनीयवादी यद्यपि भ्रान्त व सन्दिग्ध नहीं हैं, ये लोग ध्वनि के स्वरूप से अच्छी तरह परिचित भी हैं फिर भी ध्वनि लक्षण नहीं बना सके अतः इनमें अज्ञान की प्रधानता है।

इस प्रकार ध्वनि के विषय में जब लोगों में अनेक प्रकार का विपरीत ज्ञान या विरोध है तो सहृदयों के मनोप के लिए ध्वनि का विवेचन करना परमावश्यक हैं।

इन सब विरोधों के परिहार के लिए तथा साहित्य जगत में ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता हेतु आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक की रचना की।

यहीं से ध्वनि सम्प्रदाय की पुनः स्थापना हुई। छठा सम्प्रदाय "औचित्य" सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य क्षेमेन्द्र हैं। इनका उदय इन टीकाकारों के बाद में करीब एकादशशती के उत्तरार्ध में हुआ, अतः अलंकारसर्वस्व की टीका में इस सम्प्रदाय का उल्लेख नहीं है।

संस्कृत आलोचना शास्त्र के ये मुख्यतः छः सम्प्रदाय है—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस सम्प्रदाय	भरत मुनि
(२) अलङ्कार सम्प्रदाय	भामह
(३) रीति सम्प्रदाय	वामन
(४) वक्रोक्ति सम्प्रदाय	कुन्तक
(५) ध्वनिसम्प्रदाय	आनन्दवर्धन
(६) औचित्य सम्प्रदाय	क्षेमेन्द्र

(१) रस सम्प्रदाय

रस शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में सोम रस के अर्थ में हुआ है 'दधान कलशे रसम' (९।६३।१३) तैत्तिरीय उपनिषद में पुनः आनन्द के अर्थ में

भी इसका उल्लेख हुआ है, ("रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वानन्दी भवति।" (११।७।१) इस प्रकार वैदिक साहित्य मे रस के विषय मे यत्र तत्र किञ्चित् चर्चा है।

इधर लौकिक साहित्य मे भी सर्व प्रथम रसो का वर्णन हमे आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण मे मिलता है।

"रस शृङ्गार करुणरौद्रवीरभयानकै." (बा० का० २।६)

शृङ्गारादि आठ रसो का वर्णन यहाँ मिलता है, वैसे इस आदि काव्य को रस का ही विवर्त या परिणाम माना जाय तो कोई अत्युक्ति नही है। महाकवि कालिदास की यह उक्ति भी इस बात को सुतरा पुष्ट करती है

निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थ श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोक (१४।२७)

व्याध के द्वारा क्रौञ्च पक्षी के वध को जब मुनि ने देखा तो वे बहुत दुःखी हुए, वही हृदयस्थ मुनि का शोक श्लोक मे परिणत हो गया।

अत यह मानना पड़ता है कि आदि काव्य का उदय करुण रस से ही हुआ, इसीलिए रामायण करुण रस प्रधान आदि काव्य है इसको आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत मे इस प्रकार कहा है—"रामायणे हि करुणो रस स्वयमादि कविना सूत्रित, "शोक श्लोकत्वमागत" इत्येव वादिना और महाभारत मे शान्त रस को ही मुख्यतया विवक्षा का विषय माना है।

तिलो मे तैल की तरह अङ्गनाओ मे लावण्य की तरह यह रस भी महाकवियो के महाकाव्यो मे व्याप्त है।

इसका शास्त्रीय विवेचन करने का श्रेय भरत को है। भरतमुनि ही इस सम्प्रदाय के प्रतिष्ठाता माने जाते है और उनका "नाट्यशास्त्र" रस सिद्धान्त का प्रतिपादक सर्व प्राचीन ग्रन्थ है।

भरत के नाट्य शास्त्र को ललित कलाओ का विश्वकोष कहना चाहिए, नाट्य विषय का ही नही, प्रत्युत आलोचना शास्त्र का, छन्दशास्त्र का, सङ्गीत का तथा अभिनय का भी यह आदि तथा प्रौढ ग्रन्थ है। इसकी लोकप्रियता का पता इसके भाष्यकारो के नाम से भी चल सकता है। इसके नौ भाष्यकार हैं। जिनका नाम नीचे दिया जाता है—

(१) उद्भट्ट (२) लोल्लट (३) शङ्कुक (४) भट्टनायक (५) राहुल (६) भट्ट यन्त्र (७) अभिनव गुप्त (८) कीर्तिधर (९) मातृ गुप्त। इन सब मे अभिनव गुप्त की प्रख्यात व्याख्या "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध है और इसी मे उल्लिखित होने से अन्य टीकाकारो के अस्तित्व का पता चलता है। इन टीकाकारो मे लोल्लट, शङ्कुक तथा भट्टनायक ने भरत

के रस सूत्र की विभिन्न व्याख्या की है, जिसका निर्देश अभिनव भारती म बहुश किया गया है।

रस सम्प्रदाय के अनुसार काव्य म रस ही एकमात्र मुख्य तत्त्व है। भरत मुनि ने नाटकीय रस का ही निरूपण किया है इसीलिए रस को नाट्यरस की सज्ञा दी है। पिछले आलङ्कारिको ने इसे श्रव्य काव्य का भी महनीय तत्त्व माना है। रस का उन्मेप ही नाट्य का तथा काव्य का चरम लक्ष्य है। इस तात्पर्य की सिद्धि के अभाव म काव्य नीरस, फीका तथा उद्वेगकर होता है। इसके उन्मीलन के निमित्त स्थायी तथा व्यभिचारी भाव विभाव तथा अनुभाव का भी विश्लेषण बडी सूक्ष्मता के साथ यहाँ किया गया है। रस की सख्या के के विषय म भी मतभेद है। इन आठ रसो की सत्ता के विषय मे किसी को भी विमति नही है। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र वीर भयानक बीभत्स तथा अद्भुत। शान्त रस नवम रस है जिसकी काव्य तथा नाट्य म सत्ता के विषय मे आचार्यों मे काफी मतभेद है। धनञ्जय शान्तरस को नाट्य मे निषेध करते हैं, परतु अभिनव गुप्त नाट्य तथा श्रव्यकाव्य दोनो मे इसकी सत्ता मानते है। रुद्रट ने "पेयान' नामक रस को विश्वनाथ कविराज ने वात्सल्य को, गौडीय वैष्णवो ने 'मधुर रस" को इस श्रेणी म जोडकर रसो की सख्या को बहुत ही बढा दिया है।

साहित्य म रसमत का सर्वतोभावेन प्राधान्य है। ध्वनिवादी आचार्यों ने भी ध्वनि के त्रिविध प्रकारो म "रसध्वनि" को ही मुख्य तथा काव्य की आत्मा माना है। ध्वनि मुख्यतया तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि तथा रसध्वनि। इन तीनो म अन्तिम मुख्यतम है।

भोजराज भी समस्त वाड्मय को तीन भागो म बाटते हैं—(१) स्वभावोक्ति (२) वक्रोक्ति, (३) रसोक्ति।

इनम अन्तिम का विशेष चमत्कार काव्य म होता है। विश्वनाथ कविराज ने रसात्मक वाक्य को काव्य मानकर काव्य म रस के महत्त्व को स्वीकार किया है। अग्निपुराण की स्पष्ट उक्ति है—"वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।" काव्य म वक्रोक्ति से उत्पन्न चमत्कार के मुख्य होने पर भी रस ही उसका प्राण होता है। भरत ने 'न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते" का सिद्धान्त प्रतिष्ठित कर रस को काव्य का मौलिक तत्त्व माना है। इस प्रकार रस सम्प्रदाय के अनेक आचार्य हुए जिनम अनेक ध्वनि को भी विशेष महत्त्वशाली मानने के कारण ध्वनि सम्प्रदाय के भी अनुयायी हैं।

पाश्चात्य मनोविज्ञान के अनुसार रस सिद्धान्त की पूर्णरूपेण व्याख्या नही हो सकती है। क्योकि भारतीय साहित्य मे इसका अपना कुछ अलग ही महत्व

है, जिसका सम्बन्ध भारतीय दर्शन से है, जो आत्मानन्द सहोदर है, चिन्मय तथा प्रकाशस्वरूप है, उन पाश्चात्य मनोविज्ञान की परिधि से परे की बात है। जब आधुनिक विज्ञान केवल मन तथा उसकी वृत्तियों के विवेचन तक ही सीमित है, तो आत्मस्थानीय रसास्वादजन्य अलौकिक अनुभूति की आशा करना तो दुराशामात्र है।

कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त दर्शन के अनुसार आनन्द तीन प्रकार का होता है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द, (३) रसानन्द। विषयानन्द वासना पर अवलम्बित है, यह विषय चिन्तन से या विषयों के संसर्ग से उत्पन्न होने वाला लौकिक क्षणिक तथा वासनाओं की मलिनता के कारण सुखदु:खादि सांसारिक भावों के द्वन्द्व से अभिभूत है। अत यह सत्वप्रधान आनन्द न होकर आनन्दाभास है। आनन्द की उच्चतम कोटि है ब्रह्मानन्द, जिसके अन्तर्गत समस्त आनन्द सिमट कर एकत्र हो जाते हैं। रसानन्द भी करीब करीब इसी आनन्द की कोटि मे आता है। विषयानन्द के लिए जिस प्रकार वासना अपेक्षित है रसानन्द मे उस जगह वासना की शुद्धि अपेक्षित है, अर्थात् भावों का उदात्तीकरण, भावो की अशुद्धि का कारण है, उसका व्यक्ति विशेष से सम्बन्ध, मेरी यह रति है इत्यादि जो परिमित प्रमाता का सम्बन्ध विशेष है वही हीनता तथा अशुद्धि का कारण है। इसी भावसंशोधन के लिए साहित्यशास्त्रियों ने रसनिष्पत्ति प्रक्रिया के लिए साधारणीकरण व्यापार की कल्पना की है, जिसकी सहायता से प्रमाता मे अपरिमित भाव आ जाता है। वासना विषयविष से दूषित न होकर निष्काम भावना या उदात्तभावना से स्वच्छ हो जाती है। इसी दिशा में शनैः शनैः रत्यादि भाव से जो अज्ञानावरण से परिच्छिन्न थे वे व्यञ्जना व्यापार व साधारणीकरण व्यापार के सहयोग से अपरिच्छिन्न होते हुए सच्चिदानन्दघनस्वरूप रस को प्राप्त कर लेते हैं। इसी रस के विषय मे भरत ने लिखा है—

"न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते।"

अलङ्कार सम्प्रदाय

काव्य जगत् मे अलङ्कारों का सर्वाधिक महत्व है, आपातत यही तत्त्व गुण व अलङ्कार ही काव्य के व्यावर्तक धर्म है। इसीलिए "काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्" इस आनन्दवर्धन की सूक्ति का आश्रय लेकर गुणालङ्कारादि से निरूपणीय काव्य को माना है। अर्थात् काव्य के काव्येतर से भेदज्ञान मे साधन अलङ्कारादि ही हैं। "काव्य काव्येतराद् भिन्न गुणालङ्कारादिमत्वात्" यह अनुमानाकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि काव्य मे अलङ्कार की स्थिति अति आवश्यक है।

आचार्य मम्मट ने जब काव्य के लक्षण में अलङ्कारों का विधान विकल्प रूप से किया तो अलङ्कारवादियों को यह विकल्प असह्य सा प्रतीत हुआ। जयदेव का तो यहाँ तक कहना है कि जो विद्वान अलङ्कार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है, वह अग्नि को भी अनुष्ण (उष्णताहीन) क्यों नहीं मानता है ? जिस प्रकार अग्नि का उष्णतारहित होना असम्भव है, उसी प्रकार काव्य का अलङ्कार से रहित होना भी असम्भव है—

> अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
> असौ न मन्यते कस्मात् अनुष्णमनलङ्कृती ॥१॥ (चन्द्रालोक)

इस सम्प्रदाय में अलङ्कार ही काव्य की आत्मा है।

अलङ्कार मत के प्रवर्तक आचार्य भामह हैं इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को भी अलङ्कार कहते हैं। रुद्रट व प्रतिहारेन्द्रराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलङ्कार को ही प्रधानता दी है।

रूय्यक ने स्पष्ट अनुमान है कि प्राचीन आलङ्कारिकों के मत में अलङ्कार ही काव्य में प्रधान होते हैं।

अलङ्कारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है। भरत के नाट्यशास्त्र में इन चार ही अलङ्कारों का निर्देश मिलता है—यमक, उपमा, रूपक व दीपक। साहित्य के मूलभूत अलङ्कार ये ही हैं जिनमें पहला शब्दालङ्कार और तीन अर्थालङ्कार हैं। भरत के मत में यमक शब्दालङ्कार दस प्रकार का है और उपमा के पाँच भेद होते हैं—प्रशंसा, निन्दा, कल्पिता, सदृशी तथा किञ्चित् सदृशी। रूपक तथा दीपक का एक एक भेद होता है। इन्हीं चार अलङ्कारों से विकसित तथा वर्धित होकर अलङ्कारों की संख्या कुवलयानन्द में सवा सौ से ऊपर तक पहुँच गयी है।

कालक्रम के अनुसार अलङ्कारों की संख्या के समान उनके स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है।

भरत ने नाट्यशास्त्र (अध्याय १७) में ३६ प्रकार के लक्षणों का विवरण दिया है। बहुत से इन लक्षणों को परवर्ती आचार्यों ने अलङ्कार में सम्मिलित कर लिया, और इस प्रकार अलङ्कारों के विकास में इन लक्षणों का भी कम महत्त्व नहीं है। उदाहरणार्थ, हेतु, आशी तथा लेश के विषय में परवर्ती आचार्यों की भिन्न भिन्न सम्मतियाँ हैं। भामह हेतु तथा लेश को तो अलङ्कार नहीं मानते परन्तु आशी को अलङ्कार मानते हैं। दण्डी ने तीनों को अलङ्कार माना है। परवर्ती आचार्यों के विभिन्न मत हैं। अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द

इस प्रकार ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं, और अलकार अनित्य धर्म। अलकारो की स्थिति काव्य मे हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यम्भावी है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय की स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार तथा कारिकाकार को भिन्न-भिन्न मानते है और "सहृदय" नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते है। परन्तु अधिकतर विद्वानो की सम्मति मे आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनो की रचना की थी। आचार्य अभिनव गुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास मे विशेष महत्त्व इसीलिए रखते है कि उन्होने ध्वन्यालोक के ऊपर लोचन टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को अनेक युक्तियो से पुष्टकर उसे प्रामाणिक बनाया, उसके अनन्तर मम्मटाचार्य ने ध्वनि विरोधियो के आक्षेपो का उत्तर देकर ध्वनि के सिद्धान्त को दृढतर आधारो पर स्थापित किया। अपने ग्रन्थ मे उन्होने भिन्न भिन्न दर्शनो के मतानुयायी विद्वानो की युक्तियों का खण्डन कर व्यञ्जना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप मे स्थापना की। मम्मट के पश्चात्वर्ती विश्वनाथ कविराज ने "साहित्यदर्पण" मे ध्वनि की पर्याप्त मीमासा की है। पिछले युग के सबसे बड़े आलकारिक पण्डितराज जगन्नाथ (१७ शती) हैं। जिनकी कृति "रसगङ्गाधर" ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ध्वनिकार को आलकारिको की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनिकृतामलङ्कारसरणि-व्यवस्थापकत्वात्" (र० ग०)

यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणो द्वारा प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलकारिको को यह सिद्धान्त प्रथमत. मान्य नहीं हुआ। "मुकुलभट्ट" सबसे प्राचीन ध्वनि विरोधी आचार्य हैं। अभिधा वृत्ति मातृका" मे इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नई थी, और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे। इनके शिष्य "प्रतिहारेन्दुराज" ने ध्वनि को अलकार के ही अन्तर्गत माना है। ध्वनि के खण्डन के लिए "भट्टनायक" ने "सहृदयदर्पण" नामक ग्रन्थ की रचना की है। ये काव्य मे रस के पक्षपाती थे, परन्तु रस की व्याख्या के लिए व्यञ्जना का सिद्धान्त इन्हे मान्य न था। "कुन्तक" ध्वनि को वक्रोक्ति का ही दूसरा प्रकार मानते है। इनके मत मे रस काव्य का स्वतन्त्र तत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेद मात्र है। "महिमभट्ट" के ग्रथ का नाम "व्यक्तिविवेक" है, जिसमे

इन्होंने ध्वनि को अनुमान में ही गतार्थ करने का प्रयास किया है। इसकी विवेचना बड़ी मार्मिक और गम्भीरता पूर्ण है।

इन विरोधी आचार्यों को तर्कपूर्ण समाधान "काव्यप्रकाश" में मिलता है। जिसके बाद यह सिद्धान्त एकान्तत प्रतिष्ठित हो गया और पिछले आचार्यों ने इसे सर्वथा मान्यता दी।

(६) औचित्य सम्प्रदाय

औचित्य साहित्यशास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य की आत्मा या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य जगत में अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। भरत के नाट्यशास्त्र में सिद्धान्त रूप में तो नहीं परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है, भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उसका उसी वेश तथा उसी मुद्रा में, अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है इसीलिए नाट्यशास्त्र (प्रकृति) पात्र में भाषा वेष आदि के विधान पर इतना जोर देता है। भरत ने विभिन्न प्रकृतियों का वर्णन अपने ग्रन्थ में विस्तार के साथ किया है। इससे स्पष्ट है कि भरत नाट्य में औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे, काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है। इस प्रसङ्ग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभाञ्जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते॥ (ना०२३।६८)

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने काव्य में औचित्य की पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभङ्ग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था कि "अनौचित्य" ही रसभङ्ग का प्रधान कारण है।

अनुचित वस्तु के परिवेश में रस का परिपाक काव्य में उत्पन्न नहीं हो सकता। रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्धन तथा काव्य में कल्पना और विधान। आनन्दवर्धन कहते हैं—

अनौचित्याद् ऋते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥१॥

आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन आलोचकों की कड़ी आलोचना की है जो ध्वनि के सिद्धान्त से बिना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे। उन्होंने दिखलाया है कि

ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है। ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। अत औचित्य तथा ध्वनि परस्पर उपकारक तथ्यों के रूप में काव्य जगत् में अवतीर्ण होते हैं।

साहित्यशास्त्र में अभिनवगुप्त के प्रधान शिष्य "क्षेमेन्द्र" थे, ये स्वत- ध्वनिवादी थे, तथापि "औचित्यविचारचर्चा" नामक अपने ग्रन्थ में इन्होंने औचित्य को व्यापक काव्यतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित किया है। औचित्य को यह महत्त्वपूर्ण स्थान देने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है। औचित्य किसे कहते हैं? इसका उत्तर देते हुए क्षेमेन्द्र लिखते हैं कि "उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके सदृश हो, जिसमें उसका मेल मिले उसे कहते है "उचित" और उचित का ही भाव होता है—"औचित्य"

"उचित प्राहुराचार्या . सदृश किल यस्य यत् ।
उचितस्य यो भाव , तदौचित्य प्रचक्षते ॥ (औ०वि०७)

यह औचित्य ही रस का जीवनभूत है, उसका प्राण है, तथा काव्य में चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना॥ (औ० वि० ३)

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किए है। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिङ्ग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। औचित्य की विशद विवेचना कर क्षेमेन्द्र ने साहित्यशास्त्र में इसे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु इन्हें ही इस सम्प्रदाय का उद्भावक मानना भयकर ऐतिहासिक भूल है, क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है। इनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद "ध्वन्यालोक" में पूर्णतया विद्यमान है, सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलकार ही कोई शोभा धारण करता है, और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण कथन है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ।
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा ।
शौर्येण करुणया प्रणते, रिपौ नायान्ति के हास्यताम्, ।
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालकृति नो गुणा ॥१॥

इस सम्प्रदाय के सिद्धान्त को पिछले युग के आलकारिको ने अपनी काव्य-कल्पना मे औचित्य के तत्त्व को पूर्णत स्वीकार किया और अपनी समीक्षा मे इसका उपयोग किया ।

रसालङ्कृति-वक्रोक्ति-रीति ध्वन्यौचितौ क्रमा ।
साहित्यशास्त्र एतस्मिन् सम्प्रदाया इमे स्मृता ॥१॥

अलकारशास्त्र के आचार्यों का सक्षिप्त इतिवृत्त—

सस्कृत साहित्य मे दोनो प्रकार के काव्य, श्रव्य व दृश्य, आलोचना के विषय होते हैं, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से दृश्य काव्य की ही समीक्षा भारतवर्ष मे सबसे पहले आरम्भ हुई पाणिनि के समय (७ शती विक्रम पूर्व) म नटो की शिक्षा-दीक्षा तथा अभिनय से सम्बद्ध ग्रन्थो की रचना हो चुकी थी, उन्होने "शिलालि" तथा "कृशाश्व" के द्वारा विरचित नट सूत्रो का निर्देश अपनी अष्टाध्यायी मे किया है।

श्रव्यकाव्य की आलोचना का उदय विक्रम की छठी शताब्दी के मध्य मे हुआ जिस युग मे भामह ने अपने "काव्यालङ्कार" की रचना की। भामह से पूर्ववर्ती आचार्यो मे काश्यप ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी की बहुत प्रसिद्धि थी, परन्तु उनके ग्रन्थो की अभी तक उपलब्धि नही हुई है, उपलब्ध आचार्यों मे मान्य आचार्यों का सक्षिप्त परिचय यहाँ विषय की पूर्ति के लिए प्रस्तुत किया जा रहा है।

(१) भरत (द्वितीय शताब्दी)—

भरत आलोचना शास्त्र के सर्वप्रथम आचार्य है। दो भरतो का पता चलता है, वृद्धभरत तथा भरत । वृद्धभरत का ग्रन्थ नाट्यवेद सम्भवत बारह हजार श्लोको म था, परन्तु वह आज अनुपलब्ध है, भरत का "नाट्य शास्त्र" आज उपलब्ध है, यह आलोचना का ही नही अपितु सम्पूर्ण ललितकलाओ की समीक्षा का सर्वमान्य ग्रन्थ है। 'नाट्यशास्त्र" एक युग की रचना न होकर अनेक शताब्दियो के साहित्यिक प्रयास का परिणत फल है। आज यह कारिकाबद्ध रूप मे ही उपलब्ध है, परन्तु इसकी अन्तरङ्ग परीक्षा करने पर इसके भीतर वर्तमान तीन अशो का पर्याप्त परिचय मिलता है।

(१)—सूत्र भाष्य—यह गद्यात्मक अश ग्रन्थ का प्राचीनतम रूप है। मूल ग्रन्थ सूत्र-रूप मे ही था, जिस पर भरत ने ही भाष्य भी लिखा था—

(२) कारिका—मूल-ग्रन्थ के अभिप्राय को समझने के लिए कालान्तर म कारिकाओ का निर्माण हुआ, कुछ विस्तार से विषय का प्रतिपादन है।

(३) अनुवश्य-श्लोक—गुरुशिष्य परंपरा से आने वाले प्राचीन पद्य (आर्या या अनुष्टुप् में निबद्ध) जो अभिनव भारती के अनुसार प्राचीन आचार्यों द्वारा विरचित है, तथा सूत्रों की पुष्टि में यहाँ संग्रहित हैं।

भरत के वर्तमान नाट्यशास्त्र का समय द्वितीय शती से कम नहीं हो सकता। कालिदास भरत को देवों के नाट्याचार्य के रूप में जानते हैं, और नाटकों में आठ रसों के विकास होने तथा अप्सराओं के द्वारा अभिनीत होने का वे स्पष्ट निर्देश करते हैं। अतः भरत को कालिदास (पञ्चमशती) से पूर्ववर्ती होना चाहिए। मूल सूत्रात्मक ग्रन्थ का समय इससे भी प्राचीन है।

नाट्यशास्त्र में मुख्यतः ३६ अध्याय है, तथा लगभग पाँच हजार श्लोक है। इन अध्यायों में नाट्य की उत्पत्ति तथा अभिनय के नाना प्रकारों से सम्बद्ध विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण है। रस तथा भाव का वर्णन षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में है। यहाँ काव्य की आलोचना वाचिक अभिनय के प्रसंग में की गई है। १६ वें अध्याय में काव्यालोचन का मर्म समझाया गया है। भरत ने दश दोष, दश गुण तथा चार अलंकार (यमक-उपमा-रूपक-दीपक) की मीमांसा कर इस शास्त्र का आरम्भ किया। इसके ऊपर अनेक टीका में लिखी गईं, जिनमें आचार्य "अभिनवगुप्त" की "अभिनव भारती" ही आज उपलब्ध प्रमुख व्याख्या है।

(२) भामह (षष्ठ शतक का पूर्वार्ध)—

भरत के बाद आलंकारिकों में भामह ही मान्य आचार्य हैं। इन्होंने अलंकार शास्त्र को नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से मुक्त कर स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में आलोचकों के सामने प्रस्तुत किया है। भामह से पूर्ववर्ती "मेधाविरुद्र" नामक आचार्य का परिचय कम ही मिलता है, भामह के पिता का नाम था "रक्रिल गोमी" और ये कश्मीर के निवासी प्रतीत होते है।

भामह और दण्डी की कालिक स्थिति के विषय में विद्वानों में कभी पर्याप्त मतभेद था परन्तु अब तो यह सर्वमान्य तथ्य है कि भामह दण्डी से पूर्ववर्ती आचार्य हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ में न्यायदीप के वर्णन में बौद्ध न्याय से अपना विशेष परिचय दिखलाया है। इनका *प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण* आचार्य दिङ्नाग (पष्ठशती) के अनुसार है। धर्मकीर्ति (सप्तमशती) के अनुसार नहीं फलतः इनका समय इन दोनों बौद्धाचार्यों के मध्ययुग में होना चाहिए, अतः इनका आविर्भाव काल षष्ठशतक का मध्यभाग माना जाता है।

भामह बौद्ध न्याय से विशेष परिचय रखने पर भी बौद्ध नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मण हैं। क्योंकि इन्होंने रामायण तथा महाभारत की कथाओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है, तथा बौद्धों के "अपोहवाद" का खण्डन भी किया है

जो कोई भी बोद्ध नही कर सकता है। भामह का ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" छे परिच्छेदो मे विभिक्त है जिनमे काव्य के साधन, लक्षण तथा भेद का प्रथम परिच्छेद मे अलकारो का द्वितीय तृतीय परिच्छेद मे, दश दोषो का चतुर्थ परिच्छेद मे, न्यायविरोधी दोष का पञ्चम परिच्छेद मे, तथा शब्द शुद्धि का षष्ठ परिच्छेद मे, वर्णन क्रमश किया है। श्लोक चार सौ करीब है, भामह के समस्त सिद्धान्त इस शास्त्र मे मान्य हैं। इनके विशिष्ट सिद्धान्त ये है—

(१) शब्द तथा अर्थ दोनो का काव्य होना "शब्दार्थौ काव्यम्"
(२) भरत के द्वारा वर्णित दश गुणो का गुणत्रयी माधुर्य-ओज-प्रसाद मे अन्तर्भाव।
(३) वक्रोक्ति को सकल अलकारो का प्राण मानना।
(४) दशविध दोषो का सुन्दर विवेचन।
(५) रीति पर आग्रह न रखकर काव्य गुणो पर आस्था।

(३) दण्डी (सप्तम शती)—

दण्डी दक्षिण भारत के पल्लव नरेश सिंहविष्णु (सप्तमशती) के सभा पंडित माने जाते है। इनका लोकप्रिय ग्रन्थ "काव्यादर्श" है। जिसके कतिपय सिद्धान्तो का निर्देश तथा अनेक श्लोकों का अनुवाद कन्नडभाषा के प्राचीन ग्रन्थ 'कविराज मार्ग' तथा सिंघली ग्रन्थ "सिय बस-लकर" (स्वभाषालकार) मे किया गया है। और ये दोनो अष्टम शती के ग्रन्थ माने जाते हैं। इसका तिब्बती अनुवाद इसकी लोकप्रियता का पर्याप्त सूचक है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अपने विषय मे विशेष प्रख्यात तथा लोकप्रिय रहा है।

"काव्यादर्श" बडा ही माननीय ग्रन्थ है, इसमे चार परिच्छेद हैं। तथा श्लोकों की सख्या साढे छै सौ के आसपास है। पहिले परिच्छेद मे काव्य का लक्षण भेद रीति-तथा गुण का विस्तृत वर्णन है। दूसरे मे अर्थालकारो का, तृतीय मे शब्दालकारो का, (विशेषत यमक का) तथा चतुर्थ परिच्छेद मे दशविधि दोषो का सुन्दर तथा व्यापक वर्णन है। ये सबसे पहिले आचार्य हैं जिन्होंने वैदर्भी तथा गौडी रीति के पारस्परिक भेद को स्पष्टतया दिखलाया है। इस प्रकार ये रीति सम्प्रदाय के भी मार्गदर्शक माने जा सकते हैं।

(४) वामन (अष्टम उत्तरार्ध)—

कल्हण पंडित के कथनानुसार वामन काश्मीर नरेश जयापीड (७७९-८१३ ई०) के मन्त्री थे, वामन भवभूति के उत्तररामचरित का एक पद्य उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया है, फलत ये भवभूति (अष्टमशती पूर्वार्ध) से परवर्ती है। तथा राजशेखर (१० म शती) से प्राचीन हैं, क्योकि काव्य मीमासा मे वामन के कतिपय सूत्र उद्धृत किये गये हैं। वामन आनन्दवर्धन

(नवमशती मध्यभाग) से प्राचीन ही प्रतीत होते हैं जिन्होने इनका नामतः उल्लेख तो नहीं किया है, परन्तु इनके रीति सिद्धान्त का स्पष्ट निर्देश किया है।

इनके ग्रन्थ का नाम है—"काव्यालङ्कारसूत्र"—जिसमें काव्य की आलोचना सूत्रो मे प्रस्तुत की गई है। वामन ने इसके उपर अपनी वृत्ति भी लिखी है। सूत्रो की सख्या ३१९ है। तथा ग्रन्थ पाच अधिकरणो मे विभक्त है। प्रथम अधिकरण मे काव्य का रूप तथा प्रयोजन तथा रीतियो का वर्णन है। दूसरे मे दोषो का, तीसरे मे गुणो का, चौथे मे अलकारो का तथा पाचवें मे शब्द शुद्धि का वर्णन है।

वामन रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक है।—रीति को काव्य की आत्मा मानने का श्रेय इन्हें ही प्राप्त है। "रीतिरात्मा काव्यस्य" इनके कतिपय *सिद्धान्त ये है—*

(क) *गुण तथा अलकार का परस्पर विभेद, तथा गुण की अलकार की अधिक महत्ता का प्रतिपादन।*

(ख) रीति को काव्य की आत्मा मानना।

(ग) *वैदर्भी गौडी तथा पाञ्चाली-इन तीन रीतियो की कल्पना।*

(घ) "वक्रोक्ति" को सादृश्यमूलक लक्षणा मानना।

(ङ) समग्र अर्थालङ्कारो को उपमा का प्रपञ्च मानना।

(च) दश प्रकार के गुणो को शब्द तथा अर्थ उभयगत मानकर बीस प्रकार की कल्पना।

(५) उदभट (अष्टम शती का उत्तरार्ध)—

अलकार सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक आचार्यों मे "उद्भट" नितान्त प्रख्यात हैं। ये भी वामन के समकालीन आचार्य थे, तथा जयापीड के सभापति किसी उद्भट नामक विद्वान से भिन्न नही है। प्रतिहारेन्दुराज, रुय्यक, तथा पंडितराज जगन्नाथ ने उद्भट को आनन्दवर्धन से प्राचीन माना है। आनन्द वर्धन ने ध्वन्यालोक मे उद्भट के नाम तथा मत का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय अष्टम शती उत्तरार्ध है। वामन और उद्भट एक ही राजा के राजदरबार में उपस्थित समकालीन विद्वान थे, जिनमें एक थे रीति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक और दूसरे थे अलकार सम्प्रदाय के उन्नायक, परन्तु किसी ने भी किसी का निर्देश नहीं किया।

उद्भट के उपलब्ध ग्रन्थ है—काव्यालङ्कारसार सग्रह, और प्रतिहारेन्दुराज द्वारा निर्दिष्ट-भामह के ग्रन्थ "काव्यालङ्कार" की टीका—"भामह विवरण" है जो आज उपलब्ध नहीं है। इनकी तीसरी कृति है—"कुमार सम्भव काव्य" कालिदास के कुमार सम्भव के आदर्श पर लिखित एक लघुकाव्य है, जिसके अनेक पद्य प्रथम ग्रन्थ मे उदाहरण के रूप मे उद्धृत किये गये हैं।

इनके—"काव्यालङ्कारसार-संग्रह" ग्रन्थ के दो टीकाकार हैं—प्रतिहारेन्दुराज (दशम शती) जो मुकुलभट्ट के शिष्य थे, दाक्षिणात्य थे, तथा अलंकार शास्त्र के मान्य आचार्य हैं। दूसरे व्याख्याकार काश्मीरी राजानक तिलक हैं, (१०७५-११२५ ई०) जिनकी "विवृति" नामक टीका बड़ोदा से सन् १९३१ मे प्रकाशित हुई है।

काव्यालङ्कारसार संग्रह में अलंकारो का ही विवेचन है। परन्तु यह विवेचन विशेष आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक ढग पर किया गया है। उद्भट के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त ये हैं—

(१) अर्थभेद से शब्दभेद की कल्पना।

(२) श्लेष के दो प्रकार, शब्द श्लेष तथा अर्थश्लेष मानना। परन्तु दोनो को अर्थालङ्कार में ही परिगणित करना।

(३) अन्य अलंकारो को योग में श्लेष की ही प्रबलता मानना।

(४) वाक्य का त्रिविध अभिधा व्यापार।

(५) अर्थ की द्विविध-कल्पना—विचारित सुस्थ तथा अविचारितरमणीय

(६) काव्य गुणो को संघटना का धर्म मानना।

इन्हीं सब विशिष्टताओ के कारण उद्भट का ग्रथ अलंकार सम्प्रदाय मे एक विशिष्ट ग्रंथ तथा इस सम्प्रदाय का आदिम ग्रन्थ माना जाता है।

(६) रुद्रट (नवम शती का पूर्वार्ध)—

रुद्रट भी कश्मीर निवासी ही थे। राजशेखर ने अपने "काव्यमीमांसा" मे रुद्रट के द्वारा उद्भावित 'वक्रोक्ति" नामक शब्दालङ्कार का निर्देश किया है। "शिशुपाल वध" के टीकाकार काश्मीरी वल्लभदेव (दशमशती पूर्वार्ध) ने इनके अलंकार ग्रन्थ का निर्देश अपनी टीका में किया है। फलत इनका समय १० शती के पूर्वार्ध से भी प्राचीन है। ये वामन तथा उद्भट के पश्चात् वर्ती आचार्य हैं। रुद्रट की वक्रोक्ति की कल्पना निराली है तथा प्राचीन आलंकारिकों से मेल नहीं खाती। "शृङ्गारतिलक" के कर्ता "रुद्रभट्ट" रुद्रट से भिन्न है या अभिन्न इस विषय में भी विद्वानो में मतभेद हैं। परन्तु रुद्रट सिद्धान्त की भिन्नता के कारण रुद्रभट्ट से भिन्न ही प्रतीत होते हैं।

इनका काव्यालङ्कार १६ अध्यायों में विभक्त ग्रन्थ है तथा इसमे ७३४ श्लोक हैं। इनमे काव्यस्वरूप, शब्दालङ्कार चार रीतियाँ, वृत्तियाँ, चित्रबन्ध अर्थालङ्कार, दोष, रस तथा नायिका भेद का विवेचन किया गया है।

इसमे रस का विस्तार से वर्णन है। रुद्रट ने पहिले-पहल अलंकारो के वैज्ञानिक विभाजन की ओर ध्यान दिया और वास्तव, औपम्य, अतिशय, तथा श्लेष को अलंकार का मूलतत्व निर्दिष्ट किया है।

इन्होने नये नये अलकारो की भी उद्‌भावना इस ग्रथ मे की है।

(७) आनन्दवर्धन (नवम शती का उत्तरार्ध)—

आलोचनाशास्त्र के इतिहास मे आनन्दवर्धन अपनी मौलिक कल्पना के लिए युगान्तरकारी आचार्य हैं। इसका सर्वमान्य ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" है। जिसमे ग्रन्थकार की मौलिकता, सूक्ष्म विवेचना तथा गूढ विषय ग्राहिता का अपूर्व परिचय मिलता है। ये कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५५ ई० ८८३ ई०) के सभापण्डित थे और इसलिए इनका समय नवम शती का उत्तरार्ध निश्चित रूप से है।

"ध्वन्यालोक" मे मूलत कारिकायें है जिन पर गद्यात्मक वृत्ति भी है। कारिका तथा वृत्ति का रचयिता एक ही व्यक्ति है या भिन्न-भिन्न व्यक्ति ? इस प्रश्न की मीमासा दो प्रकार से की गई है। कुछ विद्वान् मानते है कि आनन्दवर्धन ने वृत्ति और "सहृदय" नामक किसी प्राचीन पण्डित ने ध्वनि-सम्बन्धी कारिकायें लिखी थी। परन्तु यह मत अब मान्य नही है। आनन्दवर्धन ही स्वय कारिकाकार व वृत्तिकार हैं। इस बात के लिए अभिनवगुप्त के "लोचन" मे अनेक पुष्ट प्रमाण विद्यमान है। इसके उपर "चन्द्रिका" नामक कोई प्राचीन टीका थी, जो आज उपलब्ध नही है। उपलब्ध टीकाओ मे सबसे विद्वतापूर्ण व्याख्या "लोचन" ही है। इस टीका के निर्माता महामाहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त हैं। इस टीका को मौलिक-ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है।

आनन्दवर्धन ध्वनिसम्प्रदाय के उद्‌भावक आचार्य है। ध्वन्यालोक मे चार उद्योत हैं। प्रथम मे ध्वनि के विषय मे प्राचीन आलकारिको के मतो का विस्तृत समीक्षण है।

द्वितीय तथा तृतीय उद्योत मे ध्वनि के भेद-उपभेद का तथा उसकी स्थापना का प्रामाणिक विवरण है। चतुर्थ उद्योत मे ध्वनि की उपयोगिता का विचार है।

आनन्दवर्धन काश्मीरी थे, परन्तु इनके जीवनवृत्त का पता नही चलता है। हेमचन्द्र के कथनानुसार ये "नोण" के पुत्र थे। इन्होने अर्जुन-चरित, विषमबाणलीला, (प्राकृत काव्य) देवीशतक, तत्त्वालोक नामक अन्य ग्रन्थो की भी रचना की थी, परन्तु इसमे "देवी शतक" ही मिलता है।

(८) अभिनवगुप्त (दशम शती का उत्तरार्ध)—

अभिनव गुप्त कश्मीर निवासी हैं, ये शैवदर्शन तथा तन्त्रशास्त्र के भी अलौकिक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं। इनका "तन्त्रालोक" नामक ग्रन्थरत्न तन्त्रशास्त्र का विश्वकोष ही है। साहित्यशास्त्र मे इनकी प्रसिद्धि भरत के

समकालीन कश्मीरी आचार्य हैं। अभिनव ने इनके नाम का तो नहीं, परन्तु इनके विशिष्ट मत का उल्लेख अपने ग्रन्थ में अवश्य किया है।

"वक्रोक्तिजीवित" कारिका तथा वृत्ति से सवलित ग्रन्थ है। इनमें चार उन्मेष हैं जिसमें वक्रोक्ति के स्वरूप तथा प्रकारों का पूरा वर्णन किया है। प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से मिलते हैं, परन्तु अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिलते हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत आलोचना का नितान्त प्रौढ़ तथा क्रान्तिकारी ग्रन्थ है। इसका वक्रोक्ति सिद्धान्त भी काव्य-जगत् में एक निराला सिद्धान्त है।

(१०) महिमभट्ट (११वीं शती का मध्यभाग)—

महिमभट्ट काश्मीर के निवासी थे, ये रसध्वनि आदि को मानते तो थे परन्तु इनके लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति को नहीं मानते थे, वे अनुमान के द्वारा रसादि की प्रतीति मानते थे। इनके मत में व्यञ्जनावृत्ति की न तो ध्वनि के लिए कोई आवश्यकता है, और न इसके लिए कोई अवकाश ही।

ध्वनि के खण्डन के लिए ही इन्होंने "व्यक्तिविवेक" नामक ग्रन्थ की रचना की। इनके अनुसार ध्वनि कोई पृथक् वस्तु नहीं है अपितु अनुमान का ही एक प्रकार विशेष है।

इसी बात की सिद्धि के लिए इन्होंने इस ग्रन्थ में अपने उत्कट पाण्डित्य का प्रदर्शन किया है। यह ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि के लक्षण का खण्डन तथा उसका अनुमान में ही अन्तर्भाव बड़ी प्रौढ़ता के साथ दिखलाया है।

द्वितीय विमर्श में "औचित्य" को काव्य का मुख्य दोष मानकर उसके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग प्रकारों का प्रगल्भ वर्णन है। अन्तरङ्ग अनौचित्य के भीतर "रसदोष" का अन्तर्भाव होता है। बहिरङ्ग के भीतर समस्त शब्दगत दोषों की गणना की गई है।

तृतीय विमर्श में ग्रन्थकार "ध्वन्यालोक" के ध्वनि स्थापन पर टूट पड़ता है, और उसमें से लगभग चालीस उदाहरणों की परीक्षा कर उन्हें अनुमान के द्वारा सिद्ध करता है।

महिमभट्ट के पिता का नाम श्रीधैर्य तथा गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने लोचन तथा वक्रोक्तिजीवितकार के सिद्धान्त का खण्डन किया है। मम्मट भट्ट ने इनके द्वारा उद्भावित दोषों को अपने काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास में ग्रहण किया है। अतः इसका समय दोनों के बीच (११वीं शती का मध्यकाल) होना चाहिए।

(११) धनञ्जय (१०वीं शती का उत्तरार्ध)—

महिमभट्ट के समान धनञ्जय भी ध्वनि विरोधी आचार्यों में अन्यतम हैं। वे रस की उत्पत्ति के विषय में भावकत्ववादी हैं, और व्यञ्जनावाद के

खण्डनकर्ता हैं। धनञ्जय तथा इसके भ्राता धनिक, दोनों धारा नगरी के विद्याप्रेमी नरेश मुञ्जराज (९७४ ई० ९९० ई०) के सभा पण्डित थे। इनका ग्रन्थ है— "दशरूपक" जिसमें नाटक के समस्त विषय बड़े संक्षेप में, परन्तु बड़ी सुन्दरता से वर्णित हैं। धनिक ने इस पर "अवलोक" नामक टीका लिखी है। इन्होंने "काव्यनिर्णय" नामक साहित्य विषयक ग्रन्थ का प्रणयन इससे पहले किया था। बहुरूप मिश्र की अप्रकाशित टीका दशरूपक की बहुत ही विशद टीका मानी जाती है।

दशरूपक में चार प्रकाश हैं, तथा लगभग तीन सौ कारिकायें हैं जिसमें वस्तु (नाटक का कथानक) नेता, (नायक) रूपक के दस प्रकार तथा रस का विशिष्ट वर्णन क्रमशः किया गया है। नाट्यशास्त्र एक भारी भरकम ग्रन्थ है, जिसका अनुशीलन करना साधारण पाठकों के लिए कठिन है। "दशरूपक" में यह कठिनता बहुत अंशों में दूर होती है। इसीलिए यह नाट्य का बहुत ही उपादेय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ है।

(१२) भोजराज (११वीं शती का पूर्वार्ध)—

धारा नरेश राजा भोज साहित्यशास्त्र के इतिहास में संग्राहक रूप से विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके दोनों ग्रन्थ इस विषय में वस्तुतः विश्वकोष ही है। "सरस्वती कण्ठाभरण" जो बहुत समय से विद्वानों का कण्ठाभरण हो रहा है, दूसरा ग्रन्थ "शृङ्गारप्रकाश" है यह भी अब प्रकाश में आ चुका है।

सरस्वती कण्ठाभरण में पाँच परिच्छेद हैं।

प्रथम परिच्छेद में काव्य के २४ गुणों का व १६ दोषों का वर्णन अपने मतानुसार है। द्वितीय परिच्छेद में २४ अलंकारों का, तृतीय में २४ अर्थालंकारों का तथा चतुर्थ में २४ उपमालंकारों का उदाहरण सहित वर्णन है। पञ्चम परिच्छेद में रस भाव, सन्धि तथा वृत्ति-चतुष्टय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

शृङ्गार प्रकाश- में रसों का विवेचन शृङ्गार का बहुत ही विस्तृत तथा विशद विवेचन है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मक है और अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने के लिए इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों का तथा उदाहरणों का पर्याप्त रूप से उद्धरण दिया है। दण्डी के काव्यादर्श का प्रभाव इस ग्रन्थ पर बहुत अधिक है।

(१३) मम्मट (एकादश शती का उत्तरार्ध)—

पूर्ववर्ती चारों आचार्य ध्वनि विरोध का प्रामाणिक खण्डन कर मम्मट ने अपने "काव्य प्रकाश" में ध्वनि मार्ग का जो विवरण प्रस्तुत किया, वही आदर्श

माना जाने लगा, और उसी का अनुगमन पिछले आलकारिको ने किया कश्मीर ही मम्मट की जन्मभूमि थी, भीमसेन ने इन्हे जैयट का पुत्र तथा कैय्यट और उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता लिखा है।

मम्मट का समय निश्चित करने मे ज्यादा कठिनाई नही है। इन्होने अभिनव गुप्त के मत को तथा पद्म गुप्त (१०१० ई०) के आस-पास वर्तमान पद्यो को उद्धृत किया है। उधर इसके प्रथम टीकाकार माणिक्य चन्द्र सूरि ने "सकेत" की रचना (११६०ई०) मे की। फलत इनका समय ११वी शती का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है।

काव्यप्रकाश प्रस्थान ग्रन्थ के समान प्रौढ तथा मौलिक है। इसके १० उल्लास हैं, जिसमे काव्यलक्षण,वृत्तिविचार, ध्वनिप्रकार तथा दोष गुण अलकार का विस्तृत तथा विशद विवरण है।

ध्वनि मार्ग का इससे सुन्दर विवेचन सक्षेप मे मिलना कठिन है। इस पर टीका का निर्माण करना पाण्डित्य की कसौटी माना जाता था। टीका सम्पत्ति मे यह बेजोड है। इसकी सत्तर टीकाओ मे से अनेक स्वतन्त्र रीति ग्रन्थ के कर्ताओ की भी रचनायें है। "अलकार सर्वस्व" के लेखक रुय्यक तथा साहित्य दर्पण" के निर्माता विश्वनाथ कविराज ने भी इसे व्याख्याओ से मण्डित किया है।

(१४) सागरनन्दी (एकादश शती का पूर्वार्ध)—

ग्रन्थकार का नाम "सागर" है, पर नन्दीवश मे उत्पन्न होने के कारण ये सागर-नन्दी के नाम से विख्यात थे। इनके ग्रन्थ का नाम "नाटकलक्षण-रत्नकोष" जिसमे नाटक के सब लक्षणो का वर्णन है। फलत यह दशरूपक की कोटि का ग्रन्थ है। सागरनन्दी दशरूपककार के ही समकालीन है। इन्होने राजशेखर (९२० ई०) के श्लोको को उद्धृत किया है, तथा इनके मत तथा पद्यो को सुभूति (१०६० ई० ११५० ई०) ने अपनी अमर टीका मे उद्धृत किया है। फलत इनका समय ११ शती का पूर्व भाग मानना उचित होगा। दशरूपक मे यह ग्रन्थ अपने म वैशिष्ट्य रखता है।

(१५) अग्निपुराण (११वीं शती का अन्तिम भाग)—

अग्निपुराण वस्तुत नाना विषाओं का लोकप्रिय कोष है। इसके दश अध्यायो मे अलकार-शास्त्र से सम्बद्ध विषय वर्णित हैं। इनमे किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादन नही है। प्रत्युत प्राचीन आलकारिको के मतो को आधार मानकर इसकी रचना की गई है। अधिकाश मत अलकार सम्प्रदाय से मिलते हैं। ये ध्वनि मार्ग को अङ्गीकार नही करते है। इनके ऊपर भोजराज का विशेष प्रभाव लक्षित होता है। फलत इस अश की रचना का समय ११वी शती का अन्तिम भाग होना चाहिए।

का निरूपण किया है, जिनमें से "विकल्प" तथा "विचित्र" जैसे नवीन अलकारो की कल्पना इनकी मौलिक सूझ का फल है।

विश्वनाथ कविराज इस ग्रन्थ के विशेष ऋणी हैं, तथा अप्पय्य दीक्षित भी इसे उपजीव्य मानते हैं। इसके ऊपर दो टीकायें प्रकाशित हैं—(१) जयरथकृत विमर्शिणी तथा (२) विद्याधर चक्रवर्ती कृत अलकार सञ्जीवनी। दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ कहीं-कहीं जयरथ के मत को उद्धृत करते हैं, और कहीं-कहीं खण्डन भी करते हैं।

(१८) हेमचन्द्र (१२वीं शती का उत्तरार्ध)—

गुजरात के राजा कुमारपाल (१२वीं शती उत्तरार्ध) के गुरु प्रसिद्ध जैनाचार्य "हेमचन्द्र" ने साहित्यशास्त्र पर "काव्यानुशासन" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस पर इन्होंने टीका भी लिखी है। ये अभिनव गुप्त व मम्मट के विशेष ऋणी हैं। ये सकलनकर्ता ही अधिक हैं। काव्यानुशासन के रस प्रकरण में इन्होंने अभिनव भारती से रस प्रसङ्ग का पूरा अक्षरशः उदाहरण ही दे दिया है, जो अभिनव के मूल ग्रन्थ के समझने में तथा पाठ निर्धारण में आज भी सहायता देता है।

हेमचन्द्र के दो शिष्यों की सम्मिलित कृति है—"नाट्यदर्पण"। इन दोनों शिष्यों के नाम हैं—रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र। रामचन्द्र—"प्रबन्धशतकर्ता" की उपाधि से मण्डित हैं। ये गुजरात के अनेक नरेश सिद्धराज, कुमारपाल तथा अजयपाल के समय में वर्तमान थे। फलत इनका समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है।

नाट्यदर्पण—नाट्यशास्त्र के विषयों को सक्षेप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है। छोटा होने पर भी उपादेय है। ग्रन्थकारो ने इस पर व्याख्या भी लिखी है, जिसमें आज अज्ञात और अनुपलब्ध अनेक नाट्यग्रन्थों के नाम ही मिलते, प्रत्युत उनके महत्त्वपूर्ण लम्बे-लम्बे उद्धरण भी मिलते हैं। ऐसे ही कई उद्धरणों से "रामगुप्त" के ऐतिहासिक रूप का परिचय इतिहास प्रेमियों को मिलता है, और इतिहास की एक विस्तृत कड़ी इसी ग्रन्थ की कृपा से उनके हाथ लगी है।

(१९) शारदातनय (१३वीं शती का मध्य भाग)—

शारदा तनय के व्यक्तिगत नाम से हम अपरिचित ही हैं। ये कश्मीर के निवासी थे अपने को शारदा का पुत्र मानते थे। भोज के शृङ्गार प्रकाश से और मम्मट के काव्यप्रकाश से यहाँ अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं। सिंहभूपाल (१४वीं शती का प्रथम चरण) ने "रसार्णव सुधाकर" में

शारदातनय के मत का उल्लेख किया है। अतः इनका समय शारदातनय तथा सिंहभूपाल के मध्यकाल में १२५० ई० के लगभग होना चाहिए।

इनके ग्रन्थ का नाम "भावप्रकाशन" है। यह प्रसिद्ध नाट्यशास्त्र का ग्रन्थ है। इनमें दश अधिकार हैं जिनमें भाव, रसरूप, रसभेद, नायक-नायिका भेद, शब्दार्थ-सम्बन्ध नाट्यशरीर, दशरूपक, नृत्यभेद, तथा नाट्यप्रयोग इन दश विषयों का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह नाट्य के सिद्धान्त के साथ ही साथ नाट्य के व्यवहार का भी सुन्दर विवेचन करता है। रस विषयक सामग्री अपूर्व है। रस के विषय में अनेक अज्ञात रसाचार्यों के जैसे नारद, वासुकि, व्यास आदि के मतों का ही निर्देश नहीं मिलता, प्रत्युत अभिनव गुप्त के भी मत का सुन्दर रूप से विस्तृत विवरण इसे नितान्त उपयोगी बना रहा है। कतिपय आचार्यों के मत को तो यहीं पहली बार उपन्यास किया गया है। इस प्रकार ग्रन्थ नाट्य की जानकारी के लिए तथा रस के विश्लेषण के लिए बहुत ही उपयोगी और उपादेय है।

(२०) पीयूष वर्ष जयदेव (१३वीं शती उत्तरार्ध)— 103437

जयदेव मिथिला के निवासी थे, ये गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव से तो भिन्न है, परन्तु 'प्रसन्नराघव" नाटक के कर्ता जयदेव यही है या पक्षधर मिश्र न्यायशास्त्र के विद्वान हैं, इस विषय में अभी तक विद्वानों में सन्देह है।

पीयूष वर्ष जयदेव विश्वनाथ कविराज से तो प्राचीन हैं, क्योंकि इन्होंने जयदेव का एक पद्य साहित्यदर्पण में उद्धृत किया है। अतः इनका समय १३वीं शती का उत्तरार्ध मानना चाहिए।

"चन्द्रालोक" इनका अलंकार शास्त्र का सुन्दर तथा लोकप्रिय ग्रंथ है। यह पूरा ग्रंथ दश मयूखों में विभक्त है। इसमें ३५० अनुष्टुब् श्लोक है, इसमें काव्य के समस्त विषयों का संक्षिप्त वर्णन है। इनकी शैली बड़ी सुन्दर है, पद्य के पूर्वार्ध में लक्षण हैं, उत्तरार्ध में उदाहरण। इसी ग्रन्थ को अप्पय्यदीक्षित ने अपने ग्रन्थ "कुवलयानन्द" के लिए उपजीव्य माना है। चन्द्रालोक की टीकाओं में "शारदागम" प्राचीन तथा पाण्डित्यपूर्ण टीका है। राजा जसवन्तसिंह का "भाषाभूषण" इसी चन्द्रालोक का हिन्दी अनुवाद है, यह भी मूल के समान ही रुचिर तथा आवर्जक है।

(२१) शोभाकर मिश्र (१४वीं शती)—

इनके ग्रन्थ "अलंकाररत्नाकर" का उल्लेख "रत्नाकर" के नाम से अप्पय्य दीक्षित तथा पण्डितराज दोनों ने किया। इसके मत का संकेत जयरथ ने विमर्शिणी के अनेक स्थलों पर किया है। निश्चित रूप से ये जयरथ (१५शती) से प्राचीन हैं। अतः इनका समय १४वीं शती मानना उचित है। ये कश्मीर

के निवासी प्रतीत होते हैं। इनके पिता का नाम त्रयीश्वर मिश्र था। तथा काश्मीरी कवि यशस्कार ने इन्हीं के अलकारो के उदाहरण के लिए "देवी-स्तोत्र" नामक काव्य का निर्माण किया।

इनका "अलकाररत्नाकर" सूत्र-वृत्ति के ढग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रथ है। इनमे इन्होंने लगभग एक सौ अलकारो का निरूपण किया है जिसमे कुछ अलकार इनकी मौलिक कल्पना हैं तथा कतिपय अलकार प्राचीन अलकारो के नाम बदलकर आये हैं। अलकारो के विकास के अनुशीलन के निमित्त यह ग्रथ विशेष उपयोगी है। पण्डितराज जगन्नाथ ने "रत्नाकर" के आधार पर "असम" तथा उदाहरण" नामक नवीन अलकारो की कल्पना की है जिसे अप्पय्य दीक्षित नही मानते।

पण्डितराज ने "असम" के उदाहरण मे दोष भले ही दिखलाया हो परन्तु उसकी कल्पना को मान्यता दी।

(२२) विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

ये उत्कल के राजा के सन्धिविग्रहिक थे। इनका वश पाण्डित्य के लिए प्रसिद्ध था। इनके पिता चन्द्रशेखर रचित "पुष्पमाला" तथा "भाषार्णव" के उल्लेख मिलते हैं। इनके पितामह के अनुज "चण्डीदास" ने "काव्यप्रकाश" पर "दीपिका" नामक टीका लिखी थी। इन्होंने "रुय्यक" के अलकार सर्वस्व" के कई नये अलकारो का निर्देश अपने ग्रथ मे किया है। तथा गीत-गोविन्द (११वी शती) और नैषध काव्य (१२वी शती का उत्तरार्ध) से पद्यो को उदाहरण के लिए उद्धृत किया है। एक श्लोक मे इन्होंने "अलाउद्दीन नृपति" का उल्लेख किया है जो दिल्ली का खिलजी अलाउद्दीन ही मालूम पडता है। फलत इनका समय १४वी शती का पूर्वार्ध मानना उचित है।

इनके अनेक ग्रन्थो का पता चलता है। परन्तु इनकी प्रसिद्धि का स्तम्भ-दीप है—"साहित्यदर्पण" जो अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ है। तथा आलोचना शास्त्र के सिद्धान्तो के जिज्ञासु पुरुषो के लिए नितान्त उपयोगी है। इसमे दश परिच्छेद हैं, जिनमे काव्य के तत्त्वो का विस्तृत वर्णन है। षष्ठ परिच्छेद मे नाट्य का भी संक्षिप्त विवरण देकर लेखक ने एक ही ग्रथ मे काव्य तथा नाट्य दोनो का श्लाघ्य समीक्षण प्रस्तुत किया है। यह काव्य प्रकाश की शैली पर लिखा गया है, परन्तु उतनी प्रौढता इसमे नही है। विश्वनाथ आलङ्कारिक होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं। इसीलिए उदाहरणो के रूप मे सुन्दर पद्यो का उपन्यास इस ग्रन्थ मे किया गया है। विश्वनाथ के पुत्र "अनन्तदास" की टीका प्राचीन है पर इस ग्रन्थ पर रामचन्द्र तर्कवागीश की टीका विशेष प्रसिद्ध है।

(२३) विद्याधर (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्याधर का ग्रन्थ 'एकावली" काव्यप्रकाश की शैली पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ म आठ उन्मेष (अध्याय) है। जिनमे काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार ध्वनिभेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालङ्कार तथा अर्थालंकार का क्रमश वर्णन किया गया है। यह काव्यप्रकाश तथा अलङ्कार-सर्वस्व पर आधारित है। इसके रचियता "विद्याधर" ने समस्त उदाहरणो को अपने आश्रयदाता उत्कल के शासक राजा नरसिंह-द्वितीय, (शासन काल० १२८०-१३-१४ ई०) की स्तुति म स्वय लिखा है। विद्याधर ने रुय्यक तथा नैषधकार श्रीहर्ष का उल्लेख इस ग्रन्थ म किया है, तथा इसके ऊपर एक ही टीका 'तरला" है, जिसके लेखक कालिदास के सञ्जीवनीकार मल्लीनाथ सूरि (१४वी शती का अन्तिम चरण) हैं, फलत इनका समय १३वी शती का अन्त तथा १४वी शती का आरम्भ है।

(२४) विद्यानाथ (१४वीं शती का पूर्वार्ध)—

विद्यानाथ के ग्रन्थ "प्रतापरुद्रयशोभूषण" की प्रसिद्धि दक्षिण भारत मे बहुत ही अधिक है। ग्रन्थकार ने अपने आश्रयदाता काकतीय नरेश 'प्रतापरुद्र" की स्तुति म दृष्टान्त के लिए पद्यो की रचना की है। साथ ही साथ नाटकीय परिभाषा के समझने के लिए इनकी स्तुति म "प्रतापरुद्रकल्याण" नामक नाटक भी इसम सन्निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र की राजधानी एकशिला (वारंगल) आन्ध्र म पडती थी जो वहाँ के सप्तम नरेश से अभिन्न माने जाते थे। इनके शिलालेख (१२९८-१३१७ ई०) तक के मिलते है। फलत इनका समय १४वी शती का पूर्वार्ध होना चाहिए। इस ग्रन्थ मे नौ प्रकरण हैं जिनमे काव्य के अङ्गो के साथ-साथ नाट्य के अङ्गो का भी पूरा विवरण मिलता है। मम्मट के आदर्श पर लिखित होने पर भी यह रुय्यक के अलंकारसर्वस्व का विशेष ऋणी है। मल्लिनाथ के पुत्र कुमारस्वामी ने इस पर "रत्नापण" नामक टीका लिखी है।

(२५) अप्पय्य दीक्षित (१६वीं शती का अन्तिम भाग)—

अप्पय्य दीक्षित दक्षिण भारत के प्रसिद्ध शैव दार्शनिक थे, ये द्रविड थे। कुवलयानन्द म इन्होने अपने आश्रयदाता का नाम वेंकटपति लिखा है जो विजयनगर का राजा वेंकट न होकर पेन्नकोण्डा का राजा वेंकट प्रथम था जिसके शिलालेख १५८६ से लेकर १६१३ ई० तक मिलते हैं। फलत इनका समय १६वी शती का अन्तिम चरण है।

इनके तीन ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र विषयक वृत्तिवार्तिक चित्रमीमासा व कुवलयानन्द हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इनके मत का खण्डन "रसगङ्गाधर" मे कस कर किया है तथा इनकी खिल्ली उडाई हैं। तुच्छ शब्द के प्रयोग से ये

पराङ्मुख नहीं हुए। तथ्य यह है कि अप्पय्य दीक्षित वेदान्ती तथा मीमांसक हैं। साहित्य इनका अपना विषय ही प्रधानरूप से नहीं था। तथापि अलंकारों के विकास के अध्ययन के लिए इनका "कुवलयानन्द" नितान्त उपादेय तथा मान्य ग्रन्थ है।

(२६) पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं शती का मध्य भाग)—

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने अपना यौवन काल "दिल्ली वल्लभ" की संरक्षकता में बिताया। यहाँ "दिल्ली वल्लभ" से दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ का संकेत माना जाता है। यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक तथ्य रखता है कि शाहजहां के निमन्त्रण पर उनके जेठे दाराशिकोह को संस्कृत पढ़ाने के लिए ये काशी से दिल्ली आये। और दारा का हीं वर्णन इन्होंने अपने काव्य में किया है। फलतः इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है। ये आन्ध्र तैलङ्ग ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी था।

इनका साहित्यशास्त्र विषयक प्रौढ ग्रन्थ रसगङ्गाधर है। ये प्रतिभाशाली कवि होने के अतिरिक्त अलौकिक पाण्डित्य से मण्डित विद्वान् थे। ग्रन्थ में जो कुछ लिखा है उसे पाण्डित्य की कसौटी पर कस कर लिखा है। उदाहरण सब इन्हीं के स्वयं निर्मित पद्य हैं। इनकी शैली प्रौढ तथा विचारोत्तेजक है। ग्रन्थ पूरा नहीं कहा जा सकता परन्तु साहित्य के समग्र तत्त्वों का विवेचन किया गया है। रस तथा अलंकारों के विवेचन में इन्होंने नयी सूझ से काम लिया है। ग्रन्थ के प्रथम आनन में काव्य के भेद, दश शब्द तथा अर्थ गुण ध्वनि भेद तथा रस की विस्तृत मीमांसा है। द्वितीय आनन में संलक्ष्य क्रमध्वनि शक्ति, व लक्षणा तथा सत्तर अलंकारों का विशेष विवेचन है।

इस प्रसङ्ग में इन्होंने प्राचीन मान्य आलंकारिकों का उल्लेख खण्डन या मण्डन की दृष्टि से किया है। रस तथा अलंकारों के विवरण में इनके अनेक मौलिक विचार उपलब्ध होते हैं।

इन्होंने अप्पय्य दीक्षित के "चित्रमीमांसा" के खण्डन के लिए एक नये ग्रन्थ की ही रचना की है जिसका नाम है—चित्रमीमांसा-खण्डन, इनकी प्रतिभा काव्य क्षेत्र में भी इसी प्रकार चमकती थी।

(२७) विश्वेश्वर पण्डित (१८वीं शती का पूर्वार्ध)—

विश्वेश्वर पण्डित पर्वतीय ब्राह्मण थे। अल्मोड़ा जिले के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। ये अपने युग के प्रबल पण्डित थे। ये साहित्यिक ही न होकर वैय्याकरण तथा तार्किक भी थे। इसीलिए इन्होंने पण्डितराज के समान ही नव्यन्याय की "अवच्छेदकावच्छिन्न वाली" शैली में अलंकारों का परिष्कृत

लक्षण प्रस्तुत किया है। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है "अलकार-कौस्तुभ" जिसकी रूपक अलकार के प्रकरण तक स्वय व्याख्या लिखी है।

इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था, जो स्वय प्रकाण्ड पण्डित थे तथा इनके विद्यागुरु भी थे। इनके भाई का नाम उमापति था जिनके मत का सकेत "कौस्तुभ" मे किया गया है।

"अलङ्कारकौस्तुभ" का एक उद्देश्य यह भी था कि अलङ्कारो की बढती हुई सख्या रोकी जाय, और इसी लिए इन्होने मम्मट के द्वारा उपन्यास ६१ ही अलङ्कारो का वर्णन यहां किया है। तथा अन्य अलकारो का उन्ही मे अन्तर्भाव कर दिया है। नव्य न्याय की शैली इस ग्रन्थ की भूयसी विशेषता है, तथा अलङ्कारो के लक्षण का परिष्कार इनकी मौलिक विचारधारा का प्रदर्शक है। उपमालङ्कार का विवेचन यहां डेड सौ बडे पृष्ठो मे किया गया है। इनके छोटे-छोटे सरल ग्रन्थ भी इस विषय मे ये हैं—

अलङ्कार मुक्तावली, रसचन्द्रिका, अलकार प्रदीप तथा कवीन्द्रकण्ठाभरण।

आलोचनाशास्त्र के मान्य आचार्यों मे विश्वेश्वर पण्डित ही अन्तिम आलकारिक माने जाते है।

प्रथम उल्लास

काव्यप्रकाश का प्रतिपाद्य विषय
"मङ्गलाचरण"

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥१॥

नियति के द्वारा निर्धारित, नियमों से रहित, केवल आनन्दमात्रस्वभाव वाली काव्य-रूपी-जगत् का निर्माण करने वाली कवि की भारती (वाणी-सरस्वती) सर्वोत्कृष्टशालिनी है ॥१॥

प्रारब्ध कार्य की निर्विघ्नतापूर्वक समाप्ति के लिए काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट ग्रन्थ के आरम्भ में अपने इष्ट देवता 'वाणी' को नमस्कार करते हैं।

उक्त मङ्गलाचरण में ग्रन्थकार ने यह दिखलाया है कि ब्रह्मा की सृष्टि (निर्मिति) की अपेक्षा कवि-भारती की रचना (सृष्टि) कहीं अधिक उत्कर्षशाली है। क्योंकि ब्रह्मा की कृति की अपेक्षा इसमें चार विशेषतायें, जो व्यतिरेकमुख से प्रदर्शित की गई है, वे सहृदय हृदयों को सर्वदा प्रतीत होती हैं।

(१) सृष्टि के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं। मीमांसक सृष्टि का मूलकारण कर्म (धर्माधर्म विशेष) को मानते हैं, तो सांख्यदर्शन सृष्टि का मूलकारण सत्व, रज व तमोगुणस्वरूपा प्रकृति को मानता है और न्यायदर्शन सृष्टि का मूल कारण परमाणु को मानता है। पर ये सब नियतिकृत नियम से सहित हैं। पर कवि की सृष्टि नियतिकृत नियम से रहित है। कवि की सृष्टि में ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा यह पहली विशेषता है। कहने का अभिप्राय यह है कि "नियति" शब्द के यहाँ दो अर्थ हैं "नियम्यन्ते सौरभादयो धर्मा अनयेति नियतिरसाधारणो धर्मः पद्मत्वादिकरूपः अर्थात् जिसके द्वारा सौरभ आदि धर्मों का नियन्त्रण किया जाता है वे पद्मत्वादि रूप असाधारण धर्म नियति पद से कहे जाते हैं। उसके द्वारा किया गया नियम है—"यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेषः" जहाँ पद्मत्व होता है, वहाँ विशेष प्रकार का सौरभ होता है। इस प्रकार की व्याप्ति को "नियतिकृतनियम" कहा जाता है। ब्रह्मा की सृष्टि इस नियतिकृतनियम से युक्त है। क्योंकि उसकी सृष्टि में इसप्रकार व्याप्ति पाई जाती है। परन्तु कवि की सृष्टि में इस प्रकार का कोई नियम

नहीं है। क्योंकि आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि को स्वयं प्रजापति कहा है और काव्य जगत् को कवि का संसार कहा है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथाऽस्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥१॥

इस काव्य-सृष्टि में कवि के लिये कोई बन्धन नहीं है। यहाँ कान्ता के मुखकमल में भी कवि प्रतिभा से सौरभ उद्भासित हो जाता है। नियत शब्द का दूसरा अर्थ, अदृष्ट या धर्माधर्म है। ब्रह्मा की सारी सृष्टि "अदृष्ट" के सिद्धान्त पर स्थिर है। प्राणियों के पूर्वकृत धर्माधर्म के निमित्त तदनुसार सुखदुःख रूप फल को भोगने के लिए स्वर्ग-नरकादि सृष्टि का निर्माण होता है।

परन्तु कवि की सृष्टि इन सब बन्धनों से परे है। कवि केवल अपनी कल्पना के बल पर अपने पात्र को स्वर्गीय ऐश्वर्य से सम्पुक्त करा देता है। उसके लिए देहान्तर या अपूर्व देह की आवश्यकता नहीं है।

अतः कविसामर्थ्य ब्रह्मा के सामर्थ्य से कहीं अधिक है।

(२) कवि सृष्टि की दूसरी विशेषता यह है कि वह आनन्दमय है। जबकि सांख्य दर्शन के अनुसार यह संसार सुखदुःख, मोहमय है। क्योंकि इस संसार का मूल कारण प्रकृति है, और वह सत्त्वरजतमो गुणस्वरूपा है। कहा भी है—"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"। "कारण गुणा कार्यगुणाना-रभन्ते" इस नियम के अनुसार प्रत्येक जागतिक पदार्थ सत्त्वरज और तमोगुण के कार्यस्वरूप सुखदुःखमोह वाला होगा।

काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका की व्याख्या प्रभा में इस बात का और भी स्पष्टीकरण किया है—"एकस्या एव कामिन्याः कंचित् प्रति सुखात्मक-सत्त्वसमुद्भूतत्वम्, सपत्नीं प्रति दुःखात्मकरज समुद्भूतत्वम्, स्वमलभमान प्रति तमोरूपमोहसमुद्भूतत्वमिति रीत्या सर्वपदार्थानां सुखदुःखमोहात्मक-त्वमिति सांख्यमतानुसारेणेदम्"।

अर्थात्—किसी पदार्थ में किसी के प्रति सत्त्वगुण समुत्कट तो उसके लिए वह सुखस्वरूप है, यदि रजोगुण है तो वह दुःखस्वरूप है, और यदि तमोगुण समुत्कट है तो वह मोहस्वरूप है।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ सुखदुःखमोहात्मक है।

परन्तु कवि की सृष्टि में दुःख का अस्तित्व ही नहीं है। उसकी सृष्टि में तो महाकवि भवभूति के अनुसार "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।" अपनी सहृदयतावश या कविप्रतिभाजन्यपरितापस्फुरित स्वयं प्रस्तर

भी आंसू गिराते हैं, और वज्र का भी हृदय पिघल जाता है। पर ये ही पदार्थ अपने पाठक को कितना आनन्द प्रदान करते हैं, इसको तो केवल सहृदय ही जानता है।

कवि की कृति में तो रुदन और क्रन्दन से भरा हुआ करुण भी आनन्दानुभूति स्वरूप ही है—

साहित्यदर्पणकार का भी यही कहना है—

करुणादावपि रसे जायते यत् परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥१॥

इसलिए कवि की सृष्टि ह्लादैकमयी—केवल सुखमयी है।

(३) कवि सृष्टि की तीसरी विशेषता है, उसका "अनन्यपरतन्त्रा" होना। अर्थात्—वह कवि की प्रतिभा के सिवाय और किसी के परतन्त्र नहीं है। जब कि ब्रह्मा की सृष्टि, परमाणु आदि उपादान (समवायि) कारण, और ईश्वरेच्छा द्वारा जो परमाणुओं में स्पन्दनादि कर्म है, ऐसे निमित्त व असमवायि कारणों के परतन्त्र है।

कहने का तात्पर्य यह कि—न्यायदर्शन के अनुसार सृष्टि का मूल उपादान कारण परमाणु है, परमाणुओं में ईश्वरेच्छावश जब आपस में स्पन्दन होता है तो परमाणुद्वय संयोग से आगे द्व्यणुकादि की उत्पत्ति होती है, पुनः तीन द्व्यणुकों द्वारा त्रसरेणु, इस प्रकार क्रमशः स्थूल पृथिवी की उत्पत्ति होती है। पर यह सब तभी हो सकता है, जब परमाणुओं के स्पन्दन निमित्त ईश्वरेच्छा हो, और ईश्वरेच्छा तत्तत् प्राणियों के धर्माधर्म "अदृष्ट" पर निर्भर है। न तो वह स्वेच्छया परमाणुओं का ही निर्माण कर सकता है और न बिना प्राणियों के अदृष्ट को देखे स्पन्दनादि व्यापार में ही समर्थ है। अतः यह मानना ही पड़ेगा कि प्राणियों के पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म ही एक मात्र उनके भोगानुकूल परमाणुओं के निर्माण में तथा उनके आरम्भ के कारण हैं, तदनुकूल पुनः ब्रह्मा को सृष्टि करनी पड़ती है। इसीलिए लिखा है कि ब्रह्मा की परमाण्वादि-उपादान-सामग्री के परतन्त्र है। पर प्रतिभाशील कवि के विषय में इतनी झंझट नहीं है।

(४) ब्रह्मा की सृष्टि की अपेक्षा कवि की सृष्टि की चौथी विशेषता यह है कि—ब्रह्मा की सृष्टि केवल मधुर-अम्ल, लवण, कटु, कषाय, और तिक्त ये छः ही रस हैं, ये भी सभी रस सबके लिए प्रिय नहीं हैं, पर कवि की सृष्टि में शृङ्गारादि—नौ रस हैं। जैसा कि कहा है—"नवरसरुचिराम्" इत्यादि। एक तो ये संख्या में अधिक हैं दूसरा सभी के सभी हृद्य हैं। सभी आनन्दस्वरूप हैं।

इसलिए भी कविसृष्टि नवरसा तथा रुचिरा होने के कारण ब्रह्मा की सृष्टि से उत्कृष्ट है।

अत इस मङ्गलश्लोक मे उपमानभूत ब्रह्मसृष्टि की अपेक्षा उपमेयभूत कविसृष्टि म उत्कर्ष की प्रतीति होती है। इसलिए यहां व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है।

पुनश्च शिल्प क उत्कर्षमुख मे शिल्पी के उत्कर्षरूप वस्तु की भी अभिव्यञ्जना होती है।

पर्यन्त म भारती कवेर्जयति" इत्यादि पदो के द्वारा जहाँ कवि का काव्यरूप भारती (वाणी) के प्रति जन्यजनकभाव सम्बन्ध है, और दूसरे पक्ष मे आराध्य-देवता (सरस्वती) के प्रति आराध्य आराधक सम्बन्ध है।

पुनश्च—ग्रन्थकार का वाणी की अधिष्ठात्री (भारती) देवी सरस्वती क लिए नमस्कार का आपेक्ष होगा—अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति द्वारा सरस्वती के प्रति ग्रन्थकार का नमन अभिव्यक्त है।

अत मम्मटनिष्ठ भारती विषयकभाव क अभिव्यक्त होने स भावध्वनि भी है।

भगवती श्रुति भी उस अखण्डब्रह्माण्डनायक (ईश्वर) को कवि के नाम म पुकारती है, न तो उस शाब्दिक कहती है और न तार्किक।

इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न वैय्याकरण कहा गया है, और न नैय्यायिक परन्तु कहा गया है कवि। 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" इत्यादि उपनिषद वाक्य इसक यथार्थ पोषक है। इसलिए भारतीय सस्कृति म कवि का आदर सर्वतोभावन विराजमान है। यह कवि क लिए गौरव की बात है—

स्तोतु प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वर हि।
न शाब्दिक प्राह न तार्किक वा॥
ब्रूते हि तावत कविरित्यभीक्ष्णम्।
काष्ठा परा सा कविता ततो न॥ (शिवलीलार्णव १।१६)

काव्य का प्रयोजन

ससार मे किसी भी कृति का कोई न कोई प्रयोजन (उद्देश्य) अवश्य होता है। अत कवि की कृति (काव्य-रचना) म भी कोई न कोई प्रयोजन अन्तर्निहित अवश्य होगा, जिसका प्रतिपादन अवश्य है, अन्यथा—यदि प्रयोजन का प्रतिपादन ग्रन्थ के प्रारम्भ मे न किया जाय तो, पाठकों को अभिलषित वस्तु (इष्टसाधनता) का ज्ञान नहीं होगा, उस अभीप्सित (इष्ट) के ज्ञान के

अभाव में पाठकों की ग्रन्थ पढ़ने में प्रवृत्ति नहीं होगी। अतः ग्रन्थकार प्रयोजन के अभिमुख प्रवृत्ति दिखलाते हुए काव्य के प्रयोजन का निरूपण करते हैं—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥२॥

काव्य का निर्माण यश की प्राप्ति के लिए है। जैसे—कालिदास तथा भवभूति ने अपने काव्यों के द्वारा ही विपुल कीर्ति को अर्जित किया। कालिदास व भवभूति आदि महाकवियों को इस धराधाम को छोड़े हुए न मालूम कितने वर्ष बीत गये पर उनके काव्यग्रन्थ उनका विमल यश अभी तक फैला रहे हैं। रससिद्ध कवियों का यश चिरस्थायी होता है, इस बात को महामनीषी महाराजा भर्तृहरि ने कितने सुन्दर ढंग से कहा है—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम् ॥१॥

(२) धन प्राप्ति के निमित्त भी काव्य रचना की जाती है। कविगण अपने आश्रयदाता की कीर्ति का गुणगान किया करते थे। इसके फलस्वरूप उन्हें उपहार में काफी धनराशि मिलती थी। धावक तथा बाण ने भी अपने आश्रयदाता "श्रीहर्ष" से काव्यरचना द्वारा अतुल सम्पत्ति प्राप्त की। तात्कालिक इतिहास इसका साक्षी है।

(३) व्यवहारज्ञान कराने के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। काव्य के द्वारा ही हमें राजदरबारों का और तत्सम्बन्धी मन्त्रि अमात्यादियों के व्यवहार का उचित ज्ञान होता है, और भी काव्य के अनुशीलन से ही हम किसी युग विशेष के लोगों का या समाज का आचरण तथा व्यवहार भलीभांति जान सकते हैं।

(४) अमङ्गल का निवारण या शिवेतरक्षति के लिए भी काव्य का निर्माण किया जाता है। कवि अपनी रचना द्वारा किसी विशिष्ट देवताओं की स्तुति करता है, जिससे प्रसन्न होकर वे देवता रचयिता के अमङ्गल (संकट) को दूर कर देते हैं।

साहित्य में इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। सातवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि मयूरभट्ट कुष्ठ रोग से पीड़ित हो गये थे। उन्होंने अपने कुष्ठ रोग की निवृत्ति के लिए भगवान् भास्कर की स्तुति में सूर्यशतक नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। मयूर की इस भव्य-स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने उन्हें कुष्ठ रोग से निवृत्त कर दिया। अन्य कवियों के विषय में भी ऐसी ही कथायें प्रचलित हैं।

(५) इन प्रयोजनों में सद्य परमानन्द की प्राप्ति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन है। काव्य-पाठ में तल्लीन हुआ पाठक कभी ग्रलौकिक आनन्द का अनुभव करता है। इस समय वह सांसारिक-प्रपञ्च में जल में कमल की भांति कुछ पृथक् सा रहता है। अर्थात्-उस समय पाठक सहृदय को (वेद्यान्तर) किसी अन्य वस्तु का ज्ञान ही नहीं होता है। यह आनन्दानुभूति ही काव्य का "सकल प्रयोजन मौलिभूत" प्रयोजन है।

(६) कान्ता के समान उपदेश दान भी काव्य के मुख्य प्रयोजनों में अन्यतम है। यह कान्तासम्मित उपदेश राजाज्ञा के तुल्य शब्द प्रधान वेदादि शास्त्रों से, और मित्र के तुल्य अर्थ प्रधान पुराणेतिहासादियों से विलक्षण भावना प्रधान होता हुआ सरस तथा मधुर शब्दों द्वारा असन्मार्ग में स्थित व्यक्ति को 'रामादि की तरह आचरण करना चाहिए न कि रावण की तरह" इस प्रकार के उपदेश से सन्मार्ग की ओर अभिमुख करा देता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि उपदेशक शब्द तीन प्रकार के होते हैं। प्रभुसम्मित मित्रसम्मित, तथा कान्तासम्मित शब्द।

प्रभुसम्मित शब्द—वेदादि वाक्य है, जो राजाज्ञा की तरह है इनको अक्षरशः पालन करना पड़ता है और इनके शब्दों को जरा भी इधर-उधर नहीं किया जा सकता अर्थात् शब्दावली-या वाक्य विन्यास के आनुपूर्वी को किसी स्थिति में भी शिथिल नहीं किया जा सकता है। वेद वाक्यों का अन्यथा उच्चारण में या आज्ञा न मानने में एक "प्रत्यवाय" नामक दोष लग जाता है। बिना किसी ननु न च किए आज्ञा पालन करना, और उसी क्रम में उच्चारण करने में वेद पढ़ने का पुण्य। अतः वेदादिवाक्य शब्द प्रधान हैं।

दूसरे उपदेशक शब्द है मित्रसम्मित—मित्र अपने मित्र को उचित कार्य करने के लिए तथा अनुचित कार्य के परित्याग के लिए उपदेश करता है। पर मित्र का उपदेश राजाज्ञा या वेद वाक्य की तरह उसे उस मार्ग व अनुष्ठान के लिए मजबूर भी नहीं करता, और न इस उपदेश की शब्द में ही प्रधानता रहती है अपितु अर्थ में इसका तात्पर्य रहता है यह शैली इतिहास पुराणादि की शैली है। इसी शैली को ग्रन्थकार ने "सुहृत्सम्मित" या मित्रतुल्य उपदेश कहा है।

इन दोनों प्रकारों से भिन्न काव्य की उपदेश शैली का नाम है—कान्तासम्मित शब्द या कान्ता के समान उपदेश दान—इस प्रकार के उपदेश में शब्द व अर्थ दोनों ही अप्रधान हो जाते हैं, अपितु रसाङ्गभूत—जो व्यञ्जना व्यापार, इसी व्यापार की महिमा से सरसतापूर्ण-उपदेश, पाठक व श्रोता के चित्त को एकाएक आकृष्ट करके सत्कार्य की ओर प्रवृत्त करा देता है। अन्य शास्त्रों से यही काव्य का वैशिष्ट्य है।

विभिन्न-धारायें

काव्य के प्रयोजन के प्रसङ्ग में विभिन्न विद्वानों की अनेक तरह की धारणायें हैं। संक्षेप में दिग्दर्शन किया जाता है—

आचार्य वामन के मत में काव्य दृष्ट (ऐहलौकिक) तथा अदृष्ट (पारलौकिक) दोनों तरह के फल को देता है। जीवन काल में आनन्द और मृत्यु के बाद यश देता है।

अर्थात्—काव्य-रचना की प्रतिष्ठा को यश प्राप्ति का मार्ग कहा है—

काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥

काव्य सत्=चारुदृष्ट प्रयोजन, प्रीति हेतुत्वात्। अदृष्ट प्रयोजन कीर्तिहेतुत्वाद्।

"प्रतिष्ठा काव्यबन्धस्य यशस सरणिं विदु" ॥ इत्यादि।

वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तक की सम्मति में—

काव्यामृत का रस उस (काव्य) को समझने वाले सहृदयों के अन्त करण में चतुर्वर्ग रूप फल के आस्वाद से भी बढ़कर चमत्कार उत्पन्न करता है।

आगे स्वयं उन्होंने इसके अभिप्रायको स्पष्ट करते हुए कहा है—जो चतुर्वर्गफल प्रकृष्ट पुरुषार्थ होने के कारण सब शास्त्रों के प्रयोजन रूप से प्रसिद्ध है वह भी इस काव्यामृत रस की चर्वणा के चमत्कार की कलामात्र के साथ भी किसी प्रकार की बराबरी नहीं कर सकता है। (वह) सुनने में कटु, बोलने में कठिन, और समझने में मुश्किल आदि अनेक दोषों से दुष्ट और पढ़ने के समय में ही अत्यन्त दुख दायी शास्त्र सदर्भ हैं। पढ़ने के साथ ही अलौकिक चमत्कार को उत्पन्न करने वाले काव्य की बराबरी (स्पर्धा) किसी प्रकार भी नहीं कर सकता है। यह बात अर्थापत्ति प्रमाण से प्रतीत होती है।

अत शास्त्र कड़वी औषधि के समान अविद्या रूप व्याधि का नाश करता है, और काव्य आनन्ददायक-अमृत के समान अज्ञानरूप रोग का नाश करता है।

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम् ।
काव्यामृत रसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥५॥

अयमभिप्राय —योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वाद प्रकृष्ट पुरुषार्थतया सर्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्ध, सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कार कलामात्रस्य न कामपि साम्यकलना कर्तुमर्हति, दु श्रवदुर्भण-दुरधिगमत्वादिदोषदुष्टोऽध्ययनावसर. एव

सुदृसहृदु लदायी, शास्त्रसन्दर्भस्तत्कालकल्पितकमनीयचमत्कृते काव्यस्य न कथञ्चिदपि स्पर्धामधिरोहतीत्येतदप्यर्थतोऽभिहित भवति।

कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्या व्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यामृतवत् काव्यमविवेकगदापहम् ॥७॥

आचार्य भामह ने काव्यफलो निरूपण करते हुए कहा है—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधु काव्यनिबन्धनम् ॥

ये फल भामह ने केवल काव्य-रचना करने वाले कवि के लिए ही कहे हैं न कि पाठक के लिए, परन्तु कीर्ति को छोडकर अन्य सभी फल तो पाठक को भी प्राप्त हो सकते हैं, इसीलिए विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ साहित्य दर्पण म कुछ पाठ परिवर्तन के साथ इस श्लोक को रखा है, "साधु काव्यनिबन्धनम्" की जगह पर "साधु काव्यनिषेवणम्" यह पाठ रखा है।

मम्मट की सद्य परा निर्वृत्ति ही कुन्तक की "अन्तश्चमत्कार" है। यही आनन्दानुभूति काव्य का परम प्रयोजन है।

भारतीय दर्शन के अनुसार भी इसी परम पुरुषार्थ आनन्दावाप्ति स्वरूप मोक्ष के लिए ही सभी प्राणियो की प्रवृत्ति होती है। पर यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति प्रपञ्च पराङ्मुख रहे, या सासारिक पदार्थों म आसक्ति छोड दे। उपनिषदो म लिखा है कि मानव की तीन एषणायें होती हैं। (१) पुत्रैषणा, (२) वित्तैषणा और (३) लोकैषणा, अन्य शब्दो मे इन्हें काम, अर्थ और धर्म कह सकते हैं। यही ससार मे समस्त मानव प्रवृत्तियो की मूल मानी जाती है। परन्तु इन तीन पुरुषार्थों के अतिरिक्त एक मोक्ष नाम का परमपुरुषार्थ भी है, जहा आत्मा की साक्षात् अनुभूति कलात्मक चिन्तन (शास्त्र द्वारा) या रसात्मक प्रेरणा द्वारा होती है। इसी स्थिति की प्राप्ति के लिए यावत् कला, यावत् शास्त्र, यावत् काव्य निरन्तर प्रवृत्त है। इसी के लिए कवियो की काव्य मे प्रवृत्ति कभी कभी स्वान्त सुखाय भी होती है। इसी आत्मा को जानना ही भारतीय आध्यात्मिक चिन्तन का सर्वश्रेष्ठ फल है।

"आत्मान विजानीहि ॥ इति ॥

काव्य का कारण

काव्य की रचना करने वाले व्यक्ति को कवि कहते हैं, राजशेखर के अनुसार कवि शब्द की निष्पत्ति "कवृवर्णे—इस धातु मे ई प्रत्यय लगाने से हुई है, कवि का अर्थ है वर्णनकर्त्ता—अर्थात्—रसभावादि का विमर्शक इस प्रकार लोकोत्तर वर्णना मे निपुण कवि के कर्म को काव्य कहते हैं। यश: प्रभृति फल से सम्पन्न काव्य सर्वथा उपादेय व उपेय हैं—

इसी के समुल्लास के लिए आचार्य मम्मट उपायों का वर्णन करते है—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञ शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥३॥

काव्य के समुल्लास उद्भव मे शक्ति प्रतिभा अर्थात्-कवित्व बीजरूप-संस्कारविशेष, और लोक-व्यवहार शास्त्र एव काव्यादि के पर्यालोचन मे व्युत्पत्ति-निपुणता, और काव्यज्ञ विद्वानो की शिक्षा का अभ्यास, ये तीनों-शक्ति-निपुणता-व-अभ्यास सम्मिलित (समष्टि) रूप से कारण हैं।

"इति हेतुस्तदुद्भवे" मे "हेतु नं तु हेतव" ऐसी व्याख्या वृत्ति मे की है, इसका अभिप्राय यही है कि यहा काव्य की उत्पत्ति मे उक्त शक्ति-निपुणता अभ्यास की सम्मिलित हेतुता है न कि पृथक् पृथक्। अत एव हेतु शब्द मे एकवचन का ही प्रयोग किया, बहुवचन का प्रयोग नही किया।

अर्थात्—जैसे तृण से, मणि से, व अरणि से सहायान्तरनिरपेक्ष रूप से अलग-अलग अग्निरूपी कार्य उत्पन्न होता है वैसे यहां सहायान्तरनिरपेक्ष-काव्योत्पत्ति कार्य नहीं होता है, इस प्रकार के हेतु जो पृथक रहकर कार्योत्पत्ति के कारण होते हैं—उनमे तृणारणीमणि न्याय चरितार्थ होता है। परन्तु यहाँ काव्योल्लास शक्ति निपुणता व अभ्यास की सम्मिलित हेतुता होने के कारण दण्डचक्रचीवरादि न्याय चरितार्थ होगा।

अर्थात्—घटरूपी कार्य मे जैसे दण्डचक्र व चीवर ये सभी कारण अपेक्षित है इनमे से एक की भी अनुपस्थिति वाञ्छनीय नही होती, उसी प्रकार काव्योत्पत्ति-कार्य मे भी उक्त तीनो हेतुओं की सम्मिलितावस्था अपेक्षित है, इनमे एक की भी यदि अनुपस्थिति हुई तो अनुपहसनीय काव्य का निर्माण नही हो सकता, यही "हेतु" इस एकवचन का स्वारस्य है।

काव्य की कारणता के विभिन्न पक्ष

संस्कृत आलोचनाशास्त्र मे काव्य की कारणता के प्रसङ्ग मे अनेक प्रकार के मत मतान्तर दिखाई देते हैं, अधिकतर आचार्य कारण-त्रितय पक्ष के ही समर्थक दिखाई देते हैं, पर उनके कारणो की संज्ञा में केवल भेद मालूम पड़ता है।

आचार्य दण्डी के मत मे भी प्रतिभा, शास्त्रज्ञान व निरन्तर अभ्यास ही काव्य की साधना है—

नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहुनिर्मलम्, ।
अमन्दश्चाभियोगश्च कारण काव्यसम्पद ॥ (१।१०३ का० द०).

आचार्य वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी हैं। वे प्रतिभा शब्द को 'प्रतिभानम' शब्द से कहते हैं और इसी को कवित्व का बीज मानते हैं। यह प्रतिभा या प्रतिभान जन्मजन्मान्तर का संस्कार विशेष है इसके अभाव में कवित्व का स्फुरण ही नहीं होता है इसके अतिरिक्त वे लोकवृत्त लोकव्यवहार तथा प्रवीण काव्यज्ञ-वृद्ध सेवा को भी आवश्यक मानते हैं। लिखा भी है—

लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि ॥१॥ इत्यादि

इनके सहायक कारण हैं चित्त की एकाग्रता विविक्तदेशसेवित्व अथवा ब्राह्ममुहूर्त—प्रातः चार बजे का समय और पदों अवापोद्वाप अर्थात् पदों का परिवर्तन काव्य के परिपाक के लिए उचित पदों का विन्यास व अननुरूप पदों का अपसारण पुनः उनका निरीक्षण भी आवश्यक है—

आधानोद्धरणे तावत् यावद्दोलायते मनः ।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती ॥
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्ति सहिष्णुताम् ।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ ५॥

आचार्य रुद्रट ने भी काव्यकारणा के प्रसङ्ग में प्रतिभा व्युत्पत्ति व अभ्यास को एक साथ कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे शक्ति का प्रयोग करते हैं—और उनका लक्षण भी प्रस्तुत करते हैं—एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का जहाँ अनेक प्रकार से स्फुरण होता है कमनीय पद कवि के सामने स्वयं उपस्थित हो जाते हैं उसे शक्ति या प्रतिभा कहते हैं।

उनके शब्दों में शक्ति का लक्षण यह है—

मनसि सदा सुसमाधिनी विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥ (१।१५)

आचार्य आनन्दवर्धन की सम्मति में व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखने वाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति अत्यन्त स्पष्ट है—

अव्युत्पत्ति कृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्ति कृतस्तस्य झटित्येवावभासते ॥१॥

आचार्य कुन्तक के मत में कवि का स्वभाव ही काव्य का मूल कारण है, इस स्वभाव के अनुसार ही कवि की व्युत्पत्ति होगी और तदनुसार ही कवि

का अभ्यास भी होगा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तो केवल प्रतिभा के परिपोषक मात्र हैं। वस्तुत काव्य बन्ध तो कवि स्वभाव पर आश्रित हैं, यद्यपि कुन्तक ने स्वतन्त्र काव्य हेतुओ पर विचार नही किया फिर काव्य मार्ग के प्रसङ्ग मे वे कवि स्वभाव की व्याख्या करते हुए कहते है।

"कविस्वभावभेदनिबन्धनत्वेन काव्यप्रस्थानभेद समञ्जसता गाहते। सुकुमारस्वभावस्य कवेस्तथाविधैव सहजा शक्ति समुद्भवति, शक्तिशक्तिमतोरभेदात् तथा च तयाविधसौकुमार्यरमणीया व्युत्पत्तिमाबध्नाति।"

राजशेखर ने लिखा है कि श्यामदेव नामक आलकारिक के मत मे काव्य-कर्म मे सबसे अधिक सहायक वस्तु "समाधि" है अर्थात्—"चित्त की एकाग्रता", आचार्य मगल "अभ्यास" को ही अधिक उपयोगी मानते हैं। परन्तु राजशेखर का मत इन दोनो से भिन्न है, वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन मे प्रधान हेतु मानते हैं।

समाधि तथा अभ्यास तो शक्ति के उद्भासक मात्र हैं। काव्य-कला के उन्मीलन मे साक्षात् हेतु तो शक्ति ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी केवल प्रतिभावादी हैं। उनके शब्द इन प्रकार है—"तस्य च कारण कविगता केवला प्रतिभा" प्रतिभा का लक्षण करते है—काव्यरचनानुकूल शब्दार्थों की उपस्थिति, और उस प्रतिभा मे रहने वाली एक प्रतिभात्व जाति विशेष है। अर्थात्—काव्य निष्ठ कार्यता के प्रति समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न प्रतिभा मे रहने वाली जो कारणता है, वह किसी न किसी धर्म से अवच्छिन्न रहेगी, अत प्रतिभावृत्ति कारणता भी प्रतिभात्व धर्म से अवच्छिन्न होती रहेगी, क्योकि यह नियम है जो जो कारणता होती है वह किञ्चिद्धर्मावच्छिन्न होती हैं, अत प्रतिभा मे रहनेवाली कारणता भी प्रतिभात्व धर्मावच्छिन्ना होगी, इसीलिए प्रतिभा को जाति विशेष कहा है।

इस प्रतिभा के फिर दो कारण माने हैं—

एक अदृष्ट—अर्थात् जन्मान्तरीय कवित्वबीजरूप सस्कार विशेष—और दूसरा—व्युत्पत्ति एव अभ्यास।

अदृष्ट का अर्थ पुण्य—मन्त्र तन्त्र आदि भी माना है। कहा भी है—

"मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥"

जैसे श्रीहर्ष के विषय मे कहा गया है—"तच्चिन्तामणि मन्त्रचिन्तनफले-काव्ये महाचार्वाणि" इत्यादि मन्त्रानुष्ठान जन्म महाफल उनका नैषधीय चरित महाकाव्य है। और कही लोक-शास्त्र व काव्यादि के अनुशीलन भी काव्य या प्रतिभा का कारण माना गया है।

इस प्रकार पण्डितराज जगन्नाथ ने केवल प्रतिभा को ही काव्य का कारण माना और काव्यनिष्ठ कार्यता निरूपित कारणता का अवच्छेदक प्रतिभात्व होगा।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में काव्य कारणता के विषय में सम्मिलित कारणतावाद तथा केवल कारणतावाद का कौतुक काव्य रसिकों के आलोचना चक्षु के लिए अत्यन्त रमणीय आस्वाद्य तथा मननीय है।

वस्तुतः कवित्व के आधार स्तम्भ दो ही हैं दर्शन और वर्णन। इन दोनों के परिपूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। दर्शन का सम्बन्ध आन्तरिक प्रतिभा से और वर्णन का सम्बन्ध शब्दों की समुचित उपस्थिति से है।

वाल्मीकि महर्षि तत्वों के द्रष्टा थे, परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत-आन्तरिक प्रतिभा ज्ञान को शब्दों के माध्यम से नहीं प्रकाशित किया तब तक उन्हें आदिकवि या महाकवि की महनीय सत्ता नहीं प्राप्त हुई। क्रौञ्च पक्षी के निधन से उत्पन्न हुए करुण स्वर ने जब उनके कारुणिक हृदय को पिघला दिया तब उनका आन्तरिक शोक ही

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

इत्यादि श्लोक में परिणत हुआ। इसीलिए भौत की यह उक्ति भी सत्य ही है कि कवि ऋषि ही होता है अनृषि नहीं होता।

ऋषयोमन्त्रद्रष्टारः अतः दर्शन व वर्णन ये दोनों कवि के मुख्य पाथेय हैं।

काव्य का लक्षण

'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' किसी भी वस्तु की सिद्धि लक्षण अथवा प्रमाण से होती है इस नियम के अनुसार काव्य के प्रयोजन व कारण के निर्वचनानन्तर काव्य पद प्रवृत्ति निमित्तार्थक या काव्य के व्यवहार के लिए उसके लक्षण का निरूपण करते हैं—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि

दोषरहित और गुणरहित कहीं कहीं अलङ्कारों से रहित भी शब्द और अर्थ (दोनों की समष्टि) काव्य कहलाते हैं।

अर्थात्—काव्य शब्द और अर्थ के मञ्जुल समन्वय में विराजमान हैं जिस प्रकार 'अर्धनारीश्वर'—शिव और पार्वती का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार शब्द और अर्थ भी काव्य में नित्य समभाव से रहते हैं। पर ये शब्दार्थ तीन विशेषणों से विशिष्ट होने चाहिए।

(क) दोषो से रहित (ख) गुणो से सहित (ग) अलंकार रहित भी यदि कही कही हो तो क्षति नही है।

(१) रस के विघातक कतिपय प्रबल दोष, जो रस के प्रतीति के प्रतिबाधक हो वे दोष काव्य मे नही होने चाहिए। यद्यपि दोष सामान्याभाव या निर्दुष्ट काव्य सर्वथा दुर्लभ है, फिर साक्षात् या परम्परया-शब्दार्थ द्वारा जो दो उद्देश्य प्रतीति के प्रतिबन्धक हो उन दोषो से रहित हो।

(२) गुणो की सम्पत्ति—शब्दार्थ को गुणो से सहित-युक्त होना आवश्यक है। काव्य के मुख्य तीन गुण हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद। ये गुण काव्य के आत्मभूत रस के नित्य धर्म हैं। रस के धर्म होने के कारण ही रस के साथ इनका साक्षात् सम्बन्ध है और अप्रधान रूप से परम्परया ये शब्द और अर्थ मे भी रहते हैं। जिन शब्द और अर्थ से काव्य सम्पन्न होता है, उनमे गुणो की स्थिति आवश्यक है।

(३) अलकार की वैकल्पिक स्थिति—काव्यगत शब्द तथा अर्थ को सर्वथा अलकार से युक्त होना बहुत जरूरी नही हैं। परिस्थिति विशेष मे ही अलकार की अपेक्षा है। इस प्रसङ्ग मे काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने अपनी प्रौढ टीका प्रदीप मे एक मार्मिक टिप्पणी दी है—जिसका सार यह है—प्रदीपकार का कहना है कि चमत्कार सार ही तो काव्य है। और वह चमत्कार या तो रस के द्वारा अभिव्यक्त होगा, अथवा अलकार के द्वारा जहाँ रस की स्थिति है वहाँ किसी अन्य अलकार की अपेक्षा नही है। इस बात को स्वय ध्वनिकार ने भी कहा है कि निबन्ध का वाक्यार्थ जहां स्वत रसानुकूल हो ऐसी स्थिति मे अलकार की अनुपस्थिति मे भी प्रबन्ध किसी अनिर्वचनीय विच्छित्ति को परिपुष्ट करता ही है।

परन्तु ऐसी स्थिति मे जहाँ शब्दार्थ नीरस हो वहाँ भी यदि अलकार न हो तो चमत्कार की अनुभूति कहाँ से होगी ? इस स्थिति मे स्फुटालकार की भी आवश्यकता है। इसीलिए काव्यलक्षण मे "अनलङ्कृती पुन क्वापि" न देकर अलकार की सामान्यत वैकल्पिक स्थिति न रखकर "स्फुटालकाररसान्यतरत्वम्" यह विशेषण देना चाहिए। अर्थात् शब्दार्थ के साथ केवल अलकार वैकल्पिक स्थिति न देकर रस व अलकार के विकल्प को रखना चाहिए था।

उक्त लक्षण की कविराज विश्वनाथ कृत आलोचना—

विश्वनाथ कविराज ने अपने "साहित्यदर्पण" नामक ग्रन्थ मे मम्मट उक्त काव्य लक्षण की प्रतिपद आलोचना की है। दर्पणकार ने मम्मट के इस काव्य लक्षण को चिन्तनीय बतलाया है। सर्वप्रथम उन्होने "अदोषौ" इस विशेषण पर कटाक्ष किया है कि काव्यप्रकाशकार का यह काव्य लक्षण अव्याप्त है।

अर्थात् लक्ष्य के एक देश में सङ्गत नहीं होता है क्योंकि "न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरय" इत्यादि ध्वनिकाव्य के उदाहरण हैं परन्तु यहीं पर "अयमेव न्यक्कार" इस प्रकार पदों के परस्पर उद्देश्य विधेय भाव का विपर्यय होने से विधेया विमर्श दोष है। फलत उक्त दोष से दुष्ट होने के कारण आपका लक्षण यहाँ व्याप्त नहीं है, अत आपका लक्षण अव्याप्ति दोषग्रस्त है। इस प्रकार निर्दुष्ट काव्य का मिलना अत्यन्त ही असम्भव है। इसलिए काव्य के शब्दार्थ के लिए यह दोषाभाव की शर्त नहीं रखनी चाहिए।

इसी प्रकार सगुणौ का भी खण्डन किया। विश्वनाथ का कहना है कि जब गुण रस के धर्म हैं न कि शब्दार्थ के तब काव्य तो सरस होगा ही, धर्मी रस की सत्ता म उसके धर्म गुणों की स्वत. सत्ता है, इसके लिए पुन 'सगुणौ' यह विशेषण देना सर्वथा अनुचित है, जब रस की सत्ता शब्दार्थ नहीं रहे उस स्थिति म शब्दार्थ के सगुण विशेषण आवश्यक है इस तरह यदि समाधान किया जाए तो रस के अभाव म तो शब्दार्थ म काव्यत्व ही नहीं फिर गुणों की चर्चा करना ही व्यर्थ है। अत रसाभावदशा में भी सगुणौ यह विशेषण उचित नहीं है।

अनलङ्कृती पुन. क्वापि—के उदाहरण में भूल—

मम्मट ने अनलङ्कृती पुन क्वापि का अर्थ किया है सर्वत्र सालङ्कार शब्दार्थ काव्य है यदि कहीं स्पष्ट अलकार न भी रहे तो उस दशा म भी काव्य माना जाता है। जैसे—"य कौमारहर स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा" इत्यादि पद्य में किसी स्वाधीन पतिका का यह कथन है।

यहाँ प्रकृत सामग्री के सद्भाव म भी उत्कण्ठा की निवृत्ति नहीं हो रही है। इसम विश्वनाथ का कथन है कि यहाँ विभावना तथा विशेषोक्ति दोनों अलकार प्रतीत होते हैं एक ही वाक्य म दोनों की स्थिति होने स उनके गुण प्रधान भाव म सन्देह होने के कारण सन्देह सकर स्पष्ट ही है। अत मम्मट का यह कथन कि यहाँ स्पष्ट अलकार नहीं है यह सरासर भूल है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के ऊपर विश्वनाथ के आक्षेप आपातत यथार्थ प्रतीत होते हैं। ऐसा मालूम पडता है कि विश्वनाथ कोर्ट के कोई वकील हैं, और मम्मट के ऊपर एक से एक पोइन्ट पकड कर बहस कर रहे हो और प्रतिपद दोषारोपण कर रहे हो।

पर मम्मट की काव्य परिभाषा पर थोडा भी गम्भीर चिन्तन करने स विश्वनाथ की ये दलीलें कपूर की तरह उड जाती हैं।

अदोषौ का अर्थ है दोषरहित शब्दार्थ काव्य के उपयुक्त हैं। यह दोष दो तरह के होते हैं दोष सामान्य व दोष विशेष। दोष सामान्य के रहने पर भी यदि

काव्य की आत्मा रस की प्रतीति मे कोई बाधा नही आती है, तो वे दोष सामान्य हैं दोष नही माने जाते हैं।

कुछ दोष विशेष होते हैं। वे रस दोष कहलाते हैं। या शब्दार्थ निष्ठ ऐसे दोष हैं जो परम्परया अर्थात् शब्दार्थ को दूषित करते हुए रस प्रतीति के भी विघातक हैं। ऐसे दोषो का परिहार काव्य मे आवश्यक है। ऐसे ही दोषो का परित्याग ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अत अदोषौ यह विशेषण सार्थक ही है। इसी तरह काव्य के लिए गुणो की सम्पत्ति भी आवश्यक है। गुण यद्यपि रस के धर्म हैं परन्तु स्वाश्रया व्यञ्जकत्व रूप परम्परा सम्बन्ध से वे शब्दार्थ मे भी रहते है। यहा स्व शब्द से गुणो का ग्रहण होगा। उन गुणो का आश्रय रस है और उस रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ हैं। स्वय मम्मट ने भी अष्टम उल्लास मे कहा है—**गुणवृत्या पुनस्तेषा वृत्ति शब्दार्थयोर्मता।**" अर्थात् गौण-रूप मे वे गुण शब्द और अर्थ मे भी रहते है।

आनन्दवर्धन का "काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्" तथा कुन्तक का "सालकारस्य काव्यता" आदिवाक्य अलकार को उपलक्षक मानकर गुणो की ओर भी सकेत करते है। वामन ने तो साफ ही कहा है "विशेषो गुणात्मा" अर्थात्—काव्य मे वह वैशिष्ट्य गुणो द्वारा ही है। रस जहाँ काव्य का अन्तरङ्ग तत्त्व है, वहाँ अलकार व गुण शब्दार्थ को सस्कृत करने वाले बहिरङ्ग तत्त्व है। किसी वस्तु के पूर्ण परिचय के लिए उसके अन्तरङ्ग व बहिरङ्ग तत्त्वो का वर्णन सर्वथा आवश्यक है। आदिकवि वाल्मीकि ने भी इस सिद्धान्त को पुष्ट किया है। लव-कुश के द्वारा रामायण का गायन सुनकर वाल्मीकि का कथन है—

अहो गीतस्य माधुर्यं श्लोकाना च विशेषत ।
चिरनिर्वृत्तमप्येतत् प्रत्यक्षमिव दर्शितम् ॥ (वा० ४।१७)

अहो! इस गायन मे विशेष कर श्लोको मे कितना माधुर्य है। वर्णन इतना रोचक है कि प्राचीनकाल मे होने वाली भी घटना प्रत्यक्ष के समान दीख पडती है। इस पद्य मे माधुर्य गुण व भाविक अलकार का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

अनलङ्कृती पुन क्वापि—काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रदर्शित उक्त अस्फुटालकार के उदाहरण "य. कौमारहर" इत्यादि पद्य मे विभावना, व विशेषोक्ति मूलक सन्देह सकर की कल्पना कर जो आपत्ति विश्वनाथ ने दिखलाई है उसका निराकरण इस प्रकार है।

यहाँ उत्कण्ठारूप कार्य का वर्णन किया गया है, (पर प्रकृत सामग्री की सत्ता मे) उसका कारण नही है इसलिए विभावना है, ठीक इसके विपरीत,

जहाँ सब वस्तुएँ उपयुक्ततर है, अर्थात् कारण सामग्री विद्यमान है पर उत्कण्ठाभाव रूप कार्य नही है, इसलिए विशेषोक्ति है। और किसी एक अलङ्कार की स्वीकृति मे साधक बाधक कोई सामग्री न होने से सन्देह सङ्कर है; विश्वनाथ ने विशेषोक्तिमूलक सन्देह सङ्कर माना है। परन्तु ये अलकार यहाँ भावमुखेन नही, अपि तु अभावमुखेन निकलते है, इसीलिए वे स्पष्ट नही हैं प्रत्युत बहुत खीचा तानी से निकलते है। अत अस्फुटालङ्कार का यह उदाहरण ठीक ही है।

कुन्तक की काव्य परिभाषा और वक्रोक्ति—

आचार्य कुन्तक के अनुसार सालकार शब्द और अर्थ काव्य है इनके मत मे अलकार काव्य का मूल तत्त्व है, बाह्य भूषण मात्र नही। काव्यत्व की स्थिति अलकार और अलकार्य शब्द-अर्थ के अवयव रहित समस्त समुदाय मे ही रहती है।

काव्य मर्मज्ञो को आनन्द देने वाली सुन्दर कवि व्यापार युक्त रचना (बन्ध) मे व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर (सहितरूप मे) काव्य कहलाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि इसमे शब्द का सम्पूर्ण सौन्दर्य और अर्थ के सम्पूर्ण चमत्कार दोनो का सम्यक् सामञ्जस्य या विशिष्ट सहभाव जहाँ रहता है वह काव्य है। पहले सरलतया काव्य की पहिचान के लिए "सालकारस्य काव्यता" कहकर पुन काव्य व्यवहार के प्रयोजक-लक्षण को प्रदर्शित करते हैं—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि ॥७॥

काव्य मर्मज्ञो मे आह्लादकारक सुन्दर (वक्र) कवि-व्यापार से युक्त रचना मे व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर काव्य कहलाते हैं।

कुन्तक की वक्रोक्ति की परिभाषा—

प्रसिद्ध कथन से भिन्न विचित्र अभिधा अर्थात् वर्णन शैली ही वक्रोक्ति है। अर्थात् वैदग्ध्यपूर्ण शैली द्वारा उक्ति ही (वक्रोक्ति) है। वैदग्ध्य का अर्थ है विदग्धता—कवि कर्म कौशल उसकी भङ्गिमा या छटा (शोभा) उसके द्वारा उक्ति (विचित्र अभिधा) या (वर्णन शैली) का नाम ही वक्रोक्ति है। सक्षेप मे इस पद्य म इसका स्वरूप दिखाते हैं।

उभावेतावलङ्कार्यौ तयो पुनरलङ्कृति ।
वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कथ्यते ॥१०॥

यह दोनो (शब्द और अर्थ) अलङ्कार्य होते हैं और चतुरता पूर्ण-कथन प्रकार विशेष रूप वक्रोक्ति ही उन दोनो (शब्द और अर्थ) का अलङ्कार होती है। अर्थात् विचित्राभिधान व्यापार रूप अलकार ही वक्रोक्ति है। इसी से शब्दार्थ अलकृत होते हैं। यही काव्य की आत्मा है या जीवन है।

काव्य के विषय मे विश्वनाथ का मत—

विश्वनाथ कविराज काव्य के उपस्कारक बाह्य उपकरणो की उपादेयता के विषय में किञ्चित् उदासीन से प्रतीत होते हैं। इसीलिए इनका महान् सरम्भ मम्मट के काव्य लक्षण के विशेषणो के खण्डन के लिए रहा। यहाँ तक कि वक्रोक्तिजीवितकार के "काव्यजीवित के रूप मे प्रतिष्ठित "वक्रोक्ति" को भी सहजरूप में अलङ्कार स्वरूप मानकर फिर उसके युक्ति के लिए कोई प्रयास भी नही करते।

ये काव्य के कला पक्ष से प्रभावित न होकर भाव पक्ष से प्रभावित हैं—इसीलिए बाह्यआडम्बरो मे पडकर काव्य के अन्तस्तल का स्पर्श करते हुए—"**वाक्य रसात्मक काव्यम्**" रसात्मक वाक्य को ही काव्य का लक्षण मानते है। काव्य की आत्मा रस ही है और इस आत्मभूत रस के अभिव्यञ्जक वाक्य को काव्य कहते हैं। यहाँ रस शब्द व्यापक अर्थ में है। अर्थात्-रस से-भाव रसाभास-भावाभास आदि रस के समीवर्ती सभी भावनायें गृहीत हो जाती हैं। पर पण्डितराज को विश्वनाथ का यह काव्य लक्षण अत्यन्त सकीर्ण प्रतीत होता है। एक तो यह महाकवियो के विरुद्ध है, क्योकि लक्ष्यानुसार लक्षण की व्यवस्था होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि काव्यात्मा जो ध्वनि है, उसके वस्तु ध्वनि अलकार ध्वनि आदि जो महत्त्वपूर्ण भङ्ग हैं उनमे यह लक्षण अव्याप्त है। अत काव्य के क्षेत्र मे यह लक्षण अत्यन्त संकुचित मालूम पडता है।

काव्य के विषय मे पण्डितराज जगन्नाथ का विचार—

पण्डितराज जगन्नाथ—काव्य मे रमणीयार्थ के पक्षपाती हैं—उनका प्रख्यात काव्य लक्षण है—"**रमणीयार्थ-प्रतिपादक शब्द काव्यम्**"। रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। काव्य मे शब्दो द्वारा प्रतिपादित अर्थ ऐसा हो जिसमे चित्त-रमण करे, आनन्द का अनुभव करे। इस रमणीयता का ही पर्याय वाचक शब्द चमत्कार भी है। यहाँ चमत्कार का अर्थ व्यापक है—

अर्थात्—जो रमणीय रचना हृदय को प्रभावित कर उसमे अलौकिक चमत्कार या आनन्द का सचार करती है वह "काव्य" कहलाती है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने भी काव्य प्रकाशकार के काव्य लक्षण की कड़ी आलोचना की है—

इनका कहना है कि—काव्यप्रकाशकार ने जो "शब्दार्थौ काव्यम्" अर्थात् शब्द और अर्थ को काव्य माना है उस पर जरा विचार करना है—

क्या काव्यत्व धर्म उभयनिष्ठ है—शब्द तथा अर्थ मे "व्यासज्यवृत्ति" है। अर्थात् शब्द अर्थ दोनो म रहने वाला धर्म है अथवा प्रत्येकपर्याप्त ?

अर्थात्—"शब्द मे अलग काव्यत्व और अर्थ अलग काव्यत्व"। इसमे पहला पक्ष अर्थात् "व्यासज्य-वृत्ति" वाला पक्ष नही बन सकता है। क्योंकि उस दशा मे "एको न द्वौ" इस व्यवहार के समान यह श्लोक वाक्य तो है, परन्तु काव्य नही है। इस प्रकार का व्यवहार होने लगेगा। जैसे दो पदार्थों म रहने वाली द्वित्व सख्या दोनो मे मिलकर ही रहती है। अलग-अलग नही इसी लिए द्वित्वसख्या उन दोनो पदार्थों का व्यासज्य वृत्ति धर्म है। जब दोनो पदार्थ उपस्थित होते हैं, तभी "द्वौ" ये दो हैं, इस प्रकार का व्यवहार होता है। और जब उनमे से एक ही उपस्थित होता है, उस समय 'यह दो नही, एक है, इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसी प्रकार यह श्लोक वाक्य है, काव्य नही" यह व्यवहार होने लगेगा। अत काव्यत्व को व्यासज्य वृत्ति नही माना जा सकता है। इसी प्रकार "काव्यत्व" को प्रत्येकपर्याप्त अर्थात् शब्द तथा अर्थ म दोनो म अलग अलग रहने वाला धर्म भी नही कहा जा सकता है। क्योकि उस दशा म एक ही श्लोक वाक्य मे शब्द और अर्थ दोनो की दृष्टि मे दुहरा काव्यत्व आ जायेगा, इसलिए एक पद्य मे दो काव्यो का व्यवहार होने लगेगा। अतः न तो व्यासज्यवृत्ति काव्यत्व बनता है और न प्रत्येकपर्याप्त। फलत काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नही है अपितु केवल शब्दनिष्ठ धर्म है।

नागेश द्वारा मम्मट का समर्थन—

रसगङ्गाधर के टीकाकार नागेशभट्ट ने अपनी रसगङ्गाधर की टीका "मर्मप्रकाश" मे पण्डितराज की युक्तियो का खण्डन कर मम्मट के ही मत का समर्थन किया है। उनका उत्तर इस प्रकार है—

काव्यत्व का प्रयोजक जो रसास्वाद व्यञ्जकत्व है वह शब्द तथा अर्थ दोनो में समान रूप से रहता है। काव्य पढा—यहाँ पाठ शब्द है। काव्य को समझा यहाँ बोध अर्थ का है। ये उभयविध व्यवहार लोक म देखे जाते हैं। अत काव्यत्व को व्यासज्य-वृत्ति धर्म-अर्थात् शब्द तथा अर्थ दोनो म मानने मे कोई क्षति नही है। इसलिए चमत्कार बोध जनक ज्ञान विषयतावच्छेदक धर्मत्व रूप लक्षण शब्द और अर्थ दोनो मे रहने से प्रकाशोक्त काव्य अनुपहमनीय है।

काव्य के भेद—

मम्मट ने काव्य के मुख्य तीन भेद माने हैं।

(१) ध्वनि-काव्य (२) गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य तथा (३) चित्र काव्य।

(१) ध्वनि काव्य को ही उत्तम काव्य कहते हैं—

जहाँ वाच्य से व्यङ्ग्य-अर्थ में अधिक चमत्कार रहे उसे उत्तम काव्य या ध्वनि काव्य कहते हैं।

मम्मट के शब्दों में ध्वनिकाव्य (उत्तम काव्य) का लक्षण इस प्रकार है—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

अर्थात्—वाच्यार्थ की अपेक्षा जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में अधिक चमत्कार रहे, वह उत्तम काव्य होता है, विद्वानों ने इसे ध्वनि या ध्वनि काव्य कहा है।

यहाँ ध्वनि शब्द के परिचय हेतु कुछ बातें आवश्यक हैं।

साहित्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना आनन्दवर्धनाचार्य ने की है। सर्वप्रथम वैय्याकरणों ने स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया था, उन्हीं की कल्पना को ग्रहण कर ध्वनि पण्डित आनन्दवर्धनाचार्य ने शब्द-अर्थ-शब्दार्थ-व्यापार व व्यंग्य तथा व्यङ्ग्यप्रधान काव्य में भी ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है। वैय्याकरणों ने केवल स्फोट रूप व्यङ्ग्य के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि का प्रयोग किया था।

संक्षेप वैय्याकरणों की प्रक्रिया इस प्रकार है—

स्फोट भाट वैय्याकरणों का मुख्य सिद्धान्त है। स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है, स्फुटति अर्थो यस्मात् स स्फोट जिससे अर्थ की प्रतीति हो। इन्होंने वाक्यार्थ बोध के लिए एक नित्य-स्फोट की कल्पना की है।

इस स्फोट की अभिव्यक्ति श्रोत्रग्राह्य ध्वनि रूप शब्द से होती है। इसलिए जैसे वैय्याकरणों ने अपने यहाँ प्रधानभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है, इसी प्रकार प्रधानभूत व्यङ्ग्य अर्थ को अभिव्यक्त करने वाले शब्द तथा अर्थ के लिए आनन्दवर्धनाचार्य आदि ध्वनि पण्डितों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग किया है।

ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण—

निःशेषच्युतचन्दनस्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ॥
मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥२॥

किसी विदग्धोत्तम नायिका की अपनी दूति के प्रति यह उक्ति है—जिसे उसने अपने नायक को बुलाने के लिए भेजा था, परन्तु यह दूती स्नान कार्य के बहाने से अपने व नायक के सम्पर्क को छिपा रही थी, इसी के उत्तर मे दूती के स्नान कार्य द्वारा, उसके रहस्योदघाटन को सुदर शब्दा मे कर रही है कि स्नान के ही कारण तुम्हारे स्तन के अग्रभाग का चन्दन बिलकुल छूट गया है अधर की लालिमा भी लुप्त सी है आंखो म अब अञ्जन भी नही है, अरी परवेदना को न जानने वाली दूती ! तू यहाँ से सीधे स्नान के लिए बावली को चल दी उस अधम (नायक) के पास नही गयी।

यहाँ वक्ता व बोधव्य की विशेषता से (अर्थात रहस्य को जब दोनो जानती हैं) तब अधम पद की सहायता से—लक्षणा शक्ति द्वारा वापी गमन का निषेध होने से, दूति का नायक के पास जाना ही प्रधान व्यङ्ग्य है। यहाँ वाच्यार्थ—"वापीस्नान" की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ 'तदन्तिकगमनरूप" अधिक चमत्कार युक्त है, अत यह ध्वनि काव्य या उत्तम काव्य का उदाहरण है।

(२) गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य—(मध्यम काव्य)

जहाँ व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त न हो उसे गुणीभूत व्यङ्ग्य कहते हैं—

अतादृशि गुणीभूत व्यङ्ग्य व्यङ्ग्ये तु मध्यमम ॥

अर्थात—वाच्य से अधिक चमत्कार व्यङ्ग्य मे न होने से गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य कहलाता है—

उदाहरण—

ग्रामतरुण तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरी सनाथकरम ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥३॥

किसी कारणवश सकेतित स्थान मे न पहुँच सकने के पश्चाताप का सुन्दर वर्णन है।

ग्राम तरुण के हाथ म नवीन वेतस मञ्जरी को हाथ मे लिए हुए देखकर ग्राम तरुणी का मुख कुम्हला जाता है, अर्थात उसके मुख की कान्ति मलिन हो जाती है—

यहाँ यद्यपि सकेत करके भी निश्चित स्थान मे नही जा सकी यह व्यङ्ग्य अश है पर मञ्जरी को देखते मुख्य मलिन हो गया इस वाच्यार्थ का चमत्कार व्यङ्ग्य की अपेक्षा कही अधिक होने से यह गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य या मध्यम काव्य है।

चित्र-काव्य—(अधम काव्य)

जिसमे व्यङ्ग्यार्थ का अभाव हो या व्यग्यार्थ अस्पष्ट हो केवल शब्दालकार या अर्थालंकार की ही प्रधानता हो उसे अधम काव्य या चित्र काव्य कहते हैं।

चित्र शब्द का अर्थ अलकार है—

शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥५॥

व्यङ्ग्य अर्थ से रहित शब्दचित्र या अर्थचित्र (दो प्रकार का होता है), को अधम काव्य कहते हैं।

उदाहरण—

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा ।
मूर्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ॥
भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥४॥

प्रस्तुत पद्य मे कोई भक्त भागीरथी से प्रार्थना कर रहा है कि—

भगवती भागीरथी गङ्गा-आपकी मन्दता अर्थात् अज्ञान को शीघ्र दूर करे। स्वच्छन्द रूप से उछलती हुई, निर्मल किनारे के कच्छ-गह्वरो मे अत्यन्त वेग से प्रवाहित होने वाली जो जल की धारा है, जिसमे, आनन्द पूर्वक स्नान व नित्यकृत्य करने वाले महर्षियो का मोह नष्ट हो चुका है। जिसमे बडे-बडे मेढक दिखाई पड रहे हैं ऐसे कन्दरा हैं जिस मन्दाकिनी मे, और प्रबलवेग के कारण, जिसने अपने तटस्थ शाखापत्रों से सम्पन्न बडे भारी द्रुमो को गिरा दिया है, ऐसी उत्कट वेग वाली मन्दाकिनी आपके अज्ञान या पाप को तुरन्त नष्ट करे।

यद्यपि इस पद्य मे भक्त मे रहने वाला मन्दाकिनी विषयक-पूज्य-भाव प्रतीत होता है, तथापि वह अनुप्रास की छटा के सामने तिरोहित हो जाता है, प्रधानतया कवि प्रयत्न अनुप्रयास की तरफ ही है।

अतः यह शब्दचित्र का उदाहरण है।

अर्थचित्र का उदाहरण—

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद् भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम् ।
ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥५॥

शत्रुओं के मान को खण्डन करने वाले, और मित्रो को सम्मान देने वाले जिस हयग्रीव को विना किसी उद्देश्य से केवल भ्रमण के लिए अपने महल से

निकला हुआ मुनकर, स्वर्ग में इन्द्र ने स्वयं नगर के प्रधान द्वार को अर्गला सहित बन्द कर दिया, उस समय ऐसा मालूम पड़ता था मानो इन्द्र की राजधानी अमरावती मारे भय के आँख मूँद रही हो।

उक्त पद्य में यद्यपि हयग्रीव के प्रभावातिशय का वर्णन होने से वीर रस की अभिव्यक्ति हो सकती है, "निमीलिताक्षीव भियामरावती" इस उत्प्रेक्षाजन्य चमत्कार से वह वीर रस ओझल सा हो जाता है। मालूम पड़ता है कि कवि का सरम्भ उत्प्रेक्षा की ओर ही अधिक था। अतः यह अर्थचित्र का उदाहरण है।

"केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभिच्छन्ति" कह कर विश्वनाथ ने काव्य प्रकाशकार की तरफ संकेत किया, और स्वयं तृतीय काव्य—चित्रकाव्य में अरुचि प्रकट की, और अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने आनन्दवर्धनाचार्य के "प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते उभे काव्ये" इत्यादि कारिका को उद्धृत किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार काव्य के चार भेद होते हैं, जो इस प्रकार हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, और अधम।

॥ प्रथम उल्लास समाप्त ॥

द्वितीय उल्लास

शब्दार्थ विभाग

प्रथम उल्लास मे काव्य-स्वरूप विवेचन के अवसर पर "शब्दार्थौ काव्यम्" कहा था, अब द्वितीय उल्लास मे शब्दार्थ का विभाग करते हैं—

प्रथम उपस्थिति का विषय होने से और अर्थ का उपजीव्य होने से शब्द का पहिले निरूपण करते हैं—

"स्याद् वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा" (सू० ५)

यहा (काव्य मे) वाचक, लाक्षणिक, और व्यञ्जक तीन प्रकार का होता है। अन्य शास्त्रो मे व्यञ्जक शब्द नही माना जाता है, परन्तु काव्य मे तो व्यञ्जक के बिना चमत्कार ही नही आता, अत काव्य मे तीन प्रकार के शब्द होते हैं, वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक।

यहा यह विभाग केवल उपाधिकृत है, शब्दो का नही क्योंकि एक ही गङ्गा शब्द वाचक भी है, लाक्षणिक भी और व्यञ्जक भी।

अर्थ का विभाग

जिस प्रकार उपाधि भेद से शब्द तीन प्रकार का होता है, उसी प्रकार अर्थ भी तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

"वाच्यादयस्तदर्था स्यु" (६ सू०)

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य उन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दो के अर्थ (भी तीन प्रकार के) होते हैं।

इन वाचक, लक्षक तथा व्यञ्जक शब्दो के वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्य ये अर्थ हैं, जिस प्रकार ये वाच्यादि पदार्थव्यञ्जनावृत्ति के आश्रय होते हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी व्यञ्जनावृत्ति का आश्रय है, पर वाक्यार्थ (परार्थावयरूप) के वोध के लिए किसी वृत्ति विशेष का निरूपण करना चाहिए, इसी न्यूनता के परिहार के लिए मम्मट प्राचीन नैय्यायिको के द्वारा स्वीकृत अथवा कुमारिल भट्ट आदि मीमासको के द्वारा प्रतिपादित, तात्पर्यावृत्ति प्रतिपाद्य तात्पर्यार्थ का भी निर्देश कर रहे हैं—

"तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्"

किन्ही कुमारिलभट्ट आदि के मत मे वाच्यादि अर्थों के अतिरिक्त तात्पर्यार्थ भी होता है—

अर्थात्—कुमारिलभट्ट आदि अभिहितान्वयवादी मीमांसक पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध बोध के लिए तात्पर्या नाम की एक अलग वृत्ति मानते हैं। इस तात्पर्यावृत्ति का प्रतिपाद्य वाक्यार्थ है, और वाक्य इसका बोधक अभिहितान्वयवादी कुमारिलभट्ट आदि मीमांसको का कहना है कि—अभिधा तो केवल पदार्थ के बोध मे समर्थ है वाक्यार्थरूप जो पदार्थों का परस्पर अन्वय सम्बन्ध विशेष है उस संसर्ग का बोध तो तात्पर्या नाम की वृत्ति से ही हो सकता है। इसलिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को भी मानना चाहिए।

इसके विपरीत कुमारिलभट्ट के शिष्य प्रभाकर गुरु और उनके मतानुयायी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्या नाम की वृत्ति को नहीं मानते। वे अन्वित पदो मे ही शक्ति मानते हैं। इनके अनुसार पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध रूप वाक्यार्थ वाच्य ही होता है—

"वाच्य एव वाक्यार्थ" इति "अन्विताभिधानवादिन ।"

अर्थात्—अन्वित का ही अभिधान होता है, वाक्यार्थ अभिधा का ही विषय है, इसके लिए पृथक् तात्पर्या नाम की वृत्ति मानना आवश्यक नहीं है। मीमांसा दर्शन प्रभाकर का मत गुरुमत से प्रसिद्ध है।

अभिहितान्वयवाद —

अभिहितान्वयवादियो का कहना है कि सवप्रथम पदो से पदार्थों की प्रतीति होती है, अर्थात पहिले पदो के द्वारा पदार्थ अभिहित अभिधा शक्ति द्वारा बोधित हो जाते है। बाद मे आकाङ्क्षा-योग्यता सन्निधि वश इसके सहयोग से अभिहित पदार्थों का अन्वय संसर्ग होता है। जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, इसी अन्वयांश के बोध के लिए जिस कुछ लोग संसर्ग मर्यादा से भासित मानते हैं तात्पर्या वृत्ति को मानते हैं। इस प्रकार अभिहित पदार्थों के अन्वय मानने के कारण इन्हे अभिहितान्वयवादी कहते है—पदानि अभिहितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं बोधयन्तीति ये वदन्ति ते अभिहितान्वयवादिन । अभिप्राय यह है कि—"घट करोति" इस वाक्य का अर्थ है—"घट वृत्तिकर्मत्वानुकूला कृति" इसमे घट पद का कम्बुग्रीवादिमान् व्यक्ति विशेष घट का अर्थ है अम् प्रत्यय का अर्थ कर्मता, करोति का अर्थ कृति है। परन्तु वाक्यार्थ मे संसर्गमर्यादा से या अन्वयबोध से भासित होने वाले वृत्तित्व व अनुकूलत्व तो किसी पद के अर्थ नहीं हैं। इन्हीं की वाक्यार्थ मे उपस्थिति के लिए तात्पर्या वृत्ति की आवश्यकता होती है।

वृत्ति ग्रन्थ मे "अभिहितान्वयवादिना मतम्" इस बहुवचन से ग्रन्थकार की इसी मत मे (आदर) सम्मति है, यह बात ध्वनित होती है।

अन्विताभिधानवाद—

अन्विताभिधान वाद के प्रतिपादक आचार्य प्रभाकर हैं। इनके मत मे पदार्थ पहिले अभिहित हो फिर उनका परस्पर अन्वय होता हो, यह बात नही अपितु पहले से अन्वित पदार्थों का ही अभिधा से बोध हो जाता है। अन्वय पूर्व सिद्ध होने के कारण इनके लिए पुन. तात्पर्यावृत्ति की आवश्यकता नही है।

प्रभाकर का कहना है सर्वप्रथम बालक को सकेतग्रह या पदार्थों ज्ञान वाक्य मे ही होता है। क्योकि बालक को तत्तत् पदार्थों ज्ञान या सकेतग्रह व्यवहार से होता है। और यह व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता है क्योकि प्रयोजक वृद्ध को जो कुछ भी उपदेश देता है वह वाक्य द्वारा ही देता है, और बालक चुपचाप इनकी चेष्टाओ या व्यवहार का अनुशीलन करता है। जैसे किसी वृद्ध ने किसी को आज्ञा दी कि "गाय ले आओ" या कलम ले आओ" बालक को इनमें से किसी भी पद का ज्ञान नही है, न वह कलम जानता है न ले आओ हो इसी प्रकार सस्कृत मे "गामानय" यह वाक्य है। बालक को गो पद के भी अर्थ का ज्ञान नही है, और आनय इस पद का भी अर्थ ज्ञान नहीं है। परन्तु जब बालक व्यवहार को देखता है कि अमुक शब्द के उच्चारण करने से मध्यम वृद्ध-अमुक अमुक वस्तु को ला रहा है, तो अन्वित पद या वाक्य से ही सर्वप्रथम बालक को ज्ञान होना है पश्चात् पद-पदार्थ बोध होता है। इसीलिए यह सकेतग्रह केवल पदार्थ होकर (किसी के साथ) अन्वित पदार्थ मे ही होता है। इसीलिए इस मत का नाम अन्विता का अभिधान—अर्थात् अन्वित पद ही अभिधा का विषय है। फिर से अन्वय ज्ञान के लिए तात्पर्यावृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नही है, सक्षेप मे प्रभाकर के मत का यही सार है।

अर्थों की व्यञ्जकता

शब्द शक्तियो का विवेचन प्राय सभी शास्त्रो मे हुआ है। शास्त्रकारो ने अपने-अपने विचार से इसका विवेचन किया है। शक्ति के स्वरूप के विषय मे भी विभिन्न शास्त्रकारो के परस्पर भिन्न मत हैं।

क्योकि शक्ति का सम्बन्ध शब्द से है इसीलिए पद-प्रमाण व वाक्य को जिन शास्त्रो मे विशेष चर्चा की गई है, उन्ही मे शब्द-शक्ति के विषय मे भी विशेष ऊहापोह किया गया है इनमे व्याकरण को पद शास्त्र कहते हैं क्योकि पदसाधुत्व का अधिक दायित्व व्याकरण पर आता है और न्याय को प्रमाण शास्त्र कहते हैं, यह शास्त्र प्रत्यक्ष या अनुमानादि के द्वारा पदार्थपरीक्षण

करता है, और वाक्य के विषय विचार करने वाले शास्त्र को मीमांसा शास्त्र कहते हैं, मीमांसा विशेषत वेद वाक्यो पर विचार करती है प्रसङ्गत लौकिक वाक्यो से सम्बन्धित पद-पदार्थों पर भी विचार करती है। अत प्राधान्येन शब्द शक्ति का विषय इन्ही शास्त्रो का विषय है, पर प्रसङ्गानुसार अन्य शास्त्रो म भी आनुषङ्गिक रूप से इस विषय की चर्चा होती है। अत इन्ही के अनुसार अन्यत्र भी पद पदार्थ कल्पना की जाती है।

वैय्याकरण—पद पदार्थ के सम्बन्ध विशेष को ही शक्ति मानते हैं। पद मे वाचकता शक्ति है और अर्थ म वाच्यता रूप शक्ति है, एक मे बोधजनकता है तो दूसरे मे बोध विषयता। यह वाच्य वाचक भाव शब्दार्थोभय निष्ठ होगा जो शब्द—है वही अर्थ और जो अर्थ है वही शब्द इस प्रकार इतरेतराध्यास मूलक तादात्म्य इसी को सकेत कहते हैं। प्राचीन वैय्याकरण-केवल बोधजनकता को ही शक्ति मानते हैं। जैसे इन्द्रियों की अनादि काल म अपने अपने विषय रूपादि ग्रहण की योग्यता है, इसी प्रकार शब्दो को भी अर्थ के साथ जो बोध जनकता है वही शक्ति है।

नैय्यायिकों के मत मे—ईश्वर सकेत ही शक्ति है अर्थात यह पद इस अर्थ का बोधक हो इस प्रकार की जो ईश्वरेच्छा है वही सकेत या शक्ति है। या इसी वृत्ति के द्वारा अर्थ बोधक पद वाचक और उससे बोध्य गोत्वादिविशिष्ट अर्थ वाच्य है, इसी को मुख्यार्थ भी कहते हैं।

मीमासक—शब्द की बोधकता शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं जिस प्रकार वह्नि म दाहकता शक्ति है, उसी प्रकार शब्द म भी एक अर्थ बोधकता शक्ति है, यही सकेत है, इसीलिए ये लोग शक्ति को पदार्थान्तर मानते हैं।

आलङ्कारिको के मत मे—शब्दार्थ का परस्पर प्रतिपाद्यप्रतिपादक भाव लक्षण सम्बन्ध विशेष ही शक्ति है। जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने लिखा है—"शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगत शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा" वे तीन हैं—अभिधा लक्षणा व व्यञ्जना। आशाधर भट्ट ने अपने त्रिवेणिका नामक ग्रन्थ म इन शक्तियो का सरल शब्दो म सुन्दर विचार किया है। शक्ति को ही वृत्ति भी कहते हैं। शक्ति वृत्ति य पर्याय वाचक शब्द हैं। उन्होने उक्त ग्रन्थ के वृत्ति प्रकरण म वृत्ति का विवेचन इस प्रकार किया है—

वर्तते-शब्दोऽर्थे प्रवर्तते अनयेति वृत्ति।

जिस माध्यम से शब्द की अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है, वही वृत्ति है। यहाँ वृतु वर्तने इस धातु से करण म क्तिन प्रत्यय लगाकर वृत्ति शब्द की सिद्धि होती है। इसी प्रकार अन्यत्र—जैसे अन्त करण वाचक बुद्धि शब्द मे भी क्तिन्

प्रत्यय ही है, और भगवद् प्रेम-सूचक भक्ति शब्द मे भी क्तिन् प्रत्यय करण मे ही है, जैसा कि भागवत-सुबोधिनी में लिखा है—अत्र धात्वर्थ सेवा। प्रत्ययार्थ प्रमेत्युक्तम्। इसीलिए मल्लिनाथ ने भी रघुवंश की टीका "भक्ति प्रतीक्ष्येषु कुलोचिता ते" मे भक्ति की व्याख्या करते हुए "पूज्येष्वनुरागो भक्ति" ऐसा कहा है। साहित्यदर्पणादि ग्रन्थो मे वृत्ति के स्थान मे शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और लक्षणा के स्थान पर कही-कही भक्ति शब्द का प्रयोग है तथा व्यञ्जना के स्थान पर व्यक्ति का शब्द का प्रयोग मिलता है।

अत साहित्यशास्त्र मे ये शक्ति-भक्ति-व्यक्ति क्रमश गङ्गा, यमुना, सरस्वती की तरह है—

"शक्यते-साक्षादभिधीयतेऽनयेति-शक्ति" "करणे क्तिन्"

साक्षात् जिससे अर्थ का प्रतिपादन किया जाए वह शक्ति है—

भज्यते—शक्यार्थ खण्ड्यतेऽनयेति भक्तिर्लक्षणा, भञ्जो आमर्दने इस धातु से करण मे क्तिन् प्रत्यय। अथवा—

भज्यते-सेव्यतेऽर्थान्तरमनयेति भक्ति" भज सेवायाम् इस धातु से क्तिन् प्रत्यय।

अर्थात्—मुख्यार्थ का खण्डन-बोध हो जिससे उसे भक्ति-लक्षणा कहते हैं। या अर्थान्तर का जहाँ बोध हो उसे भक्ति-लक्षणा कहते है।

व्यज्यते-प्रकटीक्रियतेऽर्थोऽनयेति व्यक्तिर्व्यञ्जना।

व्यङ्ग्यार्थ जिस व्यापार के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए उसे व्यक्ति या व्यञ्जना कहते हैं।

साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ ने इन शक्तियो का निर्देश इस प्रकार किया है—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ता स्युस्तिस्र शब्दस्य शक्तय ॥३॥

वाचक-शब्द का स्वरूप—

इस प्रकार वाचक, लक्षक व व्यञ्जक के अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा क्रमश वाच्य, लक्ष्य व व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होते हैं।

यह नियम है कि वृत्ति के बिना किसी भी शब्द से अर्थ का प्रकाशन नही हो सकता है अत तत्तत् शब्दो से तत्तत् वृत्ति के द्वारा तत्तत् अर्थों का प्रकाशन होता है। आचार्य मम्मट सर्वप्रथम वाचक शब्द निरूपण करते हुए कहते है—

साक्षात् सकेतित योऽर्थमभिधत्त स वाचक॥ (सू० ६)

जो शब्द साक्षात् सकेतित अर्थ कहता है, वह वाचक शब्द कहलाता है।

लोक व्यवहार मे सकेत सहायक शब्द ही अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है, इसलिए जिस शब्द का जिस अर्थ म साक्षात्-विना किसी व्यवधान के सकेत ग्रहण होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। यह सकेत ग्रह अनेक प्रकार से होता है—व्याकरण से भी सकेत ग्रह होता है जैसे धातु पाठ म पढा है कि भू धातु सत्ता अर्थ मे है, और सूत्र म जैसे "साधकतम करणम्" आदि साधकतम का करण अर्थ मे सकेत ग्रह हुआ इसी प्रकार पाचक व पाठक आदि का भी निर्णय व्याकरण के द्वारा ही होता है इसी प्रकार उपमान—जैसी गाय है वैसा ही गवय भी होता है। इसी तरह कोश आप्तवाक्य व व्याख्या आदि सकेत ग्रह के उपाय हैं।

इन सबम मुख्यरूप मे व्यवहार है क्योकि अधिकाश शब्दो का या सबसे पहिले बालक को सकेत ग्रह का व्यवहार स ही ज्ञान होता है जैसा कि अन्विताभिधानवादी आचार्य प्रभाकर आदि का मत है।

सकेतग्रह का विषय -

यह एक समस्या है कि सासारिक पदार्थो की तो कोई सीमा नही है, फिर कहाँ कहाँ इनमे सकेत किया जाए क्योकि जिस पदार्थ या व्यक्ति म सकेत किया जायेगा उसी पदार्थ का ज्ञान होगा तदतिरिक्त पदार्थ का तो ज्ञान होगा नही जैसे—यदि कहा जाए कि 'घट पदात् कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ-विशेषो बोधव्य " घट पद म कम्बुग्रीवादिमान पदार्थ का बोध हो तो अस्मात् पदादयमर्थो बोधव्य के नियम से घट का ही बोध होगा न कि पट का।

यदि प्रत्येक व्यक्ति म सकेत ग्रह किया जाए तो यह असम्भव है। क्योकि दुनियाँ के अनन्त व्यक्तियो म सकेतग्रह सम्भव नही है।

इसीलिए किसी व्यक्ति विशेष मे सकेतग्रह नही हो सकता, अनन्त व्यक्तियो की एकत्र या एक समय म उपस्थिति तो हो नही सकती है। इसलिए व्यक्ति पक्ष म यह आनन्त्य दोष आ जाता है। और दूसरा दोष आता है व्यभिचार नियम का उल्लघन रूप। मान लिया जाए एकत्र दो चार व्यक्तियो म सकेत ग्रह हो भी गया तो शेष व्यक्तियो का विना सकेत ग्रह म ही व्यवहार होता रहेगा, इस तरह म यह नियमभङ्गरूपी दूसरा दोष भी आ जाता है, अत व्यक्ति पक्ष म तो कथमपि सकेतग्रह बनता नही है। इसलिए हम सब दुनिया के पदार्थो का उपयुक्त विभाजन करना पड़ेगा, जिससे तत्तत वर्ग के सभी पदार्थ आ जायें और सरलतया सबम सकेतग्रह भी हो जाए, इसम एकतो व्यक्ति म सकेत ग्रह न करके व्यक्ति की उपाधि या जाति म सकेतग्रह किया जाए—जैसे गो व्यक्ति मे न करके गोत्व जाति या उपाधि म सकेत ग्रह किया जाय। और यह सकेतित जात्यादि अर्थ भी चार प्रकार का होता है—जाति गुण, क्रिया, और द्रव्य यदृच्छाशब्द। आचार्य मम्मट के शब्दो म यह इस प्रकार है—

सकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादि जाति रेव वा।

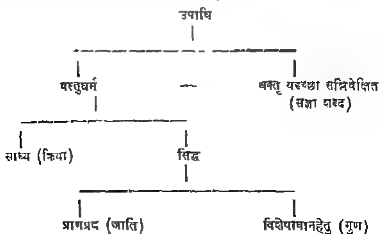
सकेतित अर्थ (पदार्थ) जाति आदि अर्थात्—जाति, गुण, क्रिया, और द्रव्य (यदृच्छा) भेदो मे चार प्रकार का होना है। यह मम्मट का जात्यादि पक्ष है मीमासको का पक्ष है, केवल जाति मे ही सकेत ग्रह मानना।

अर्थात्—केवल जाति को ही शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त—व्यवहार का प्रयोजक मानना न कि गुण क्रिया, द्रव्य को भी।

कहने का तात्पर्य यह है कि—जैसे—गोत्व जाति मे आप सकेतग्रह करते हैं, इसी प्रकार गुण क्रिया व द्रव्य मे भी जाति का अनुसन्धान किया जा सकता है। जैसे अनेक गो व्यक्ति मे रहने वाला अनुगत प्रत्यय हेतु सामान्य (एकाकार प्रतीति मे कारण जाति) गोत्व एक ही है, इसी प्रकार गुणादि मे भी अनेक शुक्ल व्यक्तियो रहने वाला शुक्लत्व सामान्य और अनेक पाकादियो मे रहने वाला पाकत्व सामान्य, अनेक डित्थादियो मे रहने वाला डित्थत्व सामान्य एक ही है, अत केवल जाति मे ही सकेत मानना चाहिए। यह मीमासको का जाति पक्ष है।

पर ग्रन्थकार को यह पक्ष अभीष्ट नही है। उन्होने जाति-गुण-क्रिया व द्रव्य (यदृच्छाशब्द) मे ही सकेतग्रह माना है। इस विषय मे उन्होने व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि का भी वचन प्रमाण रूप से उद्धृत किया "चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति" इति महाभाष्यकार। इस प्रकार जाति-गुण क्रिया और-द्रव्य (सज्ञा शब्द) इन चारो को प्रवृत्ति निमित्त माना है। यह उपाधि या जाति भी दो तरह की है—वस्तु धर्म और वक्तृ यदृच्छा सन्निवेशित (सज्ञा शब्द) वस्तु धर्म भी दो प्रकार का है—सिद्ध और साध्य यह सिद्ध भी दो प्रकार का है—पदार्थ का प्राणप्रद, और विशेषाधन हेतु।

उपाधि का विषय विभाग इस प्रकार है—



संकेतग्रह के विषय में नैय्यायिकों का मत—

नैय्यायिकों के मत में संकेतग्रह केवल जाति में भी नही माना जाता और केवल व्यक्ति में भी नही माना जा सकता है। यद्यपि अर्थक्रियाकारित्व केवल व्यक्ति में ही है न कि जाति में तथापि व्यक्ति पक्ष में संकेतग्रह मानने से वही पूर्वोक्त दो दोष—आनन्त्य व व्यभिचार दोष आ जाते हैं और केवल जाति में संकेतग्रह करके यदि व्यक्ति का आक्षेपात् ग्रहण कर लें तो भी "शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते" इस नियम के अनुसार अर्थात्—शब्द शक्ति से लक्ष्य अर्थ का ही शाब्द बोध में अन्वय होता है। आक्षेपलभ्य अर्थ का शाब्द बोध में अन्वय नही होता है। इसलिये—"व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ" इस नियम के अनुसार "तद्वान्" अर्थात् जातिविशिष्ट व्यक्ति में ही संकेतग्रह मानना चाहिए।

संकेतग्रह के विषय में बौद्ध मत—

बौद्धों के मत में शब्द का अर्थ होता है अपोह। अपोह का अर्थ होता है, अतद्व्यावृत्ति, या तद्भिन्न-भिन्नत्व, है। दश घट व्यक्तियों में घट घट इस प्रकार की एकाकार प्रतीति (अनुवृत्तिप्रत्यय) का कारण नैय्यायिक जैसे "घटत्व" सामान्य को मानते हैं इसी प्रकार बौद्ध भी दश घट व्यक्तियों में जो घट घट इस प्रकार की अनुगत प्रतीति होती है, उसका कारण अपोह या अघट व्यावृत्ति या "घटभिन्नभिन्नत्व" को मानते हैं।

अर्थात्—घट से भिन्न सारा जगत् और उसका भेद घट में है। इस प्रकार बौद्धों के मत में अपोह ही शब्द का अर्थ है या संकेतग्रह का विषयीभूत पदार्थ अपोह ही है।

अभिधाशक्ति या व्यापार—

संकेतग्रह का विषयीभूत अर्थ ही शब्द का मुख्यार्थ है।

इस मुख्यार्थ में शब्द का जो व्यापार होता है उसे अभिधा कहते हैं।

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

अर्थात्—वह साक्षात् संकेतित अर्थ ही मुख्यार्थ है, उस मुख्यार्थ के बोधन कराने में शब्द का जो व्यापार है उसे "अभिधा" व्यापार या "अभिधा शक्ति" कहते हैं।

लक्षणाशक्ति या व्यापार—

जहाँ किसी प्रसिद्धि या किसी विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए मुख्यार्थ अपने से सम्बद्ध किसी अन्यार्थ की प्रतीति कराता है उस अर्थ का लक्ष्यार्थ कहते हैं, और उस लक्ष्यार्थ की बोधिका शक्ति का नाम लक्षणा शक्ति है।

इसमे तीन शर्तें हैं (१) मुख्यार्थ का बोध होना, (२) मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई सम्बन्ध होना, (३) रूढि (प्रसिद्धि) अथवा प्रयोजन का होना।

मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥६॥

मुख्यार्थ का बाध (अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति) होने पर उस मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन विशेष मे, जिस शक्ति के द्वारा अन्य अर्थ लक्षित होता है, वह मुख्यरूप से अर्थ मे रहने वाला परम्परया शब्द के आरोपित व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा के सम्बन्ध मे विभिन्न मत—

नैय्यायिको का मत है कि—शक्य का सम्बन्ध ही लक्षणा है। इनमे प्राचीन नैय्यायिक अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं, और नव्य नैय्यायिक-तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानते हैं। विश्वनाथपञ्चानन ने न्याय सिद्धान्तमुक्तावली मे लिखा है—

"लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तितः ॥"

मीमांसको का सिद्धान्त है कि शक्यार्थ सम्बन्ध के ज्ञान होने से जो अशक्य अर्थ की उपस्थिति है वही लक्षणा है, जैसे गङ्गा पद मे शक्यार्थ प्रवाह का ज्ञान हुआ उससे पुन (एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है) इस न्याय के अनुसार तीर की स्मृति हो जाती है, यही लक्षणा का स्वरूप है।

वैय्याकरणों के मत मे—शक्यतावच्छेदक का आरोप लक्षणा है। वे सकेतित अर्थ के धर्म का असकेतित अर्थ मे आरोप कर लेते हैं।

इसी का नाम अन्य के धर्म का अन्य मे अध्यास है। गङ्गायां घोष इत्यादि स्थलो मे शक्यतावच्छेदक धर्म प्रवाहत्व या गङ्गात्व का तीर रूप अर्थ मे अध्यास कर लेते हैं और यह तीर रूप अर्थ की उपस्थिति अभिधा द्वारा ही हो जाती है अत अभिधा का ही एक भेद लक्षणा है जैसा कि भर्तृहरि ने लिखा है—"अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्द स्वार्थे व्यवस्थित" अर्थात् अर्थ मात्र ही बदल जाता है, शब्द अपने रूप मे व्यवस्थित ही है।

कुछ आलङ्कारिको की लक्षणा के विषय मे असहमति जैसे वैय्याकरण लक्षणा के पृथक् वृत्ति के विषय मे उदासीन हैं। अभिधा के ही प्रसिद्ध व अप्रसिद्ध भेद मानकर, अप्रसिद्ध भेद को लक्षणा मान लेते हैं, इसी प्रकार कुछ आलकारिक भी लक्षणा को स्वतन्त्र वृत्ति न मानकर अलकारो में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं—

जैसे—वामनाचार्य ने सादृश्य हेतुक लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार में अन्तर्हित कर दिया—"सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति" (४-३-८) अलंकार रत्नाकर में शोभाकर मित्र ने तो यहाँ तक कहा है कि—सादृश्य प्रयुक्त या सम्बन्धान्तर प्रयुक्त जितना भी उपचार का विषय है वह सब रूपक में आ जाता है।

"सादृश्य प्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावान् भिन्नयोः सामानाधिकरण्य निर्देश स सर्वोऽपि रूपकम्।"

काव्यप्रकाश के अनुसार लक्षणा के भेद—

लक्षणा के भेदक हेतु हैं—रूढि और प्रयोजन। अर्थात् लक्षणा के रूढिगत भेद और प्रयोजनगत भेद होंगे।

रूढि का उदाहरण है "कर्मणि कुशल" (चित्रकर्म या किसी कार्य में कुशल)। यहाँ कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ (व्याकरण के द्वारा निकलने वाला अर्थ) है "कुशान् लाति आदत्ते" इति कुशल। (कुशों को लाने वाला) प्रकृत में "कुशों को लाने वाला" इत्यादि अर्थ का कोई सम्बन्ध न होने से मुख्यार्थ का बाध होता है। तदनन्तर विवेचकत्वादि सम्बन्ध से कुशल पद दक्ष अर्थ में रूढ (प्रसिद्ध) होने से मुख्य से अन्य अर्थ दक्ष या चतुर अर्थ लक्षित होता है। अतः कर्मणि कुशल यह रूढि का उदाहरण है।

प्रयोजन का उदाहरण—"गङ्गायां घोषः" है।

यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ भगीरथरथखातावच्छिन्न जलप्रवाह है। घोष का अर्थ है कुटिया (कॉटेज) जलप्रवाह कुटिया का आधार नहीं बन सकता है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध होता है। गङ्गा के साथ तट का सामीप्य सम्बन्ध होने पर, "गङ्गातटे घोषः" इत्यादि पदों के प्रयोग में अलभ्य शैत्य पावनत्वादि धर्मों की प्रतीति स्वरूप प्रयोजन से मुख्य गङ्गा का प्रवाह रूप अर्थ से अमुख्य तीरादि जो लक्षित होते हैं वह शब्द का व्यवहितार्थ विषयक आरोपित शब्द व्यापार लक्षणा है।

लक्षणा का रहस्य—

तात्पर्य यह है कि काव्य नाटकादि साहित्यिक ग्रन्थों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, उनसे प्रकाशित होने वाला अर्थ ज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) सुन्दर, (२) सुन्दरतर, ( ) सुन्दरतम।

सामान्यजनों की बोलचाल के शब्दों से होने वाला अर्थज्ञान सामान्यतः सुन्दर है। जैसे—देवदत्त गाँव को जाता है। यह मुख्यार्थ-विषयक अभिधा-व्यापारजन्य है, इसमें खास चमत्कार नहीं है। लक्षणाजन्य चमत्कार चारुतर या सुन्दरतर है—किसी ने अपने मित्र से पूछा आपका निवास स्थान कहाँ है?

उसने उत्तर दिया गङ्गा के पास है। तो मित्र ने समझ लिया कि गङ्गा के आसपास कही होगा, इसलिए इसके घर जाने से क्या फायदा, न तो वहां शीतलता है और न पवित्रता। फिर दूसरे मित्र से पूछा कि आपका निवास स्थान कहां है तो उसने उत्तर दिया—गङ्गा मे ही मेरी कुटिया है। अब इसे विश्वास हो गया कि गङ्गा से ज्यादा दूर नही है, अवश्य यहां शीतत्वपावनत्वातिशय की प्राप्ति हो सकती है। अत मित्र उसके घर चलने को राजी हो गया।

यह शब्द प्रयोग की विशेषता है कि एक जगह अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति हो जाती है, और एक जगह नही हो रही है, प्रथम मित्र का कथन अभिधा का विषय है, जिसमे शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति नही होती है।

दूसरे मित्र का कथन—लक्षणा का विषय है, जिसमे श्रोता को सुनते ही अपने अभीष्ट प्रयोजन पर विश्वास हो जाता है। वाचक व लाक्षणिक शब्दो के प्रयोग मे यही अन्तर है। अन्यथा शब्द प्रयोग तो स्वायत्त है, क्यो अवाचक शब्दो का प्रयोग किया जाय ?

"गङ्गायां घोष" गङ्गा मे कुटिया है इत्यादि स्थलो मे यद्यपि लक्षणाशक्ति का विषय तट ही है, क्योंकि लक्षणा की पहुँच ही तट तक है, उससे अधिक जो शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान तो व्यञ्जना व्यापार का विषय ही है, पर यह व्यञ्जना यहां लक्षणामूला है। इसीलिए इस प्रयोजन को लक्षणा का फल भी कहते है। यह प्रयोजन या फल हमेशा व्यङ्ग्य ही होता है। अतएव यह लक्षणा का उदाहरण सुन्दरतर है। निरूढा लक्षणा या रूढि लक्षणा मे कोई प्रयोजन न होने से अभिधा व्यापार की तरह वह पद सामान्यरूप होने से सुन्दर है।

लक्षणा के अवान्तर भेद—

यह लक्षणा उपादान लक्षणा व लक्षणलक्षणा के भेद से पुन दो प्रकार की होती है।

उपादान लक्षणा—जहां वाक्य मे स्थित पद अपने सम्बन्ध की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का "उपादान" ग्रहण करते हुए, अन्य अर्थ का भी आक्षेप किया जाय वहां उपादान लक्षणा होती है। **"कुन्ता प्रविशन्ति"** इसका उदाहरण है।

यहां कुन्त (भाले) अपने प्रवेशन क्रिया की सिद्धि के लिए अपने से सयुक्त कुन्तधारी पुरुषो का आक्षेप होता है, और स्वय कुन्तो का भी उपादान ग्रहण होता है। इसीलिए यह उपादान लक्षणा का उदाहरण है।

कुन्तो की अतिगहनता ही यहां प्रयोजन है।

लक्षणलक्षणा—वाक्य में दूसरे की अन्वय की सिद्धि के लिए जहाँ अपने मुख्यार्थ का परित्याग करना पड़ता है, उसे 'लक्षणलक्षणा" कहते है। इसका उदाहरण—"गङ्गायां घोष" है।

यहाँ गङ्गा शब्द पर घोष की आधारत्व सिद्धि के लिए अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर सामीप्य सम्बन्ध से अन्य तटार्थ का बोध कराता है अतएव यह लक्षणलक्षणा का उदाहरण है, शैत्यपावनत्वातिशय ही प्रतीति प्रयोजन है।

ये दोनों उदाहरण—'स्वसिद्धये पराक्षेपः' रूप उपादान लक्षणा का कुन्ता प्रविशन्ति यह और परार्थं स्वसमर्पण रूप लक्षणालक्षणा का गङ्गायां घोषः यह। ये दोनों शुद्धा के ही भेद हैं क्योंकि यहाँ उपचार का मिश्रण नहीं है।

जहाँ सादृश्यमूलक कोई सम्बन्ध होता है, वहीं उपचार होता है। उक्त स्थलों में तो समीप्यादि सम्बन्ध है अतः ये शुद्धा के भेद हैं। विभिन्न पदार्थों का किसी सादृश्यातिशय के द्वारा जहां परस्पर भेद प्रतीति का स्थगन हो जाय उसे उपचार कहते हैं। जैसे—' अग्निर्माणवक " इत्यादि स्थल में। 'उपचारो हि नामात्यन्त विशकलितयो शब्दयो सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगन-मात्रम्। (साहित्यदर्पण)

मुकुलभट्ट के उपादान लक्षणा के उदाहरणों का खण्डन—

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'अभिधावृत्ति मातृका" में उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिखलाये हैं। एक—'गौरनुबन्ध्य" दूसरा—'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते।"

प्रथम उदाहरण—"गौरनुबन्ध्य" यहाँ पर मुकुलभट्ट का कहना है कि श्रुतिचोदित अनुबन्धन यहाँ गोत्व जाति का तो हो नहीं सकता है अतः उपादान लक्षणा के द्वारा मुख्यार्थ जाति से अन्यार्थ व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है, इस पर मम्मट का कहना है कि यहाँ उपादान लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि ऐसे स्थलों में तो आक्षेप या अनुमान से ही व्यक्ति का लाभ हो जाता है, प्रयोजन व रूढि के न होने के कारण यहाँ लक्षणा की कोई गुन्जाइश ही नहीं है।

इसी प्रकार दूसरा उदाहरण—"पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" यह भी उपादान लक्षणा का उदाहरण नहीं हो सकता, यह श्रुतार्थापत्ति या अर्थापत्ति का विषय है।

शुद्धा तथा गौणी विषयक मुकुलभट्ट का सिद्धान्त—

मुकुलभट्ट के अनुसार गौणी लक्षणा में तो सादृश्यातिशय के कारण लक्ष्य तथा लक्षक की अभेद प्रतीति होती है—जैसे—"गौर्वाहीक" में गौ तथा

वाहीक अर्थों मे अभेद प्रतीति होती है, तभी उन दोनो पदो का सामानाधिकरण्य होने से समान विभक्ति मे प्रयोग होता है। परन्तु शुद्धा लक्षणा मे तो अर्थात् उपादान लक्षणा व लक्षण लक्षणा मे "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलो मे लक्ष्य तट तथा लक्षक गङ्गादि शब्दो मे तो अभेद नही अपितु भेद रूप ताटस्थ की ही प्रतीति होती है। अत शुद्धा तथा गौणी का भेदकधर्म यही है। एकत्र शुद्धा मे लक्षक लक्ष्य मे भेद प्रतीति तथा अन्यत्र गौणी मे लक्षक व लक्ष्य मे अभेद की प्रतीति। यही इन दोनो मे अन्तर है।

मम्मट द्वारा ताटस्थ्य सिद्धान्त का निराकरण—

मम्मट को मुकुलभट्ट का शुद्ध व गौणी के विषय में यह ताटस्थ्य सिद्धान्त अभिमत नही है। उनका कहना है कि शुद्धा के भेदो मे भी लक्षक व लक्ष्य मे अभेद प्रतीति ही होती है, फर्क सिर्फ इतना ही है कि एकत्र गौणी मे उपचार का मिश्रण रहता है, और अपरत्र शुद्धा मे उपचार का मिश्रण नही रहता है। यदि शुद्धा के उदाहरण "गङ्गाया घोष" इत्यादि स्थलो मे लक्षक व लक्ष्य मे अभेद प्रतीति नही मानेगे तो तट मे गङ्गात्व की प्रतीति नही हो सकेगी। तट के साथ केवल गङ्गा का सम्बन्ध मात्र मानने से तो "गङ्गायास्तटे घोष" गङ्गा के किनारे घोष है, इस मुख्य शब्द के कथन से लक्षणा का भेद ही क्या रह जायेगा।

शुद्धा तथा गौणी के भेद—

जहाँ आरोप्यमाण (उपमान) तथा आरोप विषय (उपमेय) दोनो शब्दत. कथित होते हैं वहाँ दूसरी (गौणी) सारोपा लक्षणा होती है—

"सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ॥

और आरोप्यमाण (उपमान) के द्वारा यहाँ (आरोप विषय) उपमेय को निगीर्ण किया जाय, अर्थात् उपमान वाचक पद के द्वारा ही उपमेय का भी बोध कराया जाय उसे साध्यवसाना लक्षणा कहते हैं।

विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

यदि यह आरोप या अध्यवसान सादृश्यमूलक हो तो गौणी के लक्षणा होगी, यदि किसी सम्बन्धान्तर से होय तो शुद्धा लक्षणा होगी।

उपादान गौणी सरोपा का उदाहरण है "गौर्वाहीक" यहाँ गौ तथा वाहीक दोनो के समान गुणो के आश्रयरूप मे वाहीक अर्थ ही लक्षणा द्वारा उपस्थित होना है।

यहाँ गौ आरोप्यमाण उपमान है और आरोप विषय उपमेय है वाहीक दोनो मे जाड्यमान्द्यादि गुणों की समानता के कारण वाहीक मे गौ का आरोप किया है। दोनो का निर्देश शब्दत होने से सारोपा गौणी का उदाहरण है। लक्षणलक्षणा—गौणी साध्यवसाना का उदाहरण—गौरयम् है।

यहाँ आरोप्यमाण गौ के द्वारा आरोप विषय उपमेय वाहीक का निगीर्ण हो चुका है। साथ ही साथ पूर्वोक्त जाड्यादि गुणों के द्वारा सामानाधिकरण्य भी है, अतः यह उदाहरण गौणी साध्यवसाना लक्षणा का है।

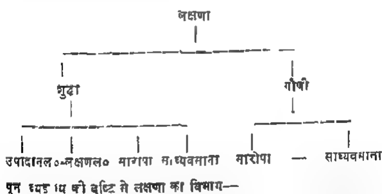
शुद्धा सारोपा का उदाहरण—"आयुर्घृतम्" घी आयु है। यहाँ आरोप्यमान उपमान आयु व आरोप विषय उपमेय घी दोनों का शब्दतः निर्देश है, और यहाँ सादृश्य से अतिरिक्त कार्यकारण सम्बन्ध है अर्थात् घी कारण है और आयु कार्य है, घी खाने से अवश्य आयु बढ़ती है यही इसका प्रयोजन भी है।

शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण—"आयुरेवेदम्" यह (घी) आयु ही है। यहाँ आरोपविषय घी का आरोप्यमाण उपमान आयु के द्वारा निगीर्ण हो चुका है अतः यह उदाहरण शुद्धा साध्यवसाना लक्षणा का है। निश्चित रूप से आयु बढ़ाना सप्रयोजन पूर्ववत् है—

लक्षणा तेन षड्विधा

इस प्रकार पूर्व भेद उपादान लक्षणा, व लक्षणलक्षणा, सारोपा व साध्यवसाना ये शुद्धा के चार भेद है, और गौणी के केवल दो भेद—सारोपा व साध्यवसाना, सब मिलकर छः भेद हुए—

इनका विषय विभाग इस प्रकार है—



पुनः व्यङ्ग्य की दृष्टि से लक्षणा का विभाग—

यह लक्षणा पुनः अव्यङ्ग्या, गूढव्यङ्ग्या, अगूढव्यङ्ग्या तीन प्रकार की होती है। रूढि में—"कर्मणि कुशलः" इत्यादि स्थलों में व्यङ्ग्या से रहित होगी और प्रयोजनवती लक्षणा व्यङ्ग्य सहित होगी।

वह प्रयोजन भी कहीं गूढ होगा और कहीं अगूढ।

गूढ (व्यङ्ग्य), प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

"मुखं विकसितं स्मितम्" इत्यादि हैं।

यह किसी इन्दुवदना की तरुणिमा का सुन्दर वर्णन है।

इस सुन्दरी का मुख स्मित ईषद्हास्य से विकसित है।

यहाँ विकास पुष्प का धर्म है, इसको स्मित में बाध होने से लक्षणा के द्वारा स्मित की सातिशयता लक्षित होती है, इससे मुख में सौरभादि व्यङ्ग्य है, यह व्यङ्ग्य सर्वजनवेद्य न होने के कारण गूढ है।

अगूढ व्यङ्ग्य प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम्।
उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥१०॥

लक्ष्मी की प्राप्ति हो जाने पर मूर्ख भी चतुरों के व्यवहार को समझने वाले हो जाते हैं, (पुन अर्थान्तर न्यास से इसका समर्थन करते हैं) जैसे यौवन मद ही कामिनियों को ललित उपदेश कर देता है।

यहाँ "उपदिशति" यह पद अगूढ व्यङ्ग्य है, क्योंकि शब्द द्वारा अज्ञातार्थ का ज्ञापन रूप उपदेश तो चेतन का धर्म है न कि जड यौवन मद का, अत मुख्यार्थ का बाध होने से सामान्य विशेषरूप सम्बन्ध से उन चेष्टाओं का आविष्कार मात्र लक्ष्य है, अनायास ललित चेष्टाओं का ज्ञान यह व्यङ्ग्य वाच्यार्थ की तरह स्पष्ट मालूम पड़ता है।

इस प्रकार काव्यप्रकाशकार के मत में छः प्रयोजनवती लक्षणायें पूर्ववर्णित हैं। इनके प्रयोजन स्वरूप व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से ये बारह प्रकार की हो गई। रूढि का केवल एक भेद है, सब मिलाकर तेरह प्रकार की लक्षणा हुई।

साहित्यदर्पणकार ने मम्मट के छ भेदों के स्थान पर सोलह भेद माने हैं। उन्होंने रूढि तथा प्रयोजन को भी भेद का कारण माना है। इस प्रकार उपादान लक्षणा दोनों के रूढिगत व प्रयोजनगत होने से चार भेद हो जाते हैं। फिर इन चारों में सारोपा और साध्यवसाना मान लेने से आठ भेद हो जाते हैं। इन आठों में शुद्धा तथा गौणी के भेद से सोलह प्रकार की लक्षणा हो जाती है पुन इन भेदों के व्यङ्ग्य के गूढागूढ होने से और धर्म धर्म होने से पद व वाक्य गत लक्षणा के मानने से अस्सी प्रकार के भेदों को विश्वनाथ ने दिखलाया है।

लाक्षणिक शब्द—

इस प्रकार लक्षणा के अवान्तर भेदों का निरूपण करके अब पूर्व प्रसङ्ग से अनुकृष्ट लाक्षणिक शब्द का विवेचन करते हैं—

उस लक्षणा शक्ति का आश्रयभूत यह "गङ्गादि" शब्द लाक्षणिक कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रवाहरूप अर्थ का वाचक-गङ्गादि शब्द लक्षणा शक्ति

की परिधि में आ जाने से उपचारवश लाक्षणिक कहलाता है। "तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।"

उन लाक्षणिक शब्द के द्वारा जब शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन का प्रतिपादन करना पड़ता है तो व्यञ्जनात्मक व्यापार की आवश्यकता होती है।

अर्थात्—प्रयोजन केवल व्यञ्जना व्यापार का ही विषय है।

प्रयोजन की प्रतीति में व्यञ्जना वृत्ति की अपरिहार्यता—क्योंकि—

जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए लाक्षणिक शब्द का आश्रय लिया जाता है, केवल उसी लाक्षणिक शब्द द्वारा गम्य उस फल (प्रयोजन) के विषय में व्यञ्जना के अतिरिक्त (शब्द) का अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥१४॥

उक्त प्रयोजन की प्रतीति न तो अभिधा वृत्ति से हो सकती है, क्योंकि पावनत्वादि प्रयोजनों के प्रतिपादक गङ्गादि शब्दों में इस प्रकार का संकेत ग्रह नहीं किया गया है और मुख्यार्थ बाधादि हेतुओं के न होने से लक्षणावृत्ति का भी विषय नहीं है।

लक्षणावृत्ति प्रयोजन की प्रतीति तब कराती जब यहाँ लक्ष्यार्थ ही मुख्यार्थ माना जाता, पर यहाँ तो तट रूप मुख्यार्थ नहीं है न उसमें किसी प्रकार का बाध ही है, और न शैत्य पावनत्वादि फल के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही है। फिर प्रयोजन को लक्ष्यार्थ मानने में आगे कोई अन्य प्रयोजन भी नहीं है।

यदि प्रयोजन सहित तट को लक्षणा का विषय मान जाए तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि विषय और फल में भेद होता, जैसे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, उसी प्रकार लक्षणा ज्ञान का विषय तट है और लक्षणा ज्ञान का फल पावनत्वादि ये दोनों परस्पर भिन्न हैं।

अतः प्रयोजन विशिष्ट तट लक्षणा व्यापार का विषय नहीं हो सकता। क्यों कि "ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्"।

अर्थात्—ज्ञान का विषय (घटादि) अलग और ज्ञान का फल (नैय्यायिकों) के मत में अनुव्यवसाय और मीमांसकों के मत में ज्ञातता (प्रकटता) अलग कहे गये हैं।

न्याय का अनुव्यवसाय सिद्धान्त—

न्याय सिद्धान्त के अनुसार पहिले घटपटादि पदार्थों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा हो जाता है, "अयं घटः" इस प्रकार का ज्ञान। पश्चात्

"घटविषयक ज्ञानवानहम्" या "घटमहं जानामि" इस प्रकार का यह दूसरा ज्ञान अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहा जाता है। पहला ज्ञान विषय-घट से उत्पन्न होता है इसलिए यह व्यवसायात्मक ज्ञान है, दूसरा ज्ञान घटज्ञान से उत्पन्न होता है। इसीलिए यह अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कहलाता है इसी को दूसरे शब्दो मे संवित्ति भी कहते हैं। यह दूसरा ज्ञान घट ज्ञान का फल हुआ।

अर्थात्—घट ज्ञान के विषय घट से उस घट ज्ञान का फल "अनुव्यवसाय" भिन्न है इसीलिए विषय और फल दोनो की समकालीन उपस्थिति नही होती है।

मीमांसकों का ज्ञातता सिद्धान्त—

मीमांसकों के मत मे अयं घट इस प्रकार के ज्ञान होने के बाद "ज्ञातो मया घट" इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस प्रतीति मे घट मे रहने वाला ज्ञातता या प्रकटता नामक धर्म भासता है। यह धर्म घटज्ञान के पहिले घट मे नही था, घट ज्ञान के बाद आया, अतः यह ज्ञान से उत्पन्न होने से ज्ञान उसका कारण है। अन्यथा ज्ञातता की अनुपपत्ति है, इसी अन्यथानुपपत्ति के द्वारा ज्ञातता से ज्ञान का ग्रहण होता है।

नैय्यायिकों का अनुव्यवसाय जैसे आत्मा मे रहने वाला धर्म है, वैसे ही मीमांसकों का यह ज्ञातता धर्म घटादि विषय मे रहने वाला धर्म है यही इन सिद्धान्तों मे भेद है—

दोनो ही मतो मे ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है, क्योंकि विषय ज्ञान का कारण है इसलिए उसकी स्थिति ज्ञान के पहिले रहती है। फल ज्ञान का कार्य है इसलिए यह ज्ञान के बाद होता है। इसलिए लक्षणा जन्य ज्ञान के विषय तटादि का उसके फल (प्रयोजन) पुण्यत्व मनोहरत्वादि या शैत्य पावनत्वादि की स्थिति भी अलग अलग है उन दोनो की समकालीन उत्पत्ति नही हो सकती है। इसलिए विशिष्ट अर्थात् प्रयोजन सहित तट मे लक्षणा नहीं हो सकती है। हाँ लक्षित तटादि मे विशेष शैत्यपावनत्वादि हो सकते हैं।

यह लक्षणामूला व्यञ्जना का प्रकरण समाप्त हुआ।

अभिधामूला व्यञ्जना—

अनेकार्थक शब्दो का संयोगादि द्वारा एक अर्थ मे नियन्त्रण हो जाने पर भी उसी शब्द से यदि पुनः अन्यार्थ की प्रतीति होती हो तो उस प्रतीति का कराने वाला शब्द व्यापार अभिधा मूला-व्यञ्जना के नाम से कहा जाता है।

> अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
> संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥१६॥

अनेकार्थक शब्दों के विषय में जहाँ यह सन्देह हो कि किस अर्थ को लिया जाए तो ऐसी स्थिति में ये संयोगादि चौदह तत्त्व नियामक होते हैं—

(१) जैसे संयोग—"शंख चक्र के सहित हरि" यदि कहा जायेगा तो यहाँ हरि शब्द अनेकार्थक—विष्णु इत्यादि वाचक होता हुआ भी संयोग के द्वारा विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि शंख चक्र का संयोग विष्णु में ही रहता है।

(२) इसी प्रकार वियोग भी नियामक होता है, यदि अशंखचक्रो हरि कहेंगे तो वियोग के द्वारा भी हरि शब्द विष्णु का ही वाचक होगा क्योंकि संयोगपूर्वक ही वियोग होता है।

(३) साहचर्य—"रामलक्ष्मणौ" में साहचर्य सम्बन्ध के कारण दोनों दशरथ पुत्र के वाचक होंगे।

(४) विरोधिता—"रामार्जुनगतिस्तयोः" इत्यादि स्थल विरोध नियामक है। राम और अर्जुन इन दोनों शब्दों का विरोधिता के कारण परशुराम तथा कार्तवीर्य अर्थ होगा।

(५) अर्थ अर्थात् प्रयोजन—संसार से मुक्ति के लिए 'स्थाणु' का भजन करो यहाँ स्थाणु शब्द (प्रयोजन विशेष मुक्ति अर्थ) के कारण शिव इस अर्थ में नियन्त्रित हो जायगा।

(६) प्रकरण—"देवो जानाति" 'देव' यह शब्द अनेकार्थक है पर प्रकरणवश "आप" इस अर्थ में नियमित हो जायेगा।

(७) लिङ्ग—"मकरध्वज कुपित हो रहा है" इत्यादि स्थलों में कोप चिह्न के द्वारा मकरध्वज शब्द कामदेव अर्थ में ही नियन्त्रित हो जायेगा।

(८) अन्य शब्द की सन्निधि—'पुरारि देव का' यहाँ पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द शंकर अर्थ ही होगा।

(९) सामर्थ्य—"कोकिल मधु में मत्त हो रहा है" यहाँ कोकिल को मत्त करने का सामर्थ्य केवल वसन्त में होने से मधु शब्द का वसन्त अर्थ होगा।

(१०) औचिती—'पत्नी का मुख तुम्हारी रक्षा करे" इसमें अनेकार्थक मुख शब्द औचित्य के कारण साम्मुख्य—आनुकूल्य अर्थ में नियन्त्रित होगा।

(११) देश—"यहाँ परमेश्वर शोभित है" इसमें राजधानी रूप देश विशेष के कारण अनेकार्थक परमेश्वर शब्द का राजा अर्थ होगा।

(१२) काल—"चित्रभानु चमक रहा है" यहाँ अनेकार्थक चित्रभानु शब्द का दिन में सूर्य अर्थ और रात में कालविशेष के कारण अग्नि अर्थ होगा।

(१३) व्यक्ति—'मित्र भाति' में नपुंसक लिङ्ग होने के कारण मित्र शब्द का सुहृद् सखा आदि और पुल्लिङ्ग में 'मित्रो भाति' होने से सूर्य अर्थ लिया जायेगा।

(१४) "इन्द्र शत्रु सर्वस्व" इत्यादि स्थलों मे ही स्वर का उपयोग होता है ।

अर्थात्—वेद मे ही स्वर विशेष से अर्थ विशेष का बोध होता है, काव्य मे स्वरो का विशेष उपयोग नही होता है।

इसी तरह चेष्टादि से भी किसी विशेष अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार सयोगादि से जब अनेकार्थक शब्दो का एक अर्थ मे नियन्त्रण हो जाता है, पुन यदि उसी शब्द से अर्थान्तर की प्रतीति होती है तो उसमें अभिघा व्यापार न होकर व्यञ्जना व्यापार ही होता है—इसी को अभिघामूला व्यञ्जना कहते हैं—

उदाहरण—

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवशोन्नते कृतशिलीमुखसग्रहस्य ।
यस्यानुपप्लवगते परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग सतत करोऽभूत् ॥१२॥

इस श्लोक मे किसी राजा की स्तुति की जा रही है, अत इन अनेकार्थक शब्दों का भद्रात्मनो "सुन्दर आत्मा वाले" हाथी के पक्ष मे भद्रजातीय हाथी इत्यादि को का प्रकरण द्वारा जब राजा के अर्थ नियमित हो जाता है, पुन. उन्ही शब्दो से हाथीपरक दूसरे अर्थ की प्रतीति और प्रकृत अर्थ के साथ उपमानोपमेयभाव की भी प्रतीति होती है, राजा के सारे विशेषण हाथी के पक्ष मे भी लगते हैं। यह द्वितीय अर्थ की प्रतीति अभिघामूला व्यञ्जना द्वारा ही होती है ।

इस व्यञ्जना व्यापार से युक्त शब्द व्यञ्जक कहलाता है। इसमे अर्थ की भी सहकारिता रहती है—

अर्थात्—शाब्दी व्यञ्जना मे शब्द की प्रधानता व अर्थ की सहकारिता रहती है, और आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की प्रधानता व शब्द की सहकारिता रहती है, इसीलिए ये शब्दार्थ काव्य मे एक दूसरे के पूरक के रूप मे हैं ।

काव्य प्रकाश मे शब्द अर्थ का निरूपण नामक
द्वितीय उल्लास समाप्त हुआ ।

तृतीय उल्लास

आर्थी व्यञ्जना

द्वितीय उल्लास में शब्द अर्थ के स्वरूप का निर्णय करते हुए वाचक लक्षक व व्यञ्जक शब्द और वाच्य लक्ष्य व व्यङ्ग्य अर्थ का भी प्रतिपादन किया, साथ ही साथ लक्षणाशक्ति पर विचार कर लक्षणा के प्रयोजन के प्रतिपादन के अवसर पर प्रयोजन को व्यञ्जना व्यापारगम्य ही मानते हुए लक्षणामूलाशाब्दी व्यञ्जना व अभिधामूलाशाब्दी इन दोनों प्रकार की शाब्दी व्यञ्जना का निरूपण कर, अब इस उल्लास में आर्थी व्यञ्जना का निरूपण करते हैं—"अर्थव्यञ्जकतोच्यते" इत्यादि कारिका द्वारा।

जैसे—लक्षणामूला व्यञ्जना के लिए मूल में लक्ष्यार्थ का होना आवश्यक है, और अभिधामूला व्यञ्जना में 'संयोगादि नियामक तत्त्वों द्वारा प्राकरणिकादि अर्थों का नियमन आवश्यक है उसी प्रकार इस आर्थी व्यञ्जना में भी वक्तृ बोद्धव्यादि का ज्ञान आवश्यक है जिनकी विशेषता से अर्थ, अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है—

उन वक्तृ बोद्धव्यादि का निर्देश इस प्रकार है—

> वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥२१॥
> प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
> योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥२२॥

(१) वक्ता, (२) बोद्धव्य, (३) काकु (४) वाक्य (५) वाच्य, (६) अन्यसन्निधि, (७) प्रस्ताव (८) देश, (९) काल, (१०) आदि के वैशिष्ट्य से (प्रतिभाशीलों) सहृदयों को अर्थान्तर की प्रतीति कराने वाला अर्थ का जो व्यापार होता है वह आर्थी व्यञ्जना ही है।

(१) वक्ता के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

> अति पृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागतास्मि सखि त्वरितम् ।
> श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम् ॥२३॥

कोई सखी अपनी सखी से कहती है, कि बहुत भारी जलकुम्भ लाई हूँ, इसलिए परिश्रम से थक गई हूँ अब क्षण मात्र विश्राम करूँगी॥

यहाँ प्रतिभाशाली सामाजिकों को प्रमाणान्तर से जिसका असतीत्व ज्ञात था, उन्हें उस वक्त्री सखी के वैशिष्ट्य से वाच्यार्थ के द्वारा उक्त सखी का चौर्यरत गोपन अभिव्यक्त होता है।

बोधव्य के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

> औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्तालसत्वं सनिःश्वसितम्।
> मम मन्दभागिन्या कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति॥१४॥

कोई नायिका अपनी सखी को कहती है, ये चिन्ता, दुर्बलता आदि जो मुझे परेशान कर रही हैं, मेरे लिए परिश्रम करने वाली तुमको भी ये परेशान कर रही हैं।

यहाँ बोधव्य सखी है। उसी के वैशिष्ट्य से उसका कामुकविषयक अपराध प्रकाशन किया जा रहा है।

काकु के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

> गुरु खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु॥१५॥

यहाँ भीम युधिष्ठिर के प्रति कहते हैं उस प्रकार की अवस्था का अनुभव करके भी, खिन्न मेरे उपर युधिष्ठिर नाराज होंगे, न कि कौरवों पर ?

इस काकु (एक प्रकार की ध्वनि विशेष) "मेरे उपर नाराज होना उचित नहीं कौरवों पर नाराज होना उचित है—यह व्यग्य विशेष प्रकाशित होता है।

वाक्य के वैशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ का प्रकाशन—

> तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
> इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न च सा दृष्टिः॥१६॥

कपोल प्रतिबिम्बित सखी को देखने वाले के प्रति किसी नायिका की यह उलाहना है कि तुम्हारी प्रच्छन्न कामुकता का क्या कहा जाय, यह व्यङ्ग्य इस सारे वाक्य की विशेषता से मालूम पड़ता है।

वाच्य (अर्थ) की विशेषता का उदाहरण—

"उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी" इत्यादि यह प्रदेश सरस कदली कुञ्ज से मण्डित है" इत्यादि वाच्यार्थ की विशेषता से कुञ्जादि विशेषण से विशिष्ट प्रदेश रूप वाच्य से सुख पूर्वक भ्रमण योग्य यह देश है, यह व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है।

अन्य सन्निधि की विशेषता का उदाहरण—

> नुदत्यनाद्रमना श्वश्रूर्मां गृहभरे सकले।
> क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां विश्रामो भवति न वा भवति॥

सन्निहित उपनायक के प्रति "सध्या सवेत" काल की सूचना सामाजिकों को उक्त सन्निहित व्यक्ति की विशेषता से मालूम पड़ता है।

प्रकरण की विशेषता का उदाहरण—

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण। इत्यादि

यहाँ प्रकरण के ज्ञाता सामाजिकों को किसी के अभिसरण निषेधादि व्यङ्ग्य प्रस्ताव विशेष से मालूम पड़ता है।

देश की विशेषता का उदाहरण—

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

यहाँ कुसुमावचय को उद्देश्य करके सखियों का अन्य देशाधिकरण का विधानरूप विविक्त देश विशेष में उपपति समागम रूप व्यङ्ग्य प्रकाशित होता है।

काल के वैशिष्ट्य का उदाहरण—

गुरुजनपरवश प्रिय, किं भणामि तव मन्दभागिनी अहम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम् ॥२१॥

यहाँ अद्य पद प्रयुक्त गमन काल की विशेषता से प्रिय के प्रति अनुरक्त किसी का जीवन मुश्किल है यह अभिव्यक्त होता है।

आदि से चेष्टाविशेष से भी व्यङ्ग्यार्थ अभिव्यक्त होता है। शब्द प्रमाण से वेद्य अर्थ अर्थान्तर को अभिव्यक्त करता है। इसीलिए आर्थी व्यञ्जना में शब्द की भी सहकारिता है।

शाब्दी व्यञ्जना में प्रसङ्ग में यह कहा था कि शब्द ही यहाँ मुख्यरूप से व्यञ्जक होता है, पर अर्थ भी उसका सहायक होता है। इसी प्रकार आर्थी-व्यञ्जना में यद्यपि अर्थ ही मुख्य रूप से व्यञ्जक होता है तथापि शब्द की भी सहकारिता रहती ही है।

काव्य प्रकाश में अर्थ व्यञ्जकता निर्णय नामक
तृतीय उल्लास समाप्त हुआ

———

चतुर्थ उल्लास

यद्यपि प्रथम, द्वितीय व तृतीय उल्लास में काव्य स्वरूप "शब्दार्थौ काव्यम्" इत्यादि और शब्दार्थ का निर्णय, इसी प्रसङ्ग में अभिधा, लक्षणा व व्यञ्जना व्यापार का भी निर्णय हो चुका है, अब काव्य के धर्म-दोष-गुण अलकारों का स्वरूप कथन अवशिष्ट था, पर धर्मी काव्य के प्रतिपादन किये बिना उसके धर्मों की हेयोपादेयता का उचित मूल्याङ्कन नहीं हो सकता। इसलिए पहले उत्तम काव्य-ध्वनिकाव्य के मुख्य भेदों का निरूपण करते हैं—

ध्वनि के मुख्य भेद—

ध्वनि मूलतया दो प्रकार की होती है—

अभिधामूलाध्वनि तथा लक्षणामूला ध्वनि।

द्वितीय उल्लास में जिस लक्षणा का विवेचन किया है, उसी का प्रयोजन व्यङ्ग्य होता है, और वाच्य विवक्षित नहीं होता, अर्थात् मुख्यार्थ का बाध होता है। अतएव इस लक्षणामूला ध्वनि को अविवक्षितवाच्यध्वनि कहते हैं—

इसके भी पुन अर्थ के कभी अर्थान्तर में सङ्क्रमित हो जाने से, और मुख्यार्थ को बिल्कुल छोड़ देने से दो भेद होते हैं।

एक अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यध्वनि और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि

अविवक्षितवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि — अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण—

त्वामस्मि वच्मि विदुषा समुदायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीया मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥२३॥

अपने शिष्य के प्रति किसी विद्वान की यह उक्ति है—

मैं तुमसे कहता हूँ कि यहाँ विद्वानों का समुदाय रहता है, अत जरा सोच समझकर (बोलना) या रहना।

यहाँ जब वक्ता और बोधव्य जब आमने सामने हैं, तो "अस्मि त्वा वच्मि" यह पद अनुपयुक्त होते हुए अर्थान्तर-उपदेश्य तुमको हितभावना से

उपदेश देता हूँ। इस अर्थ मे वाच्य परिणत हो जाता है, शिष्य के प्रति उसका हित सम्पादकत्व व्यङ्ग्य है।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि का उदाहरण—

> उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
> विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखित मास्व तत. शरदां शतम्॥२४॥

अपकारी मित्र के प्रति किसी की यह उक्ति है—

आपने बड़ा उपकार किया है, कहाँ तक प्रशसा की जाय ? हे मित्र ! सदा ऐसा ही करते हुए तुम सैकडो वर्ष तक सुखी रहो।

यहाँ उपकृतादि शब्द अपने अर्थ को अत्यन्त तिरस्कृत करते हुए अपकृतम् अपकार मे परिणत हो जाते हैं। अपकारातिशय प्रकाशन व्यङ्ग्य है।

अभिधामूला ध्वनि या विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि।

जहाँ वाच्यार्थ बाधित न होते हुए अन्य परक—व्यङ्ग्य परक होता है।

अर्थात्—वाच्यार्थ अपने स्वरूप का बिना किसी रुकावट के प्रकाशन करता हुआ व्यङ्ग्य मे पर्यवसित होता है।

यहाँ वाच्यार्थ व व्यङ्ग्यार्थ के बीच जो क्रम है वह कही लक्षित हो जाता है, और कही वाच्यार्थ से इतनी जल्दी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है कि वहाँ बीच में क्रम लक्षित नही होता है।

इसी क्रम के लक्षित और अलक्षित के कारण पुन विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के दो भेद होते हैं—

(१) संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और (२) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का जो असंलक्ष्यक्रम ध्वनि नामक भेद हैं, इसी भेद के अन्तर्गत-रस भाव रसाभास व भावाभास भावशान्ति आदि सभी आ जाती हैं। रसादि की जहाँ पर प्राधान्येन स्थिति होगी अन्य वाक्यार्थ या अलङ्कार जहाँ उपस्कारक होंगे वही पर रस भावादि को विवक्षितान्यपर वाच्यध्वनि का भेद माना जायेगा। अन्यथा इसके विपरीत स्थिति मे तो यदि कही अन्य वाक्यार्थ प्रधान हो और रसादि अङ्गभूत उसके उपस्कारक हो तो ऐसी स्थिति मे क्रमश रस के अङ्ग होने पर रसवत् अलङ्कार और भाव के अङ्ग होने पर प्रेयोऽलङ्कार और रसाभास व भावाभास के अङ्ग होने पर उर्जस्वि अलङ्कार होगे। भाव शान्ति के अङ्ग होने पर समाहितादि अलङ्कार होते हैं—

जैसा कि ध्वन्यालोककार का कथन है—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ॥
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ इति॥

आनन्दवर्धनाचार्य ने ध्वन्यालोक में उक्त कारिका द्वारा अलङ्कार्य तथा अलङ्कार का विषय विभाग व्यवस्थित किया था।

उनका कहना था कि रसादि उसी स्थिति में अलकार्य हो सकते हैं, जब वे प्राधान्येन अभिव्यक्त होते हैं, अन्य वाक्यार्थ या अलकार उनके उपस्कारक हों, यदि इसमें विपरीत स्थिति रसभावादि की कहीं देखी जाय तो वे रसवदादि अलकार ही माने जायेंगे अर्थात् वे प्रधान ध्वनि के भेद न होकर गुणीभूत-व्यङ्ग्य के ही भेद होंगे।

कुन्तक का विरोध

पूर्वोक्त आनन्दवर्धन की अलकार्य तथा अलकार के विषय विभाग व्यवस्था के प्रतिकूल कुन्तक की मान्यता है।

कुन्तक ने अनेक तर्क व वितर्कों के द्वारा स्वभावोक्ति तथा रसवत् अलकार का जोरदार शब्दों में खण्डन किया है। वे इन दोनों अलकारों के विषय में प्राचीन दण्डी आदि आलकारिकों के मत से सहमत नहीं हैं—

स्वभावोक्ति की अलङ्कारता का खण्डन करते हुए उन्होंने लिखा है—

अलङ्कारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलङ्कृतिः ।
अलङ्कार्यतया तेषां किमन्यदवतिष्ठते ॥११॥

जिन दण्डी सदृश आलकारिकों के मत में स्वभावोक्ति भी अलकार है, उनके मत में फिर अलङ्कार्य क्या रह जाता है। अर्थात् कुन्तक के अनुसार स्वभाव ही अलकार्य है, उसको अलकार मान लेने पर पुन "अलकार्य" किसको कहा जाएगा।

इस विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का मत भी कुन्तक के ही अनुकूल है—उनके तर्क इस प्रकार हैं—

(१) प्रस्तुत विषय और अप्रस्तुत-विधान-अर्थात् वर्ण्य वस्तु तथा वर्णन प्रणाली में स्पष्ट अन्तर है। स्वभावोक्ति प्रस्तुत वर्ण्य वस्तु है अलकार वर्णन-प्रणाली है, अतएव स्वभावोक्ति अलकार नहीं हो सकती।

(२) स्वभावोक्ति की अलकारता इसी से प्रसिद्ध है कि उसका कोई निश्चित लक्षण नहीं मिलता, किसी ने उसे स्वक्रिया-रूप-वर्णन कहा है, किसी ने अवस्था वर्णन और किसी ने उसे सूक्ष्म-स्वभाव-वर्णन।

(३) मम्मट की परिभाषा मे निर्दिष्ट बालक आदि पद का आशय अत्यन्त अस्पष्ट है, स्वय बालको की रूप-चेष्टा का वर्णन वात्सल्य रस के अन्तर्गत आता है। वह रस का अङ्ग है अलकार नही, और यदि डिम्भादे की व्याप्ति सृष्टि की नाना वस्तुओ के रूप और व्यापार तक मान ली जाय तो वह वर्ण्य वस्तु ही है वर्णन प्रणाली नही है।

स्वभावोक्ति की ही भाति कुन्तक ने रसवत् अलकार को भी अलकार की श्रेणी से हटाकर अलकार्य पदवी से भूषित किया।

> अलकारो न रसवत् परस्याप्रतिभासनात्।
> स्वरूपादतिरिक्तस्य शब्दार्थासङ्गतेरपि ॥११॥

रसादि की प्रतीति के स्थल मे रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी की प्रतीति न होने मे और रस के साथ अलकार शब्द का प्रयोग करने पर भी शब्द तथा अर्थ की सङ्गति न होने से रसवत् अलकार नही अपितु अलङ्कार्य है।

कुन्तक के मत से—

(१) रसवत् अलकार अलकारो का चूडामणि है।

(२) नीरस व जड पदार्थो मे सरसता लाने के लिए यह सत्कवियो का अद्भुत साधन है।

(३) यह अलकार प्रतीयमान ही होता है।

कुन्तक के शब्दो मे इसका मौलिक स्वरूप यह है—

> रसेन वर्तते तुल्य रसवत्वविधानत।
> योऽलकार स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मिते ॥३।१४॥

पर आनन्दवर्धन की स्थापना उनके ध्वनि सिद्धान्त के अनुकूल ही है, जहाँ रसाभावादि अन्य वस्तु या अलङ्कार रूप व्यङ्ग्य का उत्कर्ष करेगा, वहाँ रस उपस्कारक होने से अलकार का कार्य करता है, ऐसी स्थिति मे रसत्व प्रमुक्त चमत्काराधायक होने पर भी प्राधान्य के न रहने से भृत्य के विवाह मे प्रवृत्त राजा की तरह उसकी स्थिति होती है। राजा जैसे उस भृत्य के बारात का अङ्ग बनकर शोभा बढाता है, रसवत् अलकार मे भी रस स्वय अङ्ग बनकर अन्य वाक्यार्थ को शोभाधायक होता है, अत यह ध्वनि का स्थान नही ग्रहण कर सकता है।

स्वभावोक्ति अलकार के विषय म जो कुन्तक का आक्षेप है, वह किसी वस्तु के सामान्य विशेष भाव को बिना देखे ही है, मम्मटादि आलंकारिकों का

अभिप्राय विशिष्ट स्वभाव वर्णन ही स्वभावोक्ति अलंकार है। महिमभट्ट ने भी वस्तु के दो रूप माने हैं और अलंकार के लिए वे इसका विशिष्ट रूप ही उपयुक्त मानते हैं। आगे हेमचन्द्र ने तो अपने काव्यानुशासन ग्रन्थ में साफ ही कहा है कि वस्तु का सामान्य स्वरूप भले ही अलकार्य हो, पर लोकोत्तर अर्थ अलौकिक उस वस्तु का जो सौन्दर्य है वह अलंकार है, वही कवि के वर्णन का विषय है।

नाट्यशास्त्र में, अङ्गज-हावभाव, अयत्नज-शोभा कान्ति आदि स्वभावज-लीलाविलासादि को जिस प्रकार नाट्यालङ्कार के रूप में माना है उसी प्रकार किसी बालक या मृग के भी उसकी सहज या आहार्य जो चेष्टायें हैं वे भी अलङ्कार हैं, यह स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में एक हेतु है।

रस निरूपण—

लोक में रति आदि (स्थायी भाव) के जो कारण कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे ही काव्य व नाटक में वर्णित हों तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। उन विभावादियों में अभिव्यक्त वह रति (स्थायी भाव) ही "रस" कहलाता है।

> कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
> रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्य-काव्ययो ॥२७॥
> विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
> व्यक्त स तै विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत ॥२८॥

(१) स्थायी भाव—यद्यपि ये रत्यादि सब अन्तःकरण की वृत्ति रूप हैं, वृत्ति विशेष होने के कारण आशुविनाशी अस्थिर हैं, इन्हें को अन्यशास्त्रकार या मनोवैज्ञानिक भाव शब्द से कहते हैं, ये भाव कभी अनुकूल होते हैं और कभी प्रतिकूल, समुद्र की लहर की तरह ये चञ्चल हैं, पर इनका संस्कार जिसे वासना कहते हैं वह स्थिर है। यही वासना सूक्ष्मरूप स्थिर होने के कारण स्थायी कहा जाता है। आधुनिक भाषा में इसे इस प्रकार कह सकते हैं—

मनुष्य के अवचेतन मन के अन्तराल में बहुत समय तक सूक्ष्म-रूप से छिपने वाले भाव को ही स्थायीभाव कहते हैं।

यही प्रसुप्त संस्कार उपर्युक्त-विभावादि-सामग्री को प्राप्त कर जब अभिव्यक्त होता है, तब "रस" इस संज्ञा को प्राप्त करता है।

इसीलिए मम्मट ने भी कहा—

"व्यक्त स तै विभावाद्यै स्थायीभावो रस स्मृत ।"

(२) विभाव—वासनारूप में वर्तमान रत्यादि स्थायिभावों की आस्वाद योग्यता को जो कारण प्रदान करते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं। "विभावयन्ति आस्वादयोग्यता भवन्तीति विभावा" ये विभाव भी दो प्रकार के होते हैं, आलम्बन विभाव और उद्दीपन विभाव, जैसे—सीता को देखकर राम के मन में, और राम को देखकर सीता के मन में "रति" भाव या अनुराग की उत्पत्ति होती है, और इन दोनों को देखकर (नाटक में या काव्य में पढ़कर) सामाजिक के मन में भी आनन्द की अभिव्यक्ति होती है। अत सीता रामादि शृङ्गार रस के आलम्बन विभाव हैं। और चन्द्र चांदनी उद्यानादि रति के उद्दीपन विभाव हैं।

(३) अनुभाव—अन्त करण में अवस्थित विभाव द्वारा उद्बुद्ध उस रति को उपादान दर्शकों के अनुभव में ला देते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं। "अनुभावयन्ति, अनुभव विषयी कुर्वन्तीति अनुभावा" स्मितादि लोक में इन्हें कार्य कहते हैं।

(४) व्यभिचारी भाव—उद्बुद्ध हुए स्थायिभावों की पुष्टि या उपचय में जो उनके सहकारी होते हैं उन्हें व्यभिचारीभाव कहते हैं। "विशेषेण अभित रत्यादीन कामे चारयन्तीति सचारयन्तीति व्यभिचारिण सञ्चारिणो वा" विविधरूप से स्थायीभाव के अनुकूल सचरण करने वाले भाव, हर्ष विषाद, चिन्ता, जड़ता आदि ये ३३ हैं।

रस निष्पत्ति-प्रक्रिया

भरतमुनि ने रस के उन्मीलन की प्रतिष्ठा सबसे पहले अपने नाट्यशास्त्र में की, इस विषय में इनका प्रसिद्ध सूत्र है जिसको मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश म अविकलरूप में रखा है—"उक्त हि भरतेन"—"विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद् रसनिष्पत्ति ॥

अर्थात्—विभाव, अनुभाव व सञ्चारी भावों के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है, विचार में उतना ही सारगर्भित है—अत अनेक आचार्यों ने इस सूत्र पर अपने अपने सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की है, अभिनव गुप्त द्वारा रचित नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनव भारती में, बड़े विस्तार के साथ कई मतों का उपन्यास किया है। पर वहां का व्याख्यान अत्यन्त कठिन व विस्तृत है।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में उसी का संक्षिप्त सार उपस्थित किया है। जिसके प्रमुख व्याख्याता-भट्टलोल्लट, शकुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ये चार

हैं। ये चारो आचार्य क्रमश. मीमासा, न्याय, साख्य व साहित्यशास्त्र के प्रकाश मे अपना अपना रस विषयक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं—

(१) भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद—

विभाव—आलम्बन व उद्दीपन ललना-उद्यानादि रति आदि उत्पन्न होती है, उसी स्थायी रति के कार्यभूत-कटाक्षादि अनुभावो से प्रतीति योग्य किया गया, (रत्यादिमान्), निर्वेदादि सञ्चारी भावो से पुष्ट किया गया रत्यादि स्थायीभाव मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि मे रहता है, पर उनके स्वरूप का अनुकरण करने से नट मे भी प्रतीत होता है, अर्थात्—नट मे भी उसका आरोप होता है। यही नट मे आरोप्यमाण या प्रतीयमान रत्यादि ही रस है।

सूत्र मे आये हुए सयोग व निष्पत्ति इन दो शब्दो के विषय मे आचार्यों की अपने अपने सिद्धान्तानुकूल अलग-अलग व्याख्या है।

भट्टलोल्लट मीमासक हैं, अत. उन्होंने विभावानुभाव व्यभिचारिसयोग से अनुकार्य-रामादि मे रस की निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति माना। विभावादि उत्पादक सामग्री है। स्थायी भाव उत्पाद्य है, जैसे मीमासा दर्शन मे यागादि उत्पादक सामग्री से अपूर्व द्वारा स्वर्ग उत्पाद्य है, उसी प्रकार यहा रस भी उत्पाद्य है। अत विभाव का स्थायीभाव रत्यादि के साथ उत्पाद्य उत्पादक भाव सम्बन्ध होगा, और अनुभाव का गम्य-गमकभाव सम्बन्ध, और सहचारी भावो का पोष्य पोषकभाव सम्बन्ध है। यही सयोग शब्द का अर्थ है। और निष्पत्ति शब्द का क्रमश उत्पत्ति, प्रतीति व पुष्टि ये अर्थ होते हैं।

भट्टलोल्लट के मत मे अरुचि—

भट्ट लोल्लट की इस व्याख्या में सबसे बडी कमी यह है कि वे रसानुभूति को सामाजिक में न मानकर मुख्य रूप अनुकार्य रामादि मे मानते हैं। और उसका आरोप या अप्रधानरूप से नट में मानते हैं। इन दोनो में भी अभिव्यक्ति न मानकर, उत्पत्ति मानते हैं।

शकुक का अनुमितिवाद—

यह राम ही है, यही राम है। यह राम नही है, यह राम है या नही यह राम के समान है। इस तरह क्रमश सम्यक् प्रतीति, मिथ्याप्रतीति, सशय प्रतीति तथा सादृश्यप्रतीति, इन चारों प्रकार की प्रतीतियो से भिन्न प्रतीति "चित्रतुरगन्याय" वाली प्रतीति नट मे होती है। अर्थात्-चित्र मे अङ्कित घोडे को बालक जैसे घोडा ही समझता है, उसी प्रकार ग्राह्य पक्ष नट मे राम बुद्धि होती है वह भी इन चार प्रकार की प्रतीतियो से विलक्षण होती है। "यह राम

सीता विषयक रति वाला है, तद विषयक कटाक्षादि युक्त होने से इस नट पक्ष मे कटाक्षादि हेतुओ से सीताविषयक राम की रति का अनुमान किया जाता है। यहाँ विभावादि का रत्यादि के साथ जो सयोग सम्बन्ध विशेष है वह गम्यगमकभाव है। विभावादि गमक हैं और रत्यादि गम्य अनुमेय है। वस्तु सौन्दर्य की विशेषता से यह अनुमान अन्य अनुमीयमान अर्थों से विलक्षण है। रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है।

नट मे वास्तविक रूप से न रहने वाले रत्यादि का सामाजिक अपने वासना के बल से नट पक्ष मे अनुमान कर लेता है। वस्तुत अनुमित रस न सामाजिक मे रहता है और न कृत्रिम राम (नट) मे ही रहता है, केवल वासना मात्र से सामाजिक को उसका आस्वाद होता है। शकुक की यह रस की अनुमिति न्याय दर्शन के अनुसार है, न्यायशास्त्र अनुमिति प्रधान शास्त्र है, इसीलिए इसमे पक्ष हेतु व साध्य की कल्पना की गई है।

शकुक के मत मे अरुचि—

यद्यपि शकुक ने सामाजिक मे रस प्रतीति सम्पादन करने का अच्छा प्रयत्न किया है, परन्तु उस रस प्रतीति को अनुमेय बनाकर अनुमान द्वारा रस निष्पत्ति उपपादन किया है, जब कि सामाजिक को रस का साक्षात्कार होता है और अनुमान से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। साक्षात्कारात्मक नहीं।

भट्टनायक का भुक्तिवाद

भट्ट नायक ने रस की व्याख्या मे सबसे पहले दर्शक या सामाजिक के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका कहना है कि रस की निष्पत्ति न तो अनुकार्य रामादि मे होती है और न अनुकर्ता नटादि मे ही होती है। ये दोनो अनुकार्य और अनुकर्त्ता तटस्थ हैं। अत इसमे रसानुभूति नहीं हो सकती। ये रस की न तो उत्पत्ति मानते है, न उसकी प्रतीति मानते हैं और न उसकी व्यक्ति। ये रस को भुक्ति का विषय मानते हैं। रस है भोज्य और विभावादि हैं भोजक अत रस और विभावादि का परस्पर भोज्य भोजक भाव सम्बन्ध है। भट्ट नायक काव्य मे अभिधा व्यापार के अतिरिक्त दो अन्य नये व्यापारो की कल्पना करते हैं। इनके नाम हैं—भावकत्व व्यापार तथा भोजकत्व व्यापार।

काव्य मे अभिधा के द्वारा शब्द से अर्थ की उपस्थिति होती है। इसके बाद भावकत्व व्यापार द्वारा उन विभावादि अर्थो का साधारणीकरण हो जाता है। अर्थात्—नाटकस्थ या काव्यस्थ प्रतिपाद्य विषयीभूत पात्र का व्यक्तिगत उसका विशेष सम्बन्धो का परित्याग हो जाता है। इस भावकत्व व्यापार के बल से रङ्गमञ्च मे शकुन्तलादि पात्र अपने व्यक्ति विशेष्यांश का परिहार कर सामान्य नायिकात्वेन रूप सामाजिक की दृष्टि मे उपस्थित होते हैं, यही

विभावादि का साधारणीकरण है। यहाँ ध्वनि अपने स्व के सम्बन्ध विशेष से परिच्छिन्न न होकर "वसुधैव कुटुम्बकम्" जैसे अपरिमित भाव से सवलित हो जाता है। फिर वहाँ स्व पर की कोई परिधि नहीं होती है। एक तरह से यह साधारणीकरण व्यापार साहित्यशास्त्र में व्यक्ति के अन्तःकरण का उदात्तीकरण व्यापार है। जहाँ चित्त रागद्वेषोपेक्षादि परिमित प्रपञ्च से ऊपर रहता है। यह सब कार्य है भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार का जिसके बल से हनुमानादि राम सेवकों को समुद्र लङ्घनादि जैसा अपरिमित उत्साह हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि पात्र का यहाँ परिमित भाव विगलित होकर सामान्य अपरिमित भाव का उदय हो जाता है।

तदनन्तर भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक या सामाजिक रस का भोग करता है। इस अवस्था में प्रमाता के अन्तःकरण में स्थित रजोगुण व तमोगुण सत्व—सत्व गुण की अधिकता के कारण दब जाते हैं। सत्व के समुद्रेक के कारणचित्त निर्मल हो जाता, साथ ही साथ उसमें चैतन्य का भी प्रतिफलन होता है। यद्यपि ये भाव रत्यादि चित्त में ही हैं चैतन्य में उनका सम्बन्ध नहीं है, पर चिच्छायापत्ति से वहाँ चित्त व चैतन्य की एकरूपता मालूम पड़ती है। उस रति का भोग तो बुद्धि या अन्तःकरण अथवा चित्त में होने पर भी "बुद्धेर्भोग इवात्मनि" के अनुसार आत्मा में भोग का आरोप किया जाता है। अतः भट्ट नायक का यह भुक्तिवाद सांख्य सिद्धान्त के अनुसार है। इस दर्शन के अनुसार सुख दुःख वस्तुतः अन्तःकरण के धर्म हैं न कि आत्मा के। पुरुष आत्मा में तो उनकी औपाधिक प्रतीति होती है।

इस भट्ट नायक के मत के अनुसार सूत्र में आये हुए संयोग शब्द का अर्थ भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध है तथा निष्पत्ति शब्द का अर्थ भुक्ति है।

भट्टनायक के मत में अरुचि—

यद्यपि भावकत्व व भोजकत्व व्यापार की कल्पना कर भट्टनायक ने रस सिद्धान्त को समझाने का एक स्तुत्य प्रयास किया है, और भावकत्व व्यापार की नई उद्भावना से साहित्य शास्त्र की बहुत सी सङ्कीर्णताओं को दूर करने का सफल प्रयास किया है, और साधारणीकरण की इस प्रक्रिया की प्रतिष्ठा करके अपने मनोवैज्ञानिक परिशीलन का परिचय भी दिया है। भावी आलंकारिकों ने जिसका यथेच्छ उपयोग भी किया है, परन्तु जो दो नये भावकत्व व भोजकत्व नामक व्यापारों की कल्पना की है, इस पर अधिक विद्वानों की सम्मति नहीं रही।

अभिनवगुप्त का व्यक्तिवाद—

साहित्य शास्त्र में अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं। वे आनन्दवर्धन के ध्वनि तत्त्व के व्याख्याता हैं और भरत मुनि के रसतत्त्व के भी व्याख्याता हैं, रस ध्वनि के प्रभेदों में अन्यतम प्रभेद है।

यह अभिधा का विषय नहीं है, और न लक्षणा से ही लक्षित है अपितु व्यञ्जना शक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार रस तथा विभावादिकों में परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव है।

अभिनवगुप्त का मत है कि प्रत्येक व्यक्ति में श्रोता या वक्ता में राग, द्वेष, शोक, क्रोधादि भाव विद्यमान रहते हैं। ये भाव अपनी उपयुक्त सामग्री को पाकर प्रबुद्ध हो जाते हैं। अन्यथा चित्त शय्या में प्रसुप्त ही रहते हैं। प्रतिदिन के संघर्ष से इनका सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरण में घर कर लेता है। यही वासना रूप से हृदय में स्थिर हो जाते हैं। इन्हीं को स्थायी भाव भी कहते हैं। यही वासना जिसमें परिपूर्ण है वही रस का अनुभव करता है। तत्तत् भावनाओं तत्तत् उद्‌बोधक सामग्री की सहायता से अपना उपचय करती हैं। इन्हीं भावनाओं के उन्मीलन व विकास का क्रम यदि काव्य व नाट्य में वर्णन किया जाता है तो वे कुछ अलौकिक आनन्द को प्रदान करते हैं। काव्य में इस उत्पादक सामग्री का वर्णन कार्य-कारण सहकारी कारण न होकर विभाव अनुभाव व सञ्चारी भाव के नाम किया जाता है। यही विभावादि उक्त वासनारूप में स्थित स्थायी की अभिव्यक्ति करते हैं। और व्यंजना व्यापार के द्वारा इन विभावादिकों का साधारणीकरण तथा रत्यादियों का रसरूप में अभिव्यञ्जन होता है। रसाभिव्यक्ति की दशा में सभी वस्तुओं का साधारणीकरण हो जाता है और सामाजिक भी अपने को सामान्य रूप में ही पाता है। वह रस को केवल अपने स्व व्यक्ति तक न मानकर सभी सामाजिकों को रस का अनुभवकर्ता मानता है। यह आनन्द सामान्य लौकिक आनन्द से विलक्षण ब्रह्मानन्द सहोदर है। यही रस के अलौकिकत्व का रहस्य है कि अन्य आनन्द जो कि अपने कारण पर निर्भर रहते हैं। वे सुख दुःखादि के भी जनक होते हैं, पर यह तो दुःख कारणों से समुत्पन्न हुआ भी सुख ही अनुभूति कराता है। जैसे शोक वृद्धि या भय स्थायिभावों में अभिव्यक्त करुण रौद्र या भयानक प्रमाता को आनन्दानुभूति ही कराता है। इसीलिए कहा है "रसो वै [redacted]। रस ह्येव लब्ध्वाऽयमानन्दी भवति"।

रस की अलौकिकता —

अभिनवगुप्त ने रस को "अलौकिक" कहा है, अर्थात् वह अन्य वस्तुओं से भिन्न है, मम्मट ने अपने शब्दों में इसे इस प्रकार कहा है—लोक में पायी जाने वाली अनित्य वस्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक कार्य रूप और दूसरी ज्ञाप्य-रूप। घट-पट आदि पदार्थ कार्य-रूप हैं। ये किसी कारण से उत्पन्न होते हैं इसीलिए कार्य हैं। और इनका जनक कारण "कारक" कहलाता है, दूसरे प्रकार के विषय ज्ञान के विषय या ज्ञाप्य होते हैं। जैसे दीपक के प्रकाश में

घट का ज्ञान होता है, इसलिए दीपक के द्वारा घट ज्ञाप्य है, पूर्व सिद्ध पदार्थ का जब किसी साधन के द्वारा ज्ञान होता है तो वह ज्ञाप्य कहा जाता है। जो पूर्व सिद्ध नहीं है कारण व्यापार से निष्पन्न होता है वह कार्य कहलाता है। संसार के सारे पदार्थ इन्हीं दो वर्गों मे (कार्य और ज्ञाप्य) आते हैं। परन्तु रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य ही। कार्य इसलिए नहीं है कि कार्य तो निमित्त नाश होने पर भी बना ही रहता है जैसे घटादि कार्य निमित्त कारण कुम्हार के मर जाने पर भी बने रहते हैं पर रस तो अपने निमित्त विभावादि अवधि तक है। अतः कार्य नहीं है। रस ज्ञाप्य इसलिए नहीं है कि वह पूर्वसिद्ध नहीं है। अनुभव से पूर्व रस की सत्ता नहीं है अपितु अनुभव काल में ही व्यंजना व्यापार द्वारा वह अभिव्यक्त होने वाला है। इन दोनों वर्गों में न आने से रस लोक विलक्षण ही कोई आनन्द है।

पुनश्च वह वेद्यान्तर स्पर्श शून्य है—अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के जितने प्रकार हैं उन सबसे विलक्षण अलौकिक साक्षात्कारात्मक या अलौकिक-अपरोक्षानुभूति स्वरूप रस है। अस्मदादि का साक्षात्कारात्मकज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा ही होता है और मितयोगी-सविकल्पक समाधि में स्थित युञ्जानपदवाच्य का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों के बिना भी केवल योगज सामर्थ्य से भी हो जाता है, तीसरे परिमितेतर योगी-परिपक्व-निर्विकल्पसमाधि में स्थित योगी का ज्ञान, वेद्यान्तर के स्पर्श से रहित केवल आत्मानुभूति मात्र होता है, रस की अनुभूति इन तीन प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण है। वह न तो अस्मदादि के प्रत्यक्ष के समान, प्रत्यक्ष प्रमाणों से उत्पन्न होती है, न प्रमाणनाप्य वाले मितयोगी के ज्ञान का विषय है, और न निर्विकल्प समाधि मे स्थित योगियों की वेद्यान्तर स्पर्श रहित आत्मानुभूति ही है, इस प्रकार इन तीनों प्रकार की अनुभूति से विलक्षण होने के कारण वह अलौकिक ही है, और इसलिए भी वह अलौकिक है कि उसका ग्रहण न सविकल्पक ज्ञान से हो सकता है, और न निर्विकल्पक ज्ञान से, क्योंकि रस की प्रतीति मे विभावादि के परामर्श की प्रधानता होने से निर्विकल्पक-ज्ञान उसका ग्राहक नहीं हो सकता है, और आस्वाद्यमान अलौकिक आनन्दमय रस के स्व संवेदन सिद्ध होने से सविकल्पक-ज्ञान भी उसका ग्राहक नहीं हो सकता है तथा उभयाभावस्वरूप का (अर्थात् निर्विकल्पक तथा सविकल्पक दोनों से भिन्न उस रस का) उभयात्मकत्व भी पहले के समान लोकोत्तरता को ही बोधित करता है, यही श्रीमान् महामाहेश्वर अभिनव गुप्त पदाचार्य का मत है।

विभावादि की सम्मिलित रूप से कारणता व्याघ्रादि विभाव, भयानक रस के समान वीर अद्भुत तथा रौद्र रस के प्रति भी हो सकते हैं, अश्रुपात

आदि अनुभाव शृङ्गार के समान करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव शृङ्गार के समान वीर करुण तथा भयानक रस के भी हो सकते हैं। इसलिए उनके अलग-अलग अनैकान्तिक होने से (अर्थात किसी एक ही रस के साथ निश्चित न होने से) सूत्र मे उनको सम्मिलित रूप से निर्दिष्ट किया गया है।

विभावादि के मध्य में तीनो मे से एक या दो के अनुक्त होने पर भी आक्षेप द्वारा उनका बोध—जैसे—"विपर्वलिमलिनाम्बु गर्भ मेघम्" इत्यादि म वनिता रूप आलम्बन व वर्षाकाल उद्दीपन विभाव मात्र का वर्णन है।

"परिमृदित मृणालीम्लानमङ्ग प्रवृत्ति"

इत्यादि म मालती के अङ्गग्लानि पाण्डुता आदि केवल अनुभावो का वर्णन है और "दूरादुत्सुकमागते विवलित सम्भाषिणि स्फारितं" इत्यादि म केवल औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावो का ही वर्णन किया गया है फिर भी इनके प्रकृत रति के बोध मे असाधारण ज्ञापक होने से, शेष दो का आक्षेप हो जाता है अत तीनो के सम्मिलित रूप से रस निष्पत्ति-सिद्धान्त मे कोई दोष नही आता है।

रसों के भेद—

भृङ्गार हास्य करुण-रौद्र वीर भयानका ।
वीभत्साद्भुत सज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता ॥२२॥

(१) शृङ्गार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) वीभत्स और (८) अद्भुत ये आठ रस नाट्य मे माने जाते हैं।

भाव के भेद—

भाव दो प्रकार के होते हैं एक वे हैं जो स्थिर रहने की योग्यता रखते हैं, ये स्थायीभाव कहलाते हैं।

दूसरे वे है जो कई क्षणो तक ही स्थिर रहते हैं। इसी अस्थायिता के कारण इन्हे सचारी भाव या व्यभिचारीभाव कहते हैं, सचारी भावो की सख्या ३३ है परन्तु स्थायी भावो के विषय मे बडा मतभेद है।

अभिनवगुप्त व मम्मट इनकी संख्या नौ ही मानते हैं और इनसे उत्पन्न होने वाले रसो की सख्या भी नौ ही मानते हैं।

स्थायीभाव	रस	वर्ण	देवता
(१) रति	शृङ्गार	श्याम	विष्णु
(२) हास	हास्य	श्वेत	प्रमथ
(३) शोक	करुण	कपोत	यम
(४) क्रोध	रौद्र	रक्त	रुद्र
(५) उत्साह	वीर	हेम	महेन्द्र
(६) भय	भयानक	कृष्ण	भूत
(७) जुगुप्सा	बीभत्स	नील	महाकाल
(८) विस्मय	अद्भुत	पीत	गन्धर्व
(९) शम	शान्त	कुन्दवर्ण	नारायण

आगे चलकर स्थायी भावों की तथा रसों की संख्या बढ़ती गई। विश्वनाथ कविराज ने "वात्सल्य भाव" तथा "वात्सल्यरस" की प्रतिष्ठा की, तथा रूपगोस्वामी ने माधुर्यरस (भक्तिरस) नामक एक नवीन रस की प्रतिष्ठा की, इसका विस्तृत विवेचन इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "उज्ज्वलनीलमणि" में किया।

इस भक्तिरस का भी स्थायीभाव रति ही है, परन्तु अन्तर इतना है कि यहाँ दिव्या कृष्णविषयक रति ही भक्तिरस के लिए स्थायीभाव मानी गई है।

शान्त रस के विषय मे भी मतभेद है। धनञ्जय नाटक में शान्त रस की स्थिति नहीं मानते हैं।

व्यभिचारी भाव या सञ्चारी भाव ३ हैं—

(१) निर्वेद (२) ग्लानि (३) (शंका) (४) श्रम (५) धृति (६) जड़ता (७) हर्ष (८) दैन्य (९) उग्रता (१०) चिन्ता (११) त्रास (१२) ईर्ष्या (१३) अमर्ष (१) गर्व (१५) स्मृति (१६) मरण (१७) मद (१८) सुप्त (१९) निद्रा (२०) विबोध (२१) क्रीडा (२२) अपलाप (२३) मोह (२४) मति (२५) आलस्य (२६) आवेग (२७) वितर्क (२८) अवहित्था (२९) व्याधि (३०) उन्माद (३१) विषाद (३२) औत्सुक्य (३३) चापल इत्यादि हैं।

शृङ्गार रस और उसके भेद—

इन रसों मे सर्वप्रथम शृङ्गार रस है।

(१) स्थायी भाव—रति (नायक तथा नायिका का अनुराग)

(२) आलम्बन विभाव—परस्पर एक दूसरे के ।

(३) उद्दीपन विभाव—चन्द्र-चाँदनी, उद्यानादि ।

(४) अनुभाव—अनुरागपूर्वं चेष्टा से परस्परावलोकनादि ।

(५) व्यभिचारी भाव—हर्ष, चिन्ता, मद, उत्कण्ठादि ।

शृङ्गार के मुख्य दो भेद होते हैं—

(१) सम्भोग शृंगार तथा (२) विप्रलम्भ शृंगार ।

एक दूसरे में अनुरक्त नायक नायिका का परस्पर मिलन युक्त शृंगार सम्भोग शृंगार है—

उदाहरण—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जा नम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥१ ।

नायक यहाँ आलम्बन विभाव है, शून्यवासगृह उद्दीपन विभाव है, मुख निर्वर्णन चुम्बनादि अनुभाव हैं, लज्जा, हास तथा उससे व्यङ्ग्य हर्षादि व्यभिचारी भाव हैं । इनसे अभिव्यक्त रति की चर्वणा ही शृंगार रस है ।

विप्रलम्भ शृंगार—

विप्रलम्भ शृंगार उसे कहते हैं, जहाँ उत्कट अनुराग होने पर भी प्रिय समागम न हो सके—

यह अभिलाष, विरह, ईर्ष्या, प्रवास, शाप हेतुओं के भेद से पाँच प्रकार का होता है ।

साहित्य दर्पणकार आदि कुछ आचार्यों ने इसे चार ही प्रकार का माना है—

पूर्वानुराग मानाख्य प्रवास करुणात्मना ।
विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृंगारः स्याच्चतुर्विधः ॥

पूर्वानुराग, मान, प्रवास, करुणविप्रलम्भ के भेद से यह चार ही प्रकार का माना है ।

विप्रलम्भ सामान्य का उदाहरण—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायां,
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।

आत्रं स्तावन्मुहुरुपचितैर् दृष्टिरालुप्यते मे,
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥२॥

यह पद्य महाकवि कालिदास के मेघदूत का है। प्रिया को उद्देश्य कर वियोगी यक्ष का विलाप इस प्रकार है—

पत्थर की शिला पर गेरु आदि धातु के रङ्गों से तुम्हारा चित्र बनाकर, मैं जब तक चित्र में अपने को तुम्हारे चरणों में गिराना चाहता हूं, तब तक आँसू बढ़कर मेरी दृष्टि को आच्छादित कर देते हैं। और मैं उस चित्र को पूरा नहीं कर पाता हूं, निष्ठुर दैव उस चित्र में भी हमारे सङ्गम को सहन नहीं करता है, यहाँ नायिका आलम्बन है, उसका प्रणय कोप उद्दीपन है, चरणपातादि अनुभाव हैं। कृतान्त विषयक असूयादि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त विप्रलम्भ रति की चर्वणा ही विप्रलम्भ शृंगार है।

(२) हास्य रस—

विकृत आकार, वेष, चेष्टादिव्यवहार के वर्णन से हास्य रस होता है।

(१) स्थायी भाव—हास
(२) आलम्बन विभाव—विकृत वेष या विकृत चेष्टायुक्त व्यक्ति
(३) उद्दीपन विभाव—अनुपयुक्त वचन, वेषविन्यासादि
अनुभाव—मुख फैलना, आंखों का मीचना आदि
व्यभिचारी भाव—निद्रा, आलस्य, चपलतादि

उदाहरण—

सीस पर गङ्गा हसै भुजनि भुजङ्गा हसैं,
हास ही को दङ्गा भयो नङ्गा के विवाह में ॥

पद्माकर कविकृत इस पद्य में महादेव जी के विवाह का प्रसङ्ग है, यहाँ महादेवजी आलम्बन हैं, नग्नत्व उद्दीपन है, लोगों का लोटपोट कर हँसना अनुभाव है, उत्सुकता चपलता आदि सञ्चारी भाव हैं, इससे अभिव्यक्त हास स्थायी भाव है।

(३) करुण रस—

(१) स्थायी भाव—शोक
(२) आलम्बन विभाव—कोई मृत व्यक्ति या दीनहीन व्यक्ति,
(३) उद्दीपन विभाव—मृतव्यक्ति के दाहविलापादि,
(४) अनुभाव—भाग्य को कोसना, रोना इत्यादि;
(५) सञ्चारी भाव—निर्वेद, मोह, विषादादि।

उदाहरण—

विपिने क्व जटा निबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥३॥

वनवास के लिए उद्यत हुए राम के प्रति दशरथ की यह उक्ति है, यहाँ राम आलम्बन हैं, उनका वनगमनादि उद्दीपन है, दैवनिन्दा अनुभाव है, ग्लानि-विषादादि सञ्चारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त शोक स्थायीभाव की चर्वणा करुण है ।

(४) रौद्र रस—

(१) स्थायी भाव—क्रोध ।
(२) आलम्बन विभाव—अपकारी व्यक्ति या शत्रु
(३) उद्दीपन विभाव—मत्सर या शत्रु कृत अपकारादि ।
(४) अनुभाव—डीगें मारना, शस्त्र चमकाना आदि ।
(५) व्यभिचारी भाव—अमर्ष, मद, उग्रता आदि ।

उदाहरण—

"कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकम्" इत्यादि—

द्रोणाचार्य का निधन सुनकर अश्वत्थामा की अर्जुनादियों के प्रति यह उक्ति है। यहाँ अपकारी अर्जुनादि आलम्बन हैं, पितृवधादि उद्दीपन हैं, प्रतिज्ञा अनुभाव है गर्वादि सञ्चारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त क्रोध स्थायी भाव है ।

(५) वीर रस—

(१) स्थायी भाव—उत्साह
(२) आलम्बन विभाव—शत्रु जिस पर अधिकार प्राप्त करता है ।
(३) उद्दीपन विभाव—शत्रु का प्रताप, शौर्य आदि।
(४) अनुभाव—हथियारों का चलाना, नेत्रों का लाल होना इत्यादि।
(५) सञ्चारी भाव—मति, गर्व, धृति इत्यादि।

इनसे अभिव्यक्त उत्साह स्थायी की चर्वणा ही वीर रस है।

उदाहरण—

क्षुद्राः सन्त्रासमेते विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भाः ।
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ॥
सौमित्रे ! तिष्ठ पात्रं त्वमसि नहि रुषां नन्वहं मेघनादः ।
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥५॥

यह पद्य हनुमन्नाटक का है, लङ्का के युद्ध के समय मेघनाद की यह उक्ति है।

यहा प्रतिपक्षी राम आलम्बन है, किञ्चित् भ्रूभङ्ग की ही लीला से समुद्र बन्धन कर देना उद्दीपन है, क्षुद्रावसरो की उपेक्षा और प्रतापशाली राम का अन्वेषण अनुभाव है। ऐरावत हाथी के गण्डस्थल को भेदन करने वाले बाणो का वानरो के शरीर में गिरने से लज्जा का अनुभव करना इसमें अभिव्यक्त गर्व सञ्चारी भाव है, राम से लड़ने का उत्साह स्थायी से वीर रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

(६) भयानक रस—

(१) स्थायी भाव—भय।

(२) आलम्बन—शेर आदि भयानक जन्तु या वस्तु विशेष।

(३) उद्दीपन—भयानक वस्तु या जन्तु की चेष्टादि।

(४) अनुभाव—कम्पनादि किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—दैन्य, सम्भ्रम, सम्मोह, त्रासादि।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः।
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा।
पश्योदग्रप्लुतत्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥६॥

यह पद्य अभिज्ञान शाकुन्तल का है—राजा दुष्यन्त के रथ से भयभीत आश्रम की ओर भागते हुए मृग का वर्णन है—यहा पीछा करने वाला राजा या रथ, आलम्बन है, बाण लगने का भय या और अनुसरण उद्दीपन है, गर्दन मोड़ कर भागना आदि अनुभाव, और श्रम-श्रम आदि व्यभिचारी भाव हैं, इनसे अभिव्यक्त भयस्थायी भयानक रस सामाजिकों के चर्वणा का विषय है।

(७) बीभत्स रस—

(१) स्थायी भाव—जुगुप्सा

(२) आलम्बन—दुर्गन्धमय मांसादि।

(३) उद्दीपन—मांसादि सड़ना, उनमें दुर्गन्ध का आना आदि

(४) अनुभाव—नाक भौं सिकोड़ना आदि

(५) सञ्चारी भाव—आवेग, व्याधि, मोहादि

उदाहरण—

"उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसानि" इत्यादि

यह पद्य मालती माधव नाटक का है, इसमें श्मशान का वर्णन है। श्मशान में किसी प्रेत को मांस भक्षण में लगे हुए देखकर उसकी बीभत्स चेष्टाओं का वर्णन माधव कर रहा है—यहां दरिद्र प्रेत आलम्बन है, मांस नोचना, खाना आदि उद्दीपन हैं, इस चेष्टा को देखने वाले का नाक भौं सिकोड़ना, थूकना आदि अनुभाव हैं, उद्वेगादि सञ्चारी भाव हैं। जुगुप्सा स्थायी भाव है, इससे सामाजिक में जुगुप्सा प्रकृतिक बीभत्सरस अभिव्यक्त होता है।

(८) अद्भुत रस—

(१) स्थायी भाव—विस्मय।

(२) आलम्बन—कोई अलौकिक या आश्चर्य उत्पन्न करने वाला पदार्थ

(३) उद्दीपन—अलौकिक वस्तु का दर्शन, श्रवण या कीर्तन।

(४) अनुभाव—प्रशंसा करना, गद्‌गद हो जाना।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, आवेग, धृति।

उदाहरण—

चित्रं महानेष बतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः, काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥८॥

वामनावतार को देखकर राजा बलि की यह उक्ति है—यहां चित्र शब्द लोकोत्तर वाचक है, इसलिए स्वशब्द वाच्यता दोष नहीं है। वामन आलम्बन है, कान्ति तथा गुणों का अतिशय उद्दीपन है स्तुति आदि अनुभाव हैं, मति, धृति, हर्षादि भाव सञ्चारी हैं, इनसे अभिव्यक्त विस्मय स्थायिक अद्भुत रस है।

(९) शान्त रस—

(१) स्थायी भाव—"शम" (चित्त का शान्त होना) या "निर्वेद" (संसार के प्रति वैराग्य)

(२) आलम्बन—परमात्मा का चिन्तन या जगत के मिथ्यात्व का ज्ञान।

(३) उद्दीपन—सत्सङ्ग, पुण्याश्रम, तीर्थस्थानादि का दर्शन

(४) अनुभाव—रोमाञ्चित या गदगद् हो जाना,

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, स्मृति आदि।

उदाहरण—

अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
मणौ वा लोष्ठे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा ॥
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः।
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः ॥९॥

किसी भगवद्भक्त का अपनी जीवन चर्या का यह वर्णन है—साप और मुक्ताहार मे, फूलो की सेज और पत्थर की शिला मे, मणि तथा ढेले मे, बलवान शत्रु तथा मित्र मे, तिनके मे अथवा स्त्रियो के समूह मे, समान बुद्धि रखने वाले मेरे दिन किसी पवित्र तपोवन मे शिव शिव जपते हुए व्यतीत होते है। यहा मिथ्याप्रतीत होने वाला जगत्-आलम्बन है, तपोवनादि उद्दीपन है, सर्प व हारादि मे समभाव अनुभाव है, धृति, प्रबोध मति, हर्षादि व्यभिचारी भाव है, इनसे अभिव्यक्त निर्वेद स्थायी भाव से सामाजिक मे शान्त रस की अनुभूति होती है।

आचार्य मम्मट के शब्दों मे—

"निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस"। इस प्रकार है।

शान्त रस के विषय मे आचार्यों की भिन्न भिन्न धारणायें है। धनञ्जय ने अपने दशरूपक मे तथा धनिक ने उसकी टीका मे शान्त रस के विरुद्ध अनेक मतो का उल्लेख किया है।

(१) शान्त रस भरतप्रस्थान विरुद्ध है।

साहित्य ससार मे भरत मुनि के ही वचन प्रमाण माने जाते है, उन्होने शान्त रस का विशेष विवेचन नही किया है, अत एव भरत द्वारा विशेष अनुभव न होने से शान्त रस नहीं है।

(२) शम का व्यवहारिक क्षेत्र मे अभाव—

दूसरे आचार्य शम स्थायिक शान्त की सत्ता ही नही मानते हैं। प्रथम मत मे शम की केवल काव्य और नाटक मे मान्यता स्वीकार नही है, परन्तु द्वितीय मत ने तो व्यवहारिक क्षेत्र मे भी उसकी मान्यता स्वीकार नही की। क्योकि रागद्वेष का प्रवाह मनुष्यो मे अनादिकाल से चला आता है, जिसका सर्वथा नाश असम्भव है, ऐसी स्थिति मे शान्त रस का उदय ही कैसे हो सकता है।

(३) तृतीयमत—अन्तर्भाववाद—

इस मत के आचार्य चित्त की शमप्रधान वृत्ति को तो अवश्य मानते हैं, परन्तु इसका अन्तर्भाव वीरादि रसो मे कर देते हैं। शमप्रधान चित्त मे परम तत्त्व को पाने के लिए जो प्रयत्न होता है, वह उत्साहमय होने से शान्तरस वीर मे ही अन्तर्निविष्ट किया जा सकता है। जब इसमे ससार के विषयो से जुगुप्सा तथा घृणा का भाव प्रबल रहता है, तब इसका अन्तर्भाव वीभत्स रस के भीतर हो जाता है, यह मत व्यवहार मे शम का अपलाप तो नही करता परन्तु तज्जन्य शान्तरस को स्वतन्त्र नही मानता है।

(४) चतुर्थ मत—नाटक में शान्त रस का निषेध—

इस मत के अनुसार शान्त रस की स्थिति अवश्य है। परन्तु इसका प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता व्यापार के विराम होने पर शान्त रस होता है। शान्त रस वही होता है। जहाँ दुःख भी नहीं है, सुख भी नहीं है न द्वेष है, और न चिन्ता, न राग—

न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता,
न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः,
सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः ॥

यह स्थिति तो मोक्षावस्था में ही सम्भव है। नाटक में तो अभिनय होने से व्यापार की ही प्रधानता है। सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि मनोभावों का प्रदर्शन नाटक में अभीष्ट है। ऐसी दशा में तो शान्तरस का अभिनय होना ही मुश्किल है।

शान्तरस अनिर्वचनीय होता है। अतः रसिकों के आस्वाद के योग्य न होने से, शान्तरस का प्रयोग नाटक में नहीं हो सकता वह दशरूपककार का मत है।

(५) पञ्चम मत—(शान्त रस की सार्वत्रिक स्थिति)—

अभिनव गुप्त का मत है कि शान्त रस काव्य में तथा नाटक में दोनों में रहता है। पर इसके स्थायी भाव के विषय में मतभेद है शान्तरस की सत्ता के विषय में मतभेद नहीं है बल्कि अभिनव गुप्त के मत में तो शान्त रस ही सर्वश्रेष्ठ रस है। यही प्रकृति रस है, शृंगारादि तो इसकी नाना विकृतियाँ हैं कश्मीर के शैवाचार्य अभिनव गुप्त का शान्त रस का प्राधान्य बोधक यह मत उनके दार्शनिक दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल ही है।

(१०) वात्सल्य रस—

विश्वनाथ कविराज ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "साहित्यदर्पण" में इसे एक स्वतन्त्र रस के रूप में प्रतिष्ठित किया है हिन्दी साहित्यिकों में तुलसी और सूरदास ने इस रस की कविताओं की रचना कर हिन्दी साहित्य को उज्ज्वल किया है।

इसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) स्थायी भाव—अपने से छोटों में जो प्रेम किया जाता है जैसे—भाई-बहिन पुत्र-कन्या शिष्यादि में उसे "वात्सल्य" कहते हैं। यही स्थायी है।

(२) आलम्बन—भाई-बहिन-पुत्र-कन्या आदि ।

(३) उद्दीपन—तोतली बोली आदि उनकी ललित क्रीडादि।

(४) अनुभाव—आलिङ्गन, चूमनादि ।

(५) सञ्चारी भाव—हर्ष, गर्व, उत्सुकता इत्यादि ।

उदाहरण—

यथाह् घात्र्या प्रथमोदित वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्र प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुद तेन ततान सोऽर्भक ॥१०॥

रघुवंश में रघु के शैशवावस्था का यह वर्णन है—यहाँ बालक रघु आलम्बन है, धाई के अनुसार तोतली भाषा में उसकी उक्ति उद्दीपन है। आलिङ्गन चुम्बनादि अनुभाव हैं। हर्षादि सञ्चारीभाव है। इनसे अभिव्यक्त दिलीपनिष्ठ वात्सल्य सामाजिकों के चर्वणा का विषय है।

(११) भक्ति रस—

भक्ति रस के विषय में आचार्यों में बड़ा मत भेद है। प्राचीन आचार्य इसे देवता विषयक रति मानकर केवल भाव कोटि में ही इसका अन्तर्भाव कर देते हैं।

परन्तु गौडीय वैष्णवों ने इसे रस ही नहीं माना बल्कि सर्वश्रेष्ठ आदि रस माना है। श्रीरूप गोस्वामी के "भक्तिरसामृतसिन्धु" तथा "उज्ज्वलनीलमणि" *ग्रन्थ इस विषय के सबसे श्रेष्ठ बोधक तथा परिचायक ग्रन्थ हैं।*

(१) स्थायी भाव—श्री कृष्ण विषयक रति।

अन्य देव विषयक रति तो केवल भाव ही होती है, परन्तु श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा ही हैं। "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" अत परमात्मस्वरूप कृष्ण विषयक रति, देवविषयक रति से भिन्न पदार्थ है। वही यहाँ स्थायी भाव है।

(२) आलम्बन—श्रीकृष्ण रामादि

(३) उद्दीपन—भक्तों समागम, तीर्थसेवनादि

(४) अनुभाव—भगवान् के नाम व लीलाओं का कीर्तनादि।

(५) सञ्चारी भाव—मति, हर्ष, वितर्क, आदि।

उदाहरण—

गणिकाऽजामिल मुख्यानवता भवता वताऽहम्।
सीदन् भवमरुगर्ते करुणा मूर्ते न सर्वथोपेक्ष्य ॥११॥

अथवा

व्याध हूँ ते बेहद असाधु हो अजामिल लौं।
ग्राह ते गुमाही कैसे तिनमों गिनाओगे
············कैसे अपनाओगे, इत्यादि।

यहाँ कवि या भक्त भगवान् के सामने अपने अपराधों को स्वीकार करता है और क्षमा की याचना के अभिप्राय से विनती कर रहा है। भगवान् आलम्बन विभाव हैं तथा भगवद् विषयक रति स्थायीभाव है, पूर्णभक्ति चर्वणा का विषय है।

मूल रस—

इस प्रकार रसों की संख्या आठ से लेकर ग्यारह तक पहुँच चुकी है। किन्तु इनमें भी अनेक आचार्यों ने प्रधानता तथा अप्रधानता की दृष्टि से अलग अलग मूल रसों की कल्पना की है। स्वयं भरत मुनि ने आठ रसों का मूल शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा वीभत्स इन चार रसों को माना है। इन चारों को प्रधान मानकर शेष रसों की उत्पत्ति भी इन्हीं से मानी है—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्ति वीभत्साच्च भयानकः ॥१॥

एकरसवाद—

इसके अतिरिक्त अपनी अपनी दृष्टि से किसी एक रस को मूल रस मानने की प्रवृत्ति भी साहित्य शास्त्र में पायी जाती है।

इस विषय में निम्नलिखित मतों का उल्लेख किया जा सकता है।

(१) महाकवि भवभूति ने करुणरस को ही एक मात्र रस मानकर अन्य रसों को उसी का विवर्त माना है।

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्।
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त-बुद्बुद तरङ्गमयान् विकारान।
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम् ॥२॥

(२) भोजराज ने अपने "शृङ्गारप्रकाश" नामक ग्रन्थ में शृङ्गार रस को ही एकमात्र मूल रस बतलाते हुए लिखा है—

शृङ्गार वीर करुणाद्भुत-रौद्र-हास्य।
वीभत्स वत्सल-भयानक शान्त नाम्ना॥

सामान्याभिनुर्वेदा रसान् सुधियो वयं तु ।
श्रृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम ॥३॥

(३) साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्वज नारायण पण्डित के केवल अद्भुत रस को ही मूल रस मानने का निर्देश किया है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वात् सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ।
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥४॥

(४) अभिनव गुप्त ने शान्त रस को ही एक मात्र मूल रस प्रतिपादन करते हुए अभिनव भारती में लिखा है—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।
पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते ॥५॥

रसों की सुख-दुःखरूपता—

रसो की अलौकिकता के साथ साथ उनकी सुखदुःखरूपता का भी प्रश्न प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के लिए एक विवेचनीय प्रश्न रहा है। इस विषय मे प्रायः तीन प्रकार के मत हैं।

(१) अभिनव गुप्त ने प्रत्येक रस को उभयात्मक माना है उनका कहना है, शृङ्गारादि चार रसो मे सुख की मात्रा अधिक है और शेष रौद्र, भयानक बीभत्स, व करुण में इनमें दुःख की प्रधानता हैं। पर आंशिक रूप मे सुख भी रहता है। केवल शान्त रस पूर्ण सुखात्मक है।

(२) नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र व गुणचन्द्र का मत विभज्यवादी है, उन्होने शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत, और शान्त रस को सर्वथा सुखात्मक माना है, और शेष चार रसो को सर्वथा दुःखात्मक माना है।

(३) धनिक धनञ्जय विश्वनाथ मम्मटादि सभी रसों को नितान्त सुखरूप मानते हैं। इन लोगों ने करुण रस को भी सर्वथा सुखात्मक माना है—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥
किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात् तदुन्मुखः ।
तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ (सा० दर्प०) ॥

भाव का लक्षण—

भवन्तीति या भावयन्तीति भावाः दो प्रकार से भाव की व्युत्पत्ति हो सकती है।

मम्मट ने इसका लक्षण किया है—

रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाऽञ्जित ॥३५॥

भाव प्रोक्त ।

देवादि विषयक रति तथा प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी (३३) भाव कहलाते हैं।

उदाहरण—

हरत्यघ सम्प्रति हेतुरेष्यत शुभस्य पूर्वा चरितै कृत शुभै ।
शरीरभाजा भवदीयदर्शन व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥

नारद जी के आने पर श्रीकृष्ण उनका स्वागत करते हुए कह रहे हैं—

आपका दर्शन प्राणियो की वर्तमान, भूत भविष्यत" तीनो कालो मे योग्यता को प्रकट करता है। क्योकि वर्तमान काल म पाप का नाश करता है, भविष्य मे प्राप्त होने वाले कल्याण का कारण बनता है, और पूर्व क पुण्य से प्राप्त होता है।

यहाँ श्रीकृष्ण निष्ठ मुनि विषयक रति होने स भाव ध्वनि है।

इसी प्रकार गुरु राजा, पुत्रादि विषयक रति भी भाव ही होते है

यही रस और भावो का यदि अनुचित वर्णन किया जाए तो क्रमश रसाभास व भावाभास कहलाते है।

प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारिभावो मे यदि अन्य पदार्थ स यदि किसी भाव की निवृत्ति हो जाय तो वहाँ भाव की शान्ति होती है।

उसी प्रकार अन्य भाव क अपसरण परस्पर प्रधान भाव का जहाँ उदय होता है उस भावोदय कहते है। अभिव्यक्त दो भावो के सम्मिलन मे भावसन्धि होती है। अभिव्यक्ति बहुत स भावो के समुदाय को भावशबलता कहते हैं।

रस तथा अलकार—

मुख्य रस के विद्यमान रहने पर भी कभी कभी ये भाव शान्त्यादि भी अङ्गित्व भी प्राप्त करते है—

ऐसी स्थिति म रसवत् अलङ्कार होता है। मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्व प्राप्नुवन्ति कदाचन।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि के भेद—

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि तीन प्रकार का होता है।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि	अर्थ श० उ० ध्वनि	उभय श० उ० ध्वनि
१	२	३

(१) शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि—

प्रधानतया जहाँ शब्द शक्ति के द्वारा वस्तु और अलंकार अभिव्यक्त होय उसे शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहते हैं—

शब्दशक्ति के द्वारा वस्तु की अभिव्यक्ति—

चिर जीवौ जोरी जुरे क्यों न सनेह गम्भीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥

बिहारी का यह दोहा शब्द शक्ति ध्वनि का सुन्दर उदाहरण है। वृषभानुजा और हलधर इन शब्दों के सामर्थ्य से दूसरा अर्थ गाय बैल वाला भी अभिव्यक्त होता है यही इन शब्दों से अभिव्यक्त वस्तु है।

शब्द शक्ति के द्वारा अलंकार ध्वनि अभिव्यक्ति—

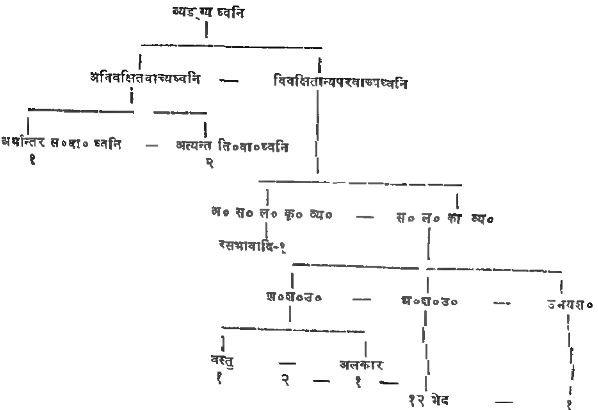
निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने॥

बिना सामग्री और बिना आधार भित्ति के नाना प्रकार के जगत् रूप चित्र का निर्माण करने वाले (अन्यचित्रकारों से विलक्षण) शिरस्थित चन्द्रमा की कला से श्लाघनीय उस शिव को नमस्कार है।

अन्य कलाकार तूलिका रंग आदि सामग्री से ही चित्र तैयार करता है, परन्तु यहाँ भगवान् शिव बिना किसी आधार व बिना किसी सामग्री के ही जगत् रूपी चित्र को उत्पन्न कर देते हैं अतः निरुपादान, "अभित्ती" इत्यादि शब्दों से शिव का व्यतिरेक अभिव्यक्त होता है।

अतः यहाँ शब्दशक्तिसमुत्थ अलङ्कारध्वनि है। इस प्रकार संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य के शब्दशक्तिमूलक भेद दो हुए, और अर्थशक्तिमूलक भेद बारह होते हैं और उभयशक्तिमूलक भेद एक है।

संक्षेप में मुख्य ध्वनि भेद इस प्रकार दिखलाये जा सकते हैं—


व्यङ्ग्य ध्वनि
अविवक्षितवाच्यध्वनि
विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि
अर्थान्तर सं०वा० ध्वनि
१
अत्यन्त ति०वा०ध्वनि
२
अ० सं० ल० क्र० व्य०
रसभावादि-१
सं० ल० क्र० व्य०
श०श०उ०
अ०श०उ०
उभयश०
वस्तु
१
२
अलंकार
१
१२ भेद
१

यह अर्थशक्तिमूलक बारह प्रकार का ध्वनि भेद इस प्रकार है—

(१) स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूलकसलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य—

जिस अर्थ की लोक में भी सत्ता हो उसमें अभिव्यक्त व्यङ्ग्य यह चार प्रकार का होगा—

(१) स्वतःसम्भवी—वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, वस्तु से अलकारध्वनि।
(३) ,, ,, अलकार से अलकारध्वनि।
(४) स्वतः सम्भवी अलकार से वस्तुध्वनि।

(२) कविप्रौढोक्तिसिद्ध—अर्थात् जिसकी सत्ता केवल कवि की ही दुनियाँ में हो। यह भी चार प्रकार का होता है।

(१) कविप्रौढोक्ति वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, वस्तु से अलकारध्वनि।
(३) ,, ,, अलकार से अलकारध्वनि।
(४) ,, ,, अलकार से वस्तुध्वनि।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति—जहाँ कवि के द्वारा निबद्ध वक्ता में कोई बात कही गई हो। यह भी चार प्रकार का है।

(१) कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति—वस्तु से वस्तुध्वनि।
(२) ,, ,, ,, वस्तु से अलकारध्वनि।
(३) ,, ,, ,, अलकार से अलकारध्वनि।
(४) ,, ,, ,, अलकार से वस्तुध्वनि।

इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य बारह प्रकार का होता है, और शब्दार्थोभयशक्तिमूलक सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य एक ही प्रकार का होता है—

उदाहरण—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्द न करोति कम् ॥१५॥

चमकते हुए चन्द्रमा से विभूषित, काम को समुद्दीपित करने वाली तारिकाओ से तरल श्यामा किसको आनन्दित नही करती है। यहाँ पूर्वार्ध के विशेषण आनन्द चन्द्राभरणा, समुद्दीपितमन्मथा ये परिवृत्तिसह होने से अर्थशक्तिमूलका हैं, और तारकातरल श्यामा ये परिवृत्यसह होने से शब्दशक्तिमूलक हैं। अतः उभयशक्तिमूलक यह सलक्ष्यक्रमध्वनि भेद है।

यहाँ यह श्यामा रात्रि श्यामा षोडशवर्षीया बाला के समान है यह अर्थ व्यङ्ग्य है।

इस प्रकार सब मिलाकर ध्वनि के अठारह भेद हुए।

अष्टादशध्वनि का विस्तार—५१ भेद।

अविवक्षित वाच्यध्वनि—{अर्थान्तर सं० वाच्य—पदगत वाक्यगत-२
{अत्यन्ततिर० वाच्य—पदगत-वाक्यगत-२

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि —{असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—रस पदगत, वाक्यगत, पदांशगत, रचनागत, वर्णगत, प्रबन्धगत=६

विवक्षितान्यपरवाच्य-ध्वनि —{शब्दशक्त्युद्भव—वस्तु व अलंकार=पदगत वाक्यगत=४, अर्थशक्त्युद्भव के १२ भेद पद वाक्य प्रबन्धगत=३६,

उभयशक्त्युद्भव=१— — १

इन एकावन भेदों के परस्पर संसृष्टि होने से = ५१

५१×५१=२६०१ हो जायेंगे।

तीन प्रकार के संकर तथा एक प्रकार की संसृष्टि=चार प्रकार से फिर गुणन करने पर १०४०४ संख्या होगी। पुनः शुद्ध ५१ भेद जोड़ देने से=१०४५५ध्वनि भेद हुए।

यथा—पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण हिन्दी में—

राधा अतिगुन आगरी स्वर्न वरन तनु रंग।
मोहन तू मोहन भयो परसत जाके अङ्ग ॥१॥

यहाँ पहला मोहन शब्द कृष्ण का वाचक है, पर दूसरा मोहन शब्द सबको मोहित करने की सामर्थ्य आदि से युक्त मोहन का बोधक है। अतः अर्थान्तर में संक्रमित हो जाने से यह पदद्योत्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का उदाहरण है। इसी प्रकार—

यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथा।
अनुकम्प्योऽनुकम्प्यश्च स जातः स च जीवति ॥२॥

यहाँ द्वितीय मित्रादि शब्द आश्वस्त, नियन्त्रणीयत्व, स्नेहपात्रत्वादि अर्थों में संक्रमित हो जाने से यह भी पद प्रकाश्य अर्थान्तर संक्रमित वाच्यध्वनि का भेद है।

॥ काव्यप्रकाश में ध्वनिनिरूपण नामक चतुर्थ उल्लास ॥

पञ्चम उल्लास

गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद (मध्यमकाव्य)—

ध्वनिकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यों का भेद सहृदयों के अनुभव के आधार पर किया जाता है। सहृदयमात्र संवेद्य व्यङ्ग्य होने पर ही ध्वनि काव्य कहलाता है। सहृदय से भिन्न सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्य को अनायास ग्रहण कर ले वह अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान ही हो जाता है, कहीं-कहीं व्यङ्ग्य का चमत्कार वाच्य की अपेक्षा मन्द पड़ जाता है। ऐसी दशा में जहाँ व्यङ्ग्य अगूढ स्पष्ट वाच्यवत् रहे, या वाच्य से न्यून रहे, अथवा व्यङ्ग्य की प्रतीति सहृदयों को सरलता से न हो सके इन सभी दशाओं में गुणीभूत व्यङ्ग्य मध्यम काव्य ही होता है।

इस प्रकार गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य आठ प्रकार का होता है—

> अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
> सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥४५॥
> व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा स्मृता ॥

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्, (२) अपरस्य—दूसरे का अङ्ग व्यङ्ग्य, (३) वाच्यसिद्धि का अङ्गभूत व्यङ्ग्य, (४) अस्फुट व्यङ्ग्य, (५) सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, (६) तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, (७) काकु से आक्षिप्त व्यङ्ग्य, (८) असुन्दर व्यङ्ग्य।

(१) अगूढ व्यङ्ग्यम्—असहृदयैरपि झटिति संवेद्यम्=अत्यन्त स्पष्ट होने से असहृदयों को भी वाच्यवत् प्रतीत हो।

(२) अपराङ्ग व्यङ्ग्यम्—अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा अङ्गम्—ऐसा व्यङ्ग्य जो रस भाव रसाभास भावाभासादि का या वाच्य का भी अङ्ग साधक उपकारक हो।

(३) वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्यम्—वाच्यसिद्धेरङ्ग निदान वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तदिति यावत्—अर्थात् ऐसा व्यङ्ग्य जिसके अधीन वाच्यार्थ की सिद्धि हो, जिसकी सहायता के बिना वाच्यार्थ ही सम्पन्न न हो, व्यङ्ग्यार्थ सापेक्ष वाच्यार्थ।

(४) अस्फुटव्यङ्ग्यम्—सहृदयानामपि दुःखसंवेद्यम्, जिसका समझना सहृदयों के लिए भी कठिन है, ऐसा व्यङ्ग्य।

(५) सन्दिग्ध प्राधान्यव्यङ्ग्यम्—सन्दिग्ध चमत्कारजनने वाच्यव्यङ्ग्यो. सन्देहविषयभूत प्राधान्य यत्र तत्। वाच्य और व्यङ्ग्य के चमत्कार की प्रधानता म जहाँ सन्देह हो।

(६) तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्यम्—तुल्यमर्थाद् वाच्येन तुल्य प्राधान्य यत्र तत्। जहाँ वाच्य का व व्यङ्ग्य का चमत्कार बराबर रहे।

(७) काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्यम्—काकुर्ध्वनेर्विकार', तया आक्षिप्त झटिति प्रकाशितम, यथा काक्वा विना वाच्यार्थ एव नात्मानलभते तया प्रकाश्यमिति।

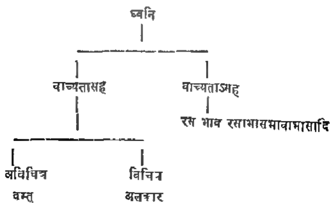
जिस काकु के बिना वाच्यार्थ ही सङ्गत न हो।

(८) असुन्दर व्यङ्ग्यम्—स्वभावादेव वाच्यापेक्षयाऽस्वादु। वाच्य की अपेक्षा जिस व्यङ्ग्य का चमत्कार सुन्दर न हो।

गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के मुख्य भेद ये ही हैं। ध्वनि के भेदो की तरह इस गुणीभूत व्यङ्ग्य काव्य की भी सकर व ससृष्टि के द्वारा गणना करने से भेद सख्या बहुत अधिक हो सकती है। प्रकृत मे उसका कोई अधिक उपयोग नही है। अत निरर्थक गणना का परिश्रम नही करना है। यदि कही वस्तु से अलङ्कार की अभिव्यञ्जना हो तो ऐसा काव्यभेद, गुणीभूत व्यङ्ग्य का न होकर ध्वनि का होगा। यह आनन्दवर्धनाचार्य का मत है—

> व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा।
> ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥

सक्षेप मे व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है—रसध्वनि, वस्तुध्वनि और अलकारध्वनि। इसमे रसादि रूप व्यङ्ग्य वाच्यता को सहन नही करता। अन्य वस्तुरूप और अलकार रूप व्यङ्ग्य, कभी कभी अन्य दशा म वाच्य भी हो सकता है।



व्यञ्जना की स्थापना—

अभिधा व लक्षणा की चर्चा तो अन्य शास्त्रों में भी यत्र तत्र होती ही रहती है। प्रायः शास्त्रीय चर्चा में सर्वत्र अपने अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए अभिधा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। कहीं-कहीं अत्यावश्य प्रमेय के प्रतिपादन के लिए, यदि अभिधावृत्ति विवक्षित तात्पर्य को समझाने के लिए समर्थ न हो तो वहाँ लक्षणा वृत्ति का भी आश्रय लिया जाता है।

इन्हीं प्रसिद्ध या अप्रसिद्ध वृत्तियों की परिधि में शास्त्र चर्चा चलती है, परन्तु साहित्यशास्त्र में तो केवल अभिधा या लक्षणा वृत्ति से ही काम नहीं चलता है। साहित्यिक गोष्ठी या कवि गोष्ठी में तो इन वृत्तियों को उतना सम्मान नहीं दिया जाता है, जितना कि व्यञ्जना वृत्ति का सम्मान है, जहाँ न गतासि का अर्थ अवश्यमेव गतासि हो जाता है, भ्रम का अर्थ मा भ्रम हो जाता है, अर्थात्—विधि का निषेध में पर्यवसान और निषेध का विधि में पर्यवसान हो जाता है, ऐसे स्थलों में बेचारी इन प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध वृत्तियों की पहुँच ही कहाँ।

जहाँ व्यङ्ग्य वस्तु के ही विषय में, (जोकि ध्वनि का स्थूल भेद है, साथ ही साथ दशाविशेष में वाच्यतासह भी है,) ही यह बात है, वहाँ वाच्य वृत्ति से जो अत्यन्त दूर रसभावादिध्वनि है, उसके विषय में तो कहना ही क्या, रसादिध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं है, फिर उस रसादि लक्षण अर्थ का बोधन कराने में अभिधादि वृत्तियाँ कहाँ तक समर्थ हो सकती हैं। अतः रसादि अर्थ के बोध के लिए अभिधा लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जना को अवश्य मानना चाहिए जैसा कि विश्वनाथ कविराज का कहना है—

"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा तात्पर्यलक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्यावृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥१॥

शब्दशक्तिमूलक-ध्वनि, अभिधा में गतार्थ नहीं है—अभिधामूला व्यञ्जना के जो दो भेद हैं असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ये दोनों भेद अभिधावृत्ति के विषय नहीं हैं, क्योंकि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि तो स्वप्न में भी वाच्यता को सहन नहीं करता, और संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य-ध्वनि के जो तीन भेद हैं, शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभय शक्त्युत्थ, इसमें शब्दशक्त्युत्थ ध्वनि जहाँ अनेकार्थक शब्द का प्रकरणादिवशात् एकार्थ में नियन्त्रण हो जाने पर भी अन्य अर्थ की जो प्रतीति होती है, उसके लिए व्यञ्जना व्यापार मानना ही पड़ेगा।

अर्थशक्तिमूलकध्वनि में भी व्यञ्जना अनिवार्य—

यह ध्वनि अभिहितान्वयवादियों की तात्पर्यावृत्ति से गतार्थ नहीं हो सकती है। अभिहितान्वयवादियों के मत में अभिधाशक्ति केवल पदार्थों की उपस्थिति

कराती है। पदार्थों के परस्पर संसर्गरूप वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए एक तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है। जब वाक्यार्थ ज्ञान के लिए ही अलग से तात्पर्या नाम की वृत्ति माननी पड़ती है, तो वाक्यार्थ के बाद में प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के लिए तो अवश्य ही व्यञ्जना वृत्ति माननी पड़ेगी। अर्थात् श्रुति से संकेतग्रह होने से सामान्यरूप पदार्थों का परस्पर संसर्गरूप विशेष, जहाँ पदों से उपस्थित न होकर "आकाङ्क्षा योग्यता सन्निधि रूप तात्पर्यावृत्ति से उपस्थित होता है वहाँ वाक्यार्थ बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की तो बात ही क्या ?

अन्विताभिधानवाद में भी व्यञ्जना आवश्यक—

अन्विताभिधानवादी प्रभाकर आदि जो संकेतग्रह का प्रधान साधन व्यवहार को मानते हैं, क्योंकि उत्तम मध्यमादि वृद्धों के "गामानय" इत्यादि वाक्यों के व्यवहार से ही सर्वप्रथम बालक को संकेत ज्ञान होता है।

इनके मत में 'गा अश्व" ये पद विशेष होते हुए भी दोनों में रहने वाले सामान्य 'कर्मत्व" रूप से ही 'आनय" के साथ अन्वित होते हैं। यह उनका सामान्य विशेष हुआ, पर गोत्व और अश्वत्व या गौ और अश्व आदि अति विशेष हैं। यह अति विशेषरूप अर्थ भी वाक्यार्थ में प्रतीत होता है, पर इसमें संकेतग्रह नहीं होता, क्योंकि व्यक्ति में सङ्केतग्रह करने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष आता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इनके मत में यहाँ तीन चीजें हैं— (१) सामान्य=मात्र—अश्वत्व आदि सामान्यरूप से अविवक्ष्यमान, (२) सामान्यविशेष का अर्थ है कर्मत्वादिरूप से अन्वितत्व "गामानय" इत्यादि। (३) अतिविशेष का अर्थ है, गो अश्वादि व्यक्ति विशेष के साथ अन्वितत्व।

अन्विताभिधानवादी के मत में अन्वित में शक्ति मानने से अन्वित वाक्यार्थ के भासित होने पर भी "अतिविशेष अर्थ" (व्यक्तिविशेष) असंकेतित होने के कारण वाच्यार्थ नहीं हो सकता, उसके लिए अतिरिक्त शक्ति मानने की जरूरत है। जब वाक्यार्थ के बोध के लिए ही अभिधा से भिन्न शक्ति की आवश्यकता होती है, तो वाक्यार्थ के बोध के बाद में उपस्थित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से हो सकेगा ऐसा कहना तो सर्वथा असङ्गत है।

मीमांसक एक देशीय का मत—

किसी मीमांसक का कहना है कि "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" नैमित्तिक (कार्य) के अनुसार निमित्त (कारण) की कल्पना की

जाती है। अतः व्यङ्ग्यार्थ जो नैमित्तिक (या कार्य) है, वह किसी न किसी शब्द से ही प्रतीत होता है, अतः शब्द को ही उस प्रतीति में निमित्त मानना पड़ेगा और निमित्त दो ही प्रकार का होता है—कारक और ज्ञापक।

व्यङ्ग्यार्थ के प्रति शब्द का निमित्तत्व कारकत्वरूप नहीं हो सकता है अपितु ज्ञापकत्व या बोधकत्वरूप ही होगा। व्यङ्ग्यार्थ के साथ इसका बोध्यबोधकभाव सम्बन्ध या निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध रहेगा, यह बोध्यबोधक-सम्बन्ध अभिधाशक्ति ही है, क्योंकि शब्द से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा ही है। जब अभिधा व्यापार से ही व्यङ्ग्यार्थ का बोध हो जाता है तो फिर अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को मानने की क्या आवश्यकता है।

व्यञ्जनावादी की तरफ से उत्तर—

आपके मतानुसार शब्द में जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है, इसमें शब्द केवल ज्ञापकत्व निमित्तत्व है, परन्तु यह ज्ञापकत्वरूपनिमित्त शब्द तब बन सकता है, जब उस अर्थ में उस शब्द का सङ्केतग्रह हो।

आपके सिद्धान्तानुसार सङ्केत केवल सामान्यरूप से अन्वितमात्र में ही गृहीत होता है। विशेष में सङ्केतग्रह नहीं होता, इसलिए निमित्तरूप शब्द का जब तक व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थ के साथ निश्चितरूप से सम्बन्ध या सकेतग्रह न हो तब तक अभिधा से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति ही कैसे हो सकती है।

क्योंकि कहीं भी व्यग्यार्थ में सकेतग्रहण नहीं है। इसलिए निश्चित सकेतग्रह के अभाव में "नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते" यह कथन भी अविवेकपूर्ण है।

भट्टलोल्लट का पूर्वपक्ष—

भट्टलोल्लट भी मीमांसानुयायी है, वे भी व्यंजना वृत्ति को नहीं मानते। उनके मत में व्यंग्यार्थ की प्रतीति अभिधाव्यापार से ही हो जाती है, इस पर इन्होंने एक बाण का दृष्टान्त दिया है "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधा-व्यापारः" यह अभिधाव्यापार भी बाण की तरह दीर्घ दीर्घतर होता जाता है। जैसे किसी बलवान के द्वारा प्रयुक्त एक ही बाण शत्रु का वर्म भेदन, चर्म भेदन तथा मर्म भेदन कर देता है, अभीप्सित कार्य करने तक बीच में विश्राम नहीं करता है, इसी प्रकार एक ही अभिधा व्यापार पदार्थोपस्थिति, अन्वय बोध व व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी करा सकता है। जहां तक वक्ता का तात्पर्य हो वह सब अभिधा वृत्ति द्वारा ही बोधित हो जाता है, और यह तात्पर्य अभिप्रेय तक ही सीमित रहे यह बात भी नहीं।

आचार्य धनिक की भी यही सम्मति है, कि तात्पर्य कोई तराजू से तोली हुई चीज नहीं है, अपितु जहाँ वक्ता को अर्थ की जरूरत रहती है, वहां तक उन शब्दों का तात्पर्य समझा जाय।

तात्पर्यं व्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनि. ।
यावत् कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुला घृतम् ।। इति ।।

क्योंकि जिस अर्थ में जिस शब्द का तात्पर्य रहता है, वही उस शब्द का अर्थ है कहा भी है 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति । अत 'निश्शेषच्युतचन्दनमिति' इत्यादि शब्दों का "नायकान्तिकगमनरूप" जो विधि है, वह तात्पर्य विषय होने के कारण वाच्य ही है न कि व्यङ्ग्य।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

पूर्वपक्षी ने "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" इस वैदिक वाक्य का तात्पर्य जो यह निकाला है कि लक्ष्य व्यङ्ग्य आदि सभी अर्थों को वाच्यार्थ ही मान लेना चाहिए, वस्तुत वह मीमासा शास्त्र के नियमों के अनुसार उक्त वाक्य के तात्पर्य का अनभिज्ञ ही है क्योंकि उक्त वाक्य—"यत् पर शब्द स शब्दार्थ" इस न्याय का अर्थ मीमासकों ने इस प्रकार किया है—

"अग्निहोत्र जुहुयात स्वर्गकाम" इत्यादि वैदिक वाक्यों में जहाँ केवल होम क्रिया का विधान होता है वहाँ 'दध्ना जुहोति' जैसे वाक्यों में होम के पूर्व वाक्य से प्राप्त होने के कारण केवल दधिरूप साधनद्रव्य का विधान अभिप्रेत होता है वहाँ 'सोमेन यजेत' जैसे वाक्यों में सोम और याग दोनों के अप्राप्त होने से दोनों का विधान अभिप्रेत होता है ।

इस प्रकार वैदिक विधिवाक्यों में जहाँ जितना अश प्रमाणान्तर से अप्राप्त होता है, उतने अश का विधान अभिप्रेत होता है, जैसे अग्नि अदग्ध का ही दहन करता है, उसी प्रकार वैदिक वाक्य या विधिवाक्य भी अप्राप्त का ही विधान करते हैं । ऐसी स्थिति में जिस अप्राप्त अश के बोधन में विधि वाक्य का तात्पर्य होता है, वही उस विधिवाक्य का विधेय या तात्पर्य अथवा प्रतिपाद्य होता है यही "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" का अर्थ है ।

लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ सब शब्द का वाच्यार्थ ही होता है, यह अर्थ "यत्पर. शब्द स शब्दार्थ" इस वाक्य का कदापि नहीं है । यदि यही अर्थ इस वाक्य का होता तो कुमारिलभट्ट आदि मीमासक भी लक्षणावृत्ति को क्यों मानते, अत. भट्टलोल्लटादि जो मीमासक इस तात्पर्य वाचोयुक्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ ही सिद्ध करना चाहते हैं, वे उस वाक्य का वास्तविक अर्थ ही नहीं समझते हैं, स्वय अपने शास्त्र के अर्थ को न समझने के कारण मम्मट ने इनको 'देवाना प्रिय' (मूर्ख) कहा ।

उक्त "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" इस वाक्य का अभिप्राय ग्रन्थकार इस प्रकार समझाते हैं—

"भूतं भव्याय उपदिश्यते" का अर्थ है सिद्ध कारकादि पदार्थ। भव्य का अर्थ है साध्य क्रियारूप। इन दोनों का जहाँ सहोच्चारण हो वहाँ भूत सिद्ध का भव्य साध्य के लिए उपदेश होता है। अर्थात् सिद्ध-भूत शब्द साध्य के अङ्गरूप में उपदिष्ट होता है, क्योंकि "आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्" इस नियम के अनुसार वेद के क्रियापरक विधि निषेध परक होने से अक्रिया स्वरूप जो सिद्ध भाग है वह क्रियारूप साध्य का अङ्ग बन जाता है, अत. क्रियारूप विधि अंश की ही प्रधानता रहती है।

यही 'भूत भव्याय उपदिश्यते' इस वाक्य का अर्थ है। जैसे "लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति"—यह वाक्य श्येन याग के प्रकरण में आया है, श्येन याग एक विकृति याग माना जाता है, ज्योतिष्टोम याग इसका प्रकृति याग है, "यत्र समग्राङ्गोपदेश सा प्रकृति" इसी को प्रधान याग कहते हैं। प्रकृति याग के साथ अनेक विकृति याग भी वर्णित होते हैं। इन विकृति यागों में विशेष नवीन अङ्गों का ही वर्णन होता है, "प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या" इस नियम के अनुसार शेष सारी क्रियायें प्रकृति की तरह की जाती हैं।

ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति याग में "लोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विज प्रचरन्ति" इस वाक्य के द्वारा ऋत्विक्-प्रचरण का विधान किया हुआ है, श्येन याग में "प्रकृतिवत् विकृति कर्तव्या" इस नियम के अनुसार वहाँ ऋत्विक् प्रचरण स्वय प्राप्त है, न तो यहाँ उष्णीष का विधान है और न ही प्रचरण का विधान है ये तो सब ज्योतिष्टोम वाले वाक्य में प्राप्त ही हैं। केवल यहाँ उष्णीष में लौहित्य (लालरङ्ग) का विधान अभिप्रेत है। इतना ही इस वाक्य का अर्थ है, अत "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" यह वाक्य इसी अर्थ को सूचित करता है।

इसी प्रकार "दध्ना जुहोति" इत्यादि वाक्य में भी दधि-द्रव्य है, द्रव्य सिद्ध होता है, साध्य नहीं, पर कभी कभी यह भी साध्य की तरह प्रतीत होता है।

अङ्गरूप में विधान किये गये इस सिद्ध पदार्थ का भी प्रधान क्रिया से सम्बन्ध होने से साध्य की तरह प्रतीति होती है, प्रकृत में हवन का अन्य प्रमाण से विधान हो जाने से केवल दधि का करणत्वमात्र में विधान किया गया है। इसी प्रकार कहीं दो या तीन पदार्थों का भी विधान होता है, कहने का तात्पर्य यह है कि जिसका विधान किया जाता है, उसी में शब्द का तात्पर्य रहता है, और जो शब्द वाक्य में आये हैं उन्हीं उपात्त शब्दों में ही किसी के अर्थ में वाक्य का तात्पर्य रहता है।

मीमासक की ओर से पुन शङ्का—

मीमासक पुन आशङ्का करता है कि यदि वाक्यान्तर्गत उपात्त शब्दों के अर्थ में ही यदि वाक्य का तात्पर्य है तो फिर "विष भक्षय मा चास्य गृहे

भुङ्क्ष्वा"—"विष खा ले, पर इसके घर भोजन मतकर" अर्थात् इसके घर का भोजन विष से भी भयङ्कर है, अत नहीं खाना चाहिए यह तात्पर्य उपात्त शब्दों में नहीं है, आपने कैसे कह दिया कि वाक्य में उपात्त शब्दों में ही तात्पर्य रहता है।

व्यञ्जनावादी का समाधान—

यहाँ "विष भक्षय" इत्यादि वाक्य को यदि अलग-अलग वाक्य माना जाय तो इस वाक्य का अर्थ अमङ्गल हो जायगा क्योंकि यह किसी मित्र का वाक्य है, कोई मित्र अपने मित्र को विष खाने की सलाह नहीं देगा, इसलिए विषभक्षण का आदेश देने वाला यह वाक्य स्वयं में अपूर्ण है, इसलिए "मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्वा" इस दूसरे वाक्य के साथ सम्बन्ध मानना आवश्यक है, अत विषभक्षण वाक्य स्वयं अनुपपन्न होने के कारण दूसरे वाक्य का अङ्ग बन जाता है, और अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से दोनों की एकवाक्यता हो जाती है। एक वाक्यता हो जाने पर उपात्त शब्द में ही तात्पर्य आ जाता है, अत 'उपात्तस्यैव शब्दास्यार्थे तात्पर्यम्' इस नियम की सङ्गति हो जाती है।

यदि यह कहा जाय कि शब्द श्रवण के बाद जितने भी अर्थ की प्रतीति होती है वह सब अभिधा व्यापार का ही विषय है, तो किन्हीं वाक्यों के श्रवणानन्तर मुखादि का विकास व सङ्कोच होता है, वह भी अभिधा व्यापार का ही विषय क्यों नहीं माना जाता है, क्यों वह अनुमान का विषय माना जाता है। फिर दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापार में ही सारे अर्थों की सिद्धि हो जाने पर, लक्षणा व्यापार की भी क्या आवश्यकता है, जिसको आपने भी स्वीकार किया है। और आपके मीमांसादर्शन में माने हुए "श्रुति लिङ्ग वाक्य प्रकरण स्थान समाख्या" इन छ प्रमाणों की पूर्वपूर्व की बलवत्ता क्यों मानी जाती है? अर्थात् यदि शब्द श्रवण के बाद प्रतीत होने वाले सभी अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है तो न लक्षणा की आवश्यकता है, और न श्रुति आदि प्रमाणों की प्रबलता दुर्बलता का निश्चय ही हो सकता है। इसीलिए अन्विताभिधान वाद में भी निःशेषच्युतचन्दनम् इत्यादि स्थलों में निषेधरूप वाच्यार्थ में प्रतीति होने वाले विधि की व्यङ्ग्यता सिद्ध होती है।

नित्यानित्य दोष की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना-वृत्ति आवश्यक है।

वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव यदि नहीं माना जाय तो असाधुपदत्व (च्युतसंस्कारत्व) आदि नित्य दोषों का, और कष्टत्व (श्रुतिकटुत्व) आदि अनित्य दोषों का विभाग भी नहीं बन सकता है।

वाच्यवाचक भाव से पृथक् व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को स्वीकार करने पर तो व्यङ्ग्य के अनेक प्रकार होने से कहीं किसी के औचित्य के कारण (अर्थात् श्रुतिकटुत्वादि की क्वचित् शृङ्गारादि रसों में ही वर्जनीयता रहेगी, अन्यत्र तो उनकी उपादेयता होगी) विभाग व्यवस्था बन ही जाती है। इस लिए व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मानना ही चाहिए।

गुणों की व्यवस्था के लिए भी व्यञ्जना जरूरी—

यदि व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव न माना जाय तो कुमारसम्भव में आये हुए "समागम प्रार्थनया कपालिन" इस पद्य में शिव के वाचक पिनाकी, आदि पदों की अपेक्षा कपाली आदि पदों का काव्यानुगुणत्व तथा अभिमतरसाभिव्यञ्जकत्व कैसे माना जा सकता है।

महाकवि कालिदास निर्मित कुमारसम्भव का यह पद्य इस प्रकार है—

> द्वय गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन ।
> कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ।

इस पद्य में शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करने वाली पार्वती के परीक्षा करने के लिए ब्रह्मचारी का वेष धारण करके आए हुए शिव जी, पार्वती की शिव समागम की इच्छा का उपहास करते हुए कह रहे हैं, पहिले अकेली चन्द्रकला ही शोचनीय थी, अब तुम दोनों की दशा शोचनीय हो गयी है। यहाँ कवि ने शिव के वाचक पिनाकी आदि शब्दों को छोड़कर "कपाली" शब्द का ही विशेष रूप से जो प्रयोग किया है, उससे शिव दरिद्रता, बीभत्सता आदि अनेक गुणों का वैशिष्ट्य प्रतीत होता है, वह शिवजी के वाचक "पिनाकी" आदि शब्दों से व्यक्त नहीं होता है। उसी के आधार पर शोचनीयता का औचित्य व्यक्त होता है। यदि व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव नहीं माना जाएगा तो वाचक रूप से सभी शब्दों का समान स्थान होने से विशेष पद के प्रयोग से कोई विलक्षण चमत्कार नहीं होगा। इसलिए वाच्यवाचक भाव से भिन्न व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव अवश्य मानना चाहिए।

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी महान् अन्तर—

वाच्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में संख्या, स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, व्यपदेश, कार्य तथा विषय आदि के भेद होने से भी व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न मानना आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार ने इन भेदों का संग्रह इस प्रकार किया है—

> स्वरूप संख्या निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।
> आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्य ॥

दूसरी बात यह है कि "यत्पर शब्द स शब्दार्थ" वाला नियम सर्वत्र लागू नही हो सकता है, असुन्दर व्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्य के भेद मे 'वानीर कुञ्ज सीदत्यङ्गानि" इत्यादि स्थल म व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर भी वाच्यार्थ चमत्कार युक्त होने के कारण उसी मे तात्पर्य का पर्यवसान भी होता है, ऐसे स्थलो म जहाँ व्यङ्ग्यार्थ तात्पर्यविषयीभूत है ही नही तो व्यञ्जना व्यापार के न मानने मे वह अतात्पर्य विषयीभूत अर्थ किस व्यापार का विषय बनेगा ?

लक्ष्यार्थ तथा व्यङ्ग्यार्थ म भेद होने से लक्षणा शक्ति से भी व्यञ्जना गतार्थ नही हो सकती—

यद्यपि व्यङ्ग्य की ही तरह लक्ष्यार्थ भी अनियत रहता है जैसे—रामोऽस्मि सर्वं सहे, रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्णप्रिये नोचितम्, रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणै प्राप्त प्रसिद्धि पराम्, इत्यादि स्थलो म दुख सहिष्णुत्व, निष्करुण, खरदूषणादिहन्ता इत्यादि एक ही राम शब्द के लक्ष्यार्थ है। फिर भी लक्षणीय अर्थ क नाना होने पर भी अनेकार्थक शब्द के वाच्यार्थ के समान नियतरूप ही होता है। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थ तो प्रकरणादि के द्वारा कही नियतसम्बन्ध और कही अनियत सम्बन्ध और कही परम्परित सम्बन्ध वाला होता है। अत लक्ष्यार्थ ही व्यङ्ग्यार्थ नही होता है और न लक्षणा म व्यञ्जना गतार्थ हो सकती है।

व्यञ्जना का विरोध आदर—

व्यञ्जना क विषय को लेकर ग्रन्थकार का यहा तक का सारा सघर्ष मीमासको म रहा। उन्ही के विरोध का उत्तर देते हुए व्यञ्जना की प्रतिष्ठा की परन्तु इतने मे उनका कार्य पूर्ण नही हुआ, अभी आगे उन्हे वैय्याकरणो, वेदान्तियो तथा नैय्यायिको का भी सामना करना है। इस उल्लास मे व्यञ्जना की प्रतिष्ठा का भगीरथ प्रयत्न ग्रन्थकार का है। व्यञ्जना का चतुर्दिक विरोध है, साहित्यशास्त्र मे भी केवल ध्वनिवादी सम्प्रदाय ही इसे स्वीकार करता है, शेष बडे बडे दार्शनिक व साहित्यिक तो इसका विरोध ही करते हैं। मीमासक, वेदान्ती, नैय्यायिक और वैय्याकरण करीब करीब सभी व्यञ्जना के विरोधी हैं। पर ध्वनिवादी आचार्यों के अनुसार साहित्यशास्त्र की गाडी व्यञ्जना के बिना एक पग भी आगे नही चल सकती है। इस शास्त्र मे तो अभिधा शक्ति की कोई कदर नही है। सीधी साधी बात कहना तो एक तरह गवारोपना है। जिस उक्ति मे कोई चमत्कार नही, कथन की कोई शैली नही या जिसमे कोई रस नही ऐसी नीरस शुष्क उक्ति सहृदयो के हृदय को अच्छी नही लगती है। मीमासक नैय्यायिक आदि भले ही नग्न यथार्थवाद से सन्तुष्ट हो जायँ पर साहित्यशास्त्र के विद्यार्थी को तो उन वाक्यो से कथमपि सन्तोष नही होता है। इसीलिए आशाधर भट्ट ने कहा है—

शक्ति भजन्ति सरला लक्षणा चतुरा नरा ।
व्यञ्जना नर्ममर्मज्ञा कवय कमना जना ॥

साहित्यशास्त्र तो रसप्रधान शास्त्र है, रसास्वाद के बिना सहृदय की तृप्ति नही होती है, उसी रसाभिव्यक्ति के लिए व्यञ्जना आवश्यक है ।

कवित्व की कसौटी और काव्य का प्राण व्यञ्जना है इसलिए आचार्य मम्मट ने इसकी सिद्धि के लिए इतना आग्रह और इतना प्रयास किया है ।

वैय्याकरणो या वेदान्तियो का अखण्डार्थवाद जो (वेदान्ती या वैय्याकरण यह कहते हैं कि अखण्डबुद्धि से ग्राह्य वाक्यार्थ ही वाच्य होता है, और अखण्ड वाक्य ही उनका वाचक होता है । उनको भी अविद्या की स्थिति मे (व्यवहार सत्ता में) आकर, पद पदार्थ की कल्पना करनी ही होगी, इसलिए उनके पक्ष मे भी उक्त (नि शेषच्युतचन्दनम् इत्यादि) उदाहरण मे विधि आदि को व्यङ्ग्य मानना ही होगा ।

न्यायाचार्य महिमभट्ट का विरोध—

व्यञ्जनावृत्ति के सबसे कट्टर विरोधी महिमभट्ट हैं जिन्होने काव्य जगत् मे समाहृत इस व्यञ्जना वृत्ति की साथ ही साथ व्यञ्जना परिवार के समष्टिभूत ध्वनितत्त्व की कठोर समीक्षा की है । आनन्दवर्धनाचार्य के ध्वनि सिद्धान्त को ध्वस करने के लिए इस महात्मा ने एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाला, जिसका नाम है—"व्यक्तिविवेक" अर्थात्—"व्यञ्जना का विचार" ग्रन्थ के आरम्भ मे ही इनकी प्रतिज्ञा भी बडी भयकर है—

अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम् ॥१॥

सभी प्रकार की ध्वनियो का अनुमान मे अन्तर्भाव करने के लिए महिमा नामक आचार्य परा वाणी को प्रणाम कर "व्यक्ति विवेक" नामक ग्रन्थ की रचना करते हैं । कहना नही होगा कि बहुत कुछ अश मे इनकी प्रतिज्ञा सफल हुई है, सर्व प्रथम ये ध्वन्यालोक के ध्वनि लक्षण पर टूट पड़े, उनके लक्षण का प्रतिपद खण्डन करके यह दिखाया कि ध्वनि का तो कोई लक्षण ही नहीं बनता, फिर शब्द और अर्थ का सम्बन्ध दिखलाते हुए व्यञ्जनावृत्ति की समीक्षा करने लगे । इनके मत मे शब्द और अर्थ का यदि कोई सम्बन्ध है तो वह वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है बस इसके लिए तो फिर अभिधा से अन्य किसी व्यापार को मानने की आवश्यकता ही नही है यदि कही उपचार वश कोई व्यङ्ग्यादि अर्थ की प्रतीति होती है तो वह सब अनुमान के द्वारा ही गतार्थ हो जाती है ।

इसके लिए अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नहीं है। बड़े सरम्भ के साथ इन्होंने अपने ग्रन्थ में अनुमान में ही पूरे ध्वनि प्रपञ्च को सम्हालने का साहसिक प्रयास किया है। इस पर इन्हें पूरा भरोसा है कि मेरे जैसे पण्डित अवश्य मेरी बातों का समादर करेंगे और बड़े गर्व के साथ कहते हैं—

> युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो।
> नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
> केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमीलन्त्य-
> न्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

जो मेरे जैसे हैं उन्हीं के लिए यह मेरा प्रयास है, संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सबका मन आकृष्ट करे, भवन को प्रकाशित करने वाले भगवान् भास्कर के उदयोन्मुख होने पर कुछ (सूर्यकान्त मणि) जलते हैं, कुछ (कमल) खिलते हैं और कुछ (उल्लू-कमुद आदि) संकुचित हो जाते हैं ॥२॥

व्यक्तिविवेक की प्रौढ़ तथा तर्क कर्कश विचार चातुरी से ध्वनि के सारे अङ्गों को बहुत बड़ी ठेस लगी है इसमें कोई सन्देह नहीं, ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का वह निर्मल यश शायद कब का खतम हो जाता, यदि एकादश शती के उत्तरभाग में मम्मट जैसे अद्भुत विद्वान् का उदय नहीं होता।

महिमभट्ट का मत मुख्यतः न्यायदर्शन की अनुमान प्रक्रिया पर आधारित है। इसलिए इस मत को हम न्याय मत कह सकते हैं। इनका कथन इस प्रकार है—

वाच्य से असम्बद्ध अर्थ तो प्रतीत नहीं होता है, यदि वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति होती तो, फिर जिस किसी शब्द से जो कोई भी अर्थ प्रतीत होने लगेगा। इस प्रकार जब व्यञ्जक शब्द और व्यङ्ग्य अर्थ का आपस में व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है तो वह सम्बन्ध अवश्य (किसी प्रतिबन्ध) व्याप्ति के बिना नहीं हो सकता है। इसलिए व्याप्तियुक्त और नियत धर्मी (पक्ष) पर्वतादि में रहने से (अर्थात् व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त होने से पक्षसत्व, सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप) तीनों रूपों वाले (धूमादि हेतु के समान) लिङ्ग से, लिङ्गी (अर्थात् वह्नि आदि के समान साध्य) का जो अनुमान किया जाता है, उसी रूप में (व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव का भी) पर्यवसान हो जाता है।

यहाँ **"त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्"** यह कहकर, व्याप्ति तथा पक्षधर्मता युक्त एवं त्रिरूप (पक्षसत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृत्तत्वरूप) विशिष्ट लिङ्ग से लिङ्गी (साध्य) का जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। और व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी व्याप्ति तथा पक्षधर्मता के बिना नहीं होती, इसी

लिए व्यङ्ग्य प्रतीति अनुमिति ही है, और व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव एक प्रकार का अनुमान ही है—

उदाहरण के द्वारा इसे और स्पष्ट कर रहे हैं—

> भ्रम धार्मिक विश्वस्तः स श्वाद्य मारितस्तेन ।
> गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

हे पण्डित जी (धार्मिक) अब आप निडर होकर भ्रमण करें, गोदावरी के तीर के कुञ्ज में रहने वाले उस दुष्ट सिंह ने आज उस कुत्ते को (जो आपको तंग किया करता था) मार डाला है।

इस गाथा का प्रकरण इस प्रकार है—गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में किसी स्त्री ने अपना निवास स्थान बनाया हुआ था, जहाँ उसका प्रिय उससे मिलने के लिए आता था, कोई दूसरे पण्डित जो अपने पूजापाठ के लिए फूल तोड़ने उसी उद्यान में आया करते थे, इनके आने से उस स्त्री के कार्य में विघ्न पड़ता था, इसीलिए उसने इस प्रकार का उपाय निकाला कि जिससे पण्डित जी का उधर आना बन्द हो जाय, इसी दृष्टि से उसने इस पद्य द्वारा पण्डित जी को सिंह द्वारा कुत्ते को मारे जाने की सूचना दी, वह जानती है कि पण्डितजी जब कुत्ते से ही बहुत डरते थे तो सिंह का नाम सुनते तो वे यहाँ आना ही भूल जायँगे।

भ्रम धार्मिक इत्यादि श्लोक में—(गोदावरी तीर स्थित) घर में रहने वाले कुत्ते के अभाव में विहित भ्रमण (हेतु या लिङ्ग) गोदावरी तीर पर सिंह के रहने के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव (साध्य) का अनुमान कराता है।

जहाँ-जहाँ भीरुओं का भ्रमण होता है, वहाँ-वहाँ भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है। यह व्याप्ति है, और गोदावरी के तीर में (भय का कारण) सिंह की उपलब्धि (अर्थात् साधनाभाव) है। इसलिए साध्य भीरुभ्रमण की व्यापिका जो भयकारण के अभाव की उपलब्धि, उसके विरुद्ध जो भय कारण है उसकी उपलब्धि, (अर्थात् अभावसाधक सिंहोपलब्धिरूप) व्यापक विरुद्ध, (व्यतिरेक व्याप्ति) की प्रतीति होती है।

इसलिए व्यतिरेकि अनुमान के द्वारा भ्रमणनिषेध की प्रतीति हो जाती है, उसके लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नहीं है।

इसका अनुमानाकार इस प्रकार बन सकता है—

(१) गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यम् (प्रतिज्ञा वाक्य)।

(२) भयकारणोपलब्धे (हेतु या साधन)।

(३) यद्यत भीरुभ्रमणयोग्य तत्तद्भयकारणाभाववत्।

यथा गृहम्—(व्यतिरेक व्याप्ति उदाहरण सहित)।

(४) न चेद तीर तथा भयकारणाभाववत्, सिंहोपलब्धे (उपनय वाक्य)

(५) तस्मात् भीरुभ्रमणायोग्य तीरम् (निगमन)।

इस प्रकार पञ्चावयव वाक्य से अनुमान द्वारा ही व्यञ्जनावादी के व्यङ्ग्य—मा भ्रम अर्थात् मत घूमो—अर्थात् भ्रमण निषेध को" स्वार्थ कर देते हैं।

अत व्यङ्ग्यार्थ के लिए पृथक् व्यञ्जनावृत्ति मानने की आवश्यकता नही। यह पूर्व पक्ष है—

मम्मट द्वारा महिमभट्ट के इस अनुमान का खण्डन—

यहाँ महिमभट्ट ने "सिंहोपलब्धि" को 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व" सिद्ध करने के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु यह हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात् साध्याभाववद्वृत्ति है। जहां जहां भीरुभ्रमण होता हो, वहाँ वहाँ भय के कारण का अभाव हो, इस प्रकार की कोई व्याप्ति भी नही है, क्योंकि युद्धादि मे राजाज्ञा से भीरु सैनिक भी भय के कारण के रहते हुए भी जाता ही है, इसी प्रकार प्रभु की आज्ञा मे या गुरु की आज्ञा मे शिष्य, अथवा प्रिया के अनुराग मे भय के कारण रहते हुए भी जाता ही है। इसी बात को समझाते हैं—

भीरु भी प्रभु या गुरु की आज्ञा से अथवा प्रिया के अनुराग मे अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण मे भी भय के कारण रहते हुए भी घूमता ही है। इसलिए यह सिंहोपलब्धिरूप हेतु अनैकान्तिक है। अर्थात्—सव्यभिचार हेत्वाभास है और कुत्ते से डरने पर भी वीर होने से सिंह से नही डरता है, इसलिए विरुद्ध हेत्वाभास भी है। (तीसरा दोष यह है कि) गोदावरी के किनारे सिंह का सद्भाव प्रत्यक्ष से तथा अनुमान से निश्चित नहीं है। अपितु वचन से, अर्थ के साथ वचन उस नायिका के शब्द का कोई प्रतिबन्ध नियत सहचार न होने से, वचन का प्रामाण्य भी नहीं है। इसलिए पक्ष मे हेतु के न रहने से स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास भी है। इस प्रकार त्रिदोषग्रस्त हेतु से साध्य की सिद्धि किस तरह हो सकती है?

अर्थात्—अनुमान द्वारा भ्रमण निषेधरूप साध्यव्यङ्ग्य की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि स्थलों में भी चन्दनच्यवनादि के द्वारा जो अनुमान महिमभट्ट करते हैं, वे अन्य कारणों से भी हो सकते हैं।

अत अनैकान्तिक हेत्वाभास है, अर्थात् चन्दनच्यवन को अनुमापक मानकर नायकान्तिकगमनादि को अनुमेय नहीं मान सकते हैं। स्नानादि कार्यों से भी चन्दनादि की उपपत्ति हो जाती है।

व्यञ्जनावादी ने तो अधम पद की सहायता से उक्त विधि "नायकान्तिकगमनादि" रूप व्यङ्ग्य माना है, परन्तु अनुमानवादी के यहाँ तो अधमत्व की किसी प्रमाण से सिद्धि न होने के कारण अनुमान नहीं हो सकता है।

व्यञ्जनावादी यहाँ तो व्याप्ति के बिना भी इस प्रकार के अर्थ से इस प्रकार का व्यङ्ग्य अर्थ प्रकाशित होता है। सामान्यरूप से कथन होने से व्यञ्जनावादी के यहाँ यह दोष नहीं है।

पूर्वोक्त विचार को ही मम्मटानुयायी कविराज विश्वनाथ ने इन शब्दों से कहा है—

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम्।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥६॥

काव्य प्रकाश में व्यञ्जना स्थापन नामक
पञ्चम उल्लास समाप्त

षष्ठ उल्लास

चित्रकाव्य या अवर काव्य का निरूपण—

ध्वनिप्रधान उत्तम काव्य का गुणीभूत व्यङ्ग्य वाले मध्यम काव्य का निरूपण कर अब व्यङ्ग्यार्थरहित चित्रकाव्य या अधम काव्य के भेदों का निरूपण षष्ठ उल्लास में कर रहे हैं।

शब्द चित्र तथा अर्थचित्र के नाम से जो दो प्रकार के (अधम काव्य के) भेद प्रथम उल्लास में दिखलाये गये हैं, उनमें शब्द चित्र और अर्थ चित्र शब्दों का प्रयोग गुण प्रधान भाव से होता है।

अर्थात्—दोनों में दोनों प्रकार की चित्रता की सम्भावना हो सकती है, पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है, उसी के आधार पर व्यवहार होता है। जैसे प्रथम उल्लास में वर्णित शब्द चित्र के उदाहरण "स्वच्छन्दोच्छल-दच्छकच्छ" इत्यादि पद्य में अन्य नदियों से अधिक उत्कर्ष का वर्णन होने से व्यतिरेक अर्थालङ्कार होने से अर्थ चित्रता भी है, और 'विनिर्गतं मानदमात्म-मन्दिरात्" इत्यादि पद्य में जो अर्थ चित्र का उदाहरण है। मकार की असकृत् आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास शब्दालङ्कार के होने से शब्द चित्रत्व भी है, पर "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति" इस नियम के अनुसार जहाँ जिसकी प्रधानता है वहाँ उसी से व्यवहार किया जाता है—

> शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
> गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयोः ॥१॥

शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र के विषय में प्राचीन आचार्यों का मत—

किन्हीं आचार्यों का मत है कि रूपकादि अर्थालङ्कार ही प्रधान अलङ्कार हैं, शब्दालङ्कारों के या शब्द चित्र में इस प्रकार का चमत्कार नहीं रहता है।

क्योंकि सुन्दर होने पर भी जैसे बिना अलङ्कार के कामिनी का मुख शोभित नहीं होता, उसी प्रकार बिना अर्थालङ्कारों के सुन्दर शब्दों वाला काव्य भी शोभित नहीं होता है।

दूसरे आचार्य रूपकादि अर्थालङ्कारों को बाह्य अलङ्कार मानते हैं, अर्थात्—सुबन्त और तिङन्त पदों की व्युत्पत्ति (विशेषेणानुप्रासादिरूपेण

नीचा सदैव सविलासमलीकलग्ना
ये कालता कुटिलतामिव न त्यजन्ति ॥३॥

सघन पलकों वाली सुन्दरियों के केश, और दुष्ट पुरुष, जो विलासपूर्वक सदैव अलीक (केशपक्ष में ललाट, खल पक्ष में मिथ्याभाषण) में लगे हुए हैं, और कुटिलता (केशपक्ष में टेढ़ापन और खल पक्ष में दुष्टता) के समान कालेपन को नहीं छोड़ते हैं। देखते ही किसके चित्त में क्षोभ उत्पन्न नहीं कर देते ? अर्थात् कामिनियों के काले और कुन्तल केश और उन्हीं के समान कुटिल वृत्ति वाले दुष्ट पुरुष देखने वालों के हृदय को क्षुब्ध कर देते हैं।

यहाँ क्षोभरूप एक कार्य के प्रति अलक व खल का युगपत् कथन होने से समुच्चयालङ्कार है। श्लेष तथा उपमा आरम्भ से समाप्तिपर्यन्त इसी समुच्चय के निर्वाहक होने से इसी के अङ्ग हैं। प्रधानता समुच्चयालङ्कार की ही है। काव्यप्रकाश के आदर्श टीका के रचयिता महेश्वर भट्टाचार्य का कथन है कि उक्त पद्य में प्रकृत खल व अप्रकृत अलक का क्षोभरूप एक धर्म के साथ अन्वय होने से दीपकालङ्कार है।

अलीक शब्द के परिवृत्त्यसह होने से शब्द श्लेष तथा अनुप्रास का भी सम्भव है, पर अर्थालङ्कार की ही प्रधानता होने से यह अर्थ चित्र का उदाहरण है।

यद्यपि सर्वत्र काव्यों में वर्णित पदार्थ विभावादिरूप पर्यवसित होते हैं, तथापि चित्र काव्य में स्पष्ट रूप से रसादि की प्रतीति न होने से इन दोनों काव्यों को व्यङ्ग्य रहित तथा अधम काव्य कहा गया है

काव्य प्रकाश में चित्र काव्य प्रभेद निरूपणात्मक
षष्ठ उल्लास समाप्त हुआ।

सप्तम उल्लास

काव्य दोषों का निरूपण—

जैसे दोष की कालिमा किसी व्यक्ति उत्कर्ष में विघातक होती है, उसी प्रकार काव्य-दोष भी काव्यार्थ के मुख्य प्रतीति के उत्कर्ष के विघातक होते हैं।

स्याद् वपु सुन्दरमपिश्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥

किसी कामिनी का शरीर चाहे कितना ही सुन्दर क्यों न हो परन्तु उसके अङ्ग में यदि कुष्ठ का छोटा सा भी दाग है तो वह सौन्दर्य सदा के लिए निरर्थक हो जाता है।

कविता कामिनी का भी यही हाल है कितनी ही सुन्दर कविता क्यों न हो, यदि थोडी भी व्याकरण सम्बन्धी त्रुटि दिखाई देती है तो वह सारी कविता फीकी (नीरस) मालुम पडती है।

एक भी कर्ण कटु शब्द श्रोता को उद्विग्न कर देता है। इसलिए कवि और लेखक को हमेशा इन काव्यगत दोषों से बचना चाहिए। अत दोषों के परिहार के लिए सर्वप्रथम दोषो का ज्ञान आवश्यक है।

दोष सामान्य का लक्षण काव्य प्रकाश मे इस प्रकार किया है—

"मुख्यार्थहतिर्दोष."

मुख्यस्यार्थस्य हतिरपकर्षो यस्मात्स दोष इत्यर्थ ।

अथवा

मुख्यार्थो हन्यतेऽपकृष्यतेऽनेनेति करणसाधनो हति शब्द एवञ्च—मुख्यार्थापकर्षकत्व दोषत्वमिति दोष सामान्यलक्षणम्।

अर्थात्—मुख्यार्थ का अपकर्ष जिससे होता है, उसको दोष कहते हैं। मुख्यार्थ का मतलब यहाँ रस है।

"रसश्च मुख्य"

इसलिए मुख्यार्थ विषयक रसविषयिणी जो प्रतीति, उस प्रतीति के अपकर्षक कारण को दोष कहते हैं।

रस का आश्रय होने से वाच्य (अर्थ) को भी मुख्यार्थ कहते है। इसलिए रस के साथ चमत्कारी वाच्य के अपकर्षक को भी दोष कहते हैं। यह अर्थ दोष है।

"तदाश्रयाद्वाच्य"

अर्थ रस का आश्रय है, इसलिए वह दोष अर्थगत भी होगा।

उभयोपयोगिन स्यु शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि स ॥१॥

शब्दादि रस तथा वाच्य (अर्थ) दोनो के बोधन मे उपकारक (सहायक) होते हैं, इसलिए इनमे भी यह दोष रहता है।

अत दोष पाँच प्रकार का होता है—

(१) पददोष (२) पदांशदोष (३) वाक्यदोष, (४) अर्थदोष, और (५) रसदोष,

विस्तार के भय से समग्र दोषो का वर्णन लक्षण उदाहरण द्वारा उनका विवेचन यहाँ असम्भव है। अत मुख्य मुख्य काव्य दोषो का दिग्दर्शन कराया जाता है—

पददोष—

(१) श्रुतिकटु दोष—कठोर व कर्णकटु वर्णों से जो पद रस का अपकर्ष करे, उसे श्रुतिकटु दोष कहते हैं।

उदाहरण—

"कार्तार्थ्यं लभते कदा"

यहाँ यह कृतार्थस्य भाव कार्तार्थ्यम् यह शब्द कर्णकटु है। प्राय रेफ घटितसयुक्त वर्ण कविता के माधुर्य का अपहरण करते हैं। अतएव किसी विद्वान ने कहा भी है—

"श्रावत्तं शब्दप्रयोगे वर्णोपतापकप्रयोगेण श्रोतुरुद्वेगो रसापकर्षाय भवति" जैसे हिन्दी का यह पद्यांश —

"पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता"।

यहाँ "विषयोत्कृष्टता और विचारोत्कृष्टता" इन पदो के अक्षरो का योग, सयोग व रेफ के कारण कानो के लिए कर्णकटु है।

(२) च्युतसस्कृति दोष—व्याकरण के सस्कार से हीन पद च्युतसस्कृति दोष से दुष्ट होता है।

उदाहरण—

"दीन त्वामनुनाथते कुचयुग पत्रावृत्त मा कृथा. ॥

याचनार्थक नाथ धातु परस्मैपदी है, "आशिषिनाथ" इस सूत्र से केवल आशी अर्थ मे ही आत्मनेपद का विधान है, अत अनुनाथते यह पद च्युतसस्कृति दोष से दुष्ट है।

(३) अप्रयुक्त दोष—कोषादि मे उस अर्थ मे होने पर भी कवियो के द्वारा उस अर्थ मे प्रयुक्त न हो। जैसे "दैवत" शब्द कोष की दृष्टि से उभय लिङ्ग-पुलिङ्ग तथा नपुसक लिङ्ग मे पठित है, पर कवियो के द्वारा इसका प्रयोग पुलिङ्ग मे नही किया जाता है अत 'दैवत' यह पद अप्रयुक्त दोष से दूषित है।

(४) निहतार्थ दोष—दो अर्थ वाले पद को अप्रसिद्ध अर्थ मे प्रयोग करना निहतार्थ दोष कहलाता है। जैसे "शोणित" पद का रुधिर रूप अर्थ ही प्रसिद्ध है, न कि रक्त या लाल रग, अत शोणित पद का लालरग के अर्थ मे प्रयोग दोष ही है।

(५) अनुचितार्थ—अनुचित अर्थ वाले पद,

(६) निरर्थक—जिसका पादपूर्ति के लिए प्रयोग किया जाए।

(७) अवाचक—कवि विवक्षित अर्थ का जो वाचक न हो जैसे भारवि के 'अवन्ध्यकोपस्य' इत्यादि पद्य मे "जन्तु" पद का अदाता अर्थ मे प्रयोग किया, परन्तु यह पद इस अर्थ का वाचक नही है। अपितु अमर्षशून्य व्यक्ति की तुच्छता का सूचक है।

(८) अश्लील दोष—तीन प्रकार का होता है, व्रीडा, जुगुप्सा तथा अमगल के भेद से, काव्य मे हमेशा शिष्ट शब्दो का प्रयोग करना चाहिए। व्रीडा व्यञ्जक या जुगुप्सा और अमङ्गल व्यञ्जक शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए।

(९) ग्राम्य दोष—यह भी एक प्रकार का अशिष्ट या अशिक्षित प्रयुक्त दोष है, काव्य मे नागरिक भाषा का ही अधिक प्रयोग होना चाहिए।

(१०) सदिग्ध दोष—ऐसे पद या वाक्य का प्रयोग नही करना चाहिए, जिससे उसके अर्थ मे या प्रकृति पद मे सन्देह हो, यह दोष पद, वाक्य तथा अर्थ गत है।

(११) अविमृष्टविधेयाश—वाक्य मे विधेय अश की प्रधानता होती है, पर कभी कभी ऐसा होता है कि विधेय अश का मुख्यरूप से प्रतिपादन नही होता है। तब एक गम्भीर दोष उत्पन्न हो जाता है, जिसका नाम है—अविमृष्टविधेयाश और "यत्तदोर्नित्यसम्बन्ध," इस नियमानुसार यत् पद यदि उद्देश्य हो तो बाद मे तद् पद से उसका विधान करना चाहिए, ऐसा न करने से दोष होता है। जैसा कि काव्यप्रकाश की वामनी टीका मे लिखा है—

"इदमन्नोद्देश्य विधेयभावविषयेऽवगन्तव्यम्।"

"यच्छब्दप्रतिपाद्य सिद्धत्वेन प्रतीयमानमनुवाद्यमुद्देश्यम्, तदादि शब्द प्रतिपाद्य-मुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविषयीभूत विधेयम् यथा—"य क्रियावान् स

पण्डित" इत्यादौ क्रियावन्तमुद्दिश्याभेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्वं न विधीयते।

"जिसे हमने कल बुलाया था वही राम अब आया है।" इस वाक्य मे जिसे तथा वही का प्रयोग ठीक हुआ है। यदि यत् और तत् शब्द को पास रख दिया जाए तो वह विधेय अश की ठीक-ठीक प्रतीति नही करा सकता है।

समास के अन्दर आ जाने से भी किसी पद का प्राधान्य लुप्त हो जाता है ऐसी स्थिति में विधेय अश को समास के भीतर प्रविष्ट कर देना नितान्त अनुचित है—

उदाहरण—पार्वती के समक्ष यह शिवजी का वर्णन है—"**वपुर्विरूपाक्षम-लक्ष्यजन्मता**" अर्थात् शरीर विरूप आंख (तीन आँख) वाला है तथा अदृष्ट जन्म भाव वर्तमान है। विवक्षित अर्थ है कि शिव जी का जन्म अलक्षित है। परन्तु समास के भीतर रख देने से उसका जोर चला गया, और प्राधान्य नष्ट हो गया, यह अनुचित है।

वाक्यदोष

ऊपर जिन प्रधान पद दोषो का उल्लेख किया गया है इसमें से कतिपय दोष पदाश में भी विद्यमान रहते हैं। प्राय समस्त पद दोष वाक्यो मे भी रहते हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट वाक्य दोष भी होते हैं, जिनकी स्थिति केवल वाक्य मे होती है।

(१) **प्रतिकूलवर्णता**—जहाँ वर्ण प्रकृत-रस के पोषक नही होते वहाँ प्रतिकूल वर्णता दोष होता है। जैसे—शृङ्गार रस मे "**अकुण्ठोत्कण्ठया पूर्णमा-कण्ठ कलकण्ठि माम्**" इत्यादि पद्य मे कवि ने ट वर्ग का प्रयोग किया है, जब कि ट वर्ग शृङ्गार रस का परिपन्थी है।

(२) **न्यूनपदता**—जहाँ पदो की कमी हो, वहाँ न्यून पदता नामक दोष होता है—**जैसे**—

नृप तिहारे खड्ग ते प्रकट भयो जस फूल।

हे राजन् तुम्हारे तलवार से यश रूपी फूल प्रकट हुआ। यहाँ यश को फूल कहा गया है, अत खड्ग को लता कहना चाहिए था, लता पद की कमी होने से न्यूनपदता दोष है।

(३) **अधिकपदता**—अभीष्ट अर्थ से अधिक पद हो जाने से अधिकपदता दोष होता है, वैसे नियम तो यह है कि जितना अर्थ हो उतना ही शब्द प्रयोग भी होना चाहिए। जैसे—

डसै तिहारे शत्रु को खड्गलता अहिराज — तुम्हारी तलवार लतारूपी सर्प शत्रुओ को डस रहा है। यहाँ लता पद बिना किसी प्रयोजन के रखा गया है। अत अधिकपदता दोष है।

(४) **अभवन्मत योग**—वाक्य मे अभिमत अर्थात् इष्ट सम्बन्ध का न होना।

वाक्य मे शब्दो का परस्पर सम्बन्ध होना नितान्त आवश्यक है, परन्तु कभी कभी यह अभीष्ट सम्बन्ध नही बनता, **"गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्"** अप्रधान प्रधान के लिए होते है, दो या अधिक अप्रधानो का आपस मे सम्बन्ध नहीं होता है। मीमासा के इस नियम के अनुसार वाक्य मे प्रयुक्त अवान्तर पदो का सम्बन्ध मुख्य वाक्य से ही होना चाहिए।

जैसे—"विद्यालय के जो अध्यक्ष गणित विद्या मे पारङ्गत हैं, तथा जिनके ऊपर इस नगर को पूरा अभिमान है, आज उन्ही की अभ्यर्थना है"

यहाँ आरम्भ मे दो अवान्तर वाक्य हैं, तथा अन्त मे है मुख्य वाक्य, इन तीनो वाक्यो मे अध्यक्ष पद का सम्बन्ध अभीष्ट है, परन्तु उसे प्रथम अवान्तर वाक्य मे ही अन्तर्निविष्ट होने के कारण अभिमत सम्बन्ध बनना नही है, अर्थात् उसका सम्बन्ध दो अन्य वाक्यो के साथ सिद्ध नही होता है।

(५) **कथितपदता**—बार-बार एक पद का प्रयोग करना, यह दोष कवि के शब्द दारिद्र्य को प्रकट करता है।

उदाहरण—

रतिलीला श्रम भिन्ते सलीलमनिलो वहन् ॥
रतिलीला श्रम को हरत लीला युत चलि पौन ॥

यहाँ लीला शब्द का प्रयोग दो बार किया है।

(६) **भग्न प्रक्रमता**— निबन्ध अथवा कविता जिस क्रम से प्रारम्भ की जाए उसी क्रम या तत्सम्बन्ध वाक्यो को उसी क्रम में समाप्त करना चाहिए, ऐसा जहाँ नहीं किया जाए वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण—

नाथे निशाया नियतेर्नियोगादस्त गते हन्त निशाऽपि याता ॥

दैववश निशा नायक चन्द्र के अस्त हो जाने पर निशा भी चली गयी। यहाँ प्रारम्भ गम् धातु से "अस्तङ्गते" कह कर "याता" या धातु से उपसहार किया, अत यह प्रक्रम भङ्ग है। "गता निशाऽपि" यह पाठ उचित था।

यहाँ एक ही पद का दो बार प्रयोग करने से कथितपदता दोष की शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह पुनरुक्त या कथितपदता दोष तो उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य से भिन्न स्थल में होता है।

जहाँ उद्देश्य प्रतिनिर्देश्यभाव हो वहाँ तो पदान्तर से प्रतिपादित वह अर्थ प्रकृत प्रतीति का स्थगन कर देता है।

उद्देश्य प्रतिनिर्देश्य का उदाहरण—

उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।
सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ॥१॥
उदय होत रवि रक्त अरु रक्तहिं होवत अस्त।
सपत्ति और विपत्ति में सज्जन होत न व्यस्त ॥१॥

अर्थ दोष—

अर्थ की रुचिरता के लिए कतिपय नियमों का पालन किया जाता है, जिसमें अर्थ की स्वच्छता व रुचिरता बनी रहती है। यदि उन नियमों का उल्लंघन किया जाए तो अर्थ में अस्वच्छता आने लगती है यही अर्थगत-अस्वच्छता ही अर्थ दोष है। जिनमें मुख्य ये हैं—

(१) कष्टार्थता—अर्थ के समझने में जहाँ कष्ट हो जैसे—

तौ पर वारों चार मृग चारविहग फल चार

तुम पर मैं चार पशु निछावर करती हूँ। नयन पर मृग घूँघट पर हय, गति पर हाथी, तथा कटि पर सिंह, वचन पर कोकिला को, ग्रीवा पर कपोत को, केशपर मयूर को, तथा नासिका पर शुक को, इस प्रकार चार पक्षियों को मैं निछावर करती हूँ। और चार फल को भी दन्त पर दाडिम को, कुच पर श्रीफल को, अधर पर बिम्बफल को, तथा कपोल पर मधूक को वारती हूँ। स्पष्ट ही इसका अर्थ करना अत्यन्त कठिन है।

(२) व्याहतता—जहाँ किसी वस्तु का महत्त्व दिखलाकर फिर हीनता दिखलाई जाए, या पहले हीनता दिखलाकर फिर महत्त्व दिखलाया जाय वहाँ व्याहतत्व दोष होता है। जैसे—

औरन के मनहरन को चन्द्रकलादि अनेक।
मोहिं सुखद दृगचन्द्रिका प्रिया वही है एक ॥१॥

यहाँ पूर्वार्ध में चन्द्र की निन्दा की और उत्तरार्ध में उसी चन्द्रकला को अपने लिए सुखद माना है।

(३) प्रसिद्धिविरुद्ध—"कवि समय ख्याति" के विरुद्ध अर्थ का जहाँ वर्णन हो। जैसे—

उपपरिसर गोदावर्य्या परित्यजताध्वगाः ?
सरणिमपरो मार्गस्तावद् भवद्भिरवेक्ष्यताम्।
इह हि विहितो रक्ताशोकः कयापि हताशया,
चरणनलिनन्यासोदञ्चन्नवाङ्कुरकञ्चुकः ॥१॥
भूलि न जइयो पथिक ? तुम तिहि सरिता पथ ओर।
तरुणि पदाहत अङ्कुरित नव अशोक जँहि ओर॥१॥

पथिक को कोई उस नदी की ओर बढ़ने से रोक रहा है, जहाँ के नवीन अशोक वृक्ष तरुणी के पैरों के आघात से अङ्कुरित हो उठे हैं। यहाँ कवि समय का विरोध है। तरुणी के पैरों की चोट से अशोक खिलता है, अङ्कुरित नहीं होता, अतः प्रसिद्ध विरुद्ध है।

(४) अनवीकृतत्व—जहाँ अर्थों में नवीनता नहीं लाई गयी हो। बल्कि अर्थ एक सा हो वहाँ यह दोष होता है।

सदा करत नभ गौन रवि, सदा चलत है पौन।
सदा धरत भुवि शेष सिर, और सदा रहे मौन।

चारों चरणों में "सदा" के प्रयोग से अर्थ में नवीनता नहीं आई है, अतः यहाँ अनवीकृत दोष है।

(५) साकाङ्क्षता—जिस अर्थ की पूर्ति होने में कुछ शब्दों की आकाङ्क्षा बनी रहती है, वहाँ यह दोष होता है।

परम विरागी चित्त निज पुनि देवन को काम।
जननी रुचि पुनि पितु वचन, क्यों तजि हैं वन राम॥

रामचन्द्र का चित्त तो स्वयं परम वैराग्य युक्त है। फिर देवताओं का काम भी करना है, जननी कैकेई की इच्छा, और पिता दशरथ का वचन ठहरा, ऐसी स्थिति में राम वन को क्यों छोड़ेंगे ? अभिप्राय यह है कि वन का जाना क्यों छोड़ेंगे। इस दोहे में तजिहैं की जगह "जांय" इस पद की आकाङ्क्षा है। तब "क्यों न जांय वन राम" ऐसा वाक्य होगा।

(६) प्रकाशितविरुद्धता—जहाँ किसी विरुद्ध अर्थ का प्रकाशन हो, वहाँ यह दोष होता है।

कुमारस्ते नराधीश श्रियं समधिगच्छतु।
राज्यलक्ष्मि को प्राप्त हों नृपतय ज्येष्ठ कुमार॥

हे राजन्! आपका ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करे इस वाक्य में राजा के मरने का अर्थ प्रकाशित होता है, क्योंकि जब राजा का देहान्त होगा तब ज्येष्ठ कुमार राजलक्ष्मी को प्राप्त करेगा।

अत प्रकाशित अर्थ से विरुद्ध अर्थ के प्रकाशन होने से यह दोष है।

रस दोष—

रस दोष ही काव्य का मुख्य दोष है, रसोन्मीलन की प्रक्रिया में काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने कतिपय आधारभूत नियमों का निर्देश किया है। जिनके अनुपालन से काव्य सरस सुन्दर तथा सहृदयावर्जक होता है और इन नियमों का तिरस्कार करने से काव्य नितान्त दुष्ट तथा उपहास्यास्पद होता है। अत आधार भूत इन नियमों का अनुशीलन अपेक्षित है—

(१) "व्यभिचारिरसस्थायिभावना शब्दवाच्यता" दोषाय भवतीत्यर्थ।

रस सर्वदा व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा उन्मीलित होता है। अभिधा के द्वारा उसका प्रकाशन कथमपि नहीं हो सकता है। यही नियम स्थायिभाव तथा व्यभिचारी भावों के लिए भी है, इस नियम का उल्लंघन करने से "स्वशब्द वाच्यता" नामक रस का उदय होता है।

यथा—"तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो न कोप्यजायत" इत्यादि श्रृङ्गार रस के प्रकरण में रस को रस शब्द से अभिहित कर देने से स्व शब्द वाच्यता दोष है। "उस योद्धा को देखकर हमारे हृदय में वीररस उमड़ पड़ा।" इस वाक्य में वीररस स्व शब्द वाच्य होने से रस की सत्ता नितान्त अनुचित है, किन्तु यहाँ वीररस की अभिव्यक्ति उसके विभाव व अनुभावों के द्वारा ही होनी चाहिए।

(२) कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभावविभावयो।

किसी पद्य में अनुभाव तथा विभाव का उन्मीलन सरल स्वाभाविक ढंग से होना चाहिए। यदि इनकी अभिव्यक्ति कष्ट कल्पना से करनी पड़े तो रस दोष माना जाता है।

यथा—"परिहरति रतिं मतिं लुनीते" इत्यादि पद्य में वर्णित नायिका की बेचैनी आदि अनुभाव, न केवल श्रृङ्गार रस में अपि तु करुण रस में या भयानक वीभत्स आदि रसों में भी पाये जाते हैं अत कामनी रूप आलम्बन विभाव यहाँ कठिनाई से प्रतीत होता है

(३) प्रतिकूलविभावादिग्रह।

विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण नहीं करना चाहिए। जैसे—श्रृङ्गार रस के प्रसङ्ग में प्रकृत के प्रतिकूल शान्त रस के विभाव का वर्णन करना—

"न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः" इत्यादि।

(४) पुनः पुनः दीप्तिः

पुनः पुनः उसी रस की दीप्ति दोष माना जाता है। जैसे—कुमारसम्भव मे "रति विलाप" के समय करुण की बार बार दीप्ति अनुचित है।

(५) अकाण्डे प्रथनच्छेदौ

अचानक न तो रस का प्रस्तार करना चाहिए और न प्रासङ्गिक रस का सहसा उच्छेद ही करना चाहिए।

(६) अङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः

अङ्गी मुख्य रस का ही काव्य मे विशेष वर्णन उचित है, अङ्ग का अत्यन्त विस्तार कभी नही करना चाहिए। ऐसा करने से अङ्गातिविस्तृति नामक रस दोष होता है।

(७) अङ्गिनोऽननुसन्धानम्

काव्य या नाटक मे अङ्गी पदार्थ नायक का ही वर्णन तथा अनुसन्धान सदा आवश्यक रहता है। उसका तिरस्कार कर उसे बिलकुल भुला देना नितान्त अनुचित है।

(८) प्रकृतीनां विपर्ययः

नाटक मे चित्रित पात्रों के कर्म तथा व्यवसाय उनके स्वरूप के अनुसार ही ही होना चाहिए, प्रकृति—अर्थात् पात्र तीन प्रकार के होते हैं। (१) दिव्य—स्वर्गीय देव अप्सरा आदि। (२) अदिव्य—पृथ्वीचारी जीव मर्त्यलोकस्थ। (३) दिव्यादिव्य—दोनो गुणों से मिश्रित पात्र।

इनके स्वरूपों के अनुसार ही इनके कर्म व व्यवहार का काव्य या नाटक में चित्रण करना कवि का परम धर्म है। तभी तो दर्शकों के मन मे इनका यथार्थ प्रभाव पड़ता है, अन्यथा तो प्रकृति विपर्यय नामक दोष होता है।

काव्य के दोषों मे रस दोष ही अन्तरङ्ग दोष माना गया है, अन्य दोष तदपेक्षया बहिरङ्ग हैं। दोषों का विभाजन आचार्यों ने इस प्रकार भी किया है, कुछ दोष नित्य होते हैं, और कुछ अनित्य।

(१) नित्य दोष—जो हमेशा दोष ही बने रहते हैं। वे नित्य दोष कहलाते हैं। जैसे च्युतसंस्कृतत्यादि।

(२) अनित्य दोष—जो किसी अवस्था विशेष मे दोषत्व को छोडकर गुण हो जाते हैं वे अनित्य दोष कहलाते हैं।

जैसे—श्रुतिकटुत्व दोष—यह शृङ्गार रस मे ही दोष होगा, परन्तु वीर, वीभत्स व रौद्र रस मे गुण बन जाता है। इसी तरह "अधिकपदता" यह भी दोष है, और कथितपदता, परन्तु भय तथा हर्ष की स्थिति मे यह वक्ता के मुख से अधिक पदो का प्रयोग उचित ही है।

दोषो का प्रतिप्रसव—

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा।

प्रकृत रस के विपरीत सञ्चारिभाव अनुभाव तथा विभाव आदि का वाच्यत्वेन कथन करना, दोष नही अपितु गुणाधायक ही है।

यथा—

सत्य मनोरमा रामा सत्य रम्या विभूतय।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोल हि जीवितम् ॥१॥

यह सच है कि स्त्रियाँ बडी मनोरम होती हैं, और यह भी सच है कि सम्पत्ति भी बडी रमणीय होती है। परन्तु उन सबके भोग करने का साधनभूत यह जीवन तो मदमत्त स्त्री के कटाक्ष के समान क्षणभङ्गुर है।

इस पद्य मे शान्तरस मुख्य है, परन्तु मनोरमा रामाओ की चर्चा करके कवि ने शृङ्गार रस के आलम्बन विभावरूप अङ्ग का उसमे समावेश कर दिया है। फिर भी इन मनोरमाओ की चर्चा से पाठक के हृदय मे शृङ्गाररस की अनुभूति नही होती है और मत्ताङ्गनापाङ्गरूप शृङ्गाररस का अनुभाव भी शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति मे समर्थ नही है, बल्कि इसस जीवन की क्षणभङ्गुरता का प्रतिपादन बडे सुन्दर ढग से हो रहा है। इसलिए विषयो से विमुख होने की शिक्षा इस पद्य मे सरलता से मिल जाती है, साथ ही साथ कोरे शान्तरस चर्चा मे शृङ्गार का पुट भी सौन्दर्य ला देता है। इसलिए यहाँ दोष नही है, यह ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य का कथन है—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गाना न दुष्यति ॥ (ध्वन्यालोक)

परन्तु यहाँ काव्यप्रकाशकार का समीक्षण सिद्धान्त इस प्रकार है—यहाँ विरोधी रसाङ्ग के वाच्यत्वेन कथन मे दोष नही होता है। यह सिद्धान्त जब स्थिर हो चुका है तो उसी से यहाँ काम चल जायेगा। फिर मत्ताङ्गनापाङ्गरूप

अनुभाव को उपमान बनाकर जीवन की अस्थिरता को उपमेयरूप में प्रस्तुत किया है। अत अधिक गुण वाले उपभूत मताङ्गनापाङ्ग की अस्थिरता उपमेयभूत जीवन को अस्थिरता से अधिक है यह उचित ही है। अत. मनाङ्गनापाङ्ग के साथ जीवन की अस्थिरता का उपमानोपमेयभाव तदवत् जीवन की क्षणभङ्गुरता को प्रस्तुत करते हुए शान्तरस को ही पुष्ट कर रहा है। शृङ्गाररस को नहीं। इसलिए उक्त स्थल में विरोध परिहार के लिए किसी नये नियम की आवश्यकता नहीं है।

काव्यप्रकाश में दोष दर्शन नामक

॥ सप्तम उल्लास समाप्त ॥



अष्टम उल्लास

गुण निरूपण—

शारीरिक दोषो के कारण कोई व्यक्ति उतना ही हेय हो जाता है जितना मानसिक दोषो के कारण, उसी प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणो के कारण कोई भी व्यक्ति समाज मे आदर पाता है।

काव्य जगत् की भी ठीक यही दशा है, दोषो के कारण यदि कोई काव्य हेय तथा निन्दनीय माना जाता है, तो वही माधुर्य या श्रवणपेशलता के कारण प्रशसनीय होता है, तथा श्रोताओ के हृदय को आकृष्ट करता है।

इस प्रकार गुण काव्य की शोभा बढाने वाले अन्तरङ्गधर्म होते हैं। अलकार का स्वभाव इससे भिन्न होता है। सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि— काव्य मे सदा विद्यमान रहने वाले, शोभा के उत्कर्ष को बढाने वाले रस के धर्म को गुण कहते हैं। जैसा कि आचार्य मम्मट का कथन है—

> ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवात्मन ।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥१॥

अर्थात्—शूरता, वीरता, उदारता आदि गुण जैसे आत्मा के उत्कर्षाधायक होते हैं, उसी प्रकार अङ्गीरस नित्यधर्म, माधुर्य, ओज, प्रसाद गुण भी अङ्गीरस के उत्कर्षाधायक होते हैं।

गुण और अलकार के भेद—

ग्रन्थकार के मत मे गुणरस के उत्कर्षाधायक, रस के अव्यभिचारी (अचल स्थित) और रस मात्रनिष्ठ धर्म हैं, जबकि अलकार उनसे भिन्न है। वे रस के बिना रह भी सकते हैं, और रसनिष्ठ होने पर कभी रस के पोषक भी हो सकते हैं, और कभी रस के पोषक नही भी हो सकते हैं।

एव च— रसोत्कर्षकत्वे सति, रसाव्यभिचारिस्थितित्वम्, अव्यभिचारेण रसोपकारकत्वञ्चेति गुणसामान्यलक्षणम् तथा च रसोत्कर्षकत्वे सति रस व्यभिचारीस्थितित्वम्। अनियमेन च रसोपकारकत्वमलङ्कारसामान्यलक्षणम् ॥

यही गुण और अलकार मे भेद है।

भामह विवरण के लेखक भट्टोद्भट्ट का मत—

भट्टोद्भट्ट के मत मे गुण तथा अलकारो मे कोई भेद नही है। लौकिक गुण तथा अलकारो मे तो यह भेद किया जा सकता है कि हारादि अलकारो का शरीर के साथ सयोग सम्बन्ध है, और शौर्यादि गुणो का आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है, इसलिए लौकिक गुण तथा अलकार मे भेद माना जा सकता है। परन्तु काव्य मे तो ओज आदि गुण तथा अनुप्रास, उपमा आदि अलकार दोनो ही समवाय सम्बन्ध मे रहते हैं, इसलिए काव्य मे अनेक भेद का उपपादन नही किया जा सकता है।

वामन का मत—

दूसरा मत काव्यालङ्कारसूत्र के निर्माता वामन का है। यह भेदवादी मत है। वामन गुण और अलकार मे भेद मानते हैं। उन्होने अपने ग्रन्थ मे इन दोनो का भेद इस प्रकार दिखाया है—

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः।

अर्थात्—काव्य शोभा के उत्पादक धर्म गुण हैं, और विद्यमान उस शोभा के उत्कर्ष को बढाने वाले धर्म अलकार हैं। जैसे युवती के अन्दर सौन्दर्यादि गुणो के रहने पर ही अलङ्कार उसकी शोभा के अभिवर्द्धक होते हैं। वास्तविक शरीर सौन्दर्य न होने पर धारण किये हुए भी सुन्दर अलङ्कार व्यर्थ हो जाते हैं, उसी प्रकार काव्य मे प्रसादादि गुणो के रहने पर ही यमक, उपमा आदि अलकार उसके शोभावर्द्धक हो सकते हैं, अन्यथा नही।

युवतेरिव रूपमङ्ग काव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते॥२॥

वामन के अनुसार गुण काव्य के अपरिहार्य धर्म हैं, जिनके बिना काव्य की निष्पत्ति ही नही होती है। वामन के इसी बात से प्रभावित होकर मम्मट ने काव्य के लक्षण मे "सगुणौ" कहकर गुणो की अपरिहार्यता का उल्लेख तथा "अनलकृती पुनः क्वापि" यह लिखकर अलङ्कारो का वैकल्पिक विधान किया।

आनन्दवर्धनाचार्य का मत—

गुण तथा अलकार के भेद के विषय मे ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्य का मत इस प्रकार है—इन्होने इन दोनो का भेद इस प्रकार दिखाया है—

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणा स्मृता ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या कटकादिवत् ॥१॥

अभिप्राय यह है कि काव्य के आत्मभूत रसादिरूपध्वनि में आश्रित रहने वाले धर्म गुण हैं और काव्य के अङ्गभूत शब्द व अर्थ के धर्म अलङ्कार हैं।

मम्मटाचार्य का मत—

मम्मट ने वामन के शोभाजनकत्व के स्थान पर उत्कर्षाधायकत्व हेतु को ही गुण और अलकारो के लिए ग्रहण किया, शेष सारा सिद्धान्त ध्वन्यालोककार का ग्रहण किया। जैसे गुणो की रसधर्मता व अलकारो की शब्दार्थधर्मता आदि।

इसी के आधार पर इन्होने अलकार का भी लक्षण किया—

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादय ॥३॥

गुणो की सख्या मे मतभेद—

गुणो की सख्या के विषय म आचार्यों म बडा मतभेद है, आद्य आचार्य भरत मुनि ने गुणो की सख्या दस मानी है। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) श्लेष (२) प्रसाद (३) समता (४) समाधि (५) माधुर्य (६) ओज (७) सुकुमारता (८) अर्थव्यक्ति (९) उदारता (१०) कान्ति। दण्डी के मत म भी गुणो की सख्या दश ही है, और उनके नाम भी ये ही है, सिर्फ इनके स्वरूप के विषय म कुछ फर्क है। वामन ने इन गुणो को शब्दगत तथा अर्थगत भेद म द्विगुणित कर दिया। फलत वामन के मत में गुणो की सख्या बीस हो गई।

श्लेष प्रसाद समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज कान्तिसमाधय ॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दश गुणा मता ।
इति वामनोक्ता दशशब्दगुणा दश अर्थगुणाश्च ॥

परन्तु मम्मट ने इन सभी गुणो का माधुर्य ओज और प्रसाद इन तीन ही गुणो म कर दिया। उन्होने लिखा है—

केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात्परेश्रिता ।
अन्ये भजन्ति दोषत्व कुत्रचिन्न ततो दश ॥

ये दश शब्द गुण व दश अर्थगुण जो वामन द्वारा प्रदर्शित किये गये हैं, वे कुछ इन्ही तीन गुणो मे समा जाते हैं, और कुछ दोषाभावरूप हैं। कुछ दोष

वक्ता द्वारा अन्य प्रकार मे कहा हुआ वाक्य दूसरे श्रोता या बोद्धा के द्वारा श्लेष या काकु से अन्य अभिप्राय मे लगाया जाय तो श्लेष वक्रोक्ति और काकु वक्रोक्ति होती है।

उदाहरण—

> काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ॥
> उत्कण्ठितासि तरले नहि नहि सखि पिच्छिलः पन्थाः।

अत्र "अपतितया" इति पतिं विनेत्यभिप्रायक स्ववचन पतनाभावेनेत्यर्थे स्वेनैवान्यथा कृतम्।

हिन्दी मे—

> गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट अहो।
> हौं न गऊ, नहि हो अवशा, अलिनी हौं नहि अस काहे कहो।

इस पद्य मे शिव पार्वती का सवाद है।

पद्य का पूर्वार्ध शिव का वचन है, इसमे शिवजी ने पार्वती को गौरवशालिनी प्रिया कहा है।

उत्तरार्ध पार्वती का उत्तर है, "गौरवशालिनी" इसका पदच्छेद कर पार्वती ने इसका दूसरा ही अर्थ किया। पदच्छेद इस प्रकार है—गौ+अवशा+अलिनी। अत दूसरा अर्थ लेकर पार्वती कह रही हैं—न तो मैं गऊ हू और न अवशा ही हू तथा न मैं अलिनी ही हू ऐसा क्यो कह रहे हो।

(२) अनुप्रास—

वर्ण साम्यमनुप्रास ।

स्वरो के भेद होने पर भी व्यञ्जन वर्णो की समानता (रसानुकूल प्रकृष्ट सन्निवेश) को अनुप्रास कहते हैं।

छेकवृत्तिगतो द्विधा।

वह अनुप्रास दो प्रकार का है। छेकानुप्रास और वृत्यनुप्रास।

छेकानुप्रास—

अनेक व्यञ्जनो की एक वार साम्य (आवृत्ति) को छेकानुप्रास कहते हैं।

उदाहरण—

"ततोऽरुण परिस्पन्द मन्दीकृत वपु शशी"

यहां पकार तथा न्द आदि अनेक वर्णो का एक वार साम्य है।

हिन्दी मे—

राधा घर के बैन सुनि, दोनी चकित सुभाय।
दाख दु खी मिसरी मुरी, सुधा रही सकुचाय॥

यहाँ अनेक व्यञ्जनो की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास—

"एकस्याप्यसकृत् पर."

एक वर्ण का या अनेक वर्णों का अनेक बार साम्य (आवृत्ति) होने पर वृत्यनुप्रास होता है।

उदाहरण—

अपसारय घनसार कुरु हार दूर एव किं कमलै।
अलमलमालि ! मृणालैरिति वदति दिवानिश बाला॥

इस पद्य मे रकार, ककार, लकार और मकार की बार-बार आवृत्ति होने से वृत्यनुप्रास नामक अलकार है।

वृत्यनुप्रास मे गुण, वृत्ति, रीति आदि का समन्वय—

वृत्यनुप्रास के प्रसङ्ग मे वृत्ति शब्द की व्याख्या आवश्यक है। वृत्ति रीति मार्ग, सट्घटना तथा शैली शब्द प्राय समानार्थक हैं।

उद्भट ने अपने "काव्यालङ्कारसारसग्रह" नामक ग्रन्थ मे उपनागरिका, परुषा, तथा कोमला तीन प्रकार की वृत्तियो का वर्णन किया है। इन तीन प्रकार की वृत्तियो को वामन ने तीन प्रकार की रीतियो के नाम से, कुन्तक तथा दण्डी ने तीन प्रकार के "मार्गो" के रूप मे और आनन्दवर्धनाचार्य ने तीन प्रकार की "सङ्घटना" के रूप म माना है।

उद्भट ने इन तीनो वृत्तियो मे वर्ण के साम्य को वृत्यनुप्रास कहा है—

सरूपव्यञ्जनन्यास तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक्-पृथकनुप्रासमुशन्ति कवय सदा॥ (उद्भट)

राजशेखर के अनुसार रीति, वृत्ति, तथा प्रवृत्ति मे पार्थक्य है। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

(१) वेषविन्यासक्रमः प्रवृत्ति, (२) विलासविन्यासक्रमो वृत्ति। (३) वचनविन्यासक्रमो रीति।

अर्थात्—राजशेखर के अनुसार वेष का के विन्यास का प्रकार प्रवृत्ति है। विलास का विन्यास वृत्ति है, तथा वचनों का विन्यास क्रम रीति है।

मम्मट यहाँ उद्भट के अनुसार वृत्तियों का वर्णन कर रहे हैं—

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते

माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से युक्त वृत्ति उपनागरिका है।

ओज प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा

ओज के प्रकाशक वर्णों से युक्त वृत्ति परुषावृत्ति है।

कोमला परैः

शेष वर्णों से युक्त वृत्ति कोमला वृत्ति कहलाती है। कोई आचार्य इसी को ग्राम्या वृत्ति भी कहते हैं। ये तीनों वृत्तियाँ वामन आदि के मत में क्रमशः वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली नामक रीतियाँ मानी गई हैं।

लाटानुप्रास—

शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः

शब्द गत यह अनुप्रास लाटानुप्रास कहलाता है। शब्द और अर्थ का अभेद होने पर भी अन्वय (तात्पर्य) मात्र के भेद से और लाट देश के विदग्धों को प्रिय होने से यह लाटानुप्रास कहलाता है।

उदाहरण—

यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥

जिसके समीप में दयिता नहीं है, उसके लिए (तुहिनदीधिति) चन्द्रमा दावानल के समान है, और जिसके समीप में दयिता है उसके लिए दावानल भी चन्द्रमा के समान (शीतल) होता है।

यहाँ अनेक पदों की आवृत्ति है, पूर्वार्ध में तुहिनदीधिति में दवदहनत्व विधेय है, और उत्तरार्ध में तुहिनदीधितित्व विधेय है, इसलिए तात्पर्य भेद-उद्देश्य-विधेय भाव के भेद होने से यह लाटानुप्रास है।

(३) यमक—

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः॥
यमकम्

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से श्रवण, (पुनरावृत्ति) यमक नामक अलङ्कार कहलाता है।

उदाहरण—

नव पलाश पलाश वनं पुरः स्फुटपराग परागत-पङ्कजम् ।
मृदुलतान्त लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥

यह पद्य शिशुपालवध महाकाव्य के छठे सर्ग का है—भगवान् श्रीकृष्ण ने सुन्दर सुमनों से भरे हुए बसन्त को देखा, जिसमे पलाश वन नूतन किसलयों से परिपूर्ण था, और कमल पराग से व्याप्त थे, कोमल लतायें फैली हुई थी। यहा पलाश-पलाश और सुरभि-सुरभि इन दोनो जगह पदो की सार्थक आवृत्ति है, और उत्तरार्द्ध मे लतान्त-लतान्त मे प्रथम निरर्थक और द्वितीय सार्थक है।

(४) श्लेष—

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः यत्रोऽसौ श्लेष ॥

भिन्न भिन्न अर्थों के बोधक, भिन्न भिन्न शब्द एक साथ उच्चारण के कारण, जब परस्पर मिल जाते हैं तब वह श्लेष अलकार होता है।

उदाहरण—

विधौ वक्रे मूर्ध्नि स्थितवति वय के पुनरमी।

समस्त देवताओ के मान्य गुरु शिवजी की भी (बाल) टेढे (चन्द्रमा) (या भाग्य) के मस्तक पर स्थित होने पर जब यह दुरावस्था है, तब (क्षुद्र अत्यन्त तुच्छ) हमारी तो गिनती ही क्या है।

यहा "विधौ" इस शब्द मे विधु शब्द चन्द्रमा का वाचक, और विधि शब्द भाग्य का वाचक, दोनो ही प्रविष्ट है, विधु और विधि दोनो शब्दों का सप्तमी के एकवचन मे विधौ यह रूप बनेगा अत यहा शब्द श्लेष है।

(५) चित्रालकार—

तच्चित्र यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृति हेतुता।

जहा (जिस ग्रन्थ मे) वर्णों की रचना खड्ग आदि की आकृति का हेतु, बने वह चित्र नामक अलकार है।

उदाहरण—

भासते प्रतिभासार, रसा-भावा हता विभा।
भावितात्मा शुभा वादे देवाभावत ते सभा ॥१॥

हे प्रतिभासार, (अत्यन्त प्रतिभावान् राजन्!) शृङ्गारादि अथवा प्रीति रूप रसो से आपकी सभा अत्यन्त शोभित है। जिसमे आत्मचिन्तन होता है,

या सयमपूर्वक तत्त्वकथा मे निपुण होने से आपकी सभा देव सभा की तरह है।

(६) पुनरुक्तवदाभास (उभयालङ्कार)—

पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकार शब्दगा, एकार्थतेव।

विभिन्न स्वरूप के शब्दो मे रहनेवाली (समानार्थक न होने पर भी) समानार्थता सी जो प्रतीत होती है वह पुनरुक्तवदाभास नामक अलकार है। यह अलकार शब्द, अर्थ व शब्दार्थोभयनिष्ठ है—

उदाहरण—

तनुवपुरजघन्योऽसौ करिकुञ्जररुधिररक्तखरनखर।
तेजो धाम महः पृथुमनसामिन्द्रो हरिर्जिष्णु. ॥१॥

कृश शरीर (तनुवपु) होने पर भी (अजघन्य) श्रेष्ठ, बडे श्रेष्ठ हाथियो के रक्त से रगे हुए तीक्ष्ण नखोवाला तेज का धाम, यह उदार मनवालो का राजा और सिंह विजयशील है।

इसमे (तनु कुञ्जर, रक्त) इत्यादि कुछ पदो के परिवर्तन कर देने पर यह अलंकार नहीं रहता है, उस अश मे शब्दाश्रित है, और वपु कटि रुधिर इत्यादि के परिवर्तन कर देने पर भी अलंकार हानि नही होती है। इसलिए उस अश मे अर्थनिष्ठ है।

अत यह उभयालकार है।

काव्यप्रकाश मे शब्दालकार निरूपण नामक
नवम उल्लास समाप्त हुआ।

दशम उल्लास

अर्थालङ्कार—

अर्थालंकारों का विभाजन कुछ विशेष आधारों पर किया जाता है। जैसा कि नीचे दिखाया जाता है—

(१) सादृश्यमूलक (२) विरोधमूलक (३) शृङ्खलाबन्धमूलक (४) तर्कन्यायमूलक (५) लोकन्यायमूलक (६) वाक्यन्यायमूलक (७) गूढार्थ प्रतीतिमूलक। प्रत्येक वर्ग के मुख्य-मुख्य अलंकारों की विशेषता दिखलाने का प्रयास यहाँ किया जायेगा।

(१) सादृश्यमूलक अलंकार—

ये अलंकार सादृश्य या समानता की कल्पना पर प्रतिष्ठित रहते हैं। किसी अज्ञात वस्तु को समझने या समझाने का सबसे सुन्दर साधन सादृश्य है। सादृश्य के द्वारा हम किसी अज्ञात विषय का ज्ञान किसी व्यक्ति को करा सकते हैं। इस वर्ग के अलंकारों में मुख्य है—उपमा, कविता के उदय के साथ साथ ही उपमा का भी उदय हो गया था।

भारतीय वाङ्मय के निधान वेदों में या वेद मन्त्रों में उपमा अपनी भव्यता, सुन्दरता तथा रमणीयता से पाठकों के मन को मुग्ध करती है।

कविता का तो प्राण ही उपमा है।

अप्पय्यदीक्षित ने उपमा की तुलना एक नटी (शैलूषी) के साथ की है। रंगमञ्च के ऊपर नटी नाना वेशभूषा से सज्जित होकर नाना रूपों में आती है, कभी वह शकुन्तला के रूप में अवतीर्ण होती है तो कभी किसी अन्यरूप में उपस्थित होती है। उसके बाहरी रूप अनेक हैं, परन्तु आवरण को हटाकर देखा जाए तो एक ही रूप उसका सर्वत्र दिखाई देगा। ठीक यही दशा उपमा की भी है, वह काव्य के रंगमञ्च पर कभी रूपक कभी दीपक, कभी दृष्टान्त के रूप में आकर पाठकों का मनोरञ्जन करती है।

उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिका भेदान्।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेत ॥ (चित्र मी०)

सादृश्य की कल्पना का विवर्त अन्यान्य अलंकारों का आभास है। जैसा कि चित्रमीमांसाकार अप्पय्यदीक्षित का कहना है—

चन्द्र इव मुखमिति सादृश्यवर्णनं तावदुपमा ।
संवोक्तिभङ्गीभेदेनानेकालंकारभाव भजते ॥

तथाहि—चन्द्रइव मुख मुखमिव चन्द्र. इत्युपमेयोपमा मुख मुखमिव इत्यन्वय । मुखमिव चन्द्र इति प्रतीपम् । मुखचन्द्रेण ताप शाम्यति, इति परिणाम । किमिद मुखमुताहो चन्द्र इति सन्देह , चन्द्र इति चकोराहनन्मुखमनुधावन्ति, चन्द्रोऽयं न मुखम् इत्यपह्नुय, नून चन्द्र. इत्युत्प्रेक्षा चन्द्रोऽयम्, इत्यतिशयोक्ति , इत्यादि उक्तानेकालकारविवर्तवतीयमुपमा ।

तदिव चित्र विश्व ब्रह्मज्ञानाविवोपमाज्ञानात् ।
ज्ञात भवतीत्यावौ निरूप्यते निखिलभेदसहिता सा ॥

इस प्रकार सभी अलकार विवर्तों की अधिष्ठानभूता यह उपमा है । जिस प्रकार ब्रह्मज्ञान से विश्व ज्ञात हो जाता है, ज्ञातव्य और कुछ भी अवशिष्ट नहीं रह जाता है,इसी प्रकार एक उपमा के ज्ञान मे सारा अलकार वर्ग ज्ञात हो जाता है ।

आचार्य मम्मट के अनुसार उपमा अलकार का लक्षण इस प्रकार है—

"साधर्म्यमुपमा भेदे"

भेदे (उपमानोपमेययो) भेदे सति साधर्म्यम् उपमा । समान , एक, तुल्यो वा धर्मो गुणक्रियारूपो ययो ॥

अर्थात्—उपमानोपमेययो, तौ सधर्माणौ तयोर्भाव साधर्म्यम् । उपमानोपमेययो समानधर्मेण सह सम्बन्ध , उपमा इति सूत्रार्थ ।

उदाहरणम्—चन्द्रइव मनोज्ञ मुखम् ।

अर्थात्—उपमा अलकार मे (१) उपमान (२) उपमेय (३) साधारण धर्म (४) उपमा वाचक शब्द इन चार पदार्थों का उपयोग होता है, वो उक्त पदार्थों मे प्राय अधिक गुणवाला पदार्थ उपमान होता है, और न्यून गुणवाला पदार्थ उपमेय होता है । "मुख" चन्द्रमा के समान सुन्दर है । यहाँ अधिक गुणवत्तया सम्भावित चन्द्रमा उपमान है, और न्यून गुणवत्तया सम्भावित मुख उपमेय है ।

सौन्दर्य या मनोज्ञत्व उन दोनो में रहने वाला साधारण धर्म है और यथा इव इत्यादि शब्द उपमा के वाचक शब्द होते हैं । इस प्रकार उपमान और उपमेय के समान धर्म के सम्बन्ध का वर्णन ही उपमा अलकार कहलाता है ।

परन्तु उपमा अलकार मे उपमान तथा उपमेय मे भेद होना आवश्यक है । अन्यथा "राम रावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव" इत्यादि अनन्वयालकार मे भी

सादृश्य का वर्णन होने से लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। इसलिए उपमा के लक्षण में भेद पद देना आवश्यक है अनन्वय मे उपमान और उपमेय भिन्न नही रहते है। अत "भेदे सति उपमानोपमेययो साधर्म्यमुपमा", ऐसा लक्षण करने से अनन्वयालकार मे लक्षण की व्याप्ति नही होती है।

यह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोपमा के भेद से दो प्रकार की होती है।

उपमान, उपमेय, साधारण, और उपमावाचक इवादि पद, इन चारो का ग्रहण होने पर पूर्णा उपमा होती है, और इन चारो म मे एक या दो या तीन का लोप होने पर लुप्तोपमा कहलाती है।

पूर्णोपमा के छ भेद—

पूर्णोपमा—प्रथम श्रौती और आर्थी के भेद से दो प्रकार की होती है। यह दोनो श्रौती तथा आर्थी उपमा वाक्यगत, समासगत तथा तद्धितगत होने से छः प्रकार की होती है—

श्रौती उपमा—जहाँ उपमान के बाद उपमा वाचक—यथा, इव वा इत्यादि शब्द आयें, वहाँ श्रौती उपमा होती है। यद्यपि ये उपमा वाचक शब्द यथा इव वा, उपमान क विशेषण बनकर आते हैं, परन्तु (शब्द शक्ति की महिमा से) सुनते ही श्रवणमात्र से साधारण धर्म के सम्बन्ध रूप सादृश्य का भी बोध करा देते हैं। श्रवणमात्र से सम्बन्ध का बोध करा देने से "श्रौती उपमा" कहते हैं "तत्र तस्येव" इस सूत्र से इवार्थ मे विहित वति प्रत्यय म तद्धितगा श्रौती उपमा होती है।

आर्थी उपमा—जहाँ तुल्य, सदृश, सकाश आदि उपमावाचक शब्द कभी उपमान के साथ कभी उपमेय के साथ या कभी दोनो के साथ अन्वित होते हैं, वहाँ आर्थी उपमा होती है ये उपमा वाचक तुल्य, सदृश, निभ, इत्यादि शब्द यद्यपि साक्षात सादृश्य के वाचक होते है न कि साधारण धर्म रूप सम्बन्ध विशेष साम्य या साधर्म्य के पर अर्थ के पर्यालोचन के बाद उक्त सम्बन्ध की भी प्रतीति कराते हैं, इसलिए इनके प्रयोग मे आर्थी उपमा होती है, और "तेन तुल्यंक्रियाचेद्वति" इस सूत्र से विहित वति प्रत्यय होने पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है।

यह उभयविध पूर्णोपमा—वाक्यगत, तद्धितगत तथा समासगत होने से छ प्रकार की होती है।

श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

स्वप्नेऽपि समरेषु विजयश्रीस्त्वां न मुञ्चति ॥
प्रभावप्रभव कान्त स्वाधीनपतिका यथा ॥१॥

यहाँ स्वाधीनपतिका उपमान है, विजयश्री उपमेय है, न मुञ्चति (अपरित्याग) साधारण धर्म है, यथा—

यह उपमा प्रतिपादक शब्द है। असमस्त यह वाक्य यथा शब्द द्वारा उपमा का प्रतिपादन होने से यह वाक्यगा श्रौती उपमा है।

आर्थी वाक्यगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

चकितहरिणलोललोचनाया क्रुधि तरुणारुणतारहारिकान्ति।
सरसिजमिदमानन च तस्या सममिति चेतसि सम्मदं विधत्ते॥

यहाँ सरसिज उपमान है आनन उपमेय है, अरुणसदृश कान्तिमत्त्व साधारण धर्म है। सम शब्द उपमा प्रतिपादक है। यहाँ "सरसिजमानन च समम्" इस पर सर्व प्रथम 'सादृश्यवदभिन्नमिद द्वय, यह बोध होता है, पश्चात् अर्थ पर्यालोचन से या अख्लना के परस्पर निरूपित साधारण धर्म सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अत यह वाक्यगा आर्थी पूर्णोपमा है।

श्रौती समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरद सदा यो लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवन बभार॥

श्रीकृष्ण जिस प्रकार (विष्णुरूप में अपनी) चार भुजाओं से ससार को धारण करते हैं, उसी प्रकार यह राजा भी (साम दान दण्ड भेद रूप) चार उपायों से सदा ससार का पालन करता था। यहाँ भुजैं उपमान है, और उपायैः उपमेय है।

आयतत्वादि साधारण धर्म तथा इव उपमा प्रतिपादक शब्द है। "इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च" इस वार्तिक से भुजैं इस उपमान वाचक पद के साथ 'इव' इस उपमा वाचक पद का नित्य समास होने से यह समासगा श्रौती पूर्णोपमा का उदाहरण है।

आर्थी समासगा पूर्णोपमा का उदाहरण—

अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृश स भवानभिलषणीय क्षितीश्वर न कस्य॥

अव्यर्थ मनोरथ मार्गों के विस्तार में प्रकृष्ट गुण गरिमा के कारण जिसकी समृद्धि प्रसिद्ध है, इसलिए कल्पवृक्ष के समान है।

हे राजन्? आप किसकी अभिलाषा के विषय नहीं हैं? इसमें सुरतरु उपमान, क्षितीश्वर उपमेय, प्रगुणगरिमगीतश्रीत्व साधारण धर्म है, सदृश

उपमावाचक शब्द है। सुरतरुसदृश मे उपमान तथा उपमावाचक पदों का समास होने से यह समासगा आर्थी पूर्णोपमा है।

तद्धितगा श्रौती तथा आर्थी पूर्णोपमा का उदाहरण—

गाम्भीर्यगरिमा तस्य सत्यं गङ्गाभुजङ्गवत्।
दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्॥१॥

उस राजा के गाम्भीर्य की गरिमा सचमुच समुद्र के समान है। युद्ध भूमि में ग्रीष्मकाल के सूर्य के समान वह बड़ी कठिनाई से देखा जा सकता है।

यहाँ पूर्वार्ध मे गङ्गाभुजङ्ग अर्थात् समुद्र उपमान है, तस्य उपमेय है, गाम्भीर्य गरिमा साधारण धर्म है, "गङ्गाभुजङ्गस्य इव इति गङ्गाभुजङ्गवत्" इस विग्रह से "तत्र तस्यैव" इस सूत्र द्वारा इवार्थ में वति प्रत्यय है। अतः यहाँ तद्धितगा श्रौति पूर्णोपमा है।

उत्तरार्ध मे निदाघाम्बर रत्न उपमान है, स उपमेय है, दुरालोकत्व साधारण धर्म है तथा "निदाघाम्बर रत्नवत्" में निदाघाम्बर रत्नेन तुल्य इति निदाघाम्बर रत्नवत्" इस विग्रह मे "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्र द्वारा तुल्यार्थ मे वति प्रत्यय होने से तद्धितगा आर्थी पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा—

पूर्णोपमा मे उपमान, उपमेय, साधारण धर्म तथा उपमावाचक शब्द ये चारो शब्दतः उपात्त होते हैं, इस प्रकार उपमा की सारी सामग्री शब्दतः उपस्थित होने के कारण ही इसको पूर्णोपमा कहते हैं।

लुप्तोपमा मे यह सारी सामग्री शब्दतः उपात्त नहीं होती है, उपमान आदि चारो में से किसी न किसी का लोप अवश्य रहता है, इसलिए इसे लुप्तोपमा कहा जाता है। काव्यप्रकाश मे लुप्तोपमा के १९ भेद दिखलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—

विभाजक हेतु	नाम	उदाहरण
धर्म लुप्ता	१ समासगता-श्रौती	वाच सुधा इव।
साधारण धर्म के लोप	२. वाक्यगता- ,,	मुखमिन्दुर्यथा।
होने पर	३ तद्धितगता-आर्थी	मनोरमवत्।
५	४. समासगता- ,,	ओष्ठस्ते बिम्बतुल्य।
	५. वाक्यगता- ,,	पल्लवेन समः पाणि.।

वाचकलुप्ता ६	१. समासगा	कामिनी गण्डपाण्डुना ।
	२. कर्मण क्यचि	सुतमिवाचरति सुतीयति।
	३ आधारात् क्यचि	अन्त पुरे इवाचरति अन्त.पुरीयति ।
	४. क्यङि् कर्त्तरि	नारी इव आचरति नारीयते ।
	५. कर्मणि णमुलि	निदाघधर्मांशुदर्श पश्यति
	६ कर्तरि णमुलि	पार्थ सञ्चार सञ्चरति ।
उपमान लुप्ता २	१. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृश रम्य नास्ते ।
	२. समासगता	न वा नयनतुल्य रम्य-मास्ते ।
साधारण धर्म व वाचक के लोप मे २	१ क्वप्प्रत्ययगा	विधवति मुखाब्जमस्या. ।
	२. समासगता	मुखाब्जमस्या ।
धर्म व उपमान के लोप मे २	१ समासगता	लोकेन वा नयनतुल्य-मास्ते ।
	२. वाक्यगा	तस्या मुखेन सदृश नास्ते ।
वाचक तथा उपमेय के लोप मे १	१. कर्मण. क्यचि	सहस्रायुधीयति ।
उपमान वाचक शब्द व सामान्य धर्म तीनों के लोप होने पर १	१. समासगता	राजते मृगलोचना ।

इस प्रकार लुप्तोपमा के १६ भेद होते हैं,

अनन्वयालङ्कार—

एक ही वाक्य मे एक ही के उपमान तथा उपमेय होने पर अनन्वय नामक अलङ्कार होता है।

उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।

अनन्वय ...... ।

उदाहरणम्—

राम रावणयोर्युद्ध राम रावणयोरिव ।

उपमेयोपमा—

विपर्यास उपमेयोपमा तयो ॥

उन दोनो (अर्थात् उपमान और उपमेय) का परिवर्तन हो जाना (उपमान का उपमेय, और उपमेय का उपमान रूप मे वर्णन) उपमेयोपमा नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

"कमलेव मतिर्मतिरिव कमला"

यहाँ प्रथम कमला उपमान मति उपमेय है, द्वितीय बार मति उपमान् और कमला उपमेय है।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।

प्रकृत-वर्ण्य उपमेय की सम (उपमान) के साथ सम्भावना (अर्थात् उत्कट एक कोटिक सन्देह) उत्प्रेक्षा कहलाती है।

उदाहरण—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जन नभ ।
असत्पुरुष सेवेवदृष्टि विफलता गता ॥

इस पद्य मे तम अन्धकार का व्यापन आदि उपमेय को लेपनादि उपमान रूप से सम्भावना की गई है।

ससन्देह—

ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च सशय ।

उपमेय का उपमान के साथ समान कोटिक संशय होने पर सन्देह नामक अलकार होता है। यह एकत्र भेद कथन तथा अपरत्र भेद के अकथन मे दो प्रकार का होता है।

उदाहरण—

उपमान व उपमेय दोनों का भेद कथन—

अय मार्तण्ड. किं ? स खलु तुरगैं सप्तभिरित।

यह (राजा) सूर्य है क्या ? (यह सशय हुआ,) परन्तु सूर्य तो सात घोडो से युक्त होता है, (यह भेद कथन है)।

भेद की अयुक्ति अकथन—

अस्या सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रद।

इस (नायिका) के निर्माण मे क्या कान्ति को देने वाला चन्द्रमा ही प्रजापति बना था, अर्थात् क्या स्वय चन्द्रमा ने अपनी कान्ति से इसका निर्माण किया है।

इस पद्य मे उर्वशी के निर्माण मे प्रकृत प्रजापतिरूप उपमेय मे चन्द्र मदन वसन्तादि नाना कोटिक अप्रकृत उपमानो का सन्देह है, अत यह सन्देहालङ्कार है।

रूपकालङ्कार—

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो ।

उपमान और उपमेय (जिनका भेद प्रसिद्ध है, उनका सादृश्यातिशय) का जो अभेद वर्णन है वह रूपक नामक अलङ्कार है।

उदाहरण—

"विद्वन्मानसहस"

हे राजन् आप विद्वानो के मनरूपी मानसरोवर के हस हैं। यहाँ मन में मानसरोवर का तथा राजा मे हस का आरोप किया गया गया है। रूपक के भेद इस प्रकार हैं—

- रूपक
  - साङ्ग
    - समस्त व०वि०
    - एक दे०वि०
  - निरङ्ग
    - शुद्ध
    - मालारूप
  - परम्परित
    - श्लिष्ट
      - शुद्ध
      - मालारूप
    - अश्लिष्ट
      - शुद्ध
      - मालारूप

कहाँ तो सूर्य से उत्पन्न वंश (रघुवंश) और कहाँ क्षुद्रविषयो मे सचरणशील मेरी बुद्धि, इन दोनो मे महान् अन्तर है, अर्थात् इतने बडे सूर्य वंश का वर्णन मेरी क्षुद्र मति के द्वारा असम्भव है। तथापि मेरा यह सूर्य वंश के वर्णन का साहस, अज्ञानवश छोटी सी नौका से दुस्तर समुद्र को पार करने की तरह है।

इस पद्य मे पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के वाक्यो का उपमानोपमेयभाव पर्यवसित होता है, इसलिए यह वाक्यार्थ निदर्शना है, यहाँ निदर्शना का आकार इस प्रकार है—"मेरी बुद्धि के द्वारा सूर्य वंश का वर्णन, छोटी सी नौका से सागर पार करने के समान है," वाक्यार्थ इस उपमा मे पर्यवसित होता है।

अप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया।

अप्राकरणिकस्याभिधानेन प्राकरणिकस्याक्षेपोऽप्रस्तुतप्रशंसा—

अप्राकरणिक अर्थ के कथन से जो प्राकरणिक अर्थ का आक्षेप है वही अप्रस्तुतप्रशंसा है।

कहीं-कहीं वाच्यार्थ पर प्रतीयमान अर्थ के अध्यारोप से भी अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलंकार होता है।

उदाहरण—

कस्त्वं भो! कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकम्।
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं, कस्मादिदं कथ्यते॥
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते।
नच्छायापि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे॥

अरे तू कौन है? बतलाता हूँ कि मुझको अभागा शाखोटक (श्मशान की अग्नि से जले हुए पत्ते आदि से रहित सिंहोरा का वृक्ष) समझो।

कुछ वैराग्य से यह बात कह रहे हो, (ऐसा प्रतीत होता है) आपने ठीक समझा।

प्रश्न—ऐसा क्यो कह रहे हो?

उत्तर—यह बायी ओर बड का पेड है, पथिक लोग उसका ही सब तरह से आश्रय लेते हैं, और मैं मार्ग मे खड़ा हुआ हूँ, फिर भी मेरे पास परोपकार करने के लिए (फल आदि तो दूर रहे) छाया भी नही है, इसलिए मैं अपने को अभागा कहकर अपना परिचय दे रहा हूँ।

यहाँ इस अप्रस्तुत वाच्य से किसी ऐसे प्रस्तुत व्यक्ति की प्रतीति हो रही है, जो किसी न किसी प्रकार से दूसरों की सहायता करने के लिए उत्सुक है, परन्तु या तो वह धनादि से हीन हो गया है अथवा नीच जाति का है, जिसकी सेवा लोग पसन्द नहीं करते, इसलिए वह न सहायता कर पाता है, और न लोग उसकी सहायता ही स्वीकार करते हैं, इसलिए वह दुःखी है।

यहाँ शाखोटक वृक्ष के साथ वार्तालाप सम्भव नहीं है, इसलिए उस वाच्यार्थ के ऊपर प्रतीयमान नीच जाति अथवा धनहीन दाता आदि प्रतीयमान अर्थ का आरोप करके ही अर्थ की सङ्गति होती है। इसलिए यह अध्यारोप-मूलक अप्रस्तुतप्रशंसा है।

अतिशयोक्ति —

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा।

प्रकृत (उपमेय) का (परेण) उपमान के द्वारा निगरण करके जो (आहार्य अभेद निश्चय कल्पित) अभेद कथन रूप अध्यवसान है वह प्रथम अतिशयोक्ति है।

प्रस्तुत अर्थ का अन्यरूप से वर्णन द्वितीय अतिशयोक्ति है। यदि के समानार्थक शब्द द्वारा कल्पना करना तृतीय प्रकार की अतिशयोक्ति है और कार्यकारण का जो पौर्वापर्य विपर्यय है वह चतुर्थ प्रकार की अतिशयोक्ति है।

उदाहरण—

कमलमनम्भसि कमले च कुवलये तानि कनकलतिकायाम्।
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम्॥

किसी सुन्दरी को देखकर किसी का कथन है—

बिना जल के कमल (नायिका का मुख) कमल में दो नील कमल (नेत्र) और वे सोने की लता में लगे हुए हैं और वह सोने की लता (नायिका का शरीर) सुकुमार तथा सुन्दर है यह कैसी अनर्थ परम्परा है।

यहाँ उपमान रूप कमल आदि के द्वारा उपमेयभूत मुख, नयन, शरीर का निगरण करके, कमल आदि से अभेद निश्चय (अध्यवसान) किया गया है, इसलिए यह प्रथम अतिशयोक्ति या अतिशयोक्ति सामान्य का उदाहरण है।

प्रतिवस्तूपमा—

प्रतिवस्तूपमा तु सा।
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः।

जहाँ एक ही साधारण धर्म को दो वाक्यों में दो बार (भिन्न-भिन्न शब्दों) (से कहा जाय वह प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

देवीभावगमिता परिवारपदं कथं भजत्वेषा।
न खलु परिभोगयोग्यं दैवतरूपाङ्कितं रत्नम् ॥

इस पद्य में उत्तरार्ध का वाक्यार्थ उपमानरूप है तथा पूर्वार्ध का वाक्यार्थ उपमेयरूप है। इसलिए वस्तु अर्थात् वाक्यार्थ के उपमान उपमेय होने से, उनके एक ही अनौचित्य रूप धर्म को पूर्वार्ध में "कथं भजतु" पदों से तथा उत्तरार्ध में "न खलु परिभोगयोग्यम्" इन पदों से कहा गया है। अत यह प्रतिवस्तूपमा अलकार है।

दृष्टान्त—

दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥

इन उपमान उपमेय और उनके विशेषण व साधारण धर्म आदि का भिन्न होते हुए भी औपम्य प्रतिपादनार्थ उपमानवाक्य तथा उपमेयवाक्य में पृथक् उपादानरूप (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) होने से दृष्टान्तालङ्कार होता है।

उदाहरण—

त्वयि दृष्ट एव तस्या निर्वाति मनो मनोभवज्वलितम्।
आलोके हि हिमांशोर्विकसति कुसुमं कुमुद्वत्याः ॥

यहाँ नायक तथा चन्द्रमा का नायिका तथा कुमुदिनी का और मन तथा कुसुम का मनोभव सन्तप्त तथा सूर्यसन्तप्त का निर्वाण तथा विकास का बिम्बप्रतिबिम्बभाव होने से दृष्टान्तालकार है।

दीपकालङ्कार—

सकृद् वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥

प्रकृत उपमेय प्राकरणिक तथा अप्रकृत उपमान अप्राकरणिक के क्रियादि रूप धर्मों का एक ही बार ग्रहण किया जाय, या बहुत सी क्रियाओं में एक ही कारक का ग्रहण किया जाय तो दीपकालङ्कार होता है।

उदाहरण—

कृपणानां धनं नागानां फणमणिः केसराः सिंहानाम्।
कुलबालिकानां स्तनाः कुतः स्पृश्यन्तेऽमृतानाम् ॥

कृपणों के धन, सर्पों के फण की मणि, सिंहों के केसर और कुलीन बालिकाओं के स्तनों को उनके जीते जी कैसे छुआ जा सकता है।

यहाँ "स्पृश्यन्ते" यह एक क्रियापद है, इसी के साथ धन, फणमणि, केशर और स्तन आदि अनेक कारकों का सम्बन्ध होने से यह क्रिया दीपक का उदाहरण है।

तुल्ययोगिता—

नियतानां सकृद् धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।

नियत (केवल) प्रकृत या अप्रकृत का एक धर्म के साथ सम्बन्ध होने पर तुल्ययोगिता नामक अलंकार होता है ।

उदाहरण—

पाण्डु क्षाम वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि ! हृदन्तः ॥

हे सखि ! तेरा पीला पड़ जाना, सूखा चेहरा, स्नेह से भरा हुआ हृदय और अलसाया हुआ शरीर तेरे हृदय के असाध्य रोग को सूचित करता है ।

यहाँ विरह के अनुभावरूप में मुख की पाण्डुता तथा क्षामता, हृदय की सरसता तथा शरीर की अलसता आदि ये सभी वर्ण्य या प्रकृत अर्थ हैं । उनके साथ आवेदयति, रूप एक क्रिया का सम्बन्ध है, इसलिए यह तुल्ययोगिता अलंकार है ।

व्यतिरेक—

उपमानाद् यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।

उपमान से अन्य उपमेय का जो आधिक्य (का वर्णन) वह ही व्यतिरेक अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—

जन्मसिन्धु पुनि बन्धु विष, दिन मलीन सकलंक ।
सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरो रंक ॥

क्षीरसागर में समुत्पन्न, कुमुदबन्धु, दिन में मलीन रहने वाला सकलङ्क बेचारा चाँद, क्या सीता जी के मुख की तुलना कर सकता है ?

यहाँ उपमान चन्द्र से सीता जी के मुख का आधिक्य वर्णन होने से व्यतिरेकालङ्कार है ।

अर्थान्तरन्यास—

सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न (अर्थात् सामान्य का विशेष के द्वारा या विशेष का सामान्य) के द्वारा जो समर्थन किया जाता है वह अर्थान्तरन्यास अलंकार, साधर्म्य तथा वैधर्म्य से होता है ।

उदाहरण—

निजदोषावृतमनसामतिसुन्दरमेव भाति विपरीतम् ।
पश्यति पित्तोपहतः शशिशुभ्रं शङ्खमपि पीतम् ॥

अपने ही दोष से जिनका मन व्याप्त हो रहा है, उसको अत्यन्त सुन्दर वस्तु भी (विपरीत) बुरी जान पड़ती है, पित्त से पीडित (पाण्डु या कामला रोग से ग्रस्त पुरुष) को चन्द्रमा के समान शुभ्र शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है यहा अपने मन में दोष होने पर अच्छी बात भी बुरी मालूम होती है—इस सामान्य सिद्धान्त का समर्थन "पीलिया के रोगी को शङ्ख भी पीला दिखलाई देता है" इस विशेष उदाहरण के द्वारा किया गया है, यह साधर्म्य द्वारा विशेष से सामान्य के समर्थन का उदाहरण है।

वैधर्म्य द्वारा विशेष का समर्थन—

अहो हि मे बह्वपराद्धमायुषा यदप्रियं वाच्यमिदं मयेदृशम् ।
त एव धन्याः सुहृदः पराभवं जगत्यदृष्ट्वैव हि ये क्षयं गताः ॥

अरे मेरी लम्बी आयु ने यह बड़ा अपराध किया है कि जिससे मुझे इस प्रकार का (सुहृद विनाश का) अप्रिय समाचार कहना पड़ रहा है, वे ही वास्तव में धन्य हैं जो ससार में सुहृदय के पराभव को देखे बिना ही मृत्यु को प्राप्त हो जाते है।

यहाँ सामान्य से विशेष का वैधर्म्य से समर्थन किया गया है।

विरोधमूलक अलङ्कार

विरोध या विरोधाभास—

विरोध सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वच ।

वास्तव मे विरोध न होने पर भी, जो दो विरुद्धों का कथन करना है, वह विरोध या विरोधाभास नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण—

इय विशालाऽपि च भूरिशाला विराजते संस्कृतपाठशाला ।

यहाँ 'विगता. शाला यस्या सा' इत्यादि विग्रह से जहा शाला ही नही, वहा भूरि बहुत शालायें भवन कैसे होगे, इस आपातत प्रतीयमान विरोध का परिहार विशाला बहुत बडी इस अर्थ से हो जाता है।

अथवा

"वा मुख की मधुराई कहा कहो, मीठी लगं अखियान लुनाई",

यहा आखो की लुनाई (नमकीनपना) को मीठा बताया है, विरोध स्पष्ट है, परन्तु यहा लुनाई का दूसरा अर्थ है लावण्य—सुन्दरता, इससे इसका परिहार हो जाता है।

विभावना—

क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ।

क्रियतेऽनयेति क्रिया इस व्युत्पत्ति के अनुसार यहा क्रिया शब्द का अर्थ हेतु या कारण है।

हेतु रूप क्रिया का निषेध होने पर भी फल (कार्य) की उत्पत्ति विभावना नामक अलंकार है।

उदाहरण—

कुसुमितलताभिरहताऽप्यधत्त रुजमलिकुलैरदष्टाऽपि ।
परिवर्त्तते स्म नलिनी लहरीभिरलोलिताऽप्यघूर्णत सा ॥

खिली हुई लताओं से ताडित न होने पर भी (वह नायिका) पीडा को प्राप्त हो रही थी, भ्रमरकुल से न काटे जाने पर भी तड़प रही थी, और कमलिनियों से युक्त लहरों के चक्कर में पड़े बिना भी वह चक्कर खा रही है।

यहां लताओं का ताडनादि पीडादि में हेतु हो सकता है, परन्तु उन कारणों के निषेध करने पर भी कार्य का प्रकाशन किया गया है, इसलिए यह विभावना नामक अलङ्कार है।

विशेषोक्ति—

विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।

सम्पूर्ण कारणों के होने पर भी फल का (कार्य का) न कहना विशेषोक्ति अलंकार होता है।

उदाहरण—

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥

जो (कामदेव) कपूर के समान भस्म हो जाने पर भी जन जन में शक्तिमान हो गया है, उस अप्रत्याहत पराक्रम वाले कामदेव को नमस्कार है।

यहां भस्म हो जाना शक्ति के क्षय में कारण है, परन्तु इस कारण के रहते हुए भी शक्तिक्षय रूप कार्य का अभाव होने से यह विशेषोक्ति अलंकार है।

असङ्गति—

भिन्नदेशतयात्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद्धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥

जहां कार्यकारण वस्तुभूत दो धर्मों की किसी विशेषता के कारण भिन्न देश में एक साथ प्रतीति होती है उन दोनों की स्वभाव जन्य परस्पर सङ्गति के त्याग देने में असङ्गति अलंकार होता है।

उदाहरण—

यस्यैव व्रणस्तस्यैव वेदना भवति तज्जनोऽलीकम्।
दन्तक्षतं कपोले वध्वा वेदना सपत्नीनाम्।

जिसके घाव होता है उसी को वेदना होती है, (यह बात जो लोग कहते हैं) यह सब झूठ है। क्योकि पति के द्वारा दन्तक्षत वधू के गाल मे है, और सपत्नियो के हृदय मे वेदना होती है।

यहा कारणभूत दन्तक्षत तथा कार्यभूत वेदना भिन्नाधिकरण मे होने से असङ्गति है, क्योकि कार्यकारण का एकाधिकरण्य ही प्रसिद्ध है, इसी भिन्नाधिकरणरूप असगति मे ही चमत्कार भी है अत यह असङ्गति अलकार है।

विषमालकार—

क्वचित् यदति वैधर्म्यान् न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुं क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद्भवेत् ॥
गुणक्रियाभ्या कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एव विषमो मत ॥

कही सम्बन्धियो के अत्यन्त वैधर्म्य के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध न बनना प्रतीत हो, वह एक प्रकार का विषमालकार होता है।

उदाहरण—

शिरीषादपि मृद्वङ्गी केयमायतलोचना।
अय क्व च कुकूलाग्नि कर्कशो मदनानल ॥

शिरीष के फूल से भी अधिक कोमल अङ्गो वाली कहा यह दीर्घलोचना, और कहा तुषाग्नि के समान असह्य यह कामाग्नि।

यहा मदनानल व नायिका दोनो के अत्यन्त विलक्षण होने से उनका सम्बन्ध अनुपपन्न सा प्रतीत होता है, इसलिए यह विषमालकार है।

शृङ्खलाबन्ध मूलक अलकार

मालादीपक—

मालादीपकमाद्य चेद् यथोत्तरगुणावहम् ॥

पूर्व पूर्व की वस्तु द्वारा यदि उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार (गुणाधान) किया जाए तो वह मालादीपक अलकार होता है,

उदाहरण—

सग्रामाङ्गणमागतेन भवता चापे समारोपिते ।
देवाकर्णय येन येन सहसा यद्यत् समासादितम् ।
कोदण्डेन शरा शरैररिशिरस्तेनापि भूमण्डलम्,
तेन त्व भवता च कीर्तिरतुला कीर्त्या च लोकत्रयम् ॥

हे राजन् ? सग्राम भूमि मे आये हुए आपके धनुष की प्रत्यञ्चा को चढाने पर, जिस जिस ने जो सहसा प्राप्त किया सो सुनो, (सबसे प्रथम) आपके

धनुष ने बाण को प्राप्त किया, बाणो ने शत्रुओ के शिर को प्राप्त किया, और शत्रु के शिर ने भूमण्डल पृथ्वी प्राप्त की, पृथ्वी ने आपको प्राप्त किया आपने अतुल कीर्ति प्राप्त की और कीर्ति ने तीनो लोको को प्राप्त किया।

यहां पूर्व पूर्व वस्तु द्वारा उत्तरोत्तर वस्तु का उपकार होता है और एक ही आसादन क्रिया का सर्वत्र सम्बन्ध होने से मालादीपक है।

कारणमाला—

'यथोत्तर चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात् ॥

जहां अगले अगले अर्थ के प्रति पहिले पहिले अर्थ हेतु (रूप मे वर्णित) हो तो वहां कारणमाला नामक अलकार होता है।

उदाहरण—

जितेन्द्रियत्व विनयस्य कारण गुणप्रकर्षो विनयादवाप्यते।
गुणप्रकर्षेण जनोऽनुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पद ॥

जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, और विनय से गुणो का प्रकर्ष प्राप्त होता है, गुणो के प्रकर्ष से लोगो का अनुराग होता है, ओर जनानुराग से सम्पत्ति की प्राप्ति होती है।

यहां उत्तर उत्तर के प्रति पूर्व पूर्व की हेतुता मानकर कारणमाला अलकार होता है, यद्यपि यहां अनेक कार्यो का वर्णन होने से कार्यमाला भी हो सकती है, परन्तु कारण के ऊपर ही कवि का विशेष सरम्भ होने के कारण इसे कारण माला अलकार कहते हैं।

एकावली—

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं पर परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा॥

जहां पूर्व पूर्व वस्तु के प्रति उत्तरोत्तर वस्तु विशेषण रूप रखी जाए, अथवा हटायी जाय वह दो प्रकार का एकावली नामक अलकार होता है।

उदाहरण—

पुराणि यस्या सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्य।
रूप समुन्मीलितसद्विलासम् अस्त्र विलासा कुसुमायुधस्य॥

जिस (उज्जयिनी नगरी) मे घर वराङ्गनाओ से युक्त हैं, और वराङ्गनायें रूप से युक्त है, और रूप मे हाव भाव प्रकट हो रहे है, और वे विलास काम के अस्त्र का काम कर रहे है।

यहाँ पूर्व पूर्व के प्रति विशेषण रूप मे उत्तर उत्तर के स्थापित किये जाने से पहिले प्रकार के एकावली का उदाहरण है।

सार—

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधि ।

जहाँ पराकाष्ठा पर्यन्त उत्तरोत्तर उत्कर्ष का वर्णन किया जाय वह सार नामक अलकार होता है।

उदाहरण—

मखमल ते कोमल महा, कदलि-गरभ को पात।
ताहू ते कोमल अधिक, राम निहारे गात ॥१॥

यहाँ मखमल, केला-गर्भ का पात, और राम के गात एक दूसरे मे (उत्तरोत्तर) कोमलता मे बढकर बतलाये गये हैं।

इसलिए यहाँ सार नामक अलकार है।

तर्क न्याय मूलक अलकार

काव्यलिङ्ग—

काव्यलिङ्ग हेतोर्वाक्यपदार्थता।

हेतु का वाक्यार्थ अथवा पदार्थ रूप मे कथन करना काव्यलिङ्ग नामक अलकार होता है।

उदाहरण—

वपु प्रादुर्भावादनुमितमिद जन्मनि पुरा।
पुरारे न प्राय क्वचिदपि भवन्त प्रणतवान्।
नमन्मुक्त. सम्प्रत्यहमतनुरग्रेऽप्यनतिभाक्।
महेश ! क्षन्तव्य तदिदमपराधद्वयमपि॥

हे शिवजी महाराज ? इस शरीर के उत्पन्न होने से यह अनुमान होता है कि पूर्वजन्म मे मैंने आपको प्राय कभी नमस्कार नही किया, अब इस जन्म मे नमस्कार करता हुआ मैं मुक्त हो जाऊँगा, इसलिए शरीर न रहने से आगे भी आपको नमस्कार नही कर सकूँगा, सो मेरे इन दोनो अपराधो को क्षमा करना।

इस पद्य में "पुरा जन्मनि भवन्तं न प्रणतवान्" और "अग्रेऽप्यनतिभाक्" इन वाक्यो का अर्थ अपराधद्वय का हेतु है। यद्यपि अनमन स्वय अपराध है, इसलिए उसमें साधारणरूप हेतु हेतुमद्भाव नही है, परन्तु अनमन को हेतु और उससे उत्पन्न दुरित या अदृष्ट को हेतुमान कहा जा सकता है।

अनुमान—

अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः

जहाँ साध्य साधन का कथन (कुछ चमत्कार पूर्ण) हो वह अनुमानालंकार कहलाता है।

अनुमान में—पक्षधर्मत्व (पक्षसत्व) अन्वयित्व (सपक्षसत्व) तथा व्यतिरेकित्व (विपक्ष-व्यावृत्तत्व) रूप में तीन धर्मों से युक्त लिङ्ग हेतु, साधन कहलाता है। और धर्मी अर्थात्-पक्ष में व्यापक वह्नि आदि के अभाव का निषेध अयोग व्यवच्छेद—अर्थात्—अभाव का अभाव—अवश्य सत्ता ही उसका साध्यत्व है। (अयोग व्यवच्छेद का अर्थ यहाँ अन्यूनातिरिक्त विषयत्व भी है)।

उदाहरण—

> यत्रैता लहरीचलाचलदृशो, व्यापारयन्ति भ्रुवं।
> यत्तत्रैव पतन्ति सन्ततममी मर्मस्पृशो मार्गणाः॥
> तच्चक्रीकृतचापमञ्चितशरप्रेङ्खत्करः क्रोधनो।
> धावत्यग्रत एव शासनधरः सत्यं सदाऽऽसां स्मरः॥

जलतरङ्गों के समान अत्यन्त चञ्चल नेत्रों वाली ये (प्रसिद्ध तरुणियाँ) जहाँ जिस पर अपनी आँख चला देती हैं, वहीं ये (कामदेव) मर्मवेधी बाण जो निरन्तर गिरने लगते है, इससे विदित होता है कि धनुष को चढाये हुए और बाण के ऊपर ही हाथ रखे हुए, उनका आज्ञाकारी क्रोध युक्त कामदेव सचमुच सदा इनके आगे आगे ही दौड़ता रहता है।

यहाँ पूर्वार्ध में कहा हुआ अर्थ साधनरूप है, और उत्तरार्ध में कहा हुआ अर्थ साध्यरूप है, इसलिए यहाँ अनुमान अलंकार है, यत् और तत् शब्दों से उन दोनों धर्मों की व्याप्ति सूचित की जाती है।

कहीं कहीं पहले साध्य तथा बाद में साधन का भी कथन होता है, जैसे भर्तृहरि का निम्नाङ्कित पद्य इसका उदाहरण है—

> मधु तिष्ठति वाचि योषितां हृदि हालाहलमेव केवलम्।
> अतएव निपीयतेऽधरो हृदयं मुष्टिभिरेव ताड्यते॥

वाक्य न्याय मूलक अलंकार

समुच्चय—

> तत्सिद्धि हेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत्
> समुच्चयोऽसौ

उस (प्रकृत) कार्य की सिद्धि का एक हेतु विद्यमान रहने पर भी जहाँ अन्य हेतु भी उसका साधक हो जाय, वह समुच्चय अलंकार कहलाता है।

उदाहरण—

दुर्वारा स्मर मार्गणा प्रियतमो दूरे मनोऽत्युत्सुक;
गाढ प्रेम नव वयोऽतिकठिना॰ प्राणा कुल निर्मलम्।
स्त्रीत्व धैर्यविरोधि मन्मथसुहृत् काल कृतान्तोऽक्षमो,
नो सख्यश्चतुरा कथन्नु विरह सोढव्य इत्थ शठ ॥

कामदेव के बाणो से बचना ही कठिन है, उस पर भी पति दूर परदेश गये हुए हैं, मन अत्यन्त उत्सुक हो रहा है, प्रेम अत्यन्त प्रगाढ हो रहा है, नया यौवन है, प्राण बडे कठोर हैं, (निकलते नही), कुल निर्मल है, स्त्रीत्व धैर्य का विरोधी है, काम का परम मित्र वसन्त समय है, यमराज भी इस विषय मे कुछ नही कर सकते, सखिया भी चतुर नही हैं, ऐसी दशा मे इस दुष्ट विरह को कैसे सहन किया जाय।

यहाँ केवल कामबाण ही जब असह्य हैं, तब फिर ऊपर से प्रिय विरहादि का युगपत् समापतन का वर्णन समुच्चयालङ्कार है।

पर्याय—

एक क्रमेणानेकस्मिन् पर्याय ।

एक वस्तु क्रम से अनेक मे हो या की जाय तो वह पर्याय अलकार होता है।

उदाहरण—

नन्वाश्रय स्थितिरिय तव कालकूट ? केनोत्तरोत्तर विशिष्ट पदोपदिष्टा ।
प्रागर्णवस्य हृदये वृषलक्ष्मणोऽथ कण्ठेऽधुना वससि वाचि पुन खलानाम्।

हे कालकूट ! (विष) तुमको उत्तरोत्तर विशिष्ट पद वाले आश्रय मे रहने की स्थिति किसने बतलायी है, पहले तुम समुद्र के (हृदय) भीतर रहते थे, फिर शिवजी के कण्ठ मे आये, और अब दुष्टो की वाणी मे रहते हो।

यहाँ कालकूट के अनेक स्थानो पर रहने का वर्णन किया गया, इसलिए पर्याय अलकार का उदाहरण है।

परिसख्या—

किंचित् पृष्ठमपृष्ठ वा कथित यत् प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसख्या तु सा स्मृता॥

कोई पूछी गयी या बिना पूछी गई, कही गयी बात जो उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध मे पर्यवसित होती है, वह परिसख्या कहलाया है।

अन्य प्रमाण से ज्ञात वस्तु भी जब (अनुवादरूप मे) शब्द से प्रतिपादित होकर, (उस प्रतिपादन का) अन्य प्रयोजन न होने से अपने सदृश अन्य वस्तु के निषेध मे परिणत हो जाता है, वह परिसख्या अलकार होता है।

उदाहरण—

> किमासेव्यं पुंसां ? सविधमनवद्यं द्युसरितः ।
> किमेकान्ते ध्येयं ? चरणयुगलं कौस्तुभभृतः ॥
> किमाराध्यं ? पुण्यं, किमभिलषणीयं ? च करुणा ।
> यदासक्त्या चेतो निरवधि विमुक्त्यै प्रभवति ॥

मनुष्यों को किसका सेवन करना चाहिए ? (उत्तर) गङ्गा के उत्तम तट का। एकान्त में किसका ध्यान करना चाहिए ? (उत्तर) कौस्तुभ धारी भगवान् विष्णु के चरण युगल का। किसकी आराधना करनी चाहिए ? (उत्तर) पुण्य की। किसकी कामना करनी चाहिए ? (उत्तर) करुणा की। जिन गङ्गातटादि की सेवा से चित्त सदा के लिए मुक्ति की प्राप्ति कर सकता है।

यहाँ गङ्गातट विष्णु के चरणयुगल आदि का सेव्यत्व तो पुराणादि में प्रसिद्ध ही है, अतः उनके सेव्यत्व का प्रतिपादन करने में इस पद्य का प्रयोजन नहीं है, अपितु इन उक्त पदार्थों का अनुवाद कर, उनसे भिन्न मुक्ति के प्रतिकूल स्त्रीनितम्बादि हिमादि अन्य सांसारिक विषयों की सेव्यता के निषेध में ही इस पद्य का तात्पर्य है, इसलिए यह परिसंख्या का उदाहरण है।

यथासंख्य—

यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।

क्रम से कहे हुए पदार्थों का उसी क्रम से समन्वय होने पर यथासंख्य अलंकार होता है।

उदाहरण—

> एकस्त्रिधा वससि चेतसि चित्रमत्र।
> देवद्विषां च विदुषां च मृगीदृशां च ॥
> तापं च सम्मदरसं च रतिं च पुष्णन्।
> शौर्योष्मणा च विनयेन च लीलया च ॥

हे देव ! आप अकेले ही शत्रुओं, विद्वानों तथा मृगनयनाओं के मन में शौर्य की गरमी से सन्ताप को उत्पन्न करते हुए, (विद्वानों के मन में) विनय से आनन्द रस को बढ़ाते हुए, और सौन्दर्य से मृगनयनाओं के मन में रति को उत्पन्न करते हुए तीन रूपों में रहते हैं, यह आश्चर्य की बात है।

इस पद्य में द्वितीय चरण में कहे हुए क्रम से ताप सम्मदरस और रति के साथ तथा तृतीय चरण में कहे हुए शौर्योष्मणा, विनयेन और लीलया का उसी क्रम से अन्वय होता है, इसलिए यह यथासंख्य अलंकार का उदाहरण है।

लोक-न्याय-मूलक अलकार

सामान्य—

प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्य बध्यते योगात् तत्सामान्यमिति स्मृतम् ।।

प्रस्तुत वर्णनीय वस्तु के अन्य अप्रस्तुत के साथ सम्बन्ध से दोनो के गुणो की समानता प्रतिपादन करने की इच्छा से जो उन दोनो के एकात्म्य-अभेद का वर्णन है, वह सामान्य नामक अलकार कहलाता है ।

अर्थात्—सदृश गुणो के कारण प्रकृत का अप्रकृत के साथ जो तादात्म्य है, वह सामान्यालकार है, जैसा कि विश्वनाथ का कथन है—

सामान्य प्रकृतस्यान्यतादात्म्य सदृशैर्गुणैः ।।

उदाहरण—

मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिता ।
अविभाव्या सुख यान्ति चन्द्रिकास्वभि सारिका ।।

मल्लिका पुष्पो से केशपाश को सजाकर, सुन्दर चन्दन से चर्चित अभि-सारिकाये चादनी मे अलक्षित होती हुई सुखपूर्वक जाती है ।

यहा वर्णनीय नायिका के शुभ्रगुण और चादनी के एकाकार प्रतीत होने से सामान्य अलकार है ।

तद्गुण—

स्वमुत्सृज्य गुण योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुण ।।

जब न्यून गुणवाली प्रस्तुत वस्तु अति उत्कृष्ट गुणवाली अप्रस्तुत वस्तु के सम्बन्ध से अपने स्वरूप या गुण को छोडकर उस अप्रस्तुत वस्तु के रूप को प्राप्त हो जाती है, उसको तदगुण अलकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्या परित स्फुरन्त्या ।
रत्नै पुनर्यत्र रुचा रुच स्वामानिन्यिरे वशकरीरस्नोर्ले ।।

सूर्य के अश्वो का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गरुड के अग्रज अर्थात् सूर्य के सारथि अरुण की रक्त वर्ण के आधिक्य से भिन्न रग को प्राप्त किये हुए सूर्य के घोडे जहा वाम के अकुरो के समान हरिद्वर्ण मरकत मणियो की चारो ओर फैलनी हुई कान्ति से फिर अपनी कान्ति को प्राप्त कराये गये ।

यहा सूर्य के घोडो की अपेक्षा अरुण के वर्ण का उत्कर्ष है, उसकी भी अपेक्षा मरकत् मणियो के वर्ण की उत्कृष्टता है। अरुण के द्वारा घोडो का जो रग बदल गया था वह फिर रैवतक पर्वत के समीप आने पर मरकत मणियो के सम्पर्क से फिर घोडो का रग हरा हो गया। अत्युत्कृष्ट गुण का पुन. ग्रहण कर लेने से यह तद्गुणालकार है।

अतद्गुण—

तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुण ।

समीपस्थ वस्तु का योग होने पर भी इसके द्वारा उस प्रकार के गुण का अनुसरण न किये जाने पर अतद्गुण होता है। अर्थात समीपस्थ होने पर भी न्यून गुणवाला अप्रस्तुत उस प्रस्तुत गुण या वर्ण को ग्रहण नही करे तो अतद् गुण नाम का अलकार होता है।

उदाहरण—

धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर ! तथापि त्वया मम रञ्जित हृदयम्।
रागभरितेऽपि हृदये सुभग ! निहितो न रक्तोऽसि ॥

हे सुन्दर ! तुम यद्यपि धवल (गौरवर्ण के) हो फिर भी तुमने मेरे हृदय को रग दिया, और मैंने तुमको रागयुक्त हृदय म रक्खा, फिर भी हे सुभग ! तुम अनुरक्त नही हुए।

यहा अत्यन्त अनुरक्त हृदय म सयुक्त होने पर भी नायक अनुरक्त नही हुआ इसलिए अतद्गुण अलङ्कार है।

गूढार्थप्रतीति मूलक अलकार

स्वभावोक्ति—

स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादे स्वक्रियारूपवर्णनम।

बालक आदि की अपनी (स्वाभाविक) क्रिया अथवा रूप अर्थात् वर्ण एव अवयव सस्थान का वर्णन, स्वभावोक्ति अलकार है।

उदाहरण—

ग्रीवाभङ्गाभिराम मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टि ।

इत्यादि अभिज्ञान शाकु तल के इस पद्य मे भय से भागते हुए मृग के स्वभाव का सूक्ष्म वर्णन होने से यह स्वभावोक्ति अलकार का उदाहरण है।

भाविक—

प्रत्यक्षा इव यद्भावा क्रियन्ते भूतभाविन ।
तद् भाविकम्

अतीत और अनागत पदार्थ जब (भावनावश कवि के द्वारा) प्रत्यक्ष से कराये जाते हैं, भाविक नामक अलकार कहते हैं।

उदाहरण—

आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने ।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात् कुर्वे तवाकृतिम् ॥

प्रिये ! जिनमे अञ्जन लगा हुआ था इस प्रकार के तुम्हारे नेत्रो को देख रहा हूँ, और आगे होने वाले आभूषणो से अलकृत तुम्हारी (अनागत) आकृति को (भावनावश) साक्षात देख रहा हू ।

इस पद्य के पूर्वार्ध मे अतीत का और उत्तरार्ध मे अनागत का दर्शन है ।

व्याजोक्ति—

व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।

प्रकट हुए वस्तु के स्वरूप को किसी बहाने से छिपाने (के प्रयत्न या वर्णन) को व्याजोक्ति अलकार कहते हैं ।

उदाहरण—

शैलेन्द्र प्रतिपाद्यमानगिरिजा हस्तोपगूढोल्लसत्,
रोमाञ्चादि विसष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुल ।
हा शैत्य तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान सस्मित,
शैलान्त पुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद् व शिव ॥

(शिव पार्वती के विवाह मे कन्यादान के अवसर पर) हिमालय के द्वारा समर्पित की जाती हुई पार्वती के हाथ के स्पर्श से समुद्भूत रोमाञ्चादि के कारण, सारे क्रियाकलाप के गडबडा जाने से घबराये हुए, हाय हिमालय के हाथ बडे शीतल हैं, कहने वाले हिमालय के अन्त पुर की स्त्रियो के, मातृमण्डल (ब्राह्मी आदि) एव (नन्दी आदि) गणो के द्वारा मुस्कराते हुए देखे गये शिव तुम्हारी रक्षा करे ।

यहा पार्वती के हाथ के स्पर्श से उत्पन्न सात्विक भावरूप-रोमाञ्च, तथा कम्प प्रकट हो गये, परन्तु (हिमालय के हाथ स्पर्श से) शैत्य के कारण हुए हैं, इस प्रकार प्रकाशित करते हुए (उनकी सात्विकरूपता को) छिपाया गया है, इसलिए यह व्याजोक्ति अलकार है ।

सूक्ष्म—

कुतोऽपि लक्षित सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ।
धर्मेण केनचिद् यत्र तत्सूक्ष्म परिचक्षते ॥

दुर्ज्ञेय (सूक्ष्म) भी अर्थ किसी भी प्रकार से जान लिया गया है, यह बात (अथवा जाना हुआ सूक्ष्म अर्थ भी) जहा किसी (आकारादि) धर्म से दूसरे को बतलायी जाती है उसको सूक्ष्म अलकार कहते हैं ।

उदाहरण—

विनय प्रेम बस भई भवानी ।
खसी माल मूरति मुसकानी ।।

यहाँ विनय से भवानी जी सीताजी के मन का अभिप्राय समझ गई और मुसकाकर अपना तात्पर्य भी बता दिया। संकेत से संकेतित अर्थ का प्रकटीकरण होने से सूक्ष्म अलंकार है।

संसृष्टि—

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ।

इन (दो या अधिक) अलंकारों की यहाँ (काव्य या वाक्य में) भेद से (परस्पर निरपेक्ष रूप से) जो स्थिति है, वह संसृष्टि (नामक अलंकार) मानी जाती है।

शब्दालंकार की संसृष्टि—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसम्भ्रमसम्भृतशोभया ।
चलितया विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशाऽन्यया ॥

माघ काव्य के छठे सर्ग का ऋतु वर्णन के प्रसङ्ग का यह पद्य है—
अपने मुख की सुगन्धि के लोभ से (मुख के ऊपर) मँडराते हुए भ्रमर के आतङ्क से घबराकर, और भी अधिक शोभा को धारण करने वाली, भ्रमर भय से भागती हुई, केशपाश के गिरने से और भी अधिक चञ्चल नेत्रों वाली के भागने से सुन्दर मेखला का सुन्दर शब्द होने लगा।

यहाँ पूर्वार्द्ध में "भ्रमर" के तथा तृतीय चरण में लकार के अनेक बार प्रयोग होने से अनुप्रास अलंकार है।

चतुर्थ चरण में "लकला लकलो" की आवृत्ति होने से यमकालंकार है, ये दोनों शब्दालंकार एक श्लोक में परस्पर निरपेक्ष रूप से स्थित हैं। अतः यहाँ शब्दालंकारों की संसृष्टि है।

अर्थालङ्कारों की संसृष्टि—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥

अन्धकार अङ्गों का लेपन सा कर रहा है, और आकाश से अञ्जन बरस सा रहा है। असत् पुरुष की सेवा के समान दृष्टि विफल हो गयी है।

इस पद्य के पूर्वार्द्ध में तम अन्धकार के व्यापन में लेपन विषयक तथा वर्षण विषयक उत्प्रेक्षा की गई है।

उत्तरार्द्ध में "असत्पुरुष सेवेव" में उपमा अलंकार है। इन दोनों अर्थालङ्कारों की परस्पर निरपेक्ष स्थिति है।

काव्यप्रकाशग्रन्थे प्रतिपादितानां विषयाणाम् उल्लासानुसारिणी सूची

विषयभेदानुरोधात् ग्रन्थमध्ये कृतविभागानामगृहीतस्वरूपाणां

काव्यप्रकाशीयकारिकाणां स्वरूपम्

[प्रथम उल्लास]

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥
काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥
शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥
* (१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।
(२) इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥ ४ ॥
(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।
(४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

[द्वितीय उल्लास]

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।
(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः (७) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥
(८) सर्वेषां प्रायशोऽर्थानां व्यञ्जकत्वमपीष्यते ।
(९) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ॥ ७ ॥
(१०) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा ।
(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥ ८ ॥
(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया ॥ ९ ॥
(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थं स्वसमर्पणम् ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा ॥ १० ॥

(*) एतादृशचिह्नमध्यवर्तिनी संख्या विषयभेदसूचिकेति ज्ञेयम् ।

(१४) सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा ।
(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥ ११ ॥
(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा ।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ (१७) लक्षणा तेन षड्विधा ॥ १२ ॥
(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने ।
(१९) तच्च गूढमगूढं वा (२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥ १३ ॥
(२१) तद्भूर्लाक्षणिकः (२२)स्तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।
(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥ १४ ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ।
(२४) नाभिधा समयाभावात् (२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥ १५ ॥
(२६) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥ १६ ॥
(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षतिकारिणी ।
(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥ १७ ॥
(२९) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।
(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवं (३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥
(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते ।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम् ॥ १९ ॥
(३३) तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दो (३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ २० ॥

[तृतीय उल्लास]

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम् (३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते ।
(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ॥ २१ ॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ २२ ॥
(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥ २३ ॥

[चतुर्थ उल्लास]

(३९) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे संक्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः ।
(४१) कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥ २५ ॥
(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः ॥ २६ ॥
(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥ २८ ॥
(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ २९ ॥
(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥ ३० ॥
(४६) निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ ३१ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ ३२ ॥
सुप्तं विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३३ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥
(४७) निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।
(४८) रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ॥ ३५ ॥
भावः प्रोक्तः (४९) तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः ।
(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः शबलता तथा ॥ ३६ ॥
(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन ।
(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।
(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।
(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥ ३९ ॥

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः ।
(५५) शब्दार्थोभयभूरेको (५६) भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥
(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।
(५८) वाक्ये द्व्युत्थः (५९) पदेऽप्यन्ये (६०) प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥
(६१) पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।
(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत् (६३) तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (६५) शरेषुयुगखेन्दवः ॥ ४४ ॥

[पञ्चम उल्लासः]

(६६) अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।
(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥
(६८) सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः ।
(६९) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसङ्ख्याऽतिभूयसी ॥ ४७ ॥

[षष्ठ उल्लासः]

(७०) शब्दार्थचित्रं यत् पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम् ।
गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः ॥ ४८ ॥

[सप्तम उल्लासः]

(७१) मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ॥ ४९ ॥
(७२) दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम् ।
निहतार्थमनुचितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाऽश्लीलम् ॥ ५० ॥
सन्दिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत् क्लिष्टम् ।
अविमृष्टविधेयांशं विरुद्धमतिकृत् समासगतमेव ॥ ५१ ॥
(७३) अपास्य च्युतसंस्कारमसमर्थं निरर्थकम् ।
वाक्येऽपि दोषाः सन्त्येते पदस्यांशेऽपि केचन ॥ ५२ ॥

(७४) प्रतिकूलवर्णमुपहतलुप्तविसर्गं विसन्धि हतवृत्तम् ।
न्यूनाधिककथितपदं पतत्प्रकर्षं समाप्तपुनरात्तम् ॥ ५३ ॥
अर्धान्तरैकवाचकमभवन्मतयोगमनभिहितवाच्यम् ।
अपदस्थपदसमासं सङ्कीर्णं गर्भितं प्रसिद्धिहतम् ॥ ५४ ॥
भग्नप्रक्रममक्रममतपरार्थं च वाक्यमेव तथा ।
(७५) अर्थोऽपुष्ट कष्टो व्याहतपुनरुक्तदुष्क्रमग्राम्या ॥ ५५ ॥
सन्दिग्धो निर्हेतु प्रसिद्धिविद्याविरुद्धश्च ।
अनवीकृत सनियमानियमविशेषाविशेषपरिवृत्ता ॥ ५६ ॥
साकाङ्क्षोऽपदयुक्त सहचरभिन्न प्रकाशितविरुद्ध ।
विध्यनुवादायुक्तस्त्यक्तपुन स्वीकृतोऽश्लील ॥ ५७ ॥
(७६) कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मिति ।
सन्निधानादिबोधार्थं (७७) स्थितेष्वेतत् समर्थनम् ॥ ५८ ॥
(७८) ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टत्व (७९) मनुकरणे तु सर्वेषाम् ।
(८०) वक्त्राद्यौचित्यवशाद्दोषोऽपि गुण क्वचित् क्वचिन्नोभौ ॥ ५९ ॥
(८१) व्यभिचारि रस स्थायिभावाना शब्दवाच्यता ।
कष्टकल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयो ॥ ६० ॥
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्ति पुन पुन ।
अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृति ॥ ६१ ॥
अङ्गिनोऽननुसन्धानं प्रकृतीनां विपर्यय ।
अनङ्गस्याभिधानं च रसे दोषा स्युरीदृशा ॥ ६२ ॥
(८२) न दोष स्वपदेनोक्तावपि सञ्चारिण क्वचित् ।
(८३) सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यस्योक्तिर्गुणावहा ॥ ६३ ॥
(८४) आश्रयैक्ये विरुद्धो य स कार्यो भिन्नसंश्रय ।
रसान्तरेणान्तरितो नैरन्तर्येण यो रस ॥ ६४ ॥
(८५) स्मर्यमाणो विरुद्धोऽपि साम्येनाथ विवक्षित ।
अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तौ यौ तौ न दुष्टौ परस्परम् ॥ ६५ ॥

[अष्टम उल्लास]

(८६) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा शौर्यादय इवाऽऽत्मन ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा ॥ ६६ ॥

(८७) उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित् ।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ ६७ ॥

(८८) माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश ।

(८९) आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥ ६८ ॥

(९०) करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम् ।

(९१) दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ॥ ६९ ॥

(९२) बीभत्सरौद्ररसयोस्तस्याऽऽधिक्यं क्रमेण च ।

(९३) शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः ॥ ७० ॥
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः ।

(९४) गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता ॥ ७१ ॥

(९५) केचिदन्तर्भवन्त्येषु दोषत्यागात् परे श्रिताः ।
अन्ये भजन्ति दोषत्वं कुत्रचिन्न ततो दश ॥ ७२ ॥

(९६) तेन नार्थगुणा वाच्याः (९७) प्रोक्ताः शब्दगुणाश्च ये ।
वर्णाः समासो रचना तेषां व्यञ्जकतामिताः ॥ ७३ ॥

(९८) मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥ ७४ ॥

(९९) योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥ ७५ ॥

(१००) श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत् ।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः ॥ ७६ ॥

(१०१) वक्तृवाच्यप्रबन्धानामौचित्येन क्वचित् क्वचित् ।
रचना-वृत्ति-वर्णानामन्यथात्वमपीष्यते ॥ ७७ ॥

[नवम उल्लासः]

(१०२) यदुक्तमन्यथावाक्यमन्यथाऽन्येन योज्यते ।
श्लेषेण काक्वा वा ज्ञेया सा वक्रोक्तिस्तथा द्विधा ॥ ७८ ॥

(१०३) वर्णसाम्यमनुप्रासः (१०४) छेकवृत्तिगतो द्विधा ।

(१०५) सोऽनेकस्य सकृत्पूर्वः (१०६) एकस्याप्यसकृत् परः ॥ ७९ ॥

(१०७) माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।

(१०८) ओजःप्रकाशकैस्तैस्तु परुषा (१०९) कोमला परैः ॥ ८० ॥

(११०) केषांचिदेता वैदर्भीप्रमुखा रीतयो मताः ।
(१११) शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रतः ॥ ८१ ॥
(११२) पदानां सः (११३) पदस्यापि (११४) वृत्तावन्यत्र तत्र वा ।
नाम्नः स वृत्त्यवृत्त्योश्च (११५) तदेवं पञ्चधा मतः ॥ ८२ ॥
(११६) अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः ।
यमकं (११७) पादतद्भागवृत्ति तद्यात्यनेकताम् ॥ ८३ ॥
(११८) वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः ।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा ॥ ८४ ॥
(११९) भेदाभावात् प्रकृत्यादेर्भेदोऽपि नवमो भवेत् ।
(१२०) तच्चित्रं यत्र वर्णानां खड्गाद्याकृतिहेतुता ॥ ८५ ॥
(१२१) पुनरुक्तवदाभासो विभिन्नाकारशब्दगा ।
एकार्थतेव (१२२) शब्दस्य (१२३) तथा शब्दार्थयोरयम् ॥ ८६ ॥

[दशम उल्लासः]

(१२४) साधर्म्यमुपमा भेदे (१२५) पूर्णा लुप्ता च (१२६) साऽग्रिमा ।
श्रौत्यार्थी च भवेद्वाक्ये समासे तद्धिते तथा ॥ ८७ ॥
(१२७) तद्धर्मस्य लोपे स्यान्न श्रौती तद्धिते पुनः ।
(१२८) उपमानानुपादाने वाक्यगाऽथ समासगा ॥ ८८ ॥
(१२९) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचि क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुल्येतद् (१३०) द्विलोपे क्विप्समासगा ॥ ८९ ॥
(१३१) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते ।
(१३२) क्विपि वाद्युपमेयासे (१३३) त्रिलोपे च समासगा ॥ ९० ॥
(१३४) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे ।
अनन्वयो (१३५) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः ॥ ९१ ॥
(१३६) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।
(१३७) ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः ॥ ९२ ॥
(१३८) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः ।
(१३९) समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा ॥ ९३ ॥
(१४०) श्रौता आर्थाश्च ते यस्मिन्नेकदेशविवर्ति तत् ।
(१४१) साङ्गमेतद् (१४२) निरङ्गं तु शुद्धं (१४३) माला तु पूर्ववत् ॥ ९४ ॥

(१४४) नियतारोपणोपायः स्यादारोपः परस्य यः ।
तत् परम्परितं श्लिष्टे वाचके भेदभाजि वा ॥ ९५ ॥
(१४५) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।
(१४६) श्लेषः स वाक्ये एकस्मिन् यत्रानेकार्थता भवेत् ॥ ९६ ॥
(१४७) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः (१४८) निदर्शना ।
अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः ॥ ९७ ॥
(१४९) स्वस्वहेत्वन्वयस्योक्तिः क्रिययैव च साऽपरा ।
(१५०) अप्रस्तुतप्रशंसा या सा सैव प्रस्तुताश्रया ॥ ९८ ॥
(१५१) कार्ये निमित्ते सामान्ये विशेषे प्रस्तुते सति ।
तदन्यस्य वचस्तुल्ये तुल्यस्येति च पञ्चधा ॥ ९९ ॥
(१५२) निगीर्याध्यवसानं तु प्रकृतस्य परेण यत् ।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् ॥ १०० ॥
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः ।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा (१५३) प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥ १०१ ॥
सामान्यस्य द्विरेकस्य यत्र वाक्यद्वये स्थितिः ।
(१५४) दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् ॥ १०२ ॥
(१५५) सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम् ।
सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम् ॥ १०३ ॥
(१५६) मालादीपकमाद्यं चेद् यथोत्तरगुणावहम् ।
(१५७) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ॥ १०४ ॥
(१५८) उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः ।
(१५९) हेत्वोरुक्तावनुक्तीनां त्रये साम्ये निवेदिते ॥ १०५ ॥
शब्दार्थाभ्यामथाऽऽक्षिप्ते श्लेषे तद्वत् त्रिरष्ट तत् ।
(१६०) निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ॥ १०६ ॥
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ।
(१६१) क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना ॥ १०७ ॥
(१६२) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।
(१६३) यथासङ्ख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ॥ १०८ ॥
(१६४) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते ।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा ॥ १०९ ॥

(१६५) विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।
(१६६) जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः ॥ ११० ॥
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ।
(१६७) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ १११ ॥
(१६८) व्याजस्तुतिर्मुखे निन्दा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा ।
(१६९) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम् ॥ ११२ ॥
(१७०) विनोक्तिः सा विनाऽन्येन यत्रान्यः सन्न नेतरः ।
(१७१) परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात् समासमैः ॥ ११३ ॥
(१७२) प्रत्यक्षा इव यद् भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः ।
तद् भाविकं (१७३) काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता ॥ ११४ ॥
(१७४) पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वचः ।
(१७५) उदात्तं वस्तुनः सम्पद् (१७६) महतां चोपलक्षणम् ॥ ११५ ॥
(१७७) तत्सिद्धिहेतावेकस्मिन् यत्रान्यत् तत्करं भवेत् ।
समुच्चयोऽसौ (१७८) स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रियाः ॥ ११६ ॥
(१७९) एकं क्रमेणानेकस्मिन् पर्यायो (१८०) ऽन्यस्ततोऽन्यथा ।
(१८१) अनुमानं तदुक्तं यत् साध्यसाधनयोर्वचः ॥ ११७ ॥
(१८२) विशेषणैर्यत् साकूतैरुक्तिः परिकरस्तु सः ।
(१८३) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ॥ ११८ ॥
(१८४) किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते ।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता ॥ ११९ ॥
(१८५) यथोत्तरं चेत् पूर्वस्य पूर्वस्यार्थस्य हेतुता ।
तदा कारणमाला स्यात् (१८६) क्रियया तु परस्परम् ॥ १२० ॥
वस्तुनोर्जननेऽन्योन्यम् (१८७) उत्तरश्रुतिमात्रतः ।
प्रश्नस्योन्नयनं यत्र क्रियते तत्र वा सति ॥ १२१ ॥
असकृद् यदसम्भाव्यमुत्तरं स्यात्तदुत्तरम् ।
(१८८) कुतोऽपि लक्षितः सूक्ष्मोऽप्यर्थोऽन्यस्मै प्रकाश्यते ॥ १२२ ॥
धर्मेण केनचिद् यत्र तत् सूक्ष्मं परिचक्षते ।
(१८९) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत् सारः परावधिः ॥ १२३ ॥
(१९०) भिन्नदेशतयाऽत्यन्तं कार्यकारणभूतयोः ।
युगपद् धर्मयोर्यत्र ख्यातिः सा स्यादसङ्गतिः ॥ १२४ ॥
(१९१) समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः ।
(१९२) समं योग्यतया योगो यदि सम्भावितः क्वचित् ॥ १२५ ॥

(१९३) क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात् ।
कर्तुं क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत् ॥ १२६ ॥
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये ।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः ॥ १२७ ॥
(१९४) महतोर्यन्महीयांसावाश्रिताश्रययोः क्रमात् ।
आश्रयाश्रयिणौ स्यातां तनुत्वेऽप्यधिकं तु तत् ॥ १२८ ॥
(१९५) प्रतिपक्षमशक्तेन प्रतिकर्तुं तिरस्क्रिया ।
या तदीयस्य तत्स्तुत्यै प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥ १२९ ॥
(१९६) समेन लक्ष्मणा वस्तु वस्तुना यन्निगूह्यते ।
निजेनाऽऽगन्तुना वाऽपि तन्मीलितमिति स्मृतम् ॥ १३० ॥
(१९७) स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् ।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा ॥ १३१ ॥
(१९८) यथानुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृतिः ।
स्मरणं (१९९) भ्रान्तिमानन्यसंवित् तत्तुल्यदर्शने ॥ १३२ ॥
(२००) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता ।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥ १३३ ॥
(२०१) प्रस्तुतस्य यदन्येन गुणसाम्यविवक्षया ।
ऐकात्म्यं बध्यते योगात् तत् सामान्यमिति स्मृतम् ॥ १३४ ॥
(२०२) विना प्रसिद्धमाधारमाधेयस्य व्यवस्थितिः ।
एकात्मा युगपद्वृत्तिरेकस्यानेकगोचरा ॥ १३५ ॥
अन्यत् प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्यान्यवस्तुनः ।
तथैव करणं चेति विशेषस्त्रिविधः स्मृतः ॥ १३६ ॥
(२०३) समुत्सृज्य गुणं योगादत्युज्ज्वलगुणस्य यत् ।
वस्तु तद्गुणतामेति भण्यते स तु तद्गुणः ॥ १३७ ॥
(२०४) तद्रूपाननुहारश्चेदस्य तत् स्यादतद्गुणः ।
(२०५) यद् यथा साधितं केनाप्यपरेण तदन्यथा ॥ १३८ ॥
तथैव यद् विधीयेत स व्याघात इति स्मृतः ।
(२०६) सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः ॥ १३९ ॥
(२०७) अविश्रान्तिजुषामात्मन्यङ्गाङ्गित्वं तु सङ्करः ।
(२०८) एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावादनिश्चयः ॥ १४० ॥
(२०९) स्फुटमेकत्र विषये शब्दार्थालङ्कृतिद्वयम् ।
व्यवस्थितं च (२१०) तेनासौ त्रिरूपः परिकीर्तितः ॥ १४१ ॥
(२११) एषां दोषा यथायोगं सम्भवन्तोऽपि केचन ।
उक्तेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिताः ॥ १४२ ॥

ॐ नमः शिवाय

काव्यप्रकाशः

प्रथम उल्लासः

ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय [1]समुचितामिष्टदेवतां ग्रन्थकृत् परामृशति—

महेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृतादर्शाख्यटीका

मुखैश्चतुर्भि स्तुयते विधाते स्तोत्रे श्रुतीनाञ्च चतुष्टयाय।
भुजैश्चतुर्भिश्चतुरोऽर्थवर्गान् नमो ददानाय चतुर्भुजाय ॥ १ ॥ (A)

दुर्व्याख्याजनितप्रमोहशमनी वैषम्यविध्वंसिनी
वैशद्यातिरोचनी रसखनी काव्यार्थलोद्घाटिनी।
टीका विज्ञजनप्रमोदजननी भावार्थचिन्तामणी
भट्टाचार्य्यमहेश्वरेण रचिता काव्यप्रकाशोपरि ॥ २ ॥ (B)

काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने[2]।
[3]अम्लायमानाऽपि ममास्तु टीका माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधायटीका ॥ ३ ॥ (C)

(A) मुखैरिति। अत्र चिकीर्षितग्रन्थस्य काव्यदोषादिनिरूपणपरतया कविसम्प्रदायानुली-भावनाद्भूय प्रथममादिकविब्रह्मणस्तत शब्दात्मकतया तत्प्रधानभूतया श्रुतिदेव्यास्तत्तश्च ताभ्यामपि स्तूयमानस्य सकलपुरुषार्थचतुर्दानपरायणस्य नमस्कारः। नमस्कारबाहुल्यमपि सति विघ्नबाहुल्ये तद्विघातो बहुमङ्गलाचरणसाध्य इति शिष्यशिक्षार्थमेव। 'स्तोत्रे' इति चतुर्थ्यन्तं पदं स्तोतृशब्दस्य भाविर्युक्ततया सिद्धम्। ब्रह्मणा स्तुतिभिश्च कृतो नारायणस्तवः श्रीमद्भागवतादौ प्रसिद्धः।

(B) खनीमणीशब्दौ स्त्रियामीकन्तौ कोषप्रसिद्धौ।

(C). वैषम्यदोषार्पितकालिकाञ्चने काव्यप्रकाशाख्यविशुद्धकाञ्चने मम टीका अम्लायमानाऽपि माधुर्य्यधुर्य्यैकसुधायटीका अस्त्वित्यन्वयः। अत्र शोभनवर्णशालित्वं काव्यप्रकाशकाञ्चनयो

---

1 'समुचितेष्ट' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 2. 'काञ्चने' क। 3. 'वायाय' क।

दोषो विचारसुलभो यदि दूष्यतां तद्
दूष्ये न तत्र शृणुतैकमिदन्तु धीराः ।
ग्रन्थान्यथार्थमतिसङ्कुलमानसत्वाद् (A)
व्याख्या मम प्रथममेव न दूषणीया ॥ ४ ॥

सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने [1]शास्त्रान्तरे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादिभ्य उद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलङ्कारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान् । तदुक्तम्—

स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपभुञ्जते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ॥ इति ।

मम्मटभट्टस्तु ताः कारिकाः सोदाहरणं व्याख्यातुं कारिकाग्रन्थादिभूतां नियतिकृतेत्यादिकारिका[2]मुत्थापयति—ग्रन्थारम्भ इत्यादि । ग्रन्थो महावाक्यविशेषः, स च महाजनानां ग्रन्थत्वेन व्यवहारमात्रपरिचेयः । न च विभिन्नदोषगुणालङ्कारबोधकानां विभिन्नवाक्यानामेकवाक्यत्वाभावात् कथं कारिकासमुच्चयरूपस्यास्य ग्रन्थस्य महावाक्यत्वमिति वाच्यम्, 'तददोषौ शब्दार्थावि'त्यादिवक्ष्यमाणकाव्यलक्षणवाक्यो-

साधर्म्यम् । अत्र वर्णपदं श्लिष्टम् । वैषम्यं दुरूहार्थत्वं तदेव दोषः । असम्यगुल्लेखकृतदोषत्वेन धर्मिणां क्षणिनां निधापितात्र कालिका कार्ष्ण्यं कलङ्कमिति यावत्, श्रयति प्राप्नोतीति सार्थे । तात्पर्यं धातोर्नानार्थकतायामविवादेन णिजन्तात् श्रिधातोर्निष्पन्नस्य अर्पितपदस्य प्रापणार्थत्वम् । श्रवण इति भाष्याशिस्त्याश्रम । टीकायां अमृग्यमानत्वं म्लानिराहित्यमदुष्टत्वमिति यावत् । काञ्चनपक्षे—अम्लायमानत्वमम्लमदशत्वम्, अम्लरसस्य च स्वर्णशोधकत्वं प्रसिद्धम् । अत्र शानच्प्रत्ययः 'आत्मनेपदमिच्छन्ति परस्मैपदिनां क्वचि'दिति न्यायेन 'शीर्णताशिन कान्ति परिम्लायसे' इतिवदुपपादनीयः, अन्तर्भावितणिजर्थतया कर्मणि वाच्यं प्रयोगः । अनुस्वारश्लेषेण प्राप्तां पुरात्वान्तरशाङ्कानपाकरोतीति—माधुर्येणेति । अत्र विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन सुधापदीत्यस्य पदीसन्निवेशार्थत्वम् । तथाच माधुर्यतुल्यो एका सुधापदी यस्या इति टीकाविशेषणम् । एवञ्च मदीयटीकायां माधुर्यं प्रचुरमाध्यर्यामेव लभ्यते नान्यत्रेति भावः । मणाप्नुते सुधायत्या माधुर्यार्थयत्वं परम्परासम्बन्धेन । 'अम्लायमाने'त्यत्र 'आम्नायमाने'ति पाठे अभ्यस्यमानेत्यर्थः । 'कालिकाश्रवे' इत्यत्र 'कालिकाञ्जने' इति पाठे कालिका अञ्जनमित्यर्थः । अस्य आद्यं पादद्वयमिन्द्रवज्राच्छन्दसा निबद्धम्, अन्तिमं तद्द्वयन्तु इन्द्रवज्राच्छन्दसेति उपजातिवृत्तम् । "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः । इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम ॥" इति तल्लक्षणम् ।

(A) ग्रन्थस्य अन्यथार्थमत्या अयथाभूतार्थज्ञानेन संस्कृतयाऽऽहितदुष्टसंस्कारं मानसं येषां तद्भावादित्यर्थः ।

1 तर्कादिशास्त्र' ख । 2 '-तां व्याख्यातु' क ।

त्थापिताकाङ्क्षयैव समस्तवाक्यगुणालङ्कारबाधककारिकाणामुत्थापनात् तदाकाङ्क्षा पूरणरूपैकप्रयोजनवत्त्वेन समस्तवाक्यानामेकवाक्यत्वात्। तदुक्तम्—

"अर्थै[1]कत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्" इति। (A)

जै सू ४६, पा १, अ २,

तत्र च अर्थैक्यादित्यस्य प्रयोजनैक्यादित्यर्थः। परमानन्दचक्रवर्त्ती तु ग्रन्थ लक्षणमन्यदेवाह; यथा—प्रेक्षावत्प्रवृत्तयेऽभिधीयमानसम्बन्धप्रयोजनकः सन्दर्भो ग्रन्थ इति, तन्न; अस्त्युत्तरस्यां दिशीत्यादिकुमारसम्भवकाव्यादिरूपग्रन्थेषु[2] सम्बन्धप्रयोजनयोरेकस्याप्यनभिधानादव्याप्तेः, तद्योग्यतायाश्च ग्रन्थत्वं विना ज्ञातुं दुर्ज्ञेयत्वात्। सुखबोधार्थममुकस्य लक्षणवाक्यस्य व्याख्या मया क्रियत इत्युक्ति-पूर्वके तल्लक्षणव्याख्याने ग्रन्थत्वे[3]ऽतिव्याप्त्यापत्तेश्च। तस्य प्रस्तुतकारिका ग्रन्थस्य, "आरम्भे" आद्यकृतिप्राक्कालरूपाधिकरणे, समुचितामिष्टदेवतां भारतीम् ग्रन्थकृत् कारिकाद्यम् परामृशतीत्यन्वयः। यदि चारम्भपदस्याद्य-कृतावेव शक्त्या तत्प्राक्कालपरत्वे लक्षणापत्त्याऽसन्तोषस्तदा आरम्भ भाविनीति पूरणा-दन्वयः 'अनुमानं इत्यत्र निरूपणीयं इति पूरणवत्(B)। तदा च सति सप्तम्येषयम्, आद्यप्रयत्ने भाविनि सतीत्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु निमित्तसप्तम्येषा, आरम्भनिमित्त परामृशतीत्यर्थः इत्याह तन्न। निमित्तस्येष्टदेवतापरामर्शस्य फले आरम्भे प्रदर्शिते विघ्ननिघातरूपफलान्तरप्रदर्शने चकार एव तदा निर्दिष्टः स्यात् ( ) तदनिर्देशाच्च तत्र तात्पर्याभावनिर्णयात्। आरम्भसामान्ये व्यभिचारादकारणत्वे तत्परामर्श

(A) 'एकार्थप्रतिपादकयोरन्योऽन्यमस्ति कस्याप्यनीप्सितादिवाक्यावयवस्याव्यत्यासेन साकाङ्क्षस्य निवृत्त्या तदुत्थाप्याकाङ्क्षानिवर्तकत्व-तन्निवर्तनीयाकाङ्क्षोत्थापकत्वाद्यतररूपवत्त्वमेव तन्मात्राकाङ्क्षत्वम्, वाक्यानाह्वारेण विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वं दृष्टार्थम् इति गागाभट्ट। 'विभागे' पृथक् पठने विच्छिद्य पाठ इति केचित्।

(B) तत्र व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानजन्यं ज्ञानमनुमितिरिति त्वनुमानचिन्तामणिग्रन्थस्य व्याख्यानावसरे तत्र प्रत्यक्षान्तरप्रामाण्यानिरूपणानन्तरमनुमानं निरूपणीयं इति दीधितावुक्तम्। तत्र मूलग्रन्थस्य तत्रेति पदस्य अनुमानपरत्वं निरूपणीयं इत्यस्य च पूरितत्वमिति व्याख्यानम् केचित्तु' इत्यादिना गदाधरेणोल्लिखितम्।

(C) तथा च कृती ग्रन्थारम्भे विघ्नविघाताय चेति पाठेऽभविष्यदित्यर्थः।

1 'एकत्वात्' दीक्षाना स। 2 'सर्वतान्त्रिकग्रन्थेषु ख, सम्बन्धादिवाच्यत्वाभावे ग।

3 'ग्रन्थलक्षणस्याव्याप्तिदोषः ग।

स्यारम्भविशेषे कारणताप्रदर्शनस्य प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन तत्प्रदर्शनानुपयोगाच्च[1]। **परामृशतीति** विलक्षणरूपेण शाब्दबोधविषयीकरोतीत्यर्थः, ज्ञानार्थकस्य परा-पूर्वमृशधातोस्तात्पर्यवशाद्विलक्षणज्ञानविशेषपरत्वात् न्यायशास्त्रे व्याप्यवत्ताज्ञान-परत्ववत्(A), तथाच विलक्षणरूपेण तद्विषयकशब्दप्रयोग(B) एवात्र स्तुतिरूपं मङ्गलम्। तत्फलमाह—**विघ्नविघातायेति**। यद्यपि निर्विघ्नं समाप्यतामिति शिष्टानां कामनादर्शनान्निर्विघ्नसमाप्तिरेव मङ्गलफलं सेद्धुमुचितं तथापि [2]मङ्गलं विनाऽपि प्रमत्तत्वुद्धितसमाप्तिदर्शनाद्व्यभिचारेण निर्विघ्न-[त्व]विशेषणांशः यथासौ कामना अहं सुखी स्यामित्यत्र सुखरूपविशेषणांशः स्वेत्यतो विघ्नविघातांश एव मङ्गल-फलं ॥ * समाप्तिस्तु स्वकारणादेवेत्यन्यत्र विस्तरः। चक्रवर्ती तु व्याप्यवत्ताज्ञानरूपो नैयायिकव्यवह्रियमाणपरामर्श एवात्र परापूर्वमृशधातोरर्थः, तथाच—उत्कर्षव्याप्य-निर्मित्याधानस्य श्लोकार्थत्वेन तद्वत्तया जानातीत्यर्थ इत्याह,—तन्न; श्लोके जय-व्याप्यतायाः अप्रदर्शितत्वात् निर्मितिमादधती जयतीति वाक्येन निर्मित्याधानवत्यां जयस्य विधेयतया प्रतीत्या आधानवत्तया जानातीति भवद्(तद्?)व्याख्याने आधानस्य विधेयत्वोक्तेर्व्याख्यानव्याख्येययोर्विसंवादाच्च। अन्ये तु नमस्यता-व्याप्योत्कर्षवत्तया परामृशतीत्यर्थः, जयतीत्यनेन नमस्यताव्याप्योत्कर्षबोधनात्; अत एव "जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यते" इति वृत्तौ नमस्यतारूपनमस्कारानुमानं

(A) तथाच विश्वनाथः—'व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते' इति।

(B) शब्दप्रयोगस्य तद्विषयकत्वमत्र तेन रूपेण वाग्देवताविषयकशाब्दबोधजनकत्व-मिति ध्येयम्।

---

1 अत्र पर च पुस्तके—निमित्तकारणता हि द्विविधोऽयं, स्वप्रकाशार्थोऽन्यपदार्थं कारणत्वक्रम निमित्तत्वमित्येव, यथा [illegible] ... [illegible], यथं विनाऽपि तदुत्पत्तेः। स च प्रकृते न सम्भवति मङ्गलं विनाऽपि तदुपलब्धमानमारम्भसामान्यं प्रति मङ्गलस्यानिमित्तत्वात् आरम्भविशेषं प्रति निमित्तत्वं तु प्रवृत्त्यनुपयोगित्वेन नानुचितत्वात्। स्वप्रकाशार्थं प्रति अन्यस्य निमित्त-मितापरोऽयं, यथा—पुत्रकन्याविवाहे नान्दीमुखमिवात्र स्वप्रकाशार्थं विवाहं प्रति नान्दीमुखस्य कारणत्वम्, स चात्र न सम्भवति, आरम्भस्य मङ्गलाजनकत्वात्। यदि च आरम्भार्थेनैव चतुर्दशं समप्रोत्पन्ने तथापि आरम्भे विघ्नविघातार्थमिति प्रकाराप्रयोगात्र [illegible] तात्पर्यमित्याशयः विस्तरः।' इत्यधिकः पाठः।

2 'क' पुस्तके 'अहं सुखी स्यामिति कामनया (-नायां) [illegible] विशेषणस्य इव तद्फलत्वाद्विघ्न-विघातांश एव तत्फलत्वं सिद्ध्यतीत्यतो विघ्नविघातायेत्युक्तम्, विशेष्यसमाप्तौ तु आवश्यं मङ्गलं विनाऽपि प्रमत्तानु-ष्ठितसमाप्त्यादर्शनेऽय।' इति पाठः।

3. 'स्वाहेति'-' क।

दर्शयिष्यत इत्याहुः, तन्न; उत्कर्षार्थकस्य निपातनमस्यतात्पर्याभावेन[1] बाधितस्य तादृशार्थस्य व्याख्यानानौचित्यात् 1* नमस्कार आक्षिप्यत इत्यस्य नम स्कारो व्यज्यत इत्येवार्थः। नमस्कारपदस्य नमस्यतापरत्वे (A)लक्षणापत्तेश्चानुपादेय एव तादृशार्थः। ग्रन्थारम्भ वाग्देवतया एवेष्टत्वाय परामर्ष्टु मौचित्यादाह—समुचितेति। ग्रन्थेष्टदेवतात्वमेव समुचितत्वम्। तादृश्या अपि वैदिकत्वात् तत्र गत्यन्तरमाह2*—इष्टेति। ग्रन्थकृदत्र कारिकाकृद् भरतमुनिरेव तदीयसंहितायामास्ता कारिकाणां दर्शनात्। न तु वृत्तिकृदेव कारिकाकृत् परामृशतीत्यादिषु सर्वत्र नामयोगाच्च प्रथमपुरुषनिर्देशस्यैव, अन्यथाऽस्मद्योगाभिनोत्तम पुरुष एव निर्दिश्येत। किञ्च—

"समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा

इति वक्ष्यमाणसमस्तवस्तुविषयरूपकलक्षणे आरोपिता इत्यादौ बहुवचनरूपकभेदमात्रकथनात् बहुवचनानुपपत्त्या 'अत्र बहुवचनमविवक्षित मिति यत् वृत्तिकृता लिखिष्यते तावतापि वृत्तिकृत कारिकाकृद्भिन्नत्वमवगम्यते श्रौतकारिका च श्रौता आरोपितौ यदेयेन' नियत मुनिकारिकात्वमेव बहुवचनादिरहाकथनात् 3*। यत्तु विलापे च समासेने 'ज्योत्स्नामि' कारिकामित्युपमाप्रपञ्चे समापिते—

'अनयनेन राज्यश्रीर्दैन्येन मनस्विता।

मम्लौ सा च विषादेन पद्मिनीव हिमाम्भसा॥'

इत्यत्र मालोपमा तु न लक्षितेति वृत्तिग्रन्थे 'माला तु पूर्ववदिति' रूपकग्रन्थे मालोपमातुल्यतया मालारूपक एव प्रतीयते, पूर्व इह वृत्तिकृतामेव तदनुपपन्नमिति यत्तु स्तत्रापि नानुपपत्तिः विलाप च समासगत्यत्र चकारस्यानुक्तमालोपमासमुच्चय परत्वेन सूत्र एव मालोपमाया उक्तत्वेन तत्तुल्यतया मालारूपककथनेऽनुपपत्त्यभावात्। माला तु न लक्षितेत्यस्य तु विशिष्य न लक्षिता चकारेण तु लक्षितैवेत्यभिप्रायः।

(A) स्वाधिकारिकाकत्वतया आपन्नपस्य नमस्कारस्य नमस्कर्तृनिष्ठत्वेन नमस्यमाननिष्ठ नमस्कार्यनिष्ठत्वेन वाच्यतोऽर्थे लक्षणां विनाऽनुपपत्ति इति भावः।

---

1 भावेन तस्य तस्य वाताया अन्यवस्य पदार्थत्वौचित्येन वाच्यत्वाभावात्, ख।

2 अविदग्धैवतायां तत्र वाक् न ख्यान्तिप्राप्त चाह' क।

3 'विदं इ, इत्याद बहुवीहिविध व्याख्यानानौचित्यात् पदौचित्यकारिकायात्तु च उपादानानौचित्यादि युज्यत एव बहुवचनविवक्षितमिति वक्तुम् ख।

4 'कारिकाक' ख। 5 'अत्र कारिकाक्रमा मालोपमाया पूर्वमनुक्तत्वात्' इति ख।

नियतिकृतनियमरहितां [A]**ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।**

परामर्शनीयमर्थमाह—**नियतीति** । तथाच इत्थं परामृशतीति बोध्यम् । श्लोकार्थस्तु **भारती** वागधिष्ठात्री देवता **जयति** उत्कृष्य । [1]यतो नियतिकृतेत्यादि विशेषणत्रैशिष्ट्येन ब्रह्मनिर्म्मितितो विलक्षणां **कवेः** काव्यरूपां **निर्म्मितिम् आदधती** जनयन्ती , भारतीप्रसादादेव कविना काव्यकरणाद्भारत्या अपि काव्यकर्तृत्वात् । ब्रह्मनिर्म्मितिवैलक्षण्यमेवाह—**नियतिकृतेति** । **नियतिः** अदृष्टं तत्कृतः तन्निरूप्य **नियमः** जन्यतारूपः **तद्रहिताम्** अदृष्टाजन्यामित्यर्थः , शब्दार्थोभयात्मन काव्यस्यालौकिकमुखाद्यात्मककमलाद्यर्थांशेऽदृष्टाजन्यत्वात् , शब्दांशे तु तज्जन्यत्वमस्त्येवेति बोध्यम् । न चैवमर्थांशो भारत्या अप्यजन्य एवेति कथं तदाधानात्तस्या उत्कर्ष इति वाच्यम् , वस्तुतोऽनाधानेऽपि तज्जन्यत्वेनोपनिबन्धस्यैव तदाधानत्वेनोपचारात् तावतैवोत्कर्षवत्त्वात् । यद्वा नियम्यत इति नियतिः संसारस्तत्र कृतो नियमः अत्र एव एव नाह्लादकमित्येवरूपस्तद्रहिताम् , कविनिर्म्मितायाह्लादनायामपि मुखाद्यात्मककमलाद्युपलम्भात् । चक्रवर्ती तु नियतिपदस्य तत्कृतो नियमः नियमविशेषः चन्द्र एव चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वावगम इत्येवरूपः तद्रहितामित्यर्थः । कविनिर्म्मितौ मुखेऽपि चन्द्रपदप्रयोगेणाह्लादकत्वावगमादित्याह,—तन्न । कविनिर्म्मितावपि चन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वावगमात् तद्राहित्याभावात् । अथ चन्द्र एवेति नियमः कविनिर्म्मितौ नास्तीति चेत् तत् किमचन्द्रे चन्द्रपदप्रयोगादाह्लादकत्वानवगम इत्येव नियमः , न च ब्रह्मनिर्म्मितावेवास्ति न कविनिर्म्मिताविरर्थः ; तर्हि तस्यानवगमस्यात्यन्ताभावरूपत्वेन तत्र नियतिकृतत्व बाधितमेव । यदि च अचन्द्रमुखमात्मवृत्तियोग्याह्लादकत्वावगम एव नियमपदार्थस्तत्रापि नियतिकृतत्वविशेषणं तत्र व्यर्थमेव अन्यथासम्भवस्यैव नियतिकृतत्वेनाव्यावर्तकत्वात् । किञ्च ब्रह्मनिर्म्मितायामचन्द्रे लक्षणया चन्द्रपदप्रयोगः आह्लादकत्वरूपप्रयोजनावगम (च १) तत्रेत्यतस्तादृशनियमस्तत्रापि नास्त्येव । **ह्लादैकेति** । ह्लादः सुखं स एव एकः केवलः दुःखासम्भिन्नो यतस्तन्मयीं तत्स्वरूपाम् , स्वार्थे मयट् । **अनन्येति** अन्यत् स्वभिन्नं स्वीयसमवाय्यादिकारणं तदपरतन्त्रां तदनधीनां, परतन्त्रपदस्य पराधीनार्थकत्वेऽपि पदान्तरोत्तरवर्त्तित्वेऽधीनमात्रार्थकत्वात् , एतद्व्यलौकिकार्थांश-

---

(A) ह्लादेन एकमयीम् आनन्दैकस्वभावामित्यर्थः ।

---

१. 'कथमुत्कृष्य । यतो' ग ।

नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ॥ १ ॥

नियतिशक्त्या नियतरूपा सुखदुःखमोहस्वभावा परमाण्वाद्युपादानकर्मादिसहकारिकारणपरतन्त्रा षड्रसा न च हृद्यैव तैः

मात्रे बोध्य न तु जन्ये शब्दांशे। यद्यप्येतावतैव नियतीत्यादेरपि गतार्थता, तथाऽपि गोवृषन्यायात् पृथगुपादानं समवाय्यादिकारणानधीनाधियत्यधीनाश्च प्रसतोऽपि वैलक्षण्यलाभार्थम्। चक्रवर्ती तु (A) साङ्ख्यमते कार्य्यकारणयोरभेदेन प्रतिमाजन्यात् कारणादनन्या प्रतिभा तदपरतन्त्रामिति व्याचष्टे, तन्न; अनन्ये-त्यन्यपदार्थ एव नञर्थान्वये परमाण्वाद्युपादानपरतन्त्रा ब्रह्मनिर्मितिस्तद्विलक्षणा तु कविवाङ्निर्मितिरिति वृत्तिविरोधापत्ते तत्र परतन्त्रपदार्थ एव नञर्थान्वयभानात्। **नवरसेति।** नवसङ्ख्या रसाः शृङ्गारादयो यत्रेति बहुव्रीहि, ततश्च सा चासौ रुचिरा चेति कर्मधारयः, तेन नवरसत्वं रुचिरत्वञ्चेति द्वयमत्र विधेयम्, तेन विशेषणद्वयेनैव ब्रह्मनिर्मितितो वैलक्षण्य बोध्यम्, रसपदस्य श्लिष्टत्वेन ब्रह्मनिर्मितेर्मधुरादिषड्रसत्वात् रुचिरमात्रत्वाभावाय। अत एव नवरसै रुचिरामिति न तत्पुरुषस्तदा नव[रस]त्वस्य विधेयत्वाप्रतीते, नवभी रसै रुचिरामित्येव तत्पुरुषे त्रिपदतत्पुरुषाङ्गीकारोऽपि दोषः। दर्शितबहुव्रीहौ तु षड्विरूपात्तमित्यत्राष्टणोर्श्वैरूप्यमिव पूर्वपदार्थो नवत्वं विधेयतयैव प्रतीयते; व्यक्तीभविष्यति चास्य वृत्तौ बहुव्रीहिरेव।

कविनिर्मितो ब्रह्मनिर्मितितो वैलक्षण्य [1]व्याख्यातुमादौ नियतिकृतेत्यादिविशेषणैराक्षिप्तानि ब्रह्मनिर्मितिविशेषणानि वृत्तिकृद्दर्शयति—**नियतिशक्त्येति।** नियतरूपा ब्रह्मणो निर्मितिरित्यग्रेणान्वयः। एवमुत्तरत्रापि। "नियते" रदृष्टस्य "शक्त्या" कारणतारूपसामर्थ्येन 'नियतरूपा" तज्जन्यरूपेत्यर्थः, कविनिर्मितिस्तदभावो तदजन्येति वैलक्षण्यम्। "सुखदुःखेति" इह मोहान्त तज्जनकपरं(B) सुखादिजनकस्वभावेत्यर्थः। (C) "परमाण्वादी"ति उपादानकारण समवायि-

(A) अत्रेदं चिन्तनीयम् साङ्ख्यैरपादानोपादेयभावस्थल एव कार्य्ये कारणाभेदाभ्युपगमेन अत्र निमित्तभूतायां प्रतिभायां तत्कार्य्यात् काव्यादभेदोपि कथं सङ्गच्छत इति।

(B) यद्यपि साङ्ख्यमतानुसारेण निर्मिते वस्तुनि सुखदुःखमोहस्वभावा इति यथाश्रुतमेव सङ्गच्छते तथाऽपि वृत्तौ परमाण्वाद्युपादानेत्यादिदर्शनात् न्यायमतानुसारेण व्याचष्टे तज्जनकपरमिति।

(C) जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागो परमाणुः स कीर्तितः॥

1 °याचयितु- ख, ग।

तादृशी ब्रह्मणो निर्मितिर्निर्माणम् एतद्विलक्षणा तु कविवाङ्-निर्मितिः, अत एव जयति ; जयत्यर्थेन च नमस्कार आक्षिप्यत इति तां प्रत्यस्मि प्रणत इति लभ्यते ।

कारणम् ; सर्व्वत्र कारणपदार्थान्वय(A)। "कर्म्म" कुम्भकारादिक्रिया। रसपदस्य विवरणमाह—"षड्रसेति" मधुरादिरसषट्कवतीत्यर्थ, अनेन नवरसेत्यत्र बहुव्रीहिर्व्यक्तीकृत । तथाच रसाधिक्यादपि कविनिर्म्मितौ वैलक्षण्यं दर्शितम्। वैलक्षण्यान्तरमपि दर्शयति—न चेति। ब्रह्मनिर्म्मितौ रसैर्न हृद्येति वक्तुमशक्य मधुराद्यैर्हृद्यत्वादतो रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थमभिप्रेत्य ब्रह्मनिर्म्मितौ तन्मात्रत्वाभावमेव दर्शयति—"न चेति"। "तै" रसै, तिक्तादिभिरहृद्यत्वादित्यर्थः। हृत्याकाङ्क्षासत्त्वादेव तैरित्याक्षिप्य दर्शितं, न तु नवरसरुचिरामित्यत्र तत्पुरुष-लब्धत्वादिदमुक्तमिति भ्रम कार्य्य, तत्र बहुव्रीहिरेवोक्तयुक्त्या दर्शितत्वात्। न च रुचिरामित्यत्र रुचिरमात्रामित्यर्थो हृद्येत्यनेन पौनरुक्त्यं हृदैकजनकत्वरुचिरमात्रत्वयो सुखमात्रजनकत्वरूपत्वादिति वाच्यम्, पूर्व्वत्रालङ्काराधीनहृद्यत्वस्य इह तु रसाधीनहृद्यत्वस्य विवक्षितत्वेन भेदात्। "निर्म्माणमिति" अत्रस्थनिर्म्मितिपदार्थं एव व्याख्यात-कृदभिहितभावन्येन (B)निर्म्मितमित्येव तस्याप्यर्थ। इत्थं ब्रह्मनिर्म्मितिविशेषणा-न्येव दर्शयित्वा नियतिकृतेत्यादिभि कविनिर्म्मितिविशेषणानि श्लोकोक्तानि तद्वैलक्षण्यबोधकानीत्याह—**एतद्विलक्षणा त्विति**। "वाचा" कण्ठताल्वा-द्यभिघातेन "निर्म्मिति" वाङ्निर्म्मिति, कण्ठताल्वाद्यभिघातजन्यशब्देनार्थस्या-प्युपनिबन्धादर्थस्यापि वाङ्निर्म्मितित्वेनार्थगते वैलक्षण्यस्यापि वाङ्निर्म्मितिवैल-क्षण्यात्। **अत एवेति** विलक्षणकार्य्यकारित्वादेवेत्यर्थ। स्तुतिरूपमङ्गलस्या-प्यस्य मानसनमस्कार(C)व्यञ्जकत्वमपीत्याह—**जयत्यर्थेनेति**। स च नमस्कार-स्तादृशस्तुतिकर्त्तुरेवेत्याह—**तां प्रत्यस्मीति**। **लभ्यते** स्तुतिध्वनिभिः।

(A) द्वन्द्वात् परं पूर्व्वं वा य श्रूयते स प्रत्येकमभिसम्बध्यते इति न्यायादिति भाव ।

(B) निर्म्मितिपदस्य भावप्रत्ययान्ततया क्रियामात्रवाचित्वे तत्र मधुरादिषड्रसत्वमनुप-पन्नमित्यतो जगत्परतया व्याचष्टे—निर्म्मितमिति।

(C) अय भाव । जयत्यर्थ उत्कर्ष, स च विशेषानुपादानात् सर्व्वप्रतियोगिक इति लभ्यते भारत्या सर्व्वोत्कृष्टत्वज्ञाने तुल्यवित्तिवेद्यतान्यायेन प्रकारान्तरेण वा भारत्यपेक्षया सर्व्वस्याप-कृष्टत्वज्ञाने सर्व्वान्तःपातिनि स्वस्मिन्नपि भारत्यापेक्षयाऽपकृष्टत्वज्ञानं व्यञ्जनया इत्तमेवेति बालबोधिनी ।

इष्टाभिधेयं सप्रयोजनमित्याह—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥ २ ॥

कालिदासादीनामिव यशः, श्रीहर्षादेर्धावकादीनामिव धनम्, राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्, आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थनिवारणम्, सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव

विचारणीयकाव्यस्य प्रयोजनमस्ति चेत् तद्विचारकालङ्कारशास्त्रे जनः प्रवर्तते, अतः काव्यस्य प्रयोजनदर्शिकां कारिकामुत्थापयति—इष्टाभिधेयमिति । इह अलङ्कारशास्त्रे यद् अभिधेयं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यचित्रात्मकं त्रिविधं काव्यं तत् सप्रयोजनम् इति कारिकया आहेत्यर्थः । 'सप्रयोजनमाहे'ति पाठे काव्यमुद्देश्यत्वेन प्रयोजनञ्च विधेयत्वेन सहैवाहेत्यर्थः ।

अर्थकृते इति, अर्थो धनं तस्य कृत् करणमुपार्जनं तस्मै इत्यर्थः । एवं विदु वेदनं ज्ञानम् युक् योजनं प्रीतिस्तस्य इत्यर्थः । सर्वत्र सम्पदादित्वाद् भावे क्विप् । यश-आदिषु चतुर्ष्वर्थे करोतिना निरूपयन्नाह—कालिदासादीनामिति । अत्र कवीनामित्युपमेयं बोध्यम् । एवमुत्तरत्रापि । 'यश' करोतीत्यग्रेणान्वयः । 'काव्यं' कर्तृ । कालिदासादीनामिवेत्यनेन सनातनदर्शनात् यशःकरणे बाधः परिहृतः । एवमुत्तरत्रापि । 'श्रीहर्षो' राजा, धावकेन कविना रत्नावलीं नाम नाटिकां तन्नाम्ना कृत्वा ततो धनं लब्धम् । व्यवहारं व्याचष्टे—राजादीति । आदिना अमात्यादिगतराजाचारपरिग्रहः, काव्येन तदुभयस्यैव वर्णनात् ततस्तज्ज्ञानम् । शिवेतरस्यानर्थहेतुत्वेन¹ तत्क्षतिमाह—आदित्यादेरिति । आदित्यस्तुतिरूपात् (A)काव्यान्मयूरभट्टस्य कुष्ठित्वनिवृत्ते । सद्यः परनिर्वृतिं व्याचष्टे—सकलेति । 'मौलिभूत' (B)प्रधान

(A) काव्यादिति । सूर्यशतकनाम्न ।

(B) प्रधानभूतमिति । प्रयोजनं हि मुख्यगौणभेदेन द्विविधम्, तत्र कीर्तिधनादेरवाप्तफलतया गौणत्वमानन्दस्य तु फलत्वान्मुख्यत्वमिति तस्य प्राधान्यम् ।

---

1 'स्वानपकपदेनुक्तेन' ख, ग ।

(A)रसास्वादन-समुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्, प्रभुसम्मित-शब्दप्रधानवेदादिशास्त्रेभ्यः सुहृत्सम्मितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीति-

---

भूतम् ; इयं परपदव्याख्या[1]। 'समनन्तर' काव्यार्थबोधानन्तरम् ; इय सद्य-पदव्याख्या[2]। *निर्वृतिपदं रसरूपानन्दपरतया व्याचष्टे*—**रसास्वादेति।** रसरूपं यदास्वादनं तद्रूपं सत् 'समुद्भूत' सम्भूत वा पाठभेदात्, उभयथाऽप्युत्पन्नमित्यर्थः, रसस्य स्वप्रकाशानन्दरूपतया उत्पद्यमानत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। (B) स च न कार्य्यं इत्यनेन तु [3]काव्यं शास्त्रान्तरवैलक्षण्यमेव साधयिष्यते, न तु कार्य्यत्वाभाव इति तत्रैव व्याख्यास्यते। तत्काले विषयान्तरबोधो नास्तीत्याह—**विगलितेति** ज्ञानाविषयीभूतेत्यर्थः। विलक्षणं काव्यमेवैतत् करोतीत्यत' काव्यपदं विलक्षणकाव्यपरतया व्याख्यातुमाह—**प्रभुसम्मितेति**(C)। प्रभुरत्र प्रभोरुपदेश', 'तत्सम्मित' तत्तुल्यं यत् 'शब्दप्रधान वेदादिशास्त्रम्,' आदिपदात् '[4]वैदिकमन्त्र(D) ततो विलक्षणमित्यर्थः। एवंसिद्ध इति कस्यचिदाज्ञप्ति प्रभुणाऽऽदिष्टे '[5]यथा समामर्निह इति न व्यवह्रियते प्रभोरुपदेशस्य शब्दप्रधानत्वात्, तथा वेदोक्तशब्दस्यापि परिवृत्त्यक्षमत्वात्(E) शब्दप्रधानत्वम्। **सुहृदिति।** यत्रापि सुहृत् सुहृदुपदेश',

---

(A) रसास्वादनपदम् आस्वादनपदस्य करणव्युत्पत्त्या रसास्यास्वादनं यस्मादिति चर्वणीति वा विभावादिसंयोगपरम्, तत समुद्भूतमुत्पन्नमित्यर्थः। अनेन एतदानन्दकारणस्य लौकिकानन्दकारणवैलक्षण्योक्त्या फलीभूतानन्दस्य वैलक्षण्यं लभ्यते विगलितेत्यादिविशेषणान्तरमप्यत्रोपयुज्यते भाष्याद्य निर्वृति पदत्वमुपपद्यते इति ध्येयम्।

(B) प्रतीकोऽयं चतुर्थोल्लासे अभिनवगुप्ताचार्य्यमतोल्लेखावसरे द्रष्टव्यं।

(C) वेद पुराणं काव्यञ्च प्रभुर्मित्रं प्रियाव च' इति प्रत्यभाषणकोऽत्र उपजीव्यत्वा प्रसम्भेव।

(D) अत्र 'अवैदिकमन्त्र' इति शुद्ध पाठ, वैदिकमन्त्रस्य वेदान्तर्गतत्वादेव आदिपदेन ग्रहणस्यानौचित्यात्।

(E) परिवृत्त्यक्षमत्वादिति। स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यादिना वेदानां यथाक्रमानुपूर्व्या एव पाठस्य फलवत्त्वं बोधितम्, न तु 'अग्निमीळे' इत्यादि समानार्थकस्य वह्निं स्तौमीत्यादे, न वा ईळे अग्निमित्यादिव्युत्क्रमेण पाठस्य इति तेषां शब्दप्रधानता। यथाह्रियैतत्विरुक्ते "नियतवाचोयुक्तयो नियतानुपूर्व्या भवन्ति" "अर्थवन्त शब्दसामान्यात्" (अ १ पा ९) इत्यादिभि। एवमवैदिकमन्त्रेष्वपि।

---

1. '-पदार्थव्याख्या' क ख। 2 '-पदार्थव्याख्या' क-ख। 3 'कार्य्यान्तरवैलक्षण्य-' ख। 4 'वैदिकमन्त्र-परिग्रह,' ग। 5 'यथा शब्दपरायणेन' ख-ग।

हासेभ्यश्च शब्दार्थयोर्गुणभावेन (A)रसाङ्गभूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तत् कान्तेव सरसताऽऽपादनेनाऽभिमुखीकृत्य रामादिवद्वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।

तत्तुल्य यदर्थतात्पर्य्ययुक्तं पुराणादिरूपमितिहासशास्त्रम्। आदिपदात् उपपुराणपरिग्रह, ततोऽपि विलक्षणमित्यर्थः। सुहृदुपदेशपुराणयोर्द्वयोरपि अर्थस्यैव प्राधान्यं न तु शब्दपरिवृत्त्यसहत्वमत्र्चमत्ताऽर्थतात्पर्य्यवत्त्वम्। तेभ्यो वैलक्षण्ये हेतुमाह—शब्दार्थयोरिति अर्थोऽत्र वाच्यो लक्ष्यश्च। तयोर्गुणभावे हेतुमाह—रसाङ्गेति। रसाङ्गभूतः रसबोधकः व्यापारः व्यञ्जनात्मकः यस्मै व्यङ्ग्याय, तत्प्रवणतया व्यङ्ग्यप्रधानतयेत्यर्थः; व्यङ्ग्यार्थस्यैवास्वाद्यत्वेन तत्प्रधानता। यद्यपि रसस्य साक्षात्कार एव वक्ष्यते, तथापि प्रथमं व्यञ्जना, तत एव साक्षात्कार इति सिद्धान्तविषयमाणत्वाद्व्यञ्जनाया रसाङ्गत्वम्। भट्टलोल्लटमते तु रसस्य व्यञ्जनैवेति तन्मते स्पष्टमिदम्। तादृशं काव्यं न सामान्यकविसाध्यमित्यत आह—लोकोत्तरेति, अन्यलोकविलक्षणवर्णनायां निपुणस्य कवेः कर्मेत्यर्थः। कान्तासम्मिततयेति व्याचष्टे—तत् कान्तेवेति। "तत्" काव्यं कर्तृ। सरसता शृङ्गारोन्मुखता, काव्येनापि प्रथमं शृङ्गारादि[1]रसबोधनं ततो वर्णितार्थे प्रवृत्तिनिवृत्ती उपदिश्येते। उपदेशस्याकारमाह—रामादीति। रामस्य पित्राज्ञादिपालनकर्तुरिव प्रवृत्त्युपदेशः; रावणस्य परदारहरणादिकर्तुरिव निवृत्त्युपदेशः। 'उपदेशञ्चेति' चकारः पूर्वोक्तयशआदिकस्य समुच्चये। यथायोगमिति यथासम्भवमित्यर्थः। तत्र यशोऽर्थौ कवेरेव, व्यवहारोपदेशपरनिर्वृतयः सहृदयस्यैव शेषमुभयोः। सर्वथा तत्रेति। 'तत्र' काव्ये काव्यार्थबोधे च। तत्तत्फलार्थं कविना सहृदयेन च सर्वथा यतनीयमित्यर्थः।

(A) रसाङ्गेति। रसास्वादमङ्गभूतः बोधकत्वेनोपकारको यो व्यापारः साधारणीकरणरूपो भोजकत्वाख्यो वा तत्प्रवणतया तत्परतयेत्यर्थः। एवञ्च—सति करणव्यापारे तदसत्त्वस्य रसास्वादस्याऽसम्भवात् तत्रैव परमतात्पर्य्येण शब्दार्थयोरत्र गुणत्वमिति ध्येयम्।

---

1 'रसाङ्गा (रसाङ्गा ?) इत्र कत्र।

एवमस्य प्रयोजनमुक्त्वा कारणमाह—

शक्तिर्निपुणता[A] लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ ३ ॥

अस्येति काव्यस्य काव्यार्थबोधस्य च कारणमाहेत्यर्थः । एतेन 'काव्यतदर्थबोधयोः कारणकथनमुपक्रान्तमिति बोध्यम् । तद्रूपकारणमाह[1]* शक्तिरित्यादि । लोकाद्यवेक्षणान्निपुणतेत्यन्वयः । काव्यज्ञपदं काव्यकर्तृतद्विवेचकोभयपरतया स्वयमेव व्याख्यास्यते, एवमुद्भवपदमप्युत्पत्तिज्ञप्त्युभयपरतया । तत्र

A निपुणतेति । इह प्रसङ्गात् मातुलश्चयमाद्युपयोगमन्तरेणापि व्याकरणादिशास्त्रावेक्षणाहितनैपुण्यस्य काव्यनिर्माणे सर्वथोपयोगे च उपयोग उदाहरणे प्रदर्श्येते ।

तत्र व्याकरणनैपुण्यं यथा—

उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेदिति मुनेर्मतम् ।
अपवर्गे तृतीयेति भणतः पाणिनेरपि ॥

लिङ्गानुशासननैपुण्यं यथा—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः ।
मनस्तत्रैव रमते वयं पाणिनिना हताः ॥

उपनिषन्नैपुण्यं यथा—

अणोरणीयान् महतो महीयान् योगे वियोगे दिवसोऽङ्गनायाः ।
स्पृष्ट्वा सखे सत्यमिदं ब्रवीमि यज्ञोपवीतं परमं पवित्रम् ॥

अन्यच्च—

सखैव सर्वमपरं न तु किञ्चिदस्ति तस्मान्न मे सखि परापरभेदबुद्धिः ।
जारे यथा गृहपतौ च तथा रतिर्मे मूढा किमर्थमनतीति कदर्थयन्ति ॥

साङ्ख्यनैपुण्यं यथा—

प्रथितपुंसं सन्निहिताः कृत्यपरा विविधकरणकोपचिताः ।
बहुलार्थग्राहिण्यः प्रकृतय इव दुर्मेधा गणिकाः ॥

वैशेषिकशास्त्रनैपुण्यं यथा—

अविदितसुखदुःखं निर्गुणं वस्तु किञ्चिज्-
जडमतिरिह कश्चिन्मोक्ष इत्याचचक्षे ।

---

1. 'काव्यकर्तृकाव्यबोद्धृभेदयोरेव यतनीयत्वात्, अत एव द्वयोरेव कारणमाह' क ।

शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न

शक्तिद्वयम्। तदुभयकारणद्वयं व्याचष्टे—**शक्तिः कवित्वबीजेति** जनिका बोधिका च शक्तिरित्यर्थः। परञ्च कवित्वबीजेत्यत्रापि कवित्वतदर्थबोधबीजेत्यर्थः। उभयोर्भेदेऽपि संस्कारत्वेनैकत्वादेकवचनम्[1]। संस्कारश्चात्र अतीन्द्रियात्मगुणरूप-स्तथा पुण्यविशेष एव, तथा च तदुभयजनकौ पुण्यविशेषावित्यर्थः। धर्मवर्ती तु भावनाख्यसंस्कारमेवाह, तत्र, स्मृतिं विना तस्यान्यथाजनकत्वात् पदार्थस्मारक-भावनायाश्च सर्वसाधारणत्वेनाव्यावर्त्तकत्वात् काव्याकर्तृकाव्याबोद्धव्यावर्त्तनाय पुण्यविशेषस्यावश्यकत्वाच्च। तादृशशक्तिद्वयस्य तादृशफलद्वयं प्रति कारणताग्राहक-तदुभयव्यतिरेकेण तत्तत्फलद्वयव्यतिरेकमाह—**यां विनेति प्रसृतं वेति च।**

मम तु भगवन्कृष्णस्येत्ताक्ष्यपूर्ण-
स्मरकलभदिदासीनीविमोक्षो हि मोक्षः ॥

पूर्वमीमांसानैपुण्यं यथा—

तमो द्रव्यं नेत्याद घटपटिनि माने समुदिते
यदीदं रूपि स्यात् कथमिव न हि स्पर्शगुणवत्।
इतीवास्मत्कं शिथिलयितुमन्तर्व्यवसिता
तमोरूपं धत्ते कचभरमिषेणेन्दुवदना ॥

न्यायशास्त्रनैपुण्यं यथा—

भावादभावाद यदि नातिरिक्तः सम्बन्धिभिः स्वीक्रियते पदार्थः।
अभ्याविभाति प्रतियोगिशून्यं श्रीलक्ष्मणक्षोणिपतेर्यशः किम् ॥

योगशास्त्रनैपुण्यं यथा—

आहारे विरतिः समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा
नासाग्रे नयनं यदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते
तद् ब्रूयाः सखि योगिनी किमसि भोः किं वा वियोगिन्यसि ॥

सांख्यसूत्रनैपुण्यं यथा—

गृहोदन्तं किञ्चिच्छृणु कथयतो मम उदितं
न विश्वासो न्याये कथमपि तव स्यास्यति यतः।
अमूनौ काठिन्यं मनसि मिलितप्राप्यणुतया
महामार्गं सोऽप्रचयपरिणाम विसृजात ॥

1. 'भतोऽभार्थकादेक' क।

तत्र काव्यस्य जनकताग्राहक 'या विनेति' यां शक्तिं विनेत्यर्थः। तस्या बोधकताया ग्राहक प्रसृत वेति, अत्रापि या विनेत्यस्यान्वयः। वाकार अप्यर्थे, तथा च जनिकया शक्त्या प्रसृत जातमपि काव्यं यां बोधिकां शक्तिं विना उपहसनीय स्यादित्यर्थ। सत्काव्योपहासादेव च तदर्थबोधव्यतिरेकलाभ। एतेन जनक-शक्तिव्यतिरेकेण प्रसृतत्वासम्भवो नाशङ्कनीय जनकशक्तिव्यतिरेकेण प्रसृतत्व-स्यानुक्तत्वात्। मैथिलास्तु अनुपहसनीयकाव्यकारणकथनमेवात्रोपक्रान्तमित्यभि-प्रायेण अनुपहसनीयकवित्वबीजरूप संस्कारविशेष इत्यर्थ, तथाच अनुपहसनीय काव्य यां विना न प्रसरेत् प्रसृतञ्च यत् काव्य तदुपहसनीयमेव न त्वनुपहसनीयमित्यर्थ इत्याहुः, तन्न। काव्यपदस्यात्र अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे प्रसृत वेति वाकारेण तत्रैव प्रसृतत्वान्वयबोधतात्पर्य्यस्य ग्राहणीयत्वनियमात् न तूपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरे(A), उपहसनीयकाव्यरूपधर्म्यन्तरस्य शब्दादप्रतीते (B) बोधकशक्त्युपकथने 'इति प्रयस्तस्य काव्यस्य उद्भवे निर्म्माणे समुल्लासे च हेतु'रिति वृत्त्यनुपपत्तेश्च[1]।

अन्ये तु तर्कपरमेवेदम्, तथाच यां विना यदि प्रसृत स्यात् तदा अकाव्यत्वेनोप-हसनीय स्यादित्यर्थ इत्याहु, तदपि न, 'यथाश्रुतस्यास्य तर्कस्य घटादावेव व्यभि-चारेण मूलशैथिल्यात्(C) यां विना प्रसृत काव्यं स्यादित्यापादकदलार्थकरणे तु काव्यपदस्यासत्काव्यसाधारण्यपरत्वे इष्टापत्ति, अनुपहसनीयकाव्यपरत्वे तु तस्य शक्तिं विना प्रसृतत्वाप्रसिद्ध्या आपादकाप्रसिद्धि', अनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयो-

(A). धर्म्यन्तर इति। तादृशबोधतात्पर्य्यग्रह सम्भवतीत्यर्थ।

(B). शब्दादप्रतीतेरिति। तथाच शक्तिं विना अनुपहसनीयकाव्यस्य प्रसृतत्वमेव नोपपद्यते तादृशस्योपहसनीयत्वन्तु नितरामिति भाव। अत्रानुपहसनीयकाव्यभिन्नकाव्यमित्यध्याहारेण तत्रैव प्रसृतत्वान्वय सम्भवति नञ्द्वयोपादानाच्च नोद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यमित्यस्वरसा-दाह—बोधकेति।

(C) मूलशैथिल्यादिति। व्याप्तिग्रहासम्भवादिति भाव।

1. [illegible] तुपपत्तेश्च, बयान्तमताया अत बोधकारत्वागुको वाहश्चैसहायानुपपत्ते', ख। मयम् पाठिको ऽम पूर्व्वभागस्य टिप्पणीति प्रतिभाति।

2 'यथाश्रुतस्यास्य तर्कस्य शक्तिं विना प्रसृतेऽनुपहसनीये घट एव व्यभिचारेण मूलशैथिल्यात्। यदि च यां विना यदि प्रसृत काव्य स्यादितापादकदलार्थस्तदा काव्यपदस्यासत्काव्यसाधारण्ये इष्टापत्तिरनुप-हसनीयकाव्यपरत्वे तु शक्तिं विना तत्प्रसृतत्वासिद्धा आपादकासिद्धिरनुपहसनीयत्वोपहसनीयत्वयोर्विरोधा-न्मूलशैथिल्यञ्च। अथ काव्य यदि इतरकाव्यकारणैः प्रसृत स्यात्तदा उपहसनीय स्यादिति तर्कोऽस्त्वयाच उपहसनीयकाव्य एव तत्प्रसिद्धिरिति चेत्र शक्तिं विना अभ्यासनिपुणतासहितेन सर्वेण जनिते अनुपहसनीये

प्रसरेत् पूहनं वा उपहसनीयं स्यात्, लोकस्य स्थावरजङ्गमात्मक-लोकवृत्तस्य शास्त्राणां छन्दो-व्याकरणा-भिधानकोष-कला[A]चतुर्वर्ग-गजतुरग-खड्गादिलक्षणग्रन्थानां काव्यानां च महाकविसम्बन्धिनाम्

निराधा मूलनीपिन्यश्च। अथानुपहसनीय काव्य पद्य, तथाच अनुपहसनीय काव्य यदि शक्ति विना प्रसृत काव्य स्यात्तदा उपहसनीय स्यादसत् काव्यत्वादिति तर्क-परिष्कार इति चेत्तथाऽपि वृत्तिविरोध एवात प्रागुक्त[2]* ।

लोकशास्त्रेत्यादिक व्याचष्टे—लोकस्येति। लोकवृत्तस्यैव वर्णनीयत्वेन लोक-मात्रापेक्षण तत्रानुपयुक्तमता लोकपद तद्वृत्तपरतया व्याचष्टे—लोकवृत्तस्येति। लक्षणादित्यस्य विवरण विमर्शनादिति अत्रैव च सकलस्यास्य पदार्थान्वय ।

(A) कला गीताद्यश्चतुःषष्टिभेदाः यथा—गीतं (१) वाद्यं (२) नृत्यम् (३) आलेख्यम् (४) विशेषकच्छेद्यम् (५) तण्डुलकुसुमबलिविकाराः (६) पुष्पास्तरणम् (७) दशनवसनाङ्गरागः (८) मणिभूमिकाकर्म (९) शयनरचनम् (१०) उदकवाद्यम् (११) उदकाघातः (१२) चित्राश्च योगाः (१३) माल्यग्रथनविकल्पाः (१४) शेखरकापीडयोजनम् (१५) नेपथ्यप्रयोगाः (१६) कर्णपत्रभङ्गाः (१७) गन्धयुक्तिः (१८) भूषणयोजनम् (१९) ऐन्द्रजालाः (२०) कौचुमाराश्च योगाः (२१) हस्तलाघवम् (२२) विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रिया (२३) पानकरसरागासवयोजनम् (२४) सूचीवानकर्माणि (२५) सूत्रक्रीडा (२६) वीणाडमरुकवाद्यानि (२७) प्रहेलिका (२८) प्रतिमाला (२९) दुर्वाचकयोगाः (३०) पुस्तकवाचनं (३१) नाटकाख्यायिकादर्शनं (३२) काव्यसमस्यापूरणं (३३) पट्टिकावेत्रवानविकल्पाः (३४) तक्षकर्माणि (३५) तक्षणं (३६) वास्तुविद्या (३७) रूप्यरत्नपरीक्षा (३८) धातुवादः (३९) मणिरागाकरज्ञानं (४०) वृक्षायुर्वेदयोगाः (४१) मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः (४२) शुकसारिकाप्रलापनम् (४३) उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम् (४४) अक्षरमुष्टिकाकथनम् (४५) म्लेच्छितविकल्पाः (४६) देशभाषाविज्ञानं (४७) पुष्पशकटिका (४८) निमित्तज्ञानम् (४९) यन्त्रमातृका (५०) धारणमातृका (५१) सम्पाठ्यं (५२) मानसी काव्यक्रिया (५३) अभिधानकोषः (५४) छन्दोज्ञानं (५५) क्रियाकल्पः (५६) छलितकयोगाः (५७) वस्त्रगोपनानि (५८) द्यूतविशेषाः (५९) आकर्षक्रीडा (६०) बालक्रीडनकानि (६१) वैनयिकीनां (६२) वैजयिकीनां (६३) व्यायामिकीनां च विद्यानां (६४) ज्ञानम् इति चतुःषष्टिरङ्गविद्याः कामसूत्रस्यावयविन्यः। कामसूत्रम् ३अ० १६सू०। आसां विवरणमन्ये च कलाभेदास्तत्र टीकायां द्रष्टव्यानि।

काव्य व्यभिचारात्। यद तथापि पुरुषविशेषकर्तृ शक्तिर्नुवर्तते चेदुपहसनीयकाव्यस्यापि नीयमानत्व-स्वलेन (?) पुरुषविशेषत्वादप्यादर्शार्थिहितैवासमर्थितेन न।

आदिग्रहणादितिहासादीनां च विमर्शनाद् व्युत्पत्तिः, काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनःपुन्येन प्रवृत्तिरिति त्रयः समुदिता न तु व्यस्तास्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुल्लासे च हेतुर्न तु हेतवः ।

स्थावरवृत्तञ्च लतालास्यकुसुमविकसनादि । 'अभिधानकोश' नामलिङ्गानुशासनम् । एवं छन्दोपयोग स्पष्ट एव । 'कला' हेलालीलादय स्त्रीभावा । 'चतुर्वर्ग', धर्मार्थकाममोक्षा (A) । कलादिखड्गान्तेषु सर्व्वत्र लक्षणग्रन्थान्वय, एवां सर्वेषामेव [1]काव्ये वर्णनीयत्वात् [2]तज्ज्ञानापेक्षा । इतिहासादीनामित्यत्र आदिपदग्राह्यग्रन्थपरिग्रह । व्युत्पत्ति संस्कार, स चान्वेषणीयार्थविषय[3] । काव्यज्ञपद काव्यकर्तृ तद्विवेचकरूपकाव्यमर्म्मवेत्तृभयपरतया व्याचष्टे—**काव्यं कर्तुमिति** । काव्यकर्त्रुपदेशात् काव्यकरणे तद्विवेचकोपदेशाच्च अन्वयबोधरूपे योजने प्रवृत्तिरभ्यास । एतावताऽप्युभयकारणकथनमुपक्रान्तमिति बोध्यम् । प्रवृत्तिरत्र 'प्रवृत्तिविषयज्ञानजन्य संस्कार' प्रवृत्ते क्षणिकत्वात् । इति हेतुरित्यत्र हेतुत्वयार्थकहेतुपदोत्तरैकवचनलभ्यभावार्थमाह—**इति त्रयः समुदिता इति** । समुदायाश्रयैकवचनात् समुदायलाभ इति भाव । तदुद्भवपद तन्निर्माणतदर्थबोधोभयपरतया व्याचष्टे—**तस्य काव्यस्येति** । उल्लास तदर्थज्ञानम् । एवञ्च त्रयान्तर्गततया शक्तेरप्युभयकारणत्वमुक्तम् । तथाच शक्तिपदं न जनकशक्तिमात्रपरम् । हेतु फलोपधायक । न तु हेतव इति न तु प्रत्येक फलोपधायका इत्यर्थ । अत्र च न तु व्यस्ता इत्यस्य हेतव इत्यत्रान्वये न तु हेतव इत्यत्र हेतुपदमधिक स्यादतो न तु व्यस्ता इत्यत्र कारिकास्थेन "इति" शब्देन परामृष्टा इत्यध्याहृतान्वयेन वाक्यभेद कार्य्य, तथाच समुदिता एव "इति" शब्देन परामृष्टा न तु व्यस्ता प्रत्येक परामृष्टा इत्यर्थः । एतादृशपरामर्शफलमाह—**हेतुर्न तु हेतव इति** । तथाच दण्डचक्रादिवन्मिलितानामेव फलोपधायकत्वमुक्तम्, स्वरूपयोग्यता तु प्रत्येकमस्त्येव । मिलितानां तथात्वन्तु अन्वयाद्यनधीतकाव्यं प्रत्येव

(A) धर्म्मग्रन्था —मन्वादिप्रणीता मनुसंहितादय । अर्थग्रन्था —चाणक्यादिप्रणीता अर्थशास्त्रादय । कामग्रन्था —वात्स्यायनादिप्रणीता कामसूत्रादय । मोक्षग्रन्था —उपनिषदस्तदुपकारकाश्च व्यासादिप्रणीता ब्रह्मसूत्रादय ।

१ 'काव्येन' क । २ 'तदीयवचनसज्ञानापेक्षा' ख । ३ 'प्रशंसितविषयार्थ' ख, ग ।

एवमस्य कारणमुक्त्वा स्वरूपमाह—

(१) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि ।

वाधम्, मन्दाधीनकार्ये तु मन्त्राजेन शक्तिविशेष एव हेतुः । शिशुकृतकार्ये तु जन्मान्तरीण तन्त्रयमस्त्येव । (A)

एवमिति । 'अस्य' काव्यस्य, 'स्वरूप' लक्षणम् ।

तददोषाविति । शब्दार्थौ अथाद्युपस्थापकापस्थाप्यभावेन[1] परस्पर-विशिष्टौ, तत् काव्यमित्यर्थ, न तु निरर्थकशब्दानुपस्थापितार्थौ, एतश्च काव्यत्व विशिष्टवृत्ति न प्रत्येकवृत्ति । यत्तु काव्य शृणोमीति प्रत्ययात् काव्यत्व शब्दमात्रवृत्तीति केचिदाहु, तन्न, अयस्यापि शब्दद्वारा तथा प्रतीतिविषयत्वात्, कथमन्यथा "आत्मा वा अरे श्रोतव्य" इत्यत्रात्मन श्रोतव्यता । तथाच काव्यत्व विशिष्टवृत्तित्वाधि, द्रव्यत्वादिना जातिसङ्करात्(B) न जाति न वा काव्यत्व (C)व्यासज्यवृत्ति,[2] अथाज्ञानेऽपि शब्दाज्ञानेमान काव्यत्वानुभवानुपपत्ते, यावदाश्रया

(A) अत्र काव्यादर्शीकया प्रमचन्द्रतर्कवागीशा —"वस्तु परिस्फुरणस्वरूपस्य प्रतिभा काव्यकृतिनिमित्तहेतु शक्तिः सम्कारविशेषरूपा अतिरिक्ता वा सर्वाङ्गीकृतत्वात् सा च प्राक्तनी ऐदानीन्तनी च, तत्र प्राक्तनी सिद्धाभ्यि इदानीन्तनी तु शास्त्रकाव्यकलासेवनजनितसस्कार व्युत्पत्त्या नियताभ्यासेन च पुनः जायते । कारणत्वज्ञानयाभ्यामेव शक्तिनिमित्तत्वात्, अशुत्पन्नानां बालादीनामपि केवल प्राक्तनशक्तिबलेन व्युत्पन्नानां वर्तमानानामपि कदाचित् प्राक्तनशक्त्य-भावेन काव्यानुत्पत्तेदर्शनात्" इत्याहु ।

(B) जातिसङ्करादिति । सङ्करो नाम परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयोर्धर्मयोरेकस्मिन्नर्थे समावेशनम् । प्रकृते शून्य वाग्गृहमिति वाक्यस्य शाब्द मायिकारूप अर्थे काव्यत्व द्रव्यत्वञ्चोभय मेव वर्तते इति तयोरेकत्रावस्थानम् । तथा शब्दवृत्तिकाव्यत्वमेतद्वाक्ये वर्तते तत्र द्रव्यत्वं नास्ति तस्य गुणान्तर्भावादिति काव्यत्व द्रव्यत्वाभावसमानाधिकरणम्, एवं रमवङ्गभ्यामभिन्नाये घटविशेष द्रव्यत्वमस्ति न काव्यत्वमिति द्रव्यत्वस्यापि काव्यत्वाभावसमानाधिकरणमित्येवं सङ्कर इत्यर्थ । अस्य जातिबाधकत्वप्रकाराऽनुमितिशाद्दबोधयो स्मृतिनिरूपणप्रस्ताव प्रपञ्चित ।

(C) व्यासज्येति । व्यासज्यवृत्तिद्वित्वादि तच्च प्रत्येक घटे पटे च वर्तमानमपि पर्याप्तिसम्बन्धेन घटत्वपटत्वाद्यन्यतमधर्मावच्छेदेन न वर्तते घटो द्वौ पटो द्वाविति प्रत्ययाभावात्

1 भावसम्बन्धेन ख । 2 पदनिष्ठवच नाम शब्दानुपस्थाप्यो वाङ्मय काव्यत्व वि ग । 3 पृथ मात्रत्व_व्यवहारोपपत्ते ग । 4 अत पर— परस्परविशिष्टयोरेव शब्दार्थयोः निरपेक्ष शब्दार्थ-योरपि काव्यत्वप्रसङ्गात्' इति ख पुस्तकेऽधिक पाठ ।

विषयज्ञानेन [1]व्यासज्यवृत्तिधर्म्माविषयीकरणात्; विशिष्टस्य काव्यत्वे च यत्र शाब्दी व्यञ्जना शब्दालङ्कारो वा तत्रार्थविशिष्टः शब्दः काव्यम्, यत्र त्वार्थी व्यञ्जना अर्थालङ्कारो वा तत्र शब्दविशिष्टोऽर्थः काव्यमिति विनिगमना; न त्वेकत्रैव पक्षे द्विविधं काव्यत्वं वैयर्थ्यात्। दोषविशेषयुत काव्यत्वानङ्गीकारादाह—अदोषाविति। च्युतसंस्कृत-भग्नप्रक्रमयोगक्लिष्टत्वादयो[2] ये शाब्दबोधविघटका दोषाः, ये च [3]प्रतिकूलवर्णत्वादयो रसबोधविघटका दोषाः तत्सामान्याभाववन्तावित्यर्थः, एषु सत्सु रसबोधानुदयात्। दोषान्तरं तु काव्यापकर्षकमेव न तु काव्यत्वविघातकम्; अतः "तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयामि"त्यादौ न्यूनपददोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणेऽपि काकुसह-कृतवाक्यार्थव्यङ्ग्यध्वन्युदाहरणत्वम्, 'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं'-मित्यादौ पुनरुक्तदोषोदाहरणतया वक्ष्यमाणेऽपि रौद्ररसध्वन्युदाहरणत्वञ्च वक्ष्यमाणं [4]नानुपपन्नम्। केचित्तु एकत्रैव 'काव्ये दोषवदवयवावच्छेदेनाकाव्यत्वम् अन्यावच्छेदेन तु काव्यत्वमतो दोषसामान्याभाववन्तावित्येवार्थमाहुः, तच्च एकत्रोभयव्यवहाराभावा-दनुपादेयमेव[5]। सर्वथा नीरसस्य—

"गोरपत्यं बलीवर्दो घासमत्ति मुखेन स"

इत्यादेः

"[6]अग्रायत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः प्राज्यः प्रोत्सर्पत्यसौ[7] धूमः"

इत्यादेश्च काव्यत्वानङ्गीकारादाह—सगुणाविति। गुणा हि माधुर्यौजः प्रसादाख्या रसधर्म्मा एव वक्ष्यन्ते, काव्यस्य च गुणाश्रयरसवत्त्वेनैव सगुणत्वम्[8]। अत एव वक्ष्यति—

"गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता" इति।

(८म उल्लासे)

तेषां गुणानां गुणवृत्त्या परम्परावृत्त्या इति तदर्थात्। भावतदाभासभावशान्ति-भावोदयभावसबलत्वानि यानि व्यङ्ग्यानि असंलक्ष्यक्रमतया रसतुल्यकक्षाणि वक्ष्यन्ते तेष्वपि गुणाङ्गीकारात् न भावादिकाव्येष्वव्याप्तिः (A)। अत एव "नियतिकृतनियम-

तथाच एकत्वानवच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वमिति व्यासज्यवृत्तेर्लक्षणम्। एवञ्च काव्यत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वे अर्थनैरपेक्ष्येण शब्दे शब्दनैरपेक्ष्येण अर्थे च काव्यत्वप्रत्ययोऽनुपपन्न इति भावः।

(A) तथाच ये रसस्याङ्गिन इत्यत्र रसपदं भावादेरप्युपलक्षकमिति भावः।

1 'व्यासज्यवृत्तिधर्म्मस्य शब्दार्थयोरविशिष्टत्वनियमात्' ग। 2 'क्लिष्टत्वा' क-ग। 3 'प्रतिकूलवर्णादयः' क-ग। 4 'न विरुद्धम्' ख-ग। 5 'पदे' ख-ग। 6 अत एव—'अव्याप्यवृत्तितया प्रतीतिमात्र-साक्षिकत्वादि'ति ग-पुस्तकेऽधिकः पाठः। 7 'राशा-' क। 8 'नाम' क-ग। 9 अत एव—'अतः सरसाविति पर्यवसितमिति गौरवत्यागमिति'ति ख-पुस्तकेऽधिकः पाठः।

दोषगुणालङ्कारा वक्ष्यन्ते। क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र

रहितामि' त्यादिरु भारतानिश्यमानकाव्यमपि काव्यमेव दयादिविषयरतिभावे शृङ्गा रीयासूयादिर्व्यभिचारिभावे च माधुर्यस्य आश्रयस्य रसविशेषादिभावे च आना गुणस्य सत्त्वात्। व्यक्तीभविष्यति चेदम् आनागुण यवकरणानिहरणतया वक्ष्यमाण मुखसमुद्धृतश्लोकयोः गणयितव्यमाचारवन्तस्य महत्त्वम्। वैचित्र्यमलङ्कार(A) इत्य लङ्कारसामान्यलक्षणम्, वैचित्र्यञ्च भङ्गीविशेष प्रतीतिमात्रिक तदभावे हि कान्त कामयमान मा न त्व कामयसे कथम्) 'इत्यस्यापि काव्यत्वमेव शृङ्गार रसस्यापि तत्र अतिव्याप्तिनिवारणाय सालङ्कारानिति लक्षणेन पर्यायमितुमाह— अनलङ्कृती पुनरिति। अत्र स्फुटार्थे 'नन , अन्यत्र च पुन' शब्द। तथाच काव्युदाहरणविशेषे स्फुटालङ्कृता अपीत्यर्थ ; नन प्रौढालङ्कृती तु सुतरामिति पापानि। तथाच सालङ्कृता इति पर्यवसितम्। [2]अनलङ्कृती इति पदस्य अप्रौढालङ्कृति(C) परत्वभ्रमनिरासार्थमित्यमुक्ति*। नामना निर्दिष्टानामलङ्काराणामभावेऽप्युक्ति भङ्गीसारं सालङ्कारत्वमेव वैचित्र्यमात्रस्यैवालङ्कारत्वान्नियता वक्ष्यमाणेषु विशेष च्युतचन्दनमित्यादिषु नास्ति (D)। क्वापीत्यनेनेति अनलङ्कृता इत्यत्रेत्यर्थ

(A) सौन्दर्यमलङ्कार इति वामनसूत्रम्। वैचित्र्यमेवालङ्कार इति लक्षणमप्युक्तम्। तथाच वामनसूत्रस्य सौन्दर्यस्यैव वैचित्र्यापन्नतया व्याख्यानमुक्तमिति प्रतिभाति।

(B) कान्त कामयमान मा न त्वं कामयसे कथम्। इति ग्राम्योऽयमर्थो वक्त्रा प्रकल्पन॥ इति काव्यादर्श—१। ६३। १९०।

(C) अप्रौढालङ्कृतित्वम् प्रौढालङ्कृतिशून्यत्वम्, एवञ्च काव्यलक्षणस्य तत्पर्यवसितत्वे प्रौढालङ्कृतिशून्यस्य शब्दार्थयुगलस्य काव्यत्वं न स्यादित्यतोऽपि सर्वथालङ्कारशून्ययोरेव शब्दार्थयोरिति तादृशभ्रमनिरासाय पुन क्वापीत्यनेन कृत इति भाव।

(D) इह पाञ्चालमालारचनीयोऽध्याय अन्यानि प्राचीनान्यर्वाचीनानि च काव्य लक्षणान्युद्धियन्ते। तत्र शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली इति दण्डी। काव्यशोभा या गुणालङ्कारसंस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते इति वामन। गुणालङ्कारनिरिमात्रस्य मधुरत्वाद्य स्य काव्यमिति वामन। ध्वन्यात्मकं वाक्यं काव्यमिति सम्मिमहिमानम्। निर्दोष गुणालङ्कारलक्षणरीतिवृत्तिमत् वाक्यं काव्यमिति पीयूषवर्ष(जयदेव)मतम्। अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यमिति हेमचन्द्र। रसालङ्कारयुक्तं सुखविशेषसाधनं वा वाक्यं काव्य

1 इति दण्डिकृत गीतमवाक्यमत्र काव्य 2 प्रौढालङ्कृती सुतराम् सन्त 3 सालङ्कृती इति करण इत्यनलङ्कृतिपरिहारार्थानिकमाय मित्युक्ति च।

सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः[1]।

क्वापीत्यन्तस्य तस्यैव यत् सर्वत्रेत्याद्यर्थकत्वात्। क्वापीत्यनेनेति तु [1]प्रामादिकः पाठः, तस्य तादृशार्थबोधकत्वाभावात्। सर्वत्र सालङ्कारत्वलाभश्च ईषदर्थकनञा अप्यर्थक-पुनःशब्देन चेत्युक्तमेव। क्वचित्त्विति अलङ्कारस्फुटत्वस्याविवक्षितत्वादिति भावः।

यः कौमार इति। रेवानदीतीरे वेतसीनामतरुतले कृतसङ्केताया नायिकाया गृहे स्वयं परामर्शोऽयम्। तादृशस्थले सुरतार्थं ममोत्कण्ठानिर्वर्त्तिका सामग्री मम गृहे एवास्ति तथाऽपि कृतसङ्केते (B)तत्र रेवायाः रोधसि तीरे वेतसीनामतरुतले सुरत-व्यापारलीलाविधाननिमित्त(C) चेतः समुत्कण्ठते। विलक्षणरतिक्रमभावप्राप्त्यर्थं विलक्षणराज्याद्विप्राप्त्यर्थंश्च तत्रोत्कण्ठा युज्यते, तत् सर्वञ्च मम गृहे एवास्तीत्याह—य कौमार इति। कौमारं कुमारीत्वम् अनूढात्वम्, विवाहेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थः स एव वरः श्रेष्ठः विलक्षणरतिक्रम एवेत्यर्थः। हिरवधारणे। चक्रवर्त्ती तु कौमार-मभिनवयौवनम् उपभोगेन यस्तद्धरः पतिरित्यर्थ इत्याह, तत्तु न रुचिरं कुलटोक्तौ मानता फलाभावात्, अन्यस्याप्युपभोगकरत्वसम्भवात्। एवं विलक्षणराज्यादयोऽप्यत्रैव सन्तीत्याह—ता एवेति। कदम्बानिलाः कदम्बवनानिलाः, वनानिलानां प्रौढ-त्वेऽपि वनवह्निभावे मान्द्योपलम्भादाह—प्रौढा इति, न तु कदम्बपुष्पानिला इत्यर्थः चैत्रे कदम्बपुष्पाभावात् प्रौढा इत्यस्यानुपपत्तेश्च। अत एव कदम्बपदमत्र (D)धूलि-कदम्बपरं तस्यैव चैत्रे सम्भवादिति चक्रवर्त्तिव्याख्यानमयुक्तं तदनिलानां प्रौढाना-

---

मिति केशवमिश्रमतम्। रसात्मकवाक्यं काव्यमिति शौद्धोदनिमतम्। रसात्मकं वाक्यं काव्यमिति विश्वनाथमतम्। रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यमिति जगन्नाथपण्डितराजमतम्।

(A) मालती वासन्तिकलता। कदम्बो धूलिकदम्बः। अत्र प्रौढा युवान इति श्लिष्टविशेषण-बलादनिलमालत्योर्नायकनायिकाभावः प्रतीयते इत्युद्द्योते स्पष्टम्।

(B) ख-ग-पुस्तकयोः 'तत्रे ति पदं 'तामन्वे' इत्यनन्तरं योजितम्, तदुत्तरं 'पुर्वानुभूत' इत्यधिकं व्याख्यानञ्च दृश्यते। तन्मते निशावत्यन्तस्य विशेषणमिदम्।

(C) निमित्तमिति। तथाच लीलाविधानेत्यत्र निमित्तार्थे सप्तमी 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास' इतिवदिति बोध्यम्।

(D) धूलिकदम्बः पुष्पविशेषः। अत्र चक्रवर्त्तिव्याख्यानमेव समीचीनं मालतीसुरभय इत्यनेन सौगन्ध्यलाभेऽपि विशिष्टसौगन्ध्यलाभाय तदुपादानस्य सार्थक्यसम्भवात्, टीकाकृन्मते कदम्बपदसार्थक्यस्य दुरुपपादत्वाद् वनानिलत्वस्य अरण्यानिला इत्येतावताऽपि सम्भवात्।

---

1 वैश्वकप्रामादिक क।

सा चैवास्मि तथाऽपि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ १ ॥

अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः, रसस्य हि[1] प्राधान्यान्नालङ्कारता ।

मप्यनुद्दीपकत्वात्, सौरभलाभस्तु मालतीसुरभय इत्यनेनैव । ममावस्थावैलक्षण्यमपि तत्र(!)नास्तीत्याह—सा चैवेति ; तदवस्थैवास्मीत्यर्थः । एवञ्च चित्तं स्वभाववैलक्षण्यविषयेण विस्मयेनोद्दीपितः शृङ्गाररसाभासोऽत्र[2] व्यङ्ग्य । अत्रेति । अस्फुटे न विभावनाविशेषोक्ती अलङ्कारौ स्त एवेति बोध्यम् । तथाहि—उत्कण्ठाकारणानां रतिसमर्थनायकाद्यसाधनानामभावेऽपि उत्कण्ठारूपफलकथनाद् विभावना "क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावने"ति तल्लक्षणात् ; क्रियापदस्य च तत्र कारणमात्रपरत्वात् । तथा अनुत्कण्ठाकारणानां रतिसमर्थनायकादीनां सत्त्वेऽपि अनुत्कण्ठारूपफलस्य उत्कण्ठारूपाभावकथनाद् विशेषोक्तिः "विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः" इति तल्लक्षणात्, तत्र च फलावच इत्यस्य फलाभावकथनमित्यर्थात् । अनयोरस्फुटत्वञ्च कारणाभावफलाभावयोर्वाचकेन नञाऽनिर्देशाद् दुःसिलष्टप्रतीतिकत्वात्[3] । यच्च हरो वर इत्यनुप्रासः सोऽपि न स्फुटः रसोपकारकत्वे सति शीघ्रप्रतीयमानस्यैव स्फुटतयाऽभिप्रेतत्वात् ; सविसर्गतया गुरुणा रेफेण घटितस्यास्य अनुप्रासस्य तु शृङ्गारानुपकारकत्वात्, "रणौ लघू" इति शृङ्गारीयमाधुर्य्यव्यञ्जकतया वक्ष्यमाणत्वात्(A) । नन्वत्र

(A) अत्र प्रदीपकाराः—अत्र रूपकादीनामसम्भव एव । अस्मीत्यस्य विभक्तिपरिणामादस्तु दीपकमिति चेन्न अस्मीत्यस्याहमर्थकाव्ययत्वात् 'अहमस्मि करोमी'तिवत्, क्रियापरत्वेऽपि न दीपकत्व (-क ?) (एतद्-?) तदन्वयिनां सर्वेषामेव प्राकरणिकत्वात् दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविषयत्वात् । (अत्र प्राकरणिकाप्राकरणिकानामेकधर्मसम्बन्ध एव दीपकं न तु धर्मस्यैकशब्दोपस्थाप्यत्वमपि तत्प्रयोजकमित्यभिप्रायेणात्र दीपकालङ्काराशङ्का इति बोध्यम्) । सादृश्याप्रतीतेश्च न तुल्ययोगिता । समुच्चयोऽपि वक्ष्यमाणलक्षणो न सम्भवत्येव अतादृशत्र न चारुत्वहेतुः । विशेषोक्तिविभावने विद्यमाने अपि न स्फुटे । कथमिति चेदित्थम्—विशेषोक्तिस्तावत् कारणसत्त्वेऽपि कार्य्याभाववचनम्, अत्र चानुत्कण्ठाकारणं यौवनोपकरणयोरसुप्तता, तत्सत्त्वे यद्यप्यनुत्कण्ठाभाव उत्कण्ठाख्यो निर्दिष्ट एव तथाऽपि नानुत्कण्ठाभावत्वेन किन्तूत्कण्ठात्वेनैव, तस्मादस्फुटत्वमस्या । यदि चेतोऽनुत्कण्ठितं नेत्यभिधीयेत तदा स्फुटत्वमेवेत् । एवं कारणाभावेऽपि कार्य्योत्पत्तिवचनं विभावना । अत्र चोत्कण्ठाकारणं यौवनोपकरणयोरत्ता, तदभावश्च यद्यप्युक्त एव तथाऽपि नातत्ताविरहत्वेन किन्तु तत्तारूपेणैव अभावाभावस्य

---

1 'रसस्य च' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2 'ममात्रवैलक्षण्यविरहविषयव्यभिचारिभावोऽत्र' ख, '-स्वभावविपर्ययविषयोपचित स्वभावकविरह शृङ्गाराभासोऽत्र' ग । 3 '-वाचकमुखेनैव तदभावस्याभावात्' ख ग । 4 'शब्दव वाचान प्रतीत्य' ख-ग ।

[1]उपनायकविषयशृङ्गाराभास एवास्ति व्यङ्ग्यस्तस्य चोर्जस्विनाम्ना'* लङ्कारत्वेन गुणीभूतव्यङ्ग्ये वक्ष्यमाणत्वात् स एवात्र स्फुटोऽलङ्कारोऽस्तीत्यत आह 'रसस्य हि' रसाभासस्य(A) हीत्यर्थः, उपनायकविषयत्वेन रसस्याभासत्वादेव प्राधान्याद्रसान्तरानङ्गत्वात्, अपरस्याङ्गत्व एव रसस्यालङ्कारतया वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ।

तत्त्वात् अतोऽन्या अस्फुटत्वमेव । न च स एवेत्येवकारेणान्यत्वाभावप्रतीतेः (अतत्त्वाभावस्य ?) अतत्त्वाभावस्यैव प्रतीतौ कथमस्फुटत्वमिति वाच्यम्, विशेषणसङ्गतैवकारेण विशेष्ये विशेषणायोगस्य व्यवच्छेदो हि प्रत्याय्यते न तु विशेषणाभावाभाव एवाहत्य, पर्यवसानन्तु तत्रैवान्यस्फुटत्वमेव । एवं विशेष्यसङ्गतेनाप्येवकारेण विशेष्यभिन्ने विशेषणाभाव एव नाहत्य प्रत्याय्यते किन्तु विशेषणयोगाभाव इति द्रष्टव्यम् । अत एव "शङ्खः पाण्डुर एव" इत्यादौ नापाण्डुरः "पार्थ एव धनुर्धरः" इत्यादौ च नान्यो धनुर्धर इत्यादि कदाचित् स्फुटत्वार्थं प्रयुज्यते । उद्द्योतेऽप्याह—त्वन्मुख त्वन्मुखेनैव तुल्यं नान्येन केनचिदिति, अन्यथा पुनरुक्तिस्तत्र स्यादिति । अनयोरस्फुटत्वे च सन्देहसङ्करोऽप्यनयोरस्फुट इति विभावनीयम् इति ।

(A) रसाभासस्येति । अत्रेदमवधेयम्—श्लोकेऽस्मिन् व्यञ्जकाभावेनोपपत्त्यलाभात् टीकाकृद्भिः रसाभासः कथं सङ्गच्छत इति । तथाहि एकस्मिन् वाक्ये अवधारणद्वयस्य दुरुपपादतया अव्ययानामनेकार्थतया 'हि'शब्दस्य यद्यपीत्यर्थः उत्तरत्र तथाऽपीत्यनेन साकाङ्क्षः । एवं वरशब्दस्यार्थः पतिः । तथा च यः कौमारहरः स एव हि वर इत्यनेन विवाहात् पूर्वमन्यत्र सहानुरागाया पश्चादपि प्रथमप्रणयिनोऽलाभरूपमुत्कण्ठाकारणं नास्तीति सूच्यते । एवमुत्तरवाक्यैरपि कालादीनामुद्दीपनकारणानां सत्त्वमवगम्यते । इत्थं स्थितेष्वप्युत्कण्ठाकारणेषु उत्पद्यमाना उत्कण्ठा 'ते हि नो दिवसा गताः' इतिवत् सकलमाधुर्यसारसम्भारोपादानभूतं नवयौवनमेवातीततया पुनरसुलभं स्मारयन्ती विषादमेव व्यभिचारिणं द्योतयितुमर्हति, दर्पणकारोक्तस्य कालक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणस्यौत्सुक्यस्यात्रानुभवेनाविषयीकरणात् स्वशब्दवाच्यतापत्तेश्च, नापि शृङ्गाररसम्, सम्भोगस्यात्राननुभवात् विप्रलम्भस्य च नायकलाभकृतस्यासम्भवात्, तद्व्यतिरिक्तस्य प्रकारान्तरस्याप्रसिद्धेरिति कस्यचिदाशयः । चण्डीदास-विश्वनाथ-रामतर्कवागीशास्तु "तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि चेतः समुत्कण्ठते" इत्यनेन उत्कण्ठाया विषयलाभादत्र विशिष्टस्थानादिकारणकसुरतविषयमौत्सुक्यमेव व्यभिचारिणं वर्णयन्ति । उक्तं हि विश्वनाथेन "अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तं तत् रसनधर्मयोगित्वाद् व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्य"मिति । 'अनुभावादिकृतपरिपोषराहित्येन रतेः सम्पूर्णरसत्वं न सम्भवति वर्णनीयत्वेन चमत्कारित्वेन औत्सुक्यस्यैव प्राधान्यम्' इति च तत्र टीकायां रामतर्कवागीशः । वस्तुतस्त्वत्र दर्पणकृदुक्तस्य कालक्षेपा-

---

१ 'विश्रयरूपव्यभिचारिभावसत्त्वात् तस्य च प्रेयोनाम्ना' ख ।

तद्भेदान् क्रमेणाह—

इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥४॥

इदमिति काव्यम्, बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभि-

'तद्भेदान्' काव्यप्रभेदान्। 'क्रमेण' कारिकार्द्धत्रयेण। इदमिति। 'वाच्यातिशयिनि' वाच्यापेक्षयाऽधिकचमत्कारिणि, 'व्यङ्ग्ये' सति 'इद' काव्य 'ध्वनि' तदेव 'उत्तम' काव्यमित्यर्थ। अत्र कारिकास्थस्य बुधपदस्य आलङ्कारिकबुधपरत्वेऽपि ध्वनिव्यवहारस्याद्यप्रदर्शनार्थं तद्वाचिबुधपदार्थानां वैयाकरणरूपबुधानां मत दर्शयति—बुधैर्वैयाकरणैरिति। आशुविनाशिना क्रमिकाणां मेलकाभावादनेकवर्णघटितकलसादिपदस्य ज्ञानासम्भवात् [1]पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसचिवस्यानुभूयमानचरमवर्णस्य पदव्यञ्जकत्व तैरुच्यते पदस्य स्फोटपरिभाषा चरमवर्णस्य(A) ध्वनिपरिभाषा च तै कृता। अर्थबोधकत्वादुवर्णापेक्षया पद प्रधान

सहिष्णुत्वस्याप्रतीतावपि "अधुनैवास्य शाखो समाप्तु तृतीयश्च औत्सुक्यमपि" ति रसगङ्गाधरोक्तलक्षणे औत्सुक्ये तेषामभिप्रायकल्पने न काचिदनुपपत्तिः। समुचकाव्ये इत्यनेन औत्सुक्यस्य स्वशब्दवाच्यत्वापत्तिश्च तत्पदस्य स्मरति तु समाग भवतीत्याद्यर्थकल्पनया निराकरणीया। वेतसी तरुश्च यद्वदेशीयवेतसवत् सघनशाखाविशिष्ट काश्मीराणां वेतसनाम्ना प्रसिद्धस्तरुविशेष एव तेन वेतसलतायास्तत्स्थारोपस्तदाश्रितो वा तटरित्यादिक्लिष्टकल्पनाया नावसर इति ध्येयम्। शिल्पनाम्नी काचित् काश्मीरदेशीया कवयित्री राजसम्बन्धात् भट्टारिका इति शिल्पभट्टारिका, तस्या पद्यमिदमिति शार्ङ्गधरपद्धतौ स्पष्टम्।

(A) अत्र चरमवर्णस्येति फलितकथनम्, स्फोटात्मकपदस्य व्यञ्जनाकाले तस्यैव श्रूयमाणत्वात् वर्णान्तराणाञ्च तदानीं संस्कारमात्रावशेषत्वात् न तु श्रूयमाणतादशायां प्रथमादिवर्णानामपि ध्वनित्व नेष्यते। उक्तपरिभाषाया प्रमाणन्तु महाभाष्ये—एव तर्हि स्फोट शब्द, ध्वनि शब्दगुण　ध्वनिकृता वृद्धि। ध्वनि स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते। अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावत ॥ अस्य व्याख्याया कैयट—शब्दस्य [illegible] उपकारक व्यञ्जकत्वेनेत्यर्थ नन् यथा घट पुन पुनर्दृश्यमानोऽपि न अल्पत्वमन्वते तथा विलम्बितायां वृत्तावकार एव पुन पुनरुपलभ्येत इति वृत्तिभेदेऽपि वर्णस्य भेदो न गृह्यत इति सर्वासु वृत्तिषु तत्कालत्वम्।　ध्वनि स्फोटश्चेति व्यङ्ग्यो व्यञ्जकश्चेत्यर्थ। शब्दानां व्यङ्ग्यानां सम्बन्धी व्यञ्जकत्वेन यो ध्वनि स महानल्पश्च लक्ष्यते व्यङ्ग्यस्त्वभिन्नकाल एवेत्यर्थ।

[1] 'पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्य-' ख.।

रन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

यथा—

> निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
> नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी 'तथेयं तनुः ।
> मिथ्यावादिनि दूति बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमा ।
> वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥ २ ॥

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति प्राधान्येन व्यज्यते ।

तस्य स्फोटस्य व्यञ्जकत्वेन, तद्व्यञ्जकस्य शब्दस्येति चरमवर्णरूपशब्दस्येत्यर्थः । तत इति, शब्दांशे ध्वनिव्यवहार एव मतानुसरणम्; न तु काव्य इत्यवधेयम् । अन्यैरिति कारिकास्थबुधपदव्याख्या । न्यग्भाविनेति । न्यग्भावितं स्वातिशयेन निकृष्टीकृतं वाच्यं येन तादृशव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षममित्यर्थः, व्यङ्ग्यस्य वाच्यादतिशायित्वे तेन वाच्यस्य न्यग्भावितत्वात् । शब्दार्थयुगलस्येति काव्यस्येत्यर्थः, तद्युगलस्य काव्यत्वेनोक्तत्वात्; तस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृत इत्यन्वयः ।

निःशेषेति । उपनायकमानेतुं प्रेषितां तदुपभोगलुप्तचन्दनादीन् वापीस्नानव्याजेन गोपयन्तीं दूतीं प्रति नायिकायाः सोल्लुण्ठनोक्तिरियम् । मयेष्टयासौ नायात इत्येवं मिथ्यावादिनि हे दूति ! बान्धवजनस्य मम अज्ञातकामपीडागमा त्वम् इतः मत्सकाशात् स्नातुं वापीं गतासि न तु तस्याधमस्य अन्तिकम्, यतस्ते स्तनतटं निःशेषच्युतचन्दनम्, अधरश्च निर्मृष्टरागः, नेत्रे च दूरम् अतिशयम् अनञ्जने, तथा इयं तन्वी क्षीणा तनुः पुलकिता, तथाशब्दः समुच्चये । स्नानकार्यमेवैतत् सर्वमिति सोल्लुण्ठनोक्तिः । अत्र [5]व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । इदं व्यङ्ग्यं वाच्यार्थापेक्षया प्राधान्येन विशिष्टम्, एतत्काव्यरूपेण शब्दार्थयुगलेन व्यज्यत इत्यर्थः । 'वाच्यार्थापेक्षया'[6] प्राधान्यञ्च विप्रलम्भातिशयव्यञ्जनात्; विप्रलम्भो हि दुःखसम्भिन्ना रतिः, दुःखाधिक्याच्च रत्यतिशयः[7] ।

---

1. 'तवेयं' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 2 'पीडागमे' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 3. 'प्राधान्येनाधमपदेन व्यज्यते' इति मुद्रितपुस्तकपाठः । 4 'अपह्नुतवतीं' ख-ग । 5. 'व्यङ्ग्यमाह' ख-ग । 6 'पेक्षयास्य' ख-ग । 7. 'यद्यपि तदन्तिकगमनं वाच्यार्थं, रन्तुं तदन्तिकगमनञ्च व्यङ्ग्यार्थं, तदपि नायकप्रति-विरोधित्वेन नायिकायाः [illegible], किन्तु विप्रलम्भपरकेऽं [illegible] दुःखातिशयस्य [illegible] व्यङ्ग्य वाच्यार्थापेक्षया प्रधानम्, नायकान्तिके दूत्या गमनेन नायिकाया [illegible] दुःख नायकस्य [illegible] तदुपभोगेन [illegible] व्यञ्जनात्' ख ।

तदुक्तम्—

सम्भोगः सुखसम्मिश्रो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक् ।
रतिस्तयोः प्रकर्षः स्यादाधिक्यात् सुखदुःखयोः ॥ इति(A)

कश्चित्तु प्राधान्येनाधमपदेनेति पाठस्तिष्ठति, तच्च(B) न रुचिरम्, वाच्यापेक्षया व्यङ्ग्यप्राधान्ये उदाहर्त्तव्ये व्यञ्जकप्राधान्यकथनस्यानुपयोगात्। [1]किन्तु पञ्चमोल्लासे "अधमपदसहायानामेवां व्यञ्जकत्व"मिति ग्रन्थकृता (सू १) वक्ष्यते तद्दर्शनादत्र तथा पाठं केचिद् रचयन्ति, तत्पदस्य प्राधान्यञ्च तदन्तिके दूत्या अगमने वाच्यार्थं तस्यापराधाभावात् तस्याधमत्वोक्त्यनुपपत्त्या दूतीरमणरूपव्यङ्ग्यार्थेनैवाधमत्वोपपत्ते(C), तत्र, अधमपदप्राधान्यस्य ग्रन्थकृदसम्मतत्वेऽपि प्रकृतेऽनुपयुक्तस्य कथनानौचित्यात्। वस्तुतस्तु अधमपदप्राधान्यमपि नास्ति दूतीप्रेमणसापेक्षत्वादेव तस्याधमत्वोपपत्तेः, तथा * अधमपदस्येवान्येषामपि पदानां दूतीरमणव्यञ्जकत्वमस्त्येव, (D)तथाहि स्नाने स्तनचन्दनाधररागयोः क्षालनमेव न तु च्युतिनिर्मार्जने, तयोः सम्भोगघर्षणादेव सम्भवात् अतश्च्युतनिमृष्टपदे अपि तस्य व्यञ्जके प्रधाने एव, तथा स्नाने समस्तस्तनस्यैव

(A) अत पर दृश्यमान स्वप्रगितदूत्या स्वनायकोपभोगेन च व्यङ्ग्येन वाच्यतदन्तिकागमनापेक्षया दु खाधिक्या' दित्यत्र पूर्ववाक्यान्वयेन दु खाधिक्यान्वियस्योपपादिका टिप्पणीति प्रतिभाति ।

(B) तत् तादृशपाठस्थापनमित्यर्थः ।

(C) अधमत्वोपपत्तिरिति । अत्र वाच्यस्याधम वस्य व्यङ्ग्येन दूतीरमणेनोपपादने वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमेवास्य स्यान्न तु ध्वनित्वमिति चिन्तनीयम् ।

(D) अन्यद् चिन्तनीयम्, टीकाकृता तथाहीत्यादिना च्युतनिमृष्टाधरादिपदानां स्नानव्यावर्त्तनेन दूतीरमणव्यञ्जकताया यदसाधारण्यं प्रदर्शितं तत्र 'तथा नि शेषच्युते'त्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतएवात्रैव स्नानकार्यत्वेनोपात्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तानी'ति पञ्चमोल्लासग्रन्थविरोधो दुष्परिहर इति सर्वेषामेव तादृशपदानामुभयसाधारणार्थकत्वमेव व्याख्यानमुचितमिति । तथाच रसगङ्गाधरे—अयि बान्धव

चन्दनलोपो न तु तदभावस्य, अतः सम्भोगचिह्नत्वेन तत्पदमपि तथैव। एवमधरपदमपि उत्तानत्वेन चुम्बनचिह्नत्वव्यञ्जनया तथैव, स्नाने तु न्युब्जस्य ओष्ठस्यापि रागलोपः स्यात्। तथा इयम् एतत्क्षणवर्त्तिनी तन्वी तनु पुलकिता, पूर्वं सभयरतौ भावानुद्बोधेन पुलको नासीदिदानीन्तु निराबाधरतिनिर्व्वाहेन भावोद्बोधात् पुलकः, स्नाने तु घर्मश्रमेण पुलकलोपः स्यादत 'इव'मिति पदमपि तद्व्यञ्जकम्, अत कथमधमपदस्य प्राधान्यम्, अधमपदसहायानामिति ग्रन्थकृल्लिखितस्य तु अधमादिपदसहायानामित्यर्थः। अत्र (A) केचित्—तदन्तिक न गताऽसीति वाच्यार्थस्य रतिचिह्नदर्शनेन बाधात् न गताऽसीत्यत्र विरोधलक्षणया गताऽसीति लक्ष्यम्, तयाच तदंशस्याव्यङ्ग्यत्वात् गताऽसीत्यनन्तरं लक्ष्यमिति पूरणीयम्, व्यज्यते इत्यस्य तु रन्तुमित्यत्रैवान्वयात् रन्तुमिति व्यज्यते इत्येवमेव ग्रन्थकृल्लिखनं व्याचक्षते, तन्न, न गताऽसीत्यस्य वाक्यत्वेन लक्षणाया (B)अयामावात्, वापीं स्नातु न गताऽसि तदन्तिकमेव गताऽसीत्येवमन्वये[1] तदन्तिकगमनस्य शक्यैव बोधनसम्भवाच्च(C)।

जनस्याघातपीडागमे स्वार्थपरायणे स्नानकालातिक्रमभयवशेन मदीयप्रियस्यान्तिकमगत्वैव वापीं स्नातुमितो ममान्तिकात् गताऽसि, न पुनस्तस्य परेङ्गितानभिज्ञतया तु स्वसुहृत्त्वेनाधमस्यान्तिकम्, यतो हि शेषच्युतचन्दनं स्तनयोस्तटमेव मोर स्थल वापीगतबहुल्युवजनप्रापारपरयादृश्यपरमामस्वास्तिकीकृतभुजलतापुनरेन तटस्यैवोन्नततया मुद्रामवाप। एव स्वया सम्यक्क्षालनेन अधरोष्ठो न निर्म्मिष्टरागोऽधरस्तु तदपेक्षया मज्जनजल-चन्दनबोधकाद्दुष्याभीनामधिकसम्बन्धमावहतीति तथा। किञ्च सम्यक्क्षालनेन नेत्रे अल्पमात्रसंसर्गाद् दूरमुपरिभाग एवाञ्जने। शीतमशाताभयाच तव तनुः पुलकितेति। एवं साधारणेष्वेषु वाक्यार्थेषु मुख्यार्थे बाधाभावात् तात्पर्य्यार्थस्य सदित्यनाकलनात् कुतोऽत्र लक्षणावकाशोऽनन्तरञ्च वाच्यार्थप्रतिपत्तेर्यंसु बोद्धव्यनायकादीनां वैशिष्ट्यस्य प्रतीतौ तत्रामधनपदेन स्वप्रवृत्तिप्रयोजको दु सदागृत्वरूपो धन्नं साधारणास्ता वाच्यार्थदशायामपरापमपराधान्तरनिमित्तकदुःखदागृत्वरूपेण स्थितो व्यञ्जनाव्यापारेण दूतीसम्भोगनिमित्तकदु खदागृत्वाकारेण पर्य्यवस्यतीति।

(A) केचिदिति साहित्यदर्पणकारा इत्यर्थ, तथाच दर्पणे—"अत्र तदन्तिकमेव रन्तु गताऽसीति विपरीतलक्षणया लक्ष्य तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद्बोध्यते" इति।

(B) तन्मतेऽपि वाक्ये न लक्षणा, किन्तु अधमपदस्यैव एतार्थे लक्षणेति न दोष इत्यवधेयम्।

(C) इदन्तु न सम्यक् 'त्वयैव पुनःशब्देन पूर्व्वान्वयव्यवच्छेदात्' इति तर्कवागीश।

---

1. '॰मन्वयेन' ख।

(३) अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् ।

अतादृशि वाच्यादनतिशायिनि । यथा—

ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम् ।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया ॥ ३ ॥

अत्र वञ्जुललतागृहे दत्तसङ्केता नागतेति व्यङ्ग्यं गुणीभूतम्, तदपेक्षया वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात् ।

किञ्च निःशेषेत्यादौ (A)पञ्चमोल्लासे गमनविधेर्व्यङ्ग्यत्वमेव ग्रन्थकृता वक्ष्यते, विधेर्लक्ष्यत्वव्याख्याने तद्विरोधः स्यात् । न च बाधाल्लक्षणां विना अनुपपत्तिरिति वाच्यं वाच्यार्थबोधानन्तरं बाधावतारे बाध्यमानेन तेन यथोक्तव्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् । अत एवोक्तम्—

क्वचिद्वाच्यतया ख्यातिः क्वचित् ख्यातस्य बाधनम् ।
[1]एकत्र लक्षणैव स्यादन्यत्र व्यञ्जनैव तु ॥ इति

अतादृशीति । व्यङ्ग्ये वाच्यादनतिशायिनि सति काव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्, तच्च मध्यममित्यर्थः । वाच्यादनतिशय[2] वाच्यतुल्यचमत्कारित्वे वाच्यन्यूनचमत्कारित्वे च भवति, तत्र वाच्यन्यूनचमत्कारित्वेऽसुन्दराख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—**ग्रामतरुणमिति ।** नवया वञ्जुलस्य(B) अशोकस्य मञ्जर्या सनाथकरं विशिष्टपाणिं ग्रामतरुणं मुहुः पश्यन्त्यास्तरुण्या मुखच्छाया नितरां मलिना भवतीत्यर्थः, मुहुर्दर्शने अन्यशङ्कानिरासार्थं ग्रामतरुणत्वोपादानम्, ग्राम्यस्य परिचितत्वेन मुहुर्दर्शनेऽपि शङ्काऽनुदयात् । चक्रवर्त्ती तु—ग्रामस्य मध्ये [illegible] एव तरुण इत्यनेकनारीप्रार्थ्यमानत्वसूचनं मुखमालिन्योपपादकमित्याह, तन्न, तादृशनिर्धारणप्रापकाभावात् । उभयत्र तरुणत्वोपादानं परस्परानुरागसूचकम् । मञ्जर्या नवत्वेनाकालीनत्वप्राप्त्या लोकेषु तत्प्रदर्शनौचित्येन करे तद्धरणाच्छङ्कानुदयः । **अत्रेति ।** गृहव्यापाराल्लतागृहेऽगमनं व्यङ्ग्यं लतागृहचिह्नदर्शनान्मुखमालिन्येन वाच्येन

(A) "वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना" इति पञ्चमोल्लासग्रन्थः ।

(B) "वकुले वञ्जुलोऽशोके" इति "वञ्जुलः पुंसि तिनिशे वेतसाशोकयोरपि" इति च कोषः ।

---

1. 'पूर्वत्र लक्षणैव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु' इति दर्पणपाठः । 2 'अयम्' ख ग ।

(४) शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ॥ ५ ॥

चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। अव्यङ्ग्यमिति स्फुटप्रतीयमानार्थरहितम्। अवरमधमम्। यथा—

सामाजिकैः प्रतीयत इत्यर्थः, तच्च व्यङ्ग्यं वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारि इत्याह—(A)गुणीभूतमिति। वाच्यन्तु मुखमालिन्यमधिकचमत्कारीत्याह—तदपेक्षयेति। अयम्भावः—चमत्कारस्तावदत्र विप्रलम्भव्यञ्जनयैव वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य च, [1]तत्र सङ्केतस्थलचिह्नहस्तनायकदर्शनात् मुखमालिन्यमनन्यथासिद्धं विप्रलम्भादेव भवतीति व्यङ्ग्यनिरपेक्षमेव वाच्यं विप्रलम्भव्यञ्जकम्; व्यङ्ग्यन्तु वाच्यमालिन्योपपादकमेव, न तु वाच्यसाहाय्यं विना स्वतो विप्रलम्भव्यञ्जकं नायिकाया अकार्य्यत्यागेन गृहकर्म्मसमापनानन्तरमन्यदाऽपि नायकप्राप्त्या स्वहृदयाश्वासनेन वा विप्रलम्भानुदयात्; अतो लतागृहेऽगता सङ्केतस्थलचिह्नहस्तोपनायकदर्शनात् मलिनमुखीत्येव वाच्यसहकृतमेव व्यङ्ग्यं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यमुखनिरीक्षकतया व्यङ्ग्यं न्यूनचमत्कारीति[2]*। न च अकार्य्यहेतोरुपनायकस्य दर्शनात् क्रोधेनापि मुखमालिन्यं भवतीति वाच्यमपि कथं व्यङ्ग्यनिरपेक्षं विप्रलम्भव्यञ्जकमिति वाच्यम्, स्वयं कृतसङ्केतायास्तस्यास्तद्दर्शनेन क्रोधानुदयात् 'क्रोधे सति मुहुर्दर्शनाभावाच्च'*। निःशेषेत्यादौ तु वाच्यविरुद्धं व्यङ्ग्यं न वाच्यमुखनिरीक्षकमिति मन्तव्यम्[3]।

शब्दचित्रमिति। वाच्यचित्रम् अर्थचित्रमित्यर्थः। उभयसाधारणं चित्रत्वमाश्रित्यैवोत्कीर्त्तयति—चित्रमिनीति। सर्व्वथा नीरसस्य काव्यत्वा-

---

(A) इदमत्रावधेयम्—गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमत्र वाच्यमुखमालिन्यापेक्षया न्यूनचमत्कारित्वं दत्तसङ्केता नागतेत्यर्थमभिप्रेत्यैवोक्तं मुखमालिन्येन व्यज्यमानस्य विषादस्य तु पर्य्यवसाने प्रधानतयैवावस्थानात्तदभिप्राये असंलक्ष्यक्रमध्वनित्वमेवास्य युक्तमिति।

---

1 'तत्रापि च लतागृहगतनायकमुखदर्शनान्मुखमालिन्येन वाच्येन व्यङ्ग्यनिरपेक्षेणैव शक्यते (कर्त्तुम्?), गृहकर्म्मव्यापृताया नायकदर्शनान्मलिनमुख्या विप्रलम्भस्य सर्व्वानुभवसिद्धत्वात्। व्यङ्ग्येन तु सङ्केतस्थलागमनकृतेन विप्रलम्भः स्वतो व्यञ्जयितुं न शक्यते अकार्य्यत्यागेनापि सङ्केतस्थलागमनसम्भवात् मुखमालिन्यनायकदर्शनाधीनमुखमालिन्यव्यञ्जनेन शक्यत एव विप्रलम्भो व्यञ्जयितुमतो वाच्यमुखनिरीक्षकत्वादिदं व्यङ्ग्यं न्यूनचमत्कारि व्यङ्ग्यमुखानिरीक्षकं वाच्यं त्वधिकचमत्कारि' ग।

2 'न च तद्दर्शनेनाकार्य्यकरणादुद्भूतक्रोधोदयेनापि मुखमालिन्यं सम्भवतीति वाच्यं तदा मुहुर्दर्शनाभावात्' ग।

3. 'मत' पर 'तत्र तु प्राधान्यसूचकं व्यङ्ग्यमेव चमत्कारीत्यवसेयम्, स च पूर्वकवीरित्यधिक' पाठ।

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा-
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः ।
भिद्यादुद्यदुदार[1]दर्दुरदरीदैर्घ्योऽदरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम् ॥ ४ ॥

(A)विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिराद्भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयाऽपि यम् ।

मङ्गीकारादपरिस्फुटरसवृत्तिगुणवत्तया गुणयुक्तत्व बोध्यम्। स्फुटप्रतीयमानेति। 'प्रतीयमान' व्यङ्ग्यः। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटमिति (B)यदस्फुटव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य यदस्ते तदभेदापत्तिरिति वाच्यं स्फुटालङ्कारत्वे चित्रम्, 'अस्फुटालङ्कारत्वे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यमिति भेदात्। सर्वथा वैचित्र्याभावान्निरलङ्कारन्तु अकाव्यमेव सालङ्कारत्वघटितकाव्यलक्षणाभावात्(C)। अधममिति। पूर्वद्वयापेक्षया न्यूनमित्यर्थः, न त्वसत्काव्यमित्यवधेयम्। स्वच्छन्देति। मन्दाकिनी गङ्गा अह्नाय झटिति व युष्माकं मन्दतां पापेनापकृष्टतां भिद्यात् नाशयतु इत्याशीः, 'भिन्द्या'दिति पाठे तु निधौ सप्तमी। कीदृशी? स्वच्छन्द यथा स्यात् तथा उच्छलन्त उद्गच्छन्त अच्छस्य निर्मलस्य कच्छकुहरे स्वसमीपवर्त्तिपर्यन्तगुहाया छातेतरस्य दुर्बलभिन्नस्य वेगवतोऽम्बुन छटया कान्त्या मूर्च्छन्त नश्यन्त मोहा महान्ति येषां तादृशैर्महर्षिभि हर्षेण विहितं स्नानाह्निक यस्यां तादृशी। उच्छलदिति शल गतौ। छातेति, 'छातांसो दुर्बलश्छातः' इति कोषः। तथा, उद्यत् प्रकाशमानम् उदारं दर्दुरदरीणां मण्डूकगर्त्तानां दैर्घ्यं यस्यां तादृशी, पर्यांसु अल्पधैर्येण उपरिभागभङ्गात् तद्गर्त्तानां दैर्घ्यप्रकाशात्। तथा, अदरिद्राणां महतां द्रुमाणां द्रोहोद्रेकेण 'उत्खाताद्येन ये महोर्मय' तैः मेदुरः अत्र निविडप्रवाहव्याप्तत्या। अत्र छकारदकारानुप्रासो वैचित्र्यम्। मन्दाकिनीविषयभावस्य सतोऽपि तदननुगुणौजोगुणव्यञ्जकवर्णानुप्रासेन दीर्घसमासेन उदारदर्दुरदरीत्याद्युपार्थकविशेषणेन च अपकर्षणादस्फुटत्वम्। अर्थचित्रमाह— विनिर्गत-

---

(A). काश्मीरक-मेण्ठकविप्रणीतहयग्रीववधस्य पद्यमिदमिति प्राञ्चः ।

(B) अस्फुटव्यङ्ग्यकाव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्यर्थः ।

(C). सालङ्कारत्वघटितं यत् काव्यलक्षणं तस्य तादृशशब्दार्थयोरसत्त्वादित्यर्थः ।

1—'दर्दुरदरी दीर्घोऽदरिद्र-'इति मुद्रितपुस्तक-पाठः ।

2 'सरभावे तु' ख। 3 'भ्रोदधिं' ख-ग।

ससम्भ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती ॥ ५ ॥

इति काव्यप्रकाशे काव्यस्य प्रयोजनकारणस्वरूप-
विशेषवर्णनो नाम प्रथम उल्लासः ।

मिति । य हयग्रीवनृपं मानद मत्तोर्मानखण्डक मित्रस्य आनन्दायकञ्च आत्ममन्दिराद् यदृच्छयाऽपि विनिर्गतमुपश्रुत्य परम्परया श्रुत्वा ससम्भ्रमेण सभयेन इन्द्रेण द्रुत पातितार्गला पातितद्वारपिधाना सती अमरावती भिया निमीलिताक्षीव भवतीत्यन्वयः । उपश्रुत्येत्यत्र पातितक्रियैककर्तृकत्वं(A) बोध्यम् । अत्र समाप्तनिराकाङ्क्षवाक्यबोध्यत्वेन प्रधानभूतस्य उत्प्रेक्षारूपार्थालङ्कारस्य चमत्कारेण सतोऽपि राजविषयस्य भावस्य तिरोधानादस्फुटत्वम् । न च पातितार्गला भवतीत्यन्वये राजविषयभाव एव निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यप्रधानतया स्फुट इति वाच्यम्, तदा 'निमीलिताक्षीव' इत्यत्रापि भवतीत्यस्यानुषङ्गापत्तेः, अतोऽननुषङ्गेण निराकाङ्क्षवाक्यबोध्यतया च चमत्कारिण्या भावप्रतीतेर्विलम्बनमेव भावास्फुटत्वबीजमित्यभिप्रायेणेदमुदाहृतम् । वस्तुतस्तु उत्प्रेक्षयापि परपुरीरूपपरस्त्रीभीतिजननाद् राजविषयभावप्रकर्षणमेवैतदिति आपातत एवेदमुदाहरणमुक्तम् । षष्ठोल्लासे "ते दृष्टिमात्रपतिता" इत्यादिकं यदर्थचित्रोदाहरणं वक्ष्यते तदेवोदाहरणं बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृतकाव्यप्रकाशादर्शे काव्यप्रयोजनादि-
निर्णयस्य प्रथमः प्रतिबिम्बः ।

(A). अत्रैककर्तृकत्वकथनेन अर्गलपातने भृत्याज्ञानायसराजामर्षनिबन्धनो भयातिशयो व्यज्यमानोऽपि न चमत्कारातिशयं पुष्णातीति हृदयम् ।

द्वितीय उल्लासः

क्रमेण शब्दार्थयोः स्वरूपमाह—

(५) स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।

अत्र काव्ये । एषां स्वरूपं वक्ष्यते ।

(६) वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः—

वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः ।

(७) तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् ॥ ६ ॥

आकाङ्क्षा-योग्यता-सन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां

विशिष्टयो शब्दार्थयो काव्यत्वेनोक्तत्वाद् बोध्यबोधकभावस्यैव च तयोर्वैशिष्ट्यत्वेन कया कया वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यमित्याकाङ्क्षायां तत्तद्वृत्त्या तयोर्वैशिष्ट्यं निरूपयन्नाह—क्रमेणेति । 'स्वरूप' तत्तद्वृत्त्या बोध्यबोधकस्वरूपम् । तथाच बोधकबोध्यता-सम्पादकवृत्ति[1]स्वरूपकथनमेव 'स्याद्वाचक'इत्यादिना उपक्रान्तम्, न तु वाचकादि लक्षणकथनम्, तथा सति 'साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थ'मित्यादिवक्ष्यमाणवाचकलक्षणे बहुविशेषणोपादानवैयर्थ्यं स्यादिति तदवसरे दर्शयिष्यामः । एवञ्च स्याद्वाचक इत्यादौ शक्त्या प्रतिपादको लक्षणया प्रतिपादको व्यञ्जनया प्रतिपादकश्चेत्यर्थः ।

अत्र काव्य इति । यद्यपि काव्यस्थोऽपि शब्द आलङ्कारिकैर्व्यञ्जक उच्यते इत्यत काव्य इत्यव्यावर्त्तक तथापि काव्यविवेकाल्ङ्कारशास्त्रपरमेवात्र काव्यपदं वाच्यम्[2] । 'स्वरूप' लक्षणम् ।

केषुचिदिति । प्राचीननैयायिकमतेष्वित्यर्थः । तन्मते पदोपस्थापितानां पदार्थानां संसर्गो वाक्याद्भासमानस्तात्पर्याख्यां वृत्तिमपेक्षते तात्पर्यविषयसंसर्गस्यैव वाक्यार्थज्ञानात् । [3]'इयमेवाधुनिकैः संसर्गमर्यादोच्यते'[3] । तदाह (A)'आकाङ्क्षेति ।

A आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः, स च श्रोतुर्जिज्ञासास्वरूपः, योग्यता पदार्थानां

---

1 'बोधकवृत्तिस्वरूप' ख ग । 2 'वाच्यम्, तत्र अज्ञानन्दीकृत् ... ' ग ।
3 ख पुस्तके नास्ति ।

सङ्केतस्थानमेनदिति कयाचित् कश्चित् प्रत्युच्यते । अथवा मिथ्या वदसि न त्वमत्रागनोऽभूरिति व्यज्यते ।

वाचकादीनां क्रमेण स्वरूपमाह—

सङ्केतस्थल दर्शयन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । ऊहेति पश्येत्यर्थ । निश्चलेति सम्बोधनम्, तस्य च निश्चलमेत्यर्थ । शङ्खशुक्ति शङ्खकपालम् । चक्रवर्ती तु निश्चला पृथिवी सेव निष्पन्देत्यर्थ इत्याह, तन्न , पृथिवीवाचकस्य अचलाशब्दस्य परिवृत्त्यसमतायाः "निष्कम्पा रचिता नेत्रयुग(A) मेत्य साम्प्रतम्" इत्यत्र दोषोल्लासे ग्रन्थकृतैव वक्ष्यमाणत्वात् , अन्यथा निश्चलनिष्पन्दत्वेनेत्येव वृत्तौ लिखित स्यात्, न निष्पन्दत्वेनेति । **अत: सङ्केतेति** 'उच्यते' व्यज्यते इत्यर्थ । अत्रैव विकल्पेन व्यङ्ग्यान्तरमाह **अथवेति,** तथाच अह तत्र गत्वा त्वामनासाद्य आगतोऽस्मीत्येव यद्वदसि तन्मिथ्येत्यर्थ । मिथ्यात्वं विवृणोति **न त्वमिति,** यदि त्वं तत्र गतः स्यास्तदा बलाका आश्वस्ता न स्यादिति भाव ।

वाचकादीनामिति शक्त्यादिना प्रतिपादकादीनामित्यर्थ, 'स्याद्वाचक'इत्यादौ तथैव उपक्रमस्य प्रदर्शितत्वात् । 'स्वरूप' लक्षणम् । [1]शक्त्या प्रतिपादकत्वञ्च शक्त्यधीन-

---

चलनं शारीरक्रिया स्थानान्तरप्रापिका स्पन्दस्त्ववयवक्रिया तदप्रापिका, स्पदि किञ्चिच्चलने इति धात्वनुसारात् । निर्मले स्वच्छे मरकतस्य नीलमणेर्भाजने स्थिता शङ्खस्य शुक्ति शङ्खमयीं शुक्तिसदृशीं कज्जलादिनिधानपात्रम्, न तु मुक्ताशुक्ति तस्या बलाकावर्णसदृशवर्णत्वाभावात्, शङ्खशुक्तिपदस्य तत्रासामर्थ्याच्च । एतच्च अचेतनोपमया आत्यन्तिकक्षोभाभाव सूच्यते । पार्यन्तिकपसत्कारम्यानन्तु सम्भोगविप्रलम्भभेदेन व्यङ्ग्यद्वय प्रकाशे स्पष्टमिति सङ्क्षेप । अथवेत्यादिनोक्तस्य व्यङ्ग्यस्य तु विप्रलम्भपरतया माधुर्यातिशय इति केचित् । "बलाकाबकपङ्क्ति स्याद्बलाका बिसकण्ठिका । बलाका कामुकी प्रोक्ता बलाकन्तु बको मत " इति कोष ।

(A) अत्र सर्वेष्वादर्शपुस्तकेषु नेत्रद्वन्द्व बाधयेति पाठो लिपिकृत्प्रमादकृत एव दोषपरिच्छेदे तथाऽदर्शनात् ।

---

1 शक्त्येति । इत आरभ्य 'व्याप्तम्' (१० पङ्क्ती-३८ पृष्ठे) इति पर्यन्त कारिकाव्याख्यान क-ग-चिह्नितपुस्तकयोरत्यन्त विभिन्नम्—तथाच शक्त्या प्रतिपादकत्व तच्चतावच्छेदके तद्वाचक लक्षणमाहेत्यर्थ । घाटादिवादि । यदि तु वाचकमप्रकत्वमेव साक्षाद्वाचक इत्यादिना तथावावच्छेदकमुक्त स्यात्तदा यो यमर्थमभिधत्ते अभिधया प्रतिपादयति स तस्य वाचक इत्येतावतैव सामञ्जस्ये शेषे वैयर्थ्यं स्यात्, यथा प्रतिपादकत्वस्य तत्त्यतावच्छेदकत्वे तु तत्र घटते तद्व्यतावच्छेदकत्वयोर्द्वयोरपि शक्त्या प्रतिपादकत्वस्वत्वाभावापत्तेः वाच्यवाचकभावानुपपत्तेः । एवञ्च अभिधत्ते इत्यपि नाभिधया प्रतिपादयतीत्यर्थसङ्गीपादवक्ष्यत्, किन्तु प्रति-

(६) साक्षात् सङ्केतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः(A) ॥ ७ ॥

प्रतिपत्तिजनकत्वं तच्च परम्परया लाक्षणिकशब्देऽप्यस्तीत्यतस्तद्वारणार्थं(B) साक्षात्त्व-घटितं तद्ग्राहक(C) लक्षणमाह—**साक्षादित्यादि** । अत्र सङ्केतितमिति सङ्केत शब्दात्सद्ग्रहार्थे कारितम्(D), ततः कर्म्मणि क्तः । तथाच सङ्केतग्रहविषयमित्यर्थः, ग्रहे च साक्षात्त्वं विशेषणम् सङ्केतश्च तच्छब्दीयो वाच्यः न तु शब्दान्तरीयः तदा लक्ष्यार्थे वाचकशब्दान्तरमादाय लाक्षणिकाव्यावर्त्तनात्, तथाच "साक्षाद् गृहीतस्वसङ्केतं यमर्थं यः शब्दोऽभिधत्ते स शब्दस्तस्यार्थस्य वाचकः इत्ययं, वाचक इत्यस्य शक्त्या प्रतिपादक इत्यर्थं उपक्रमावधि व्याख्यात एव, अतोऽत्र वाचकसञ्ज्ञक इति नार्थः, तथात्वे यो यमर्थं साक्षादभिधत्ते साक्षादभिधया प्रतिपादयतीत्येतावतैव सामञ्जस्ये शेषस्य वैयर्थ्यापत्तेः, पूर्वप्रदर्शिताकाङ्क्षया तु शक्त्या प्रतिपादकत्वमेव लक्ष्यतावच्छेदकम्, तथात्वे च शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य न लक्षणं सम्भवति लक्ष्यतावच्छेदकलक्षणयोरैक्येनात्माश्रया-पत्तेः अतोऽत्र अभिधत्त इत्यस्य अभिधया प्रतिपादयतीति नार्थः किन्तु प्रतिपादयतीत्ये-वार्थः । तथाच यो यमर्थं प्रतिपादयतीत्येतावन्मात्रकरणे व्यञ्जनया (E)शक्तस्यार्थप्रति

(A) अत्र प्रदीपः—न च साक्षात् सङ्केतवान् वाचक इत्येतावतैव स्वस्यान्य अभिधत्ते इत्यस्य वैयर्थ्यं संयोगादिनाऽभिधाया नियमिताया वाच्यार्थस्य युक्तस्याऽशायामतिव्याप्तिवारणीयत्वात् । न च तथाऽपि तत्रातिव्याप्तिरेवेति वाच्यं यस्य शब्दस्य यत्राव्यवहितसङ्केतग्रहो यदर्थक उपयुज्यते स तदर्थवाचक इति हि लक्षणार्थः । इदं च यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते इत्यादि वृत्तिदर्शनात् सङ्केतविशेषणतया साक्षात् पदं व्याख्यातम् । वस्तुतस्तु संयोगादिनाऽभिधाया नियमितायाः यत्र वाच्यान्तरान्वयनं तत्र वाचकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यभिधानक्रियाविशेषणं साक्षादिति । तत्र तु वाक्यार्थप्रतीतिव्यवधानेन तत्प्रतीतिरित्यप्रसङ्ग इति । एतन्मते माधुर्यादिव्यञ्जकवर्णस्य माधुर्यादिवाचकतावारणाय सङ्केतितपदमिति प्रभाकराः ।

(B) लाक्षणिकशब्दसाधारणस्य शक्त्या प्रतिपादकत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदकत्ववारणार्थमित्यर्थः ।

(C) लाक्षणिकव्यावृत्तस्यैव लक्ष्यतावच्छेदकत्वग्राहकमित्यर्थः । तथाच शक्त्या प्रतिपादकत्वं लक्ष्यतावच्छेदकं साक्षाद् गृहीतस्ववृत्तिकार्यप्रतिपादकत्वञ्च लक्षणमिति न काऽप्यनुपपत्तिरिति ध्येयम् ।

(D) कारितमिति कलापमते णिच्प्रत्यय इत्यर्थः ।

(E) व्यञ्जनया शक्त्याप्रतिपादक दुर्गालङ्घित इत्यादावतिव्याप्तिसम्भवादाह अशक्यैति ।

प इयसोत्पाद्य । तथाच यो यमर्थं प्रतिप इयतीत्यावन्मात्रकरणे व्यञ्जनया प्रतिप इते वाच्य न प्रयं शब्दं व्यञ्ज वाच प्रति वाचकत्व स्यादत उक्त—सङ्केतितमिति । सङ्केतशब्दात् तद् ग्रहणार्थं प्रत्यय-लन्धे कारितं तद कर्मणि क्त तथाच गृहीतसङ्केतमित्यर्थ सङ्केत स्वस्यैव परकीयसङ्केतस्य परीयायकत्वात् । सङ्केतस्य प्रतिपादकत्वेन न तु शक्ति । यदा यो यमिमर्थं गृहीतशक्तिक स तस्य शक्त्या प्रतिपादक इत्यय

इदानीं गृहीतसङ्केतस्य(A) शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः ।

वाचकेऽपि तद्वाचकतापत्तिः स्यादत सङ्केतितमिति गृहीतसङ्केतमित्यर्थः । सङ्केतो हि वृत्तिर्व्यङ्ग्यार्थस्य तु न तादृशी अगृहीताया एव व्यञ्जनाया बोधकत्वात्(B) । तथा च(C) गृहीतलक्षणाकवृत्तिकार्थप्रतीतिजनकत्वे लाक्षणिकशब्देऽपि लक्ष्यार्थवाचकतापत्तिः स्यादत (D)साक्षाद् गृहीतसङ्केतमिति ; लक्षणाजन्यबोधस्य [illegible] व्यवधानेनैव प्रमाणत्वात् । न च सङ्केतपदं शक्तिपरमेवास्तु न वृत्तिपरम् ; तथा च लक्ष्यार्थेऽपि शक्तिग्रहाभावादेव न तत्रातिव्याप्तिः स्यात् किं साक्षात्पदोपादानेनेति वाच्यम्, सर्वं गृहीतलक्षणाकत्वस्य [illegible] तुल्यत्वेऽपि [illegible] शब्देऽपि शक्त्या तदर्थप्रतिपादकत्वग्रहेण [illegible] । केचित्तु सङ्केतितमर्थं यः साक्षादभिधत्ते इत्यन्वयपरत्वात्, तथा च व्यवधानेन गृहीतवृत्तिकेन लाक्षणिकशब्देनापि साक्षादर्थानभिधानात् तत्रातिव्याप्तिः । वृत्तिग्रहोऽपि प्रमाणरूप एव बोध्यः, तेन शक्तिभ्रमगृहीतार्थं प्रति न वाचकत्वापत्तिः ।

इत्थं गृहीतसङ्केतावेव शब्दार्थौ प्रतिपाद्यप्रतिपादकाविति [illegible] सर्वत्र प्रति सङ्केतग्रहस्य [illegible] '[illegible]'*—इहेति । 'सङ्केतसहाय' गृहीतसङ्केतसहाय ।

(A) शब्दस्यार्थप्रतीतेरभावादिति । अत्र शब्दस्येति [illegible] षष्ठी । [illegible] [illegible] प्रतीतिः [illegible] सा च [illegible] भवति । [illegible] सङ्केतज्ञान [illegible] अर्थस्य [illegible] इति सङ्केतग्रहस्य [illegible] विशिष्टस्यापि अर्थप्रतीतिर्न भवतीति [illegible] ।

(B) अत्र भाव , सङ्केतितमिति मूले गृहीतसङ्केतमिति [illegible] सङ्केतस्य [illegible] [illegible] लक्षणा अभिधाव्यञ्जनात्मकं । [illegible] सम्बन्धो [illegible] भवति [illegible] वृत्तित्वस्वीकारेण [illegible] व्यञ्जनायां वृत्तित्वाभावेन व्यङ्ग्यार्थस्य सह नित्यसम्बन्धाभावात् व्यञ्जकशब्दस्य न व्यङ्ग्यार्थवाचकत्वापत्तिरिति ।

(C) सङ्केतशब्दस्य अभिधालक्षणान्यतरत्वं बोध्यम् ।

(D) अत्र लाक्षणिकशब्दस्य लक्ष्यार्थवाचकत्वापत्तेः साक्षात्पदस्य [illegible] तस्य च [illegible] विशेषणत्वेन [illegible] इत्थं साक्षाद् गृहीतेति । अर्थाद् [illegible] [illegible] मन्तव्यम् ।

[illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] । [illegible] [illegible] [illegible]

(१०) संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

यद्यप्यर्थक्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या व्यक्तिरेव

सङ्केतितश्चतुरिति। **सङ्केतितः** साक्षाद् गृहीतसङ्केतः। **चतुर्भेदः** चतुष्प्रकारः। प्रकारचतुष्टयमाह—**जात्यादिरिति,** जातिगुण[A] क्रियायदृच्छोपाधि-

---

(A) अत्रेदमवगन्तव्यम्, आलङ्कारिकैर्जातिद्रव्यक्रियाभिन्नवस्तुमात्रस्यैव गुणमध्येऽन्तर्भाव इष्यते, तेन 'गिरयोऽप्यनुन्नतियुजः' इत्यादौ वक्ष्यमाणविरोधालङ्कारोदाहरणे अभावविरोधस्यापि गुणविरोधतया न विभागव्याघात इति। स्पष्टमिदं बालबोधिन्याम् (पृ ३९)।

तथाऽप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केतः कर्तुं(A), न युज्यत इति गौः

रूप इत्यर्थः । व्यक्तावेव सङ्केतितत्वमुचितमित्याशङ्कते—**यद्यपीति** । 'अर्थः' प्रयोजनं 'हलवाहनादि', तस्मै 'क्रिया' गवादे[1]रानयनादिः तत्कारित्वा(B)दित्यर्थः । 'व्यक्तिः' गवादिः, तथाच तत्रैव सङ्केतग्रहो वक्तुमुचित इति पूरणीयम् । अत्र समाधत्ते—**तथापीति** । ननु नानन्तव्यक्तिषु सङ्केतग्रहः किन्तु दृष्टव्यक्तावेव इत्यत आह—**व्यभिचाराच्चेति** । सङ्केतग्रहकालादृष्टव्यक्तावपि बोधस्य कार्य्यस्य तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहरूपकारणव्यभिचारादित्यर्थः । **कर्त्तुमिति** व्यक्तावेव बालकेन सङ्केतो गृहीत इत्ययमर्थोऽस्माभिर्वाग्विषयः कर्त्तुमित्यर्थः ; न तु बालकेन ज्ञातुमिति बहुभिर्व्याख्यातोऽर्थः, तद्व्यक्तिसङ्केतग्रहकाले व्यक्त्यन्तरे बालकस्य व्यभिचारानुपस्थितेः, तद्व्यक्तिशक्तिग्रहे तदुपस्थितेरबाधकत्वाच्च । नन्वेकव्यक्तिशक्तिग्रहोऽपि व्यक्त्यन्तरबोधं जनयति अतो न व्यभिचारः, न चातिप्रसङ्गः शक्तिग्रहप्रकारीभूतधर्म्माश्रयस्यैव यस्य कस्यचिद्बोधनियमादित्यत आह—**गौरिति** । अयं भावः, यदि सप्रकारक एव त्वन्मते शक्तिग्रहः स्यात् तदैव त्वन्मते व्यभिचारवारणं स्यात्, किन्तु सप्रकारक-

(A) कर्त्तुमिति स्वीकर्तुमित्यर्थः बालस्य व्यक्तौ सङ्केतग्रहे जातेऽपि उक्तदोषेण तत्र प्रमाणस्वीकारासम्भवादिति भावः ।

(B) अत्रेदं चिन्तनीयम्, गवादेरानयनादिक्रियाकारित्वस्य आनयनकर्तृपुरुषनिष्ठतया गोपिण्डनिष्ठत्वाभावात् निरुक्तार्थक्रियाकारित्वनिबन्धना गवि प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा न सम्भवति, गवादिकर्म्मकानयनादिकं विना आनयनाद्यनुपपत्त्या तत्कारित्वादित्यस्य तन्निर्वाहकत्वादित्यर्थेन तदुपपादनेऽपि अर्थाय क्रिया इति तादर्थ्यचतुर्थ्या समासो न घटते 'विकृतेः प्रकृत्या तादर्थ्ये' इत्यनेन प्रकृतिविकृतिभावस्थल एव तद्विधानादिति । अत्र केचित्—अर्थक्रिया कार्य्यं, तच्च प्रकृते हलवाहनादि सङ्केतग्रहणादि च, तत्कारित्वञ्च गोपिण्डस्यैव न गोत्वजातेरिति तन्नियत प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयत्वमपि गोपिण्डस्यैवेति व्यवहाराधीनसङ्केतग्रहस्तत्रैवोचित इति । अर्थक्रियापदस्य कार्य्यपरत्वञ्च "अर्थक्रिया कार्य्यं तत्र समर्थम्" इति गौडब्रह्मानन्दीयाद्वैतसिद्धिटीकाग्रन्थव्याख्यावसरे "अर्थस्य पदार्थस्य क्रिया व्यापार इति नार्थः अर्थान्तरप्रसक्तेः किन्त्वर्थरूपा क्रिया कार्य्यम्" इत्येवं वदता विठ्ठलेशेनोपपादितम् । अन्ये तु अर्थस्य पुत्रादेः क्रिया अर्थक्रिया तत्कारित्वादित्यर्थः । अत एव न्यायमञ्जर्यां "सत्त्वं तावदर्थक्रियाकारित्वमुच्यते सत्यपि पुत्रे तत्कार्य्यादर्शनादपुत्रा वयमिति व्यवहरन्ति लौकिकाः पुत्रादन्यस्मिन्नपि तत्कार्य्यकारिणि सति सपुत्रा वयमिति ब्रुवन्तीत्युक्तम् ।

1. 'जवाहरणादि तस्मै क्रिया घटादे-' ख ।

शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनां विषयविभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव सङ्केतः।

उपाधिश्च द्विविधः—वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। वस्तुधर्मोऽपि द्विविधः—सिद्धः साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविधः—

शक्तिग्रहाङ्गीकारे न लाघवम्। प्रकारांशे शक्तिग्रहेणैव आद्योपलभ्यव्यक्तिग्रहोपपत्तेः यस्मन्मतानुप्रवेश स्यादत्ता व्यक्तिशक्तियादिना त्वया निष्प्रकारक एव व्यक्तौ शक्तिमती वाच्य, तथाच एकस्यां व्यक्तौ गौरित्यादिपदचतुष्टयस्य प्रकारकृततद्विषयविभागो न स्यात् पदानां प्रकारोपस्थापनासामर्थ्यादित्यर्थः। इदमुपलक्षणम्, निष्प्रकारकशक्तिग्रहाभ्युपगमे उक्तव्यभिचारानुद्धारोऽपि स्यादिति बोध्यम्। 'विषयविभाग' प्रकारकृत 'न प्राप्नोति' स्वसत्तामिति शेष। भवत्यर्थो वाऽत्र प्राप्नोति। तदुपाधावेवेति, 'तस्या' व्यक्ते 'उपाधौ' प्रकारीभूते धर्म्मे इत्यर्थः। सङ्केत इत्यत्र गृह्यत इति शेष। तथाच उपाधिशक्तात् पदात् स्वशक्यस्योपाधेः स्वाश्रयाया व्यक्तेश्च स्मृतिर्विशिष्टानुभवश्च ; अशक्याया व्यक्ते स्मरणमेव' आक्षेप। न ■ व्यक्तेरनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणाङ्गीकारेणेति वाच्यम्, गोत्वप्रकारकस्मरणाभावे गोत्वविशेषणकशाब्दबोधानुपपत्ते, गोपदाद्गोत्वेनाभ्युपगमानुपपत्तेश्च गोत्वाभ्यत्वयोरविनाभावाभावेन अनुमापक(मान?)रूपाक्षेपासम्भवात् गोत्वाविनाभावाद्गोस्मरणाङ्गीकारे तु अनन्येनाप्ये तदेवारोप'। तदुक्तम्—"जातिशक्त पद व्यक्तिमप्यनुभावयति स्मारयति चे"ति। तत्र च जातिपदमुपाधिमात्रपरमेव"*।

जात्याद्युपाधिचतुष्टयं विभक्तविभागेन दर्शयति—उपाधिश्चेति। 'वस्तुधर्म्म' वस्तुनि व्यक्तौ अनारोपितो धर्म्म स च व्यक्तिवृत्तिजातिगुणक्रियारूप। वक्तृयदृच्छेति। स्वारसिकी इच्छा यदृच्छा तया सन्निवेशित अवास्तवोऽपि पुत्रादौ नामरूप।

---

१ 'पति भाव' च। २, मैव न तु ... पाचि ?)पक्षेन तथा ... तदुक्तम्—जातिशक्त पद व्यक्तिमप्यनुभावयति स्मारयति न त्वध्यवीऽनुमान तत्र व्याप्त्यनिश्चितसम्बन्धानिबन्धन विभवात्। न च ... प्रसङ्गात्त्याय वाक्यविनाभावज्ञानमेवाक्षेप वाच्यम्, तथाच मान्नादौ ... तथाच तदेव व्याप्तिज्ञाननित्यत्वो विनाभावज्ञाननैवाति वाच्यम् अप्रयत्न एतानिनाभावस्य हेतुत्वात्। तदि ... भवो न स्यात् (च) ... इति चेत् तत्र ... न तु ... न चैव व्यक्तेरनुभवमात्रमेवास्तु किं स्मरणेनेति वाच्यम् गोत्वप्रकारकयोऽस्मरणाभावे ... गोविशेषकशाब्दबोधानुपपत्त' ग।

पदार्थस्य प्राणप्रदो(A) विशेषाधानहेतुश्च। तत्राद्यो जातिः। उक्तं

वस्तुधर्ममेव द्विधा विभजति सिद्धः साध्यश्चेति। 'सिद्धः' नित्यः, स च जातिगुणरूपः तन्मते(B) गुणा अपि नित्या एव आविर्भावतिरोभावावेव[1] उत्पत्तिविनाशप्रतीतिविषयाविति। 'साध्य' जन्यः(C) क्रियारूपः। सिद्धमेव पुनर्विभजति—सिद्धोऽपीति। 'पदार्थस्य' व्यक्तेः, प्राणो हानोपादानव्यवहारः, स्वप्रकारकज्ञानेन तत्प्रद इत्यर्थः, स च जात्याद्यखण्डधर्मितावच्छेदकरूपः, गोत्वेदन्त्वादिधर्म्मितावच्छेदकमहं विना गवादिधर्म्मिणो हानोपादानव्यवहाराभावात्। 'विशेषाधानम्' अतादृशानां(D) व्यावृत्तिबुद्धिः, तद्धेतु शुक्लादिगुणरूप इत्यर्थः। यद्यपि गोत्वादेरपि अश्वादिव्यावृत्तिबुद्धिजनकत्वमस्ति, तथाऽपि तत्र प्राणप्रदत्वमधिकम्, शुक्लादौ विशेषाधानमात्रम्, अतो विशेषाधानहेतुरित्यर्थः। न च शुक्लादिव्यक्तेर्हानोपादाने धर्म्मितावच्छेदकतया शुक्लत्वादिकमपि प्राणप्रदमेवेति वाच्यम्, तत्वेदन्त्वाद्यविषयकशुक्लादिज्ञानेन शुक्लादेर्हानोपादानानभ्युपगमात्। अस्तु वा शुक्लमानयेत्यत्र तथा, तथापि प्राथमिकशुक्लव्यवहारे इदन्त्वादिधर्मितावच्छेदकमेव प्राणप्रदम्, शुक्लत्वन्तु तत्र विशेषाधायकमेव, गोत्वाश्वत्वादिकन्तु नैवमित्यभिप्रायः। आद्यो जाति-

---

(A) प्राणप्रद इति। प्राणप्रदत्व च यावदवस्थिति सम्बन्धित्वम्। यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथाऽपि तस्य सम्बन्धः कदाचिद्वैत्यपि न तु गोत्वादेरिति विशेषः। तत्र "प्राणप्रदो जाति" इति प्रदीपः। प्राणः स्वाविनाभावेन व्यवहारस्तत्प्रदस्तन्निर्वाहक इति कश्चिद्वृद्धम्।

(B) यद्यप्येकैका एव हि नीलत्वादिव्यक्तय इति मन्यतेऽपि महाप्रलये जलपरमाणुवृत्तितया शुक्लरूपस्यैव नित्यत्वं न कृष्णादेः संयोगादेश्चानित्यत्वं तैरप्यङ्गीक्रियते, तथाऽपि मुख्यान्यनित्यवृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमानित्यर्थ इति कश्चिद्वृद्धम्।

(C) तथापि नित्यावृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमानित्यर्थः, तेनानित्यगुणव्यावृत्तिरिति कश्चिद्वृद्धम्।

(D) अत्र "अतादृशात्" इत्यस्य स्वाश्रयसजातीयस्य इत्यर्थकल्पने गोत्वादीनां विजातीयव्यावर्तकाना न विशेषाधानहेतुत्वं सम्भवतीति चिन्तनीयम्।

---

1 '-पादान' ख।

हि वाक्यपदीये—(A) "न हि गोः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ"रिति। द्वितीयो गुणः, शुक्लादिना हि लब्धसत्ताकं वस्तु विशिष्यते। साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः। डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं(B) संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा

रिति अखण्डोपाधिरित्यर्थः। 'वाक्यपदीये' वाक्यपदीयेत्याख्ये ग्रन्थविशेषे (C) स्वरूपेणेति गोत्वाविषयीभावेनेत्यर्थः। नाप्यगौरिति अगोव्यवहारोऽपि, इदन्त्वादिना उपस्थित एव धर्मिणीत्यर्थः। गोत्वाभिसम्बन्धात्तु इति गौ इति धर्मितावच्छेदकविशिष्टज्ञानादित्यर्थः। गौरिति व्यवहार्य्य इति शेषः। शुक्लादिना हीति, प्रामाण्यमदेन 'लब्धसत्ताकं' लब्धव्यवहार्य्यसत्ताकं(D) वस्तु अनुद्दिष्टं शुक्लत्वादिना व्यावर्त्यते(E) इत्यर्थः। साध्यस्वरूपमाह—साध्य इति। पूर्वापरीभूत अवयव एकदेशो यस्य तादृशक्रियासमुदायरूप इत्यर्थः पूर्वापरीभूताधिश्रयणाद्यवयवेन पाकादिपदप्रयोगात्। वक्तृयदृच्छासन्निवेशितरूपमुपाधिं दर्शयति—डित्थादीति। वक्त्रा पित्रादिना। डित्थादिरूपेषु अर्थेषु डित्थादिशब्दानां स्वरूपमुपाधित्वेन यदृच्छया सन्निवेश्यते आरोप्यते इत्यर्थः। तादृशस्वरूपस्य च आशुविनाशिक्रमिकानेकवर्णघटितत्वेन तद्बाधोपाय पूर्वोक्तं स्मारयति अन्त्यबुद्धीति अन्त्यवर्णबुद्धिग्राह्यमित्यर्थः। ननु तेनापि वर्णक्रमेण व्यञ्जने सैवानुपपत्तिरित्यत आह—संहृतक्रममिति तत्तद्वर्णक्रमिकज्ञानभिन्नैकज्ञानेन विषयीकृतमित्यर्थः। चक्रवर्त्ती तु 'अन्त्यबुद्धि' पद

(A) अस्मदुपलब्धवाक्यपदीये नायमंशः उपलभ्यते। अस्य प्रदीपकारकृत व्याख्यानं तु—न हीति अस्यार्थः गौः स्वरूपेण न गोव्यवहारस्य नाप्यगोव्यवहारस्य विषयः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गोव्यवहारस्य विषय इति।

(B) अन्त्यबुद्धीति। "डित्थादिशब्दानां प्रथमवर्णप्रतीत्या किञ्चित् प्रकाशितमन्त्यवर्णबुद्ध्या नि शेषतो ग्राह्यम्" इति प्रदीपः।

(C) भर्तृहरिप्रणीत इति बोध्यम्।

(D) एतेन जन्मोत्पत्तिकाल एव जातीनां सम्बन्धः गुणानान्तु द्वितीयक्षण इति लभ्यते तथाच केषाञ्चिदपि गुणानामुक्तरीत्या जातिवैधर्म्यसिद्धौ तज्जातीयत्वनान्यथामपि जातितो वैलक्षण्यं दुर्गममिति तयोर्भेदेन निर्देशो युक्त इति स्पष्टं बालबोधिन्याम्।

(E) तथाच वृत्तौ शुक्लादिनेत्यस्य विशिष्यते इत्यत्रैवान्वयो न तु लब्धसत्ताकमित्यत्रेति भावः।

यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति (A)महाभाष्यकारः। परमाण्वादीनान्तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिकं गुणत्वम्। गुणक्रियायदृच्छानां वस्तुत एकरूपाणा(B)मप्याश्रयभेदाद्भेद इव लक्ष्यते, यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्।

प्रत्यक्षानन्तरोत्पन्ना पदार्थस्मृतिरूपा बुद्धिः, तया निर्ग्राह्यं विषयीकृतम्, पदस्यैवात्र पदार्थत्वादित्यर्थः, तथा 'संहृतक्रमम्' ईश्वरप्रयोगाद्याधुनिकप्रयोगरूपक्रमरहितम् आधुनिकप्रयोगरूपत्वादिति व्याचष्टे, तन्न, तत्कथनस्य प्रकृतानुपयोगित्वात्। **संज्ञारूप इति।** तथाच तादृशी संज्ञा शक्ता शक्या चेत्युक्तम्, धर्म्मिणस्त्वाक्षेपादेव लाभ इति भावः। यद्यपि समवायिसमवेतयोरेवाविनाभावः स एव चाक्षेपहेतुः, तथाऽपि अविनाभावोऽप्यसत्येव वक्त्रा यदृच्छयाऽऽरोपितो धर्म्याक्षेपहेतुरिति बोध्यम्। **यदृच्छात्मक इति,** यदृच्छया आत्मा यस्येति विग्रहः, संज्ञाया यदृच्छारूपत्वाभावात्। **प्रवृत्तिः** (C)प्रवृत्तिविषयः। परमाण्वादिशब्दानां प्रवृत्तिविषयसंशयं निरस्यति—**परमाण्वादीनामिति** परमाणुत्वादीनामित्यर्थः। अणु दीर्घं महद् ह्रस्वञ्चेति(D) परिमाणरूपगुणमध्ये पठितत्वात् तत्परिभाषासिद्धमेव तेषां गुणत्वं प्रमाणान्तरं नापेक्षते इत्याह—**पारिभाषिकमिति।** ननु गुणक्रियायदृच्छोपाधिषु शक्तिग्रहाभ्युपगमेऽपि तेषामपि प्रतिव्यक्ति नानात्वेन तत्रैवानन्त्यव्यभिचारापत्तिरत आह—**गुणक्रियेति**, जातिवदेतेऽपि अनेकाश्रया एकैक एवेत्यर्थः। यद्यप्येवं सिद्धान्ते क्रियाया अपि नित्यत्वमेव सेद्धुमुचितम्, तथाऽपि महाप्रलये परमाणूनामपि निष्क्रियत्वेन अनित्यत्वम्। 'यदृच्छा' यदृच्छोपाधिः। **आलम्बनभेदादिति** आश्रयत्वेन ज्ञातभेदादित्यर्थः, खड्गादेर्वस्तुतो मुखाद्या-

---

(A) "ऋलृक्" इति सूत्रस्य भाष्ये 'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' इत्येतावन्मात्रमुपलभ्यते।

(B) एकरूपाणामिति। गुणक्रियादीनामाश्रयभेदेन भेद एव प्रसिद्धः "भेद इव" इत्यनेन प्राप्तोऽभेदस्तु अन्येन केनाप्युक्तो न वेत्यनुसन्धेयम्।

(C) ननु महाभाष्यकारैः प्रवृत्तेरेव चातुर्विध्यमुक्तं तत्तु सङ्केतितचातुर्विध्ये प्रमाणतया उपन्यासानर्हमतो व्याचष्टे—प्रवृत्तिविषय इति। इदन्तु प्रवृत्तिपदस्य पर्य्यवसितार्थप्रदर्शनमेवेति बोध्यम्।

(D) "अणु दीर्घं महद् ह्रस्वमिति तद्भेद ईरितः" इति कारिकावली (श्लो. ११०)।

हिमपयःशङ्खाद्याश्रयेषु परमार्थतो भिन्नेषु शुक्लादिषु यद्वशेन शुक्लः शुक्ल इत्याद्यभिन्नाभिधानप्रत्ययोत्पत्तिस्तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्, गुडतण्डुलादिपाकादिष्वेवमेव [1]पाकादित्वम्, बालवृद्धशुकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च प्रतिक्षणं भिद्यमानेषु डित्थाद्यर्थेषु वा डित्थत्वाद्यस्तीति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्ये । तद्वान्

प्रयत्नाभावात्(A)। जातिरेवेत्यादि मतं व्याचष्टे—हिमपय इति। 'अभिन्नाभिधानम्' एकाकारशब्दप्रयोगः, 'अभिन्नप्रत्ययः' एकाकारप्रत्ययः। 'पाकादित्व' पाकत्वादि। एवं डित्थादिशब्दनिष्ठामेव जातिमुपपादयति बालवृद्धेति। उच्चारयितृस्वरभेदेन डित्थादिशब्दानामनेकत्वं बालवृद्धेत्यादिना दर्शयित्वा डित्थत्वादिजातेरनेकव्यक्तिवृत्तित्वमुपपादितम्। शब्दवृत्तिजात्या तत्समवायिनः शब्दस्यैवाक्षेपसम्भवात् न पुरुषस्येत्यतः पुरुषवृत्तिमेव(B) डित्थत्वादिजातिमुपपादयति प्रतिक्षणमिति। नानापुरुषेषु डित्थत्वानुपलम्भेऽपि(C) एकस्यैव पुरुषस्यावस्थाभेदेनानेकत्वमुपपादितमनेन। (D)डित्थत्वमिति विकल्पशब्देन शब्दतदर्थवृत्तिजातिद्वयमुक्तम्। एवं सर्वत्रैव जातिमुपपाद्य सर्वेषां शब्दानां तत्रैव शक्तिरित्याह—सर्वेषामिति। 'जातिरेव' इत्यत्र जातिपदमखण्डोपाधिपरम्, तेनाकाशत्वाभावत्वादिपरिग्रहः। यथा च

(A) अयमाशयः, खड्गमुकुरादौ मुखादिबिम्बस्य प्रतिबिम्ब एव गृह्यते तत्र वस्तुगत्या बिम्बभूतस्य मुखादेरेव प्रत्यक्षत्वम्, बिम्बश्च स्वस्थानस्थित एवेति न खड्गादस्तत्राप्रयत्नमन्तव्य । तथाच शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीमद्वाचस्पतिमिश्राः "एवं विलासकुरणाभिमुखस्यादर्शोदकादिषु स्वच्छेषु भासुरं तेजः स्वमपि बलीयसा सौर्येण तेजसा प्रतिघातेन प्रवर्तितं मुखमभिमुखं गाहमानं दर्पणाद्यवस्थानमभिमुखतया मुखस्य ग्राहयत् पूर्वदिशाभिमुखस्यापि मुखस्य पश्चिमाभिमुखतामारोपयतीति प्रतिबिम्बविभ्रमोऽपि लक्षितो भवति" इति (अध्यासभाष्यभामती)।

(B) एवकार अध्यर्थे।

(C) 'श्यामरूपो युवा विद्वान् सुन्दरः प्रियभाषकः । सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च डित्थ इत्यभिधीयते ॥' इति प्राचीनास्तु डित्थलक्षणस्य नानापुरुषेषु सम्भवात् 'अपी'ति। नानाडित्थव्यक्तिव्यङ्ग्यस्य डित्थत्वस्य ब्राह्मणत्वादिना साङ्कर्येण जातित्वं नोपपद्यते अतः ... एकस्यैवावस्थाभेदानुसरणम्। अन्ये तु 'डित्थः काष्ठमयो हस्ती डवित्थस्तन्मयो मृगः', इति वदन्तो डित्थत्वस्य पुरुषवृत्तित्वमेव नाङ्गीकुर्वन्ति।

(D) अयमंशः क-पुस्तके नास्ति, किन्तु तत्र 'क्षणभङ्गवादे क्षणस्यैव विशिष्टभावादन्य मतान्तरे तु प्रत्यक्षस्यमित्येवार्थं' इति पाठो दृश्यते, स च टिप्पणीति प्रतिभाति।

---

[1] 'पाकत्वादि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः

अपोहो वा शब्दार्थः कैश्चिदुक्त इति ग्रन्थगौरवभयात्प्रकृतानुपयोगाच्च न दर्शितम् ।

(११) स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ॥८॥

स इति साक्षात्सङ्केतितः । अस्येति शब्दस्य ।

(१२) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात् ।

शुक्लपदात् शुक्लत्वादिजात्याश्रयस्य शुक्लादिगुणस्यैवाक्षेप पटादिपरत्वे तु लक्षणैवेति(A) मन्तव्यम्[1] । 'प्रवृत्तिनिमित्त' प्रवृत्तिविषय । 'तद्वानिति' नैयायिकमतम्, प्रकारीभूतधर्मवानित्यर्थ , 'अपोह' इति बौद्धमतम्, 'अपोह ' अतद्व्यावृत्ति (B) । 'न दर्शित' कारिकायामेव, वृत्तौ तु दर्शितमेव ।

'मुख्यार्थबाध इति लक्षणालक्षण वक्तुं मुख्यार्थं दर्शयति— स मुख्योऽर्थ इति । व्यापारो वृत्ति । मुख्यार्थेऽपि अजहत्स्वार्थात्मकोपादानलक्षणासत्त्वात् तद्वारणाय व्यापारे मुख्यत्वोपादानम् , मुख्यत्वञ्च व्यापारान्तरबाध विनैव (C) कल्प्यमानत्वम् , व्यापारान्तरस्य तु शक्तिबाधेनैव कल्पना ।

लाक्षणिकशब्द निरूपयितु लक्षणा निरूपयति— मुख्यार्थबाध इत्यादि । 'अत्र ग्राहककथनेन ग्राह्याया लक्षणाया वक्तृतात्पर्यपरत्व(D)सिद्धिरवधेया[2]* , यत्

(A) लक्षणैवेति । न चैवं 'गुणे शुक्लादय पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वती'त्यादेरसङ्गति , कोपाणाशक्तिनिरूपलक्षणान्यतरग्राहकत्वाभ्युपगमात् । गुण इत्यस्य च गुणत्वविशिष्टशुक्लत्वादावित्यर्थ ।

(B) अत्र प्रदीप —"सौगतास्तु व्यक्तावानन्त्यादिदोषाज्जातेश्च देशकालानुगमाभावात्तदनुगतायामतद्व्यावृत्तौ सङ्केत " इति ।

(C) व्यापारान्तरबाधं विनेत्यस्य व्यापारान्तराव्यवधानेनेत्यर्थ तेनाभिधामूलव्यञ्जनाया शक्तिबाधाभावेऽपि नातिप्रसङ्ग इति ध्येयम् ।

(D) अत्र वक्तृतात्पर्यम् 'अस्माच्छब्दान्मुख्यार्थसम्बन्धी बोद्धव्य' इति वक्तुरिच्छाविषयत्वम्, एवञ्च 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचि'दित्यनेन भासोदेकदेशिसम्मतवृत्तिभावात् पदार्थद्वयसंसर्गभासक-

---

1 'मन्तव्य न तु तस्याक्षेप , गवादिपदानां व्यक्तावपि लक्षणाविशेषवायैनाक्षेपापत्ते ' ख ।

2 'अयं प्रकारश्च एव लक्षणा, सा तु परम्परैव शब्दवृत्ति , तात्पर्येण तद्ग्राहकमिति नैयायिका । शक्यसम्बन्धमुख्यार्थबाधप्रतिसन्धानाधीना तत्स्यार्थोपस्थितिरेव लक्षणा, सा चानुभविकी न न लक्षिका तथा यदि पदवृत्तित्व परम्परयेति न अवस्थोमालक्षणा । तन्मतद्वयमुपेत्य तात्पर्याख्यकायेन लक्षणा तद्ग्राहककथनेन पर्यायपरेण—मुख्यार्थबाध ' ख ।

इत्यन्वय यथेत्यर्थे, वृत्तान्येनम्। तथाच मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोगे च ज्ञाते सति, रूढित इति रूढिज्ञानात्, [1]शक्तपदापेक्षयाऽशक्तपदप्रयोगस्य सामान्यत सविशेष प्रयोजनक थनाद्वा * ज्ञातया यया वृत्या अन्या मुख्यभिन्नोऽर्थो लक्ष्यते प्रतिपाद्यते(A) सा वृत्तिर्लक्षणेत्यर्थ। सा चारोपिता पुरुषेण लक्ष्यार्थविषयतया जनिता स्वतान् पर्यात्मिका क्रिया वृत्ति। शक्तिस्त्वीश्वरेच्छात्मिका अन्या वा नित्यसिद्धा न पुरुषेण [2]जनिता। यदिन्यस्य यथेन्ययस्त्य दर्पणेऽपि व्यक्तम्। यथा—

मुख्यार्थबाधे तद्योगे ययाऽन्योऽर्थ प्रतीयते।
रूढे प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ इति

(सा० द० २य प०)

तत्र च शक्तिवृत्ति, अर्पिता पुरुषेण जनितेत्यर्थ। लक्षितोऽर्थेति। अत्र अथवेत्यर्थे अथवा * कचिद् रूढिज्ञानात् कचिच्च प्रयोजनज्ञानादित्यर्थ। मुख्यार्थबाधश्च [3]मुख्यार्थस्य समभिव्याहृतपदार्थेऽन्वयबाध एव'* पदार्थस्य कचिदप्यबाधात्। मुख्यार्थस्यान्वयबाधोऽपि तात्पर्यविषयस्यान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेणानिर्वाह एव गङ्गाया घोष इत्यादौ तात्पर्यविषयस्य तीरे घोषान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन प्रवाहत्वेन, छत्रिणो गच्छन्तीत्यत्र तात्पर्यविषयस्य छत्रिणा [अच्छत्रिणाश्च] गमनान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन छत्रित्वेन, कुन्ता प्रविशन्तीत्यादौ तात्पर्यविषयस्य कुन्त्यादप्रवेशान्वयस्य मुख्यार्थतावच्छेदकेन कुन्तत्वादिना च अनिर्वाहात्। मुख्यार्थान्वयमात्रबाधविवक्षणे तु छत्रिकुन्तादेरपि गमनप्रवेशाद्यन्वयात् तत्र बाधाभावनाव्याप्ति स्यात्, तात्पर्यविषय [बाध] विवक्षणेऽपि तत्रैवाव्याप्ति छत्रित्वकुन्तत्वादिनाऽपि छत्रिकुन्तयोर्गमनप्रवेशान्वयसम्भवात्, किन्तु तथात्वेनान्वयस्य तात्पर्याविषयत्वात्,

तात्पर्याद्दीदृशलक्षणात्मकतात्पर्यस्य विशेष्यविशेषणभासकतया वैलक्षण्यनाम्य सम्बन्धत्वं वृत्तित्वं न विरुध्यते।

(A) कारिकास्थस्य लक्ष्यते इत्यस्य लक्षणया प्रतिपाद्यते इति प्रसिद्धार्थकस्य लक्षणाशब्दस्य लक्षणाघटितत्वेनात्माश्रय स्यादुक्तत्वदोषपरित्यागेनैव व्याचष्ट—प्रतिपाद्यत इति।

1 प्रतापरुद्र तत्पदप्रयोगापेक्षया प्रयोग न तत्पदप्रयोगस्य प्रयोजनविशेषवत्त्वज्ञानाद्वा च

2 लक्षणास्थाने अत्र क्रम प्रथम मुख्यार्थस्यान्वयबाधबोधस्तत्सम्बन्धबोधस्तदनन्तरं तयो मध्यार्थो योग्यतावमान्य कार्यते। तात्पर्यं तच्छेदस्य तत्सम्प्रतिपादकस्य सामान्यत प्रयोजनविशेषवत्त्व वा न नाभावयत नुपर्यवसायी बाधया ज्ञायते इति पक्षस्तोऽयमेतावत् च 3 चारोपिता च।

4 समभिव्याहृतपदार्थस मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण तात्पर्यविषयान्वयबोधानुपपत्तिरेव च।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया ॥ ६ ॥

पक्कसार्थवाहित्वकुन्तित्वानिनैवान्वयस्य तात्पर्य्यविषयत्वाद् तादृशान्वयस्य मुख्यार्थता-वच्छेदकच्छेद्यित्वकुन्तत्वानिनाऽनिर्व्वाहात् अतस्तात्पर्य्यविषयेति मुख्यतावच्छेदकेति चोपात्तम्। ईदृगमुख्यार्थबाधज्ञानेऽपि यत्र लक्ष्यार्थे मुख्यार्थसम्बन्धानुपस्थिति-स्तत्र सतोऽपि वक्तृतात्पर्य्यस्य न कश्चियोगार्हलक्षणात्वम्, किन्तु वक्तृसामर्थ्य-सूचिका नेयार्थलक्षणैव सा, तथात्वञ्च दोष एव वक्ष्यते ; तद्वारणाय तद्योग इत्युपात्तम्। अनेन मुख्यार्थयोगस्य लक्षणाज्ञापकत्वकथनेन शक्यसम्बन्धस्य लक्षणात्वं नैयायिक-मतसिद्धमुपेक्षितमिति मन्तव्यम्। तदुपेक्षावीजञ्च 'शुक्ल' पट इत्यत्र शुक्लगुणसमवायस्य लक्षणात्वे तया पट एवोपस्थाप्येत, न तु शुक्लगुणसमवायानाश्रय' शुक्लगुण इति[1]●। रूढिप्रयोजनान्यतरज्ञान विना ज्ञातमपि वक्तृस्तात्पर्य्यं नेयार्थलक्षणैवेति तद्वारणाय रूढित इत्यादिद्वयम्। लक्षणाज्ञाने त्वयं क्रमः,—प्रथमं तात्पर्य्यघटित-मिलक्तमुख्यार्थबाधग्रह', तात्पर्य्यग्रह एव च तद्विरक्तोरादेकपस्थिति', ततस्तस्मिन्नेयार्थे मुख्यार्थसम्बन्धोपस्थिति', ततस्तस्मिन्नेयार्थे भूरिप्रयोगरूपाया रूढेर्ज्ञानात् सामान्यतः सप्रयोजनकत्वज्ञानाद्वा वक्तृस्तात्पर्य्यरूपा लक्षणा ज्ञायते इति। अन्योऽर्थ इति। अत्रापि मुख्यतावच्छेदकधर्म्मभिन्नधर्म्मावच्छिन्न इत्येवार्थ', तेन सामान्यशब्दस्य विशेषपरत्वे विशेषस्यान्यत्वमुपपद्यते। ननु कारिकायां यदित्येवास्ति, वृत्तावपि यदित्येव वक्ष्यते, अतो लक्ष्यते स्मर्य्यते यत् तादृशी स्मृतिरेव लक्षणा सा चानुभाविकैव न स्मारिकेति कस्यचिन्मतेन[2] किं न व्याख्यायते, अलमन्यय"यत्"पदानुसरणेनेति। अत एव शक्यावगतयोपस्थितिर्लक्षणेति अस्मीमांसका अपि इति ³चेन्न; लक्ष्यार्थोप-स्थितेरेव लक्षणात्वे तस्या अज्ञाताया एवानुभावकत्वं वाच्यम्, तज्ज्ञानकारणत्वस्यानुभव-बाधितत्वात्, तथाच ज्ञातैव ज्ञाता वृत्तिः प्रत्यायिका इति स्थिते साक्षात्सङ्केतितमित्यादिनाच्यलक्षणे साक्षात्पदवैयर्थ्यापाताद् असाक्षाद्गृहीतवृत्त्यन्तराभावाद्व्यञ्जनाया अप्यगृहीताया एव बोधकत्वात्, शक्यार्थसाधारणस्य पदार्थोपस्थिति-मात्रस्यैव शाब्दबोधजनकत्वेन फलविशेषाजनिकायास्तस्या उपस्थितेर्लक्षणात्वेन

1 'मुख्यार्थस्य लक्ष्यार्थे य सम्बन्ध स्वत्वावच्छेदके तदभावाश्रयतया बोधाद्यभावात् तदविवृत-लक्ष्यार्थबोधानुपपत्तिरुदासीनतया तदुपस्थितौ च लक्ष्यार्थतद्विधर्मोभयस्यापि बोधापत्ति। यदि च यद्धर्मतया उपस्थितेर्लक्ष्यार्थ तत्सम्बन्धेन विशिष्टत्वेन लक्ष्यार्थस्य बोधस्तथापि शक्तः पट इत्यत्र शुक्लसमवायानाश्रयस्य शुक्लगुणस्य बोधानुपपत्ति, एव कुम्भविकपितसंयोगाभावस्य कुम्भस्य च बोधानुपपत्तिरिद' म। 2, 'मत' क।

(A)'कर्म्मणि कुशल' इत्यादौ दर्भग्रहणायोगात् 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ च गङ्गादीनां घोषाद्यधिकरणत्वायोगात् मुख्यार्थस्य

विशिष्य कारणताकल्पकाभावाच्च उपस्थितिलक्षणाशब्दस्य हेयत्वेन तन्मतानुसारेणास्य व्याख्यातुमनौचित्यात्। रूढिहेतुकाया प्रयोजनहेतुकायाश्च लक्षणाया उदाहरण द्वयमेकदैव दर्शयंस्तत्र लक्षण घटयति—कर्म्मणीति कुशग्रहणायोग्यलौकिक-कर्म्मणीत्यर्थ । 'ला आदाने' इति धात्वर्थानुसारेण कुशलपद कुशग्राहिणि शक्तम्, दक्षे तु लाक्षणिकमिति वैयाकरणा, तन्मतेऽवयवसमुदायाभ्या भिन्नार्थबोधकत्व शब्दस्यावयवलभ्यार्थ एव शक्ति समुदायलभ्यार्थे तु रूढिहेतुका लक्षणा। पङ्कजपदन्तु अवयवसमुदायाभ्यामेकस्यैव पद्मस्योपस्थापकमित्यतो न तल्लाक्षणिकम्, किन्तु योगरूढमेव। गच्छतीत्यर्थे 'डो'प्रत्ययान्तगमिना साधितमपि गोपद न गमनविशिष्टमात्रे शक्तम्, किन्तु सुप्ते गव्यपि, उणादिप्रत्ययान्तानां व्युत्पत्तेस्तु प्रायिकत्वाभ्युपगमात्, अत[1]स्तन्मतावष्टम्भेनाह—'कर्म्मणी'ति। कलिङ्ग साहसिक इत्यादिकन्तु सर्व्वमतसाधारण रूढिलक्षणोदाहरणम्। अवयवलभ्यार्थमात्रे शक्ति-स्वीकारे तु मण्डपकुण्डलपदयोरपि मण्डपानकर्तृकुण्डग्राहिणोरेव शक्ति, गृहविशेष-भूषणविशेषयोस्तु लक्षणैव स्यात्। दर्भग्रहणायोगादिति दर्भग्रहणस्य निरुक्त-

(A) अत्र साहित्यदर्पणकारा —"केचित्तु कर्म्मणि कुशल इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामय मभिप्राय —कुशान् लातीति व्युत्पत्तिलभ्य कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थ प्रकृतेऽसम्भवन् विवेचकत्वादि साधर्म्म्यसम्बन्धसम्बन्धिन दक्षरूपमर्थं बोधयति, तदन्ये न मन्यन्ते, कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्ति-लभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दाना व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्ति-निमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे गौ शेते इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्' इति। एतच्च मत "लब्धात्मिका सती रूढिर्भवेद् योगापहारिणी। कल्पनीया तु लभते नात्मान योगबाधत" इति भाट्टकारिकयाऽपि समर्थ्यते। अन्यार्थ—'लब्धात्मिका अभिनवपदार्थोपस्थितिका कोषपरम्परा-प्रसिद्धा सती अनादिप्रसिद्धा रूढि योगापहारिणी व्युत्पत्तिलभ्यार्थप्रतीतिप्रतिबन्धिका भवेत्, कल्पनीया लाघवप्रतिसन्धातृभिरिदानीन्तनैर्भावनीया तु आत्मान पदार्थोपस्थितिं न लभते न जनयति, कुत इत्याह—योगबाधत इति, योगेन बाधनात्, रूढेस्तस्या पदार्थोपस्थापकत्वस्य च कल्पनामपेक्ष्य क्लृप्तयोगस्यैव पदार्थोपस्थापकत्वमात्र कल्प्यते इति भाव' इत्यभिप्रायो राम-तर्कवागीशसम्मत ।

1 '—यदवा ग्रयोगात्' इति मुद्रितपुस्तकपाठ । 2 'बोधाद्य पारच्यासम्भवात्' इति मुद्रितपाठ । 3 'तन्मते रूढिहेतुकामाह' क।

बाधे, विवेचकत्वादौ सामीप्ये च सम्बन्धे, रूढितः प्रसिद्धेः, तथा गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगाद् येषां तथा न प्रतिपत्तिस्तेषां पावनत्वादीनां धर्म्माणां तथाप्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत्, स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा ।

रूपेणायोगादित्यर्थः, एवं घोषाद्यधिकरणत्वायोगादित्यत्र निरुक्तरूपेणायोगादित्यर्थः । **मुख्यार्थस्य बाधे** इत्यन्तेन द्वयोर्निरूढकमुख्यार्थबाधं दर्शयित्वा द्वयोर्मुख्यार्थयोग दर्शयति—**विवेचकत्वादौ सामीप्ये चेति** । यथासङ्ख्यमुभयोः सम्बन्धद्वयमिदम् । कुशोत्पाटनादि-व्यवस्थायां मन्त्रामन्त्रविवेचकत्वाद्येकधर्मवत्त्वं कुशग्राहि-दक्षयोः सम्बन्धः, तीरे तु गङ्गासामीप्यं सम्बन्धः, सामीप्यन्तु स्वसंयुक्तसंयोग-परम्परा । कुशलपदे रूढिहेतुत्वमाह—**रूढित इति** । तद्विवरणं **प्रसिद्धेरिति** । भूरिप्रयोग एव प्रसिद्धिः । गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रयोजनहेतुकत्वमाह—**गङ्गेति** । 'तथा न प्रतिपत्तिः' उत्तरकाले न प्रतिपत्तिः । 'तथाप्रतिपादनात्मनः' उत्तरकाल प्रतिपादनात्मनः । **प्रयोजनादि**त्यत्र ज्ञातादिति शेषः । तथाच भाविनः प्रयोजनस्य ज्ञानमेव हेतुर्बोध्यः 'सविशेषणे ही'ति न्यायात् । तज्ज्ञानञ्च इदं सप्रयोजनमित्येवं सामान्यत एव, [1]'पावनत्वादिरूपेण तज्ज्ञानन्तु लक्ष्यार्थज्ञानोत्तरमेव, शैत्यादेस्तदानीं विशिष्यानुपस्थितेः पश्चादेव तद्व्यञ्जनात्' । प्रयोजनसम्भावनाभावे तु सामान्यतोऽपि ज्ञानमित्यवधेयम् (A) । रूढिहेतुकायान्तु रूढिमत्त्वादेव न सप्रयोजनकत्वज्ञानम् । नेयार्थलक्षणायान्तु प्रयोजनबाधोपस्थितेरेव न तज्ज्ञानम् । **मुख्येनेति** बाधसम्बन्धयोः प्रतियोगितया उपस्थितेन मुख्यार्थेन [2]करणभूतेन(B) [3]शब्देनैव लक्ष्यते इत्यर्थः । 'आरोपितः' वक्तृबुद्ध्येति शेषः । 'व्यापारः' वृत्तिः । **सान्तरेति**, मुख्यार्थबाधाद्युपस्थितिव्यवधानेन उपस्थिते लक्ष्यार्थे विषयतासम्बन्धेन स्थित इत्यर्थः ।

(A) अवधेयमिति । वस्तुगत्या प्रयोजनाभावेऽपि भ्रमात्मकं तज्ज्ञानं सम्भवतीति भावः ।

(B) अत्र मुख्यार्थस्य करणत्वं स्वबाधद्वारा स्वसम्बन्धज्ञानद्वारा चेति बोध्यम् । इदन्तु चिन्तनीयम्—अत्र "मुख्येन" स्वाधारं त्वाधाय पूर्वमभिधयैवार्थोपस्थापनेन शब्देन 'अमुख्य' अभिधयाऽनुपस्थाप्य अर्थं इति एवम् व्याख्यानं कथं परित्यक्तमिति ।

---

1 'पावनत्वादिविशिष्य तज्ज्ञानमनन्तरमेव भानात्' क । 2 'सहकारिभूतेन' ख । 3 क-पुस्तके 'शब्देने'ति नास्ति ।

(१३) स्वसिद्धये पराक्षेपः [1]परार्थे स्वसमर्पणम्(A) ।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा(B) ॥ १० ॥

इत्थं लक्षणासामान्यलक्षणमुक्त्वा तद्विशेषानाह—स्वसिद्धये इति । स्वं स्वीय-मुख्यार्थस्य विवक्षितरूपेणान्वय , तस्य 'सिद्धये' बोधाय 'परस्य' मुख्यतानवच्छेदक धर्म्मावच्छिन्नस्य, 'आक्षेप ' प्रत्यायन ययेति शेष , 'सा उपादान' नाम लक्षणा इति यथासङ्ख्यमन्वय । मुख्यार्थ उपादीयते अन्वयप्रतियोगितया स्वजन्यानुभवविषयीक्रियते अनयेति व्युत्पत्त्युपरया अजहत्स्वार्थेय लक्षणेत्यर्थ । इयमेवार्थान्तरसङ्क्रमित-

---

(A) परस्यान्वयप्रसङ्गसिद्ध्यर्थं स्वार्थपरित्याग इति प्रदीप ।

(B) स्वसिद्धय इति । तात्पर्य्योपपत्तये यया लक्षणया कृत पराक्षेप अशक्यार्थबोध स्वसिद्धये शक्यार्थज्ञानाय भवति, आक्षेपवैचित्र्यात् शक्यार्थमपि वाक्यार्थबोधविषयतामापादयति सा लक्षणा उपादान नाम एव यया लक्षणया परार्थे परार्थम् अशक्यार्थस्य वाक्यार्थेऽन्वयसिद्ध्यर्थमिति यावत्, स्वसमर्पण भवति अमुख्यार्थस्यैव वाक्यार्थबोधविषयीभावाय फलत शक्यार्थस्य त्याग एव भवति सा लक्षणा लक्षण नाम , इत्येवमुपादानलक्षणाभ्या द्विधा उक्ता सा लक्षणा शुद्धैव न तु गौण्यादिरपीति कारिकार्थ । एतन्मते गौण्यादिषु उपादानत्वादिकृतो विभागो नास्तीति 'लक्षणा तेन षड्विधा' इत्यत्र टिप्पन्या स्फुटीभविष्यति । एतेन शक्यार्थस्य अभिधयैव वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धिसम्भवे तदर्थं पराक्षेपो न युक्त इत्याशङ्काया नावसर । एवञ्च उपादानलक्षणे शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयेऽविशेषणतया अन्वयसिद्धिर्वक्तव्या, तेन 'गङ्गाया घोष ' 'आयुर्घृत' मित्यादौ तीर-जनकादौ विशेषणतया प्रवाहाद्यु पस्थापनेऽपि तत्र तत्र नातिव्याप्ति । कुन्ता प्रविशन्तीत्यादौ च कुन्तादिप्रयोगनिरूपकत्वं कुन्तकुन्तिसाधारण लक्ष्यतावच्छेदकमिति काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादाविव कुन्तकुन्त्यादेर्विशेष्यविशेषणभावाभावेन तत्रापि नाव्याप्ति । न च तथाऽपि चेतनगतस्य प्रवेशकर्तृत्वस्य कुन्ते बाधात् नान्वयसम्भव इति वाच्यं तत्र तिङोऽपि अचेतनसाधारणव्यापारे लाक्षणिकत्वाभ्युपगमात् ।

एतेन श्वेतो धावतीत्यादेरुपादानोदाहरणत्वानुपपत्ति तस्यालक्ष्यत्वाभ्युपगमादिदृष्टैवेति व्यक्तम् । रूढावुपादानलक्षणोदाहरणन्तु देशपुरुषोभयतात्पर्यक 'कलिङ्ग शोभते' इत्यादिकमेव । लक्षणया शक्यार्थस्य यथाकथञ्चित् वाक्यार्थेऽन्वयमात्रेण उपादानत्वस्वीकारे 'गङ्गाया घोष ', 'आयुर्घृतम्' 'कलिङ्ग साहसिक ' इत्यादौ सर्वसम्मतलक्षणलक्षणोदाहरणमात्रे शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थे विशेषणविधया भानात् उपादानत्व प्रसज्येत । एतेन श्वेत शोभते इत्युदाहरणमपि प्रत्युक्तम्,

---

1 परार्थे इति प्रदीपकारादिसम्मत पाठ ।

'कुन्ताः(A) प्रविशन्ति' इत्यादौ कुन्तादिभिरात्मनः[1] प्रवेशसिद्ध्यर्थं स्वसंयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते[2] तदुपादानेनेयं लक्षणा।

वाच्यलक्षणा चेति वक्ष्यते। (B)एवञ्च 'शक्यार्थस्यैव शक्यतावच्छेदकातिरिक्तरूपेणोपस्थापनेऽपि पराक्षेप उपपन्न'[4]*। अन्वयसिद्धय इत्यत्र विवक्षितरूपेणेत्यकरणे 'छत्रिणो यान्ति' 'कुन्ताः प्रविशन्ती'त्यादावच्छत्रिकुन्तयोराक्षेप विनाऽपि छत्रिकुन्तयोरन्वयबोधसम्भवेन पराक्षेपस्य स्वसिद्धिहेतुत्वाभावादसम्भवः स्यात्, विवक्षितरूपेणान्वयबोधस्तु न तदाक्षेपं विनेत्यवधेयम्। **परार्थं स्वसमर्पणमिति।** 'स्व' स्वार्थत्वम्, 'परार्थे' तीरादौ, तत्समर्पणं तन्मात्रे स्वार्थतासमर्पणमित्यर्थः, अत्रापि यथेति शेषः। सा लक्षणं नाम लक्षणा उपलक्षणरूपेत्यर्थः, न तूपादानलक्षणायदन्वयबोधार्थं स्वार्थेऽपि स्वप्रतिपाद्यतारूपस्वार्थता अत्रास्तीत्यर्थः, 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ 'घोषान्वयार्थं तीरप्रतिपादने स्वार्थस्य गङ्गाया अप्रतिपाद्यत्वात्, तद्वाक्यार्थमेव तत्प्रतिपादनात्'[5]*। स्वसिद्धय इत्युपादानलक्षणामुदाहरणप्रदर्शनेन व्याचष्टे—**कुन्ता इति। कुन्तादिभिरिति,** बाधितान्वयप्रतियोगित्वेन उपस्थितैः कुन्तादिभिः करणभूतैः शब्देनैव तत्संयोगिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते लक्ष्यन्ते इत्यर्थः। **तदुपादानेनेति।** 'तत्' तस्मात् 'उपादानेन' अन्वयबोधार्थं स्वीयमुख्यार्थोपस्थापनेनेत्यर्थः, प्रवेशान्वयबोधार्थं कुन्तवत इव कुन्तस्याप्युपस्थापनात्। उपादानेनेत्यत्र भावे ल्युट् (C)। उपादान-

---

तत्र श्वेतगुणमात्रस्य तात्पर्यविषयत्वे लक्षणाया एवास्वीकारात्; तद्विशिष्टस्य तद्विषयत्वे तत्र लक्षणलक्षणाया एव गुणस्यस्य प्रागेव प्रतिपादनात् गुणलक्षणाया आश्रयतोभयैव पर्यवसानात्, उभयो पृथक् तथात्वस्य औत्सर्गिकद्विवचनाभावेन दुर्घटत्वादिति।

अत एव आयुर्घृतमित्यादौ अव्याप्तिवारणार्थं लक्षणलक्षणाया लक्षणेऽपि मुख्यार्थस्य विशेष्यविधया प्रवेशाभावरूपमेव स्वार्थसमर्पणं वाच्यम्, तेन च श्वेतो धावतीत्यादेरपि सङ्ग्रहः, एवञ्च इति सर्वं समञ्जसम्।

(A) कुन्त प्रासाद्यमिति कोषः।

(B) एवञ्चेति, परपदस्य मुख्यतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नपरत्वे चेत्यर्थः। यस्य मित्राणि मित्राणीत्यादावाक्षेपत्वरूपेण स्वार्थमित्रस्यैवाक्षेपेऽपि पराक्षेप उपपन्न इति भावः।

(C) ल्युडिति कलापमते, अनट् इत्यर्थः।

---

1 अत एव केषुचिन्मुद्रितपुस्तकेषु "यष्ट्यः प्रविशन्ति" इत्यंशोऽधिको दृश्यते। 2. 'भाक्षन' इति क्वचित् दृश्यते। 3 'तेन' इति पाठान्तरम्। 4 'परपदस्य मुख्यतानवच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्वविवक्षणात् शक्यार्थस्येन शक्यतानवच्छेदकधर्म्म णोपस्थापनेऽपि पराक्षेप उपपादितः' ग। 5 'परार्थं तीरमात्रस्यैव घोषान्वयप्रतीते' ख।

'गोरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते, न तु शब्देनोच्यते।

(A) 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे'

इति न्यायात्, इत्युपादानलक्षणा(B) तु नोदाहर्त्तव्या। न ह्यत्र प्रयोजन-

---

मित्यत्र करणं युद्। ननु धर्म्मे कुन्ते[1] शक्तस्य कुन्तशब्दस्य यदि धर्म्मिणि कुन्तिनि लक्षणा तदा गवत्वे शक्तस्य गोशब्दस्य गोत्वविशिष्टधर्म्मिणि लक्षणा स्यात्, तथाच सामयागे "गौरनुबन्ध्य" इति श्रुतिवाक्यमेव उपादानलक्षणोदाहरणमस्तु[1]* इत्याशङ्क्य निषेधति—गोरनुबन्ध्य इत्यादिना नोदाहर्त्तव्या इत्यन्तेन। अत्र[2] व्यक्ति-राक्षिप्यते इत्यन्तेन लक्षणाप्रसञ्जनम्। कथं मे स्यादिति, प्राणित्वेना[3]ध्यासितया गोत्वजातेरयं भावनाकारः। जात्येति बाधितान्वयप्रतियोगित्वेन उपस्थितया जात्या करणभूतया शब्देनैव लक्ष्यत इत्यर्थः। इत्थं लक्षणामाशङ्क्य अन्तरा तत्र शक्तिप्रसक्तिं निरस्यति—न त्विति। प्रथमं गोशब्देन गोत्वमुपस्थाप्य ततस्तयैव शक्त्या गौरप्युपस्थाप्यत इत्येवं शक्तिप्रसक्तिः, तन्निरासे हेतुमाह—विशेष्यमिति। 'अभिधा' शक्तिः 'विशेष्यं' गवादिधर्मिणं 'न गच्छेत्' उपस्थापनाय न प्राप्नोति। तत्र हेतुमाह—क्षीणेति। यतो 'विशेषणे' गोत्वमात्रोपस्थापने 'क्षीणशक्तिः' क्षीणसामर्थ्या, शब्दबुद्धिकर्म्मणां विरम्य व्यापाराभावेन सकृदुच्चरितशब्दात्[4] सकृद्बोधाभावात्। विशिष्टे शक्तिस्तु 'वैशिष्ट्यांशेऽपि शक्त्यभ्युपगमे गौरवादेव न युज्यत' इति भावः। इत्युपादानेति 'इति' एवं रीत्या प्रसञ्जिता 'गौरनुबन्ध्य' इत्यत्र उपादानलक्षणा नोदाहर्त्तव्या इत्यर्थः। अत्र हेतुः—न ह्यत्रेति न वेति। ननु गोशब्दस्य

(A) विशेष्यमिति। नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये चोपजायते इति न्यायेन सर्वत्र पूर्वं विशेषणोपस्थितेरावश्यकत्वेन नात्र विनिगमनाविरह आशङ्कनीय इति ध्येयम्।

(B) इदन्तु चिन्तनीयम्—गौरनुबन्ध्य इत्यत्र व्यक्तौ लक्षणास्वीकारेऽपि मुख्यार्थस्य जातेरनु-बन्धनक्रियायामन्वयासम्भवेन नेदमुपादानलक्षणोदाहरणे सम्भवतीति।

---

1 'शक्यपदस्य धर्मिणि कुन्तिनि लक्षणेत्युक्तम्, तन् किं लक्षणायां प्रकृत गौरनुबन्ध्य इत्यत्रैव गोपद तदुदाहरणं नोक्तं जातिशक्तिवाद बौद्धमतस्य गोपदस्य धर्मिणि शक्तिः लक्षणासम्भवात्' ख ग।

2 'अत्र' पर ग पुस्तके 'जात्यावच्छेदात्मनोऽधिकशब्दापेक्षया शक्तिकल्पनयैवानुमानेन प्रकारान्तरेण कल्पनात् तथात्र व्यक्तिः' इत्यधिकः। 3 'ध्यासित' या ग। 4 'निरस्तोऽकरोति' ख-ग। 5 'सकृदुच्चरितशब्दादिति भाव' ग। 6 'विशेष्यतावच्छेदकांशेऽपि' ग।

मस्ति, न वा रूढिरियम् । व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्ति-राक्षिप्यते; यथा (A)क्रियतामित्यत्र कर्त्ता, कुर्व्वित्यत्र कर्म्म, प्रविश

ननु भूरिप्रयोगरूपा रूढिरस्त्येव, तत् कथमिदमुक्तम्? अत्र चक्रवर्त्ती—आधुनिकदेवदत्तादिपदे रूढिर्नास्तीत्याह। तन्न; गवादिपदे रूढिमत्तानिरासात्। अत्रोच्यते, न वा रूढिरित्यनुक्त्वा न वा रूढिरियमित्युक्तेरयमभिप्रायः—लक्षणाहेतु रूढिर्न भूरिप्रयोगमात्रम्, किन्तु लक्ष्यार्थविनिर्मुक्तकेवलशक्यार्थे प्रयुक्तस्य शब्दस्य लक्ष्यार्थे भूरिप्रयोग एव लक्षणाहेतु रूढिः; यथा—केवले देशे शक्यार्थे प्रयुक्तस्य कलिङ्गशब्दस्य कलिङ्गत्वेन पुरुषे, गोशब्दस्य तु केवलगोत्वेऽप्रयुक्तत्वात् न तादृशी रूढिः। तर्हि कथं गोः प्रतीतिरित्यत आह—व्यक्त्यविनेति। उपस्थितया जात्या करणभूतया गोशब्देनैव व्यक्तिराक्षिप्यते स्वाश्रयतयाऽपि स्मार्य्यते अनुमाप्यते चेत्यर्थः। जातेः करणता च (B)तत्स्मरणं विना व्यक्त्याक्षेपाभावात्।

नन्वेवमनुपात्तशब्दस्याशक्यार्थोऽपि(C) शाब्दबोधविषय इत्युक्तम्, तच्च क्व दृष्टमित्यत आह—यथेति। क्रियतामित्यत्र प्रत्ययार्थः कर्म्म, कर्त्ता तु अध्याहारलभ्य एव, एवं कुर्व्वित्यत्र कर्तृविहितप्रत्ययान्ते कर्म्म अध्याहारलभ्यम्, यथा तद्द्वयमनुपात्तशब्दमशक्यमपि शाब्दबोधविषयस्तथा गवादिव्यक्तिरपीत्यर्थः। कर्म्मत्वादिसामान्यरूपेणाध्याहारं दर्शयित्वा कर्म्मविशेषस्याविनाऽपि अध्याहारं दर्शयति—प्रवि-

---

(A) इदन्तु बोध्यम् क्रियतामित्यत्र कर्त्ता कुर्व्वित्यत्र कर्म्मेत्युभयत्र कर्तृकर्म्मणोर्वस्तुनोराक्षेप तस्यैव 'जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते' इत्यत्र दृष्टान्तत्वसङ्गतेः। अयमेव मीमांसकैरध्याहार इत्युच्यते। तदनङ्गीकारे शब्दाध्याहारपक्षमाश्रित्य दृष्टान्तमाह—प्रविशेत्यादि।

(B) तत्स्मरणं विनेति। तथाच स्मरणात्मकव्यापारद्वारा शाब्दबोधरूपफलजनकत्वेन जातौ 'व्यापारवत् कारणमिति करण'लक्षणस्य समन्वय इति भावः। अत्र स्मृतिं प्रत्यपि जातेर्न साक्षात्कारणत्वम्, किन्तु परम्परयैवेति बोध्यम्। इदन्तु विभाव्यते अविनाभावसम्बन्धेन जात्या स्मारिताया अपि व्यक्तेः पदवृत्त्या स्मरणाभावाद् न शाब्दबोधे प्रवेशः सम्भवति, शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रपूर्य्यते इति न्यायात्। उद्योतकारास्तु—आक्षेपोऽत्रानुमानम्, व्यक्त्यविनेत्यनेन व्याप्तिर्दर्शिता। अनुमानसहकृतपदेनैव व्यक्तिबोधः, पदजन्यपदार्थोपस्थितिहेतुहेतुमद्भावे वृत्त्येत्यस्य गौरवेणाप्रवेश इति भावः। प्रकृत्यर्थान्वितस्वार्थबोधकत्वव्युत्पत्तिरपि प्रकृतितात्पर्य्यविषयान्वितस्वविषयेति न विभक्त्यर्थान्वयानुपपत्तिरिति प्राहुः।

(C) अशक्यार्थोऽपीति। वृत्त्या अनुपस्थापितार्थोऽपीत्यर्थः, यथाश्रुते लक्ष्यार्थस्य शाब्दत्वसम्मतत्वेन दृष्टान्तार्थं क्रियतामित्यादिपर्य्यन्तानुधावनवैफल्यमिति ध्येयम्।

'पिण्डमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्।

गङ्गायां घोष इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणत्वसिद्धये गङ्गाशब्दः स्वार्थमर्पयति इत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। उभयरूपा चेयं शुद्धेति। प्रविश इत्यत्र गृहम्, पिण्डमित्यत्र भक्षयेति यथाक्रममध्याहार्यम्। 'पिण्ड' ग्रासम्। नन्वेवमर्थापत्त्युक्तेऽद्, तथापि अर्थापत्तिरुपायस्य अव्याप्त्या शाब्दबोधस्यैव सम्भवादित्यत आह—पीन इति। 'न लक्ष्यते' शब्दबोधेन न विषयीक्रियते, दिवाऽभोजित्वपीनत्वयोरेव प्रथमं शाब्दबोधे विषयीकरणात्त्विति। ननु तर्हि कथमनुभवसिद्धा तत्प्रतीतिरित्यत आह श्रुतेति, शब्दबोधानन्तरं पीनत्वानुपपत्तिज्ञानरूपया अर्थापत्त्या (A) रात्रिभोजनस्य प्रतीयते इत्यर्थः। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते इति मतेनार्थापत्तिरुक्ताऽप्यत्र शब्दकल्पनापत्ते रात्रौ भुङ्क्ते इति वाक्यस्य श्रुतत्वात् श्रुतार्थापत्तिः, तदकल्पनापत्ते त्वर्थापत्तिरिति मतभेदेन व्यवस्थितो वाकारः।

इत्थमुपादानलक्षणां व्याख्याय परार्थे स्वसमर्पणमिति लक्षणलक्षणां व्याचष्टे—गङ्गेति। स्वार्थमर्पयतीति परार्थमात्रे तीरे परं स्वार्थतामर्पयतीत्यर्थः। लक्षणेनेति उपलक्षणेनेत्यर्थः। 'अन्यथानुपपत्त्या स्वार्थस्यार्पणेन'[2] मेनोपलक्षणम्। लक्षणमित्यत्र करणे युट्। लक्षणेनेत्यत्र भावे युट्। इत्युक्ता शुद्धैवेति

(A) अर्थापत्त्येति। दिवाभोजनाभाववतः पीनस्य रात्रिभोजनं विना अनुपपन्नमित्याकारिकयाऽर्थापत्त्या। अयं भावः, उपपादकं विनाऽनुपपाद्यं अनुपपन्नवत् तदा रात्रिभोजनाभाववति दिवाभोजनशून्यपीनत्वस्याभाव इति वाक्यार्थबोधे, अथवा व्याप्यरूपतावच्छेदकावच्छिन्नैव विशेषानुमानसिद्धतया रात्रिभोजनाभावव्यापकीभूतदशाद्वयीभवत्यभावो भासते, तत्र रात्रिभोजनाभावव्यापक दिवाभोजनशून्यत्वविशिष्टपीनत्वाभाव इत्याकारकेण तुल्यविधिविशेष्यकत्वेन रात्रिभोजनस्यविशेष्यस्य तादृशीयत्वे द्वैधी व्याप्यव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वव्यापकत्वव्याप्तिमत्तया पर्यवस्यति। तथात्र रात्रिभोजनव्यापकीभूताभावप्रतियोगिदिवाभोजनशून्यत्वविशिष्टपीनत्ववान् देवदत्त इत्याकारया अर्थापत्त्या "देवदत्तो रात्रिभोजी" इति ज्ञानमुत्पद्यते, तच्च मीमांसकैरर्थापत्तिरिति नैयायिकैरनुमितिरिति व्यपदिश्यते। एवञ्च अनुमानस्य अर्थापत्तेश्च दर्शनभेदेन फले करणे च भेदः इति ध्येयम्।

1 'पिण्डीम्' इति मुद्रितपुस्तकपाठः। 2 अन्यथानुपपत्त्या स्वार्थस्यार्पणेन इत्यर्थः।

शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (A)अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न

व्याचष्टे—**उभयरूपा चेति।** **शुद्धेति** शुद्धैवेत्यर्थः। अत्र हेतुमाह—**उपचारेणेति** शक्यलक्ष्ययोरभेदोपचारपूर्वकत्वेनेत्यर्थः ; [1]'वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टये तु तयोरभेदोपचारपूर्वकत्वमस्त्येव, तयोः समानविभक्तिनिर्देशात् ; तादृशोपचारपूर्वकत्वे च सम्बन्धभेदवशाद्गौणीत्वं शुद्धात्वञ्च वक्ष्यते, अनयोस्तु तादृशोपचाराभावात् शुद्धात्वमेवेत्यर्थः'*। नन्वेवमनयोः प्राथमिकाभेदोपचाराभावेन तन्मूलकं पश्चादाहार्याभेदारोपरूपं प्रयोजनमपि नास्ति, तथाच नेमे लक्षणे प्रयोजनज्ञाननिर्वाह्ये किन्तु शक्यलक्ष्यसम्बन्धमात्रज्ञाननिर्वाह्ये एव, तथाच वक्ष्यमाणनेयार्थलक्षणारूपे एवेति कविप्रयोगानर्हत्वादनुपादेये एवेति प्रान्तशङ्कां प्रयोजनान्तरसत्त्वप्रदर्शनेन निरस्यति—**अनयो-**

(A) अत्र बालबोधिनीकाराः—'शुक्लमहास्तु गौर्वाहीक इत्यादिगौण्यां शक्यार्थलक्ष्यार्थयोः सादृश्यात्मसम्बन्धेनाभेदः प्रतीयते, शुद्धायान्तु शक्यार्थलक्ष्यार्थयोर्भेदः प्रतीयते सदैव औदासीन्यापरपर्यायो भेदप्रतीतिरूपं ताटस्थ्यं नाम। इदमेव च शुद्धायाः गौणीतो भेदकम्, न तूपचारामिश्रणमित्याहुः। तन्मतं निराकरोति—अनयोरिति, भेदयोरिति शेषः। इदं सम्मतम्। उभयोरुपादानलक्षणालक्षणलक्षणारूपयोः शुद्धाभेदयोरित्यर्थः। "लक्ष्यस्य" तीरादेः "लक्षकस्य" गङ्गादेश्च "भेदरूपं" भेदप्रतीतिरूपं "ताटस्थ्यम्" औदासीन्यं "न" अस्तीति शेषः। किन्त्वभेदप्रतीतिरेवेत्यर्थः। यद्वा लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदप्रतीतिरूपं ताटस्थ्यं "न भेदरूपं" भेदो रूप्यतेऽनेनेति भेदरूपं न भेदकमित्यर्थः, गौणीतः शुद्धाया न भेदकमिति यावत्, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनप्रतिपत्तेरभावादिति भावः। एतदेव विशदयति—तटादीनामिति। तत्र गङ्गादित्वम्। यद्वा हि शब्द एवार्थे। शक्यलक्ष्ययोर्गङ्गातीरयोरभेदप्रतिपत्तौ सत्यामेवेत्यर्थः ...न तु भेदप्रतीतौ, अभेदबुद्धिं विना प्रयोजनाप्रतीतेः। तदेवाह—गङ्गासम्बन्धेत्यादिना को भेद इत्यन्तेन। मात्रशब्देनाभेदप्रतीतेर्व्यवच्छेदः। मुख्यशब्दाभिधानादिति मुख्यशब्दप्रयोगापेक्षणेत्यर्थः। को भेदः, क फलातिशय इति यावत्। तथा सति गङ्गातीरे घोष इति वाचकं शब्दं त्यक्त्वा विहाय गङ्गायां घोष इत्यवाचकशब्दप्रयोगानुपपत्तिरेव स्यात्, "त्वायत्ते शब्दप्रयोगे किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहे इति न्यायात्। अतः शुद्धायामप्यभेदप्रतीतिर्न ताटस्थ्यं भेदकं किन्तूपचारामिश्रणमेव भेदकमिति भाव इति व्याचक्षते।

1 'अभवाचकशब्दैर्नैवाय तत्त्वार्थोपलाभेव न तु समानाधिकरणशब्दान्तरैव तत्त्वार्थोपस्थापनमतो वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टये यथा प्रथमं तत्त्वार्थं अभेदाभेदोपचारमिश्रणमदोषता सिद्धसाधारितार्थं, उपचारमिश्रित वक्ष्यमाणलक्षणाचतुष्टयन्तु सादृश्यसम्बन्धाद्गौण सम्बन्धान्तरात्तु शुद्धं वक्ष्यते तदुभयरूपा तु शुद्धैवेतार्थं' इत्यन्व।

भेदरूपं ताटस्थ्यम् तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः, गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणायाः को भेदः।

(१४) (A)सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।

रिति। लक्ष्यस्य लक्षकस्य च भेदरूपमित्यत्र तयोर्भेदाऽभेदातिरिक्त सम्बन्ध संयोगादि, तस्य मात्रगर्भता बोध्या, तथाच तन्मात्रेण रूपं स्वरूप निर्वाह्य यस्य तादृशम्। 'ताटस्थ्य' लक्षणात्वम्, उदासीनार्थप्रत्यायकत्वेन लक्षणा तटस्थोच्यते तद्भावस्ताटस्थ्यम्। तथाच भवचार्लक्षणाप्रभेदयोर्लक्षणात्व लक्ष्यस्य कुन्तिलीपदे लक्षकस्य च कुन्तगङ्गादे अभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रेण न निर्वाह्यमित्यर्थः, किन्तु प्रयोजनेनापि। तन्निर्वाहक प्रयोजनमेवाह—तटादीनामिति। 'प्रतिपादने' प्रतिपादनदशायाम्, 'तत्त्वप्रतिपत्तौ' सामान्यत प्रयोजनतत्त्वप्रतिपत्तौ सत्याम्। 'प्रतिपिपादयिषितस्य' लक्षणया लक्ष्याभिज्ञापनेन प्रतिपादयितुमिष्टस्य तटादौ पावनत्वादे कुन्तादयनिरलन्त्यादेश्च प्रयोजनस्य, 'सप्रत्यय' इत्यर्थ। प्रयोजनीभूतज्ञान विषयत्वात् पावनत्वादेरपि प्रयोजनत्वेनोक्ति। एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम्। भेद पदस्याभेदातिरिक्तसम्बन्धमात्रपरतां मात्रगर्भताञ्च [1]व्यतीकुर्वन्नाह—गङ्गासम्बन्धमात्रेति, गङ्गादिसम्बन्धेत्यर्थ, तेन कुन्तादेरपि सम्बन्धपरिग्रह। 'को भेद' को विशेष।

एत लक्षणाद्वयभिन्नां चतुर्विधां लक्षणामाह—सारोपाऽन्येति। यदि शक्यवाचका लक्ष्यवाचकश्च शब्द समानविभक्तिकतया निर्दिश्यते, तत्र समानविभक्तिदर्शनात् प्रथम लक्ष्यार्थे शक्यार्थाभेदारोपो भवति, यथा गौर्वाहीक आयुर्घृतमिति। अत्र हि हलवाहकात्मनि वाहीके गा घृते चायुष प्रथममभेदारोपो भवति पश्चात्तेन बाधात् गोसदृशे आयुर्जनके च लक्षणा, तादृशे प्राथमिकारोपे च शक्यार्थ आरोप्यमाणा विषयी लक्ष्यार्थश्चारोपाधिकरण विषय, तादृश विषयी विषयश्च यत्र

(A) "अन्या अर्थाद् गौणी आरोपाध्यवसानाभ्या भिद्यते न शुद्धाभ्यां लक्षणाभ्यामिति तु-शब्दार्थ" इति प्रदीप।

---

1 प्रकाश्यन्नाह ग।

आरोप्यमाण आरोपविषयश्च यत्रानपह्नुतभेदौ सामानाधिकरण्येन निर्दिश्येते सा लक्षणा सारोपा ।

(१५) विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका ॥११॥

लक्षणायाम् उक्तौ समानाधिकरणविभक्त्या निर्दिष्टौ, सा लक्षणा **सारोपा** प्राथमिकाभेदारोपवतीत्यर्थः । एवमेव व्याचष्टे—**आरोप्यमाण** इति । **अनपह्नुतभेदौ** इति । रूपक एव भेदापह्नव, अत्र तु गोसदृशायुर्जनकत्वलक्षणावशादेव भेदज्ञानात् न तदपह्नव इत्यर्थः । [1]न च रूपकेऽपि सारोपा लक्षणैवेति वाच्यम्, तत्राहार्य्यस्य मुखे चन्द्राभेदबोधस्यानुभवसमानत्वात् । न चैव गौर्वाहीक इत्यादिकमपि रूपकमेवेति वाच्यम्, अत्र गोसदृशबोधस्यानुमानिकत्वात् । न चानयोर्विनिगमनाविरहेण वैपरीत्यमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, आरोप्यमाणस्य प्राङ्निर्देशे सारोपा, यथा गौर्वाहीक इत्यादौ ; आरोपविषयस्य प्राङ्निर्देशे तु रूपकम्(A), यथा मुखं चन्द्र इत्यादौ , अत्र हि सादृश्यबोधानन्तरम् अभेदारोप , गौर्वाहीक इत्यादौ तु अभेदारोपादनन्तरं शब्दादेव लक्षणया सादृश्यबोध , तस्य इयमेव विनिगमना । अत एव रूपकादावुक्तम्—

अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् । इति

एवञ्च चन्द्रो मुखमिति प्रयोगे सारोपा लक्षणा, वाहीको गौरिति प्रयोगे च रूपकमिति बोध्यम् । **सामानाधिकरण्येने**ति, समानाधिकरणविभक्तिकतयेत्यर्थः (B) ।

यदि वाहीकादेर्लक्ष्यस्य सामान्यसर्वनामपदेनैव निर्देशो न वाहीकत्वादिरूपविशेषवाचकपदेन तदा भेदकधर्मवाहीकत्वादेरनुपस्थित्या आरोपे उत्कटत्वरूपाध्यवसानात् सैव साध्यवसानेत्युच्यते इत्याह—**विषय्यन्त**रिति । व्याचष्टे—

(A) इदमत्र चिन्तनीयम्, रूपकसारोपाख्यलक्षणयोरनया रीत्या विविक्तविषयताभ्युपगमे "सौन्दर्यस्य तरङ्गिणी तरुणिमोत्कर्षस्य हर्षोद्गम" इत्यादावारोप्यमाणस्य प्राङ्निर्देशेऽपि रूपकालङ्कारस्यावश्यमङ्गीकरणीयतया ग्रन्थविरोधो दुर्वार एवेति ।

(B) समानविभक्तिकतयेति तु फलितार्थं ।

विषयिणाऽऽरोप्यमाणेनान्तःकृते निगीर्णे अन्यस्मिन्नारोपविषये सति सा साध्यवसाना स्यात्।

(१६) भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ—

इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ गौर्वाहीकः(A) इत्यत्र

विषयिणेति, गौरयम् आयुरिदमित्यत्र गवा आयुषा च आरोपविषये वाहीके घृते च निगीर्णे सतीत्यर्थः। निगीर्णता च विशिष्य(B) वाचकशब्देनानुपादानम्। न च तत्र विषयिण एव तादात्म्येन करणत्वं दर्शितमिति वाच्यम्, विषयितादात्म्येनैवारोपितता विषयस्य प्रतीत्या विशिष्य विषयाभावेन विषयिण्येव तत्कारणत्वारोपात्।

भेदाविमाविति। सादृश्यात् सम्बन्धात् गौणौ सम्बन्धान्तरतश्च शुद्धाविति यथासङ्ख्यमन्वयः। भेदाविमावित्युक्त्या समानाधिकरणविभक्तिनिर्देशाभावे सादृश्यहेतुकापीयं न गौणीति दर्शितम्, तथा विवेचकयत्पदैः सम्बन्धस्वरूपात् सादृश्याद्यपि न कर्म्मणि कुशल इत्यत्र गौणीति(C) वाच्यम्।

सादृश्यहेतू भेदावित्यस्य कारिकास्थे गौणावित्यत्रान्वयः। आरोपाध्यवसान-

---

(A) वाहीको नाम देशविशेषः पञ्जाब इति प्रसिद्धः, तत्रत्यः पुरुषो वाहीक इति केचित्। अन्ये तु बहिर्भवो वाहीक इति व्युत्पत्त्या शास्त्रीयाचाराद्बहिर्भूत इत्यर्थः। 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' 'ईकक् च' इति वार्त्तिकद्वयेन बहिःशब्दस्य टिलोपे ईकक्प्रत्यये च कृते वचनारम्भात् वाहीक इति रूपमित्याहुः इति बालबोधिनी। शास्त्रीयाचारबहिर्भूतत्वञ्च तिरस्कृतत्वादिना इत्यन्यत्र स्पष्टम्। बाह्लीको देशभेदे अश्वे इति तत्पर्याय इति हेमचन्द्रः। वस्तुतस्तु वाहीकः गर्त्तिकजातीयः जाट इति प्रसिद्धः। तथा च महाभारते पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः। तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाहीकान् परिवर्जयेत्॥ शाकलं नाम नगरमापगा नाम निम्नगा। जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेषां वृत्तं सुनिन्दितम्॥ (इति कर्णपर्व २०० अ० इति शब्दकल्पद्रुमे)।

(B) विशिष्येति। आयुरिदम् इत्यादौ सर्वनाम्न इदम्पदस्य घृतवाचकत्वेऽपि न विशिष्य तद्वाचकत्वं प्रकृतबुद्धिविषयतावच्छेदकत्वाश्रिता अनुगमाभावस्यैव तथात्वस्वीकारात्। एतन्मते साध्यवसानायां सर्वत्रैव विषयस्य सर्वनाम्ना निर्देश आवश्यक इति तत्त्वमेव। एवञ्च साहित्यदर्पणतोऽस्य मतवैलक्षण्यमस्तीत्यूहनीयम्।

(C) वस्तुतः सादृश्यत्वेन सादृश्याप्रतीतिरेवात्र गौणीत्वाभावे बीजम्, तेन कर्म्मणि कुशलो

गौरय(A)मित्यत्र च। अत्र हि स्वार्थसहचारिणो जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित्(B)। स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते,

---

रूपाविन्यत्र आरोप्याध्यवसानाभ्यां रूपं ययोरिति विग्रहः। इत्थं गवादिशब्दस्य गवादिसदृशे लक्षणेति प्रतिपादिते जाड्यमान्द्यादिरूपे गवादिसादृश्य एव लक्षणा, ततस्तेनैव जाड्यमान्द्यादिना प्रकारेण शक्त्यैव गोसदृशवाहीकप्रतीतिरिति केषाञ्चिन्मतमाह—अत्र हीति, अत्रैवेत्यर्थः। जातिशक्तिवादे स्वार्थो गोत्वम्, 'परार्थस्य' वाहीकस्य 'अभिधाने' अभिधया शक्त्या प्रतिपादने; 'प्रवृत्तिनिमित्तता' शक्यतावच्छेदकताम्। तथाच—गोशब्देन प्रथमं जाड्यमान्द्यादिरूपं गोसादृश्यं लक्षणया प्रत्याय्यते, तेनैव जाड्यमान्द्यादिना शक्यतावच्छेदकेन जडमन्दो वाहीकः शक्त्या प्रत्याय्यते इत्यर्थः[1]। न च शक्तिग्राहककोशाद्यभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, धर्मे लक्षणाग्रहस्यैव धर्मिणि शक्तिग्राहकत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात्। अत्र मते धर्मिण आक्षेपादेव लाभसम्भवे तत्र शक्तिकल्पनमन्याय्यम्, वाहीकवृत्तिजाड्यमान्द्यव्यक्तिविशेषे स्वार्थगोत्वसहचाराभावश्चेति दूषणद्वयमभिप्रेत्य तत् परिहरतां मतमाह—स्वार्थेति। 'गुणाभेदेन' गुणसाजात्येन। तेन लक्षणीयेषु 'वाहीकवृत्तिगुणेषु' स्वार्थगोत्वसहचारिगुणसाजात्यमेव शक्यसम्बन्ध इत्युक्तम्, धर्मिणस्त्वाक्षेप इति भावः[2]। एतन्मते जाड्यमान्द्यरूपे सादृश्ये यदि सादृश्यत्वेन रूपेण लक्षणा, तदा विशिष्टलक्षणापादकमेदः एव। यदि तु शुद्धसादृश्य एव लक्षणा, तदा गोसादृश्यवानिति विशिष्टवैशिष्ट्यप्रतीति-

---

र्यमित्यादौ समानविभक्तिकपदद्वयत्वेऽपि न तत्पसङ्गस्तत्र विशेषकत्वधर्म्ममात्रस्य साध्यत्वाभावादिति ध्येयम्।

(A) "यद्यपि वाहीकस्य वाहीकत्वेनेदन्तया वोपस्थितौ सारोपात्वमेवोचितम्, तथापि इदन्त्वस्यारोप्यविशेषणतया तदुदाहरणं द्रष्टव्य"मिति प्रदीपः।

(B) केचिदित्यस्यायं, वाहीकस्तु गोवृत्तिजाड्यमान्द्यव्याप्यत्वतया शक्यत्वे सति शक्यवृत्तित्वे सति स्वभिन्नशक्यानधिकरणत्वरूपस्य प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणस्य सत्त्वसम्भव इति प्रदीपे स्पष्टम्।

---

1 'गोसादृश्यमेवात्र लक्ष्यमाणं शक्त्यैव गोसदृशो गोशब्देन प्रतिपाद्यते इत्यर्थः' क।

2 'वाहीकगतजाड्यमान्द्ययोः स्वार्थसहचाराभावेऽपि शक्यसम्बन्ध उपपादितः। गुणा एवेत्येवकारात् धर्मिणि लक्षणाव्यवच्छेदः। तेन शक्तिमपि व्यवच्छिनत्ति—न लिङ्गि। एतच्च धर्मिणः आक्षेपादेव प्रतीतिसिद्धौ न तत्र लक्षणा न वा शक्तिरित्याशयः' ख-ग।

न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे। उक्तं चान्यत्र—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता (A)॥ इति

गौशब्दाच्च स्यादिति दूषणमभिप्रेत्य स्वपक्षपातिना मतमाह—साधारणेति। चक्रवर्त्ती तु—गोसादृश्यस्य शक्यार्थत्वे गोसादृश्य वाहीक इत्येव बोधापत्तिः समानाधिकरण विभक्तिकयारभेदान्वयबोधनियमादिति दूषणमाह, तन्न, गौः शुक्ल इत्यत्रैव जातिशक्ति वादरीत्या अन्वित शक्त्यारेवाभेदान्वयबाधस्य तैः स्वीकारात्। 'साधारणेति' साजात्येन साधारणता। 'परार्थ' वाहीकादिरूप, सदृश एवेत्यर्थः। न परे अपरे स्वपक्षपातिन इत्यर्थः। इत्थ सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी, सम्बन्धान्तरतश्च शुद्धेत्युक्त्वा सम्बन्धादेव लक्षणा, तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा लक्षणा गौणीत्युभयत्र संवादमाह—उक्तञ्चेति। अभिधेयस्य शक्यस्य योऽविनाभूत सम्बन्धस्तस्य प्रतीतिर्यया वृत्त्या सा वृत्तिर्लक्षणोच्यते इत्यर्थः। सम्बन्धादेव लक्षणेत्यत्र अयं संवादः।

(A) अभिधेयेति—

अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते। लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥

इति मुद्रिततन्त्रवार्तिकपाठ (अ १० पा ४० सू० १२)

अत्र न्यायसुधा—"अभिधेयसम्बन्धित्वस्यापरित्यागप्रवृत्तशब्दार्थोऽभिधेयाविनाभूतशब्द गौण्यान्तु वृत्तावभिधेयसिंहादिसम्बन्धित्वस्याभावाद्रूपेण लक्षितप्रसङ्गकारित्वादिगुणयोगमात्राद्रसुचनाया भिधेयस्य गुणलक्षणायां व्यापारोऽभ्युपादानम्। ननु लक्षणायामविनाभावापक्षणे यष्ट्यादे पुरुषाविना भावाभावात् न यष्ट्यादिशब्दे लक्षणा स्यादित्यत आह—तत्रेति। अयमाशय—नात्र लक्षणा हेतुत्वेनाविनाभावोपादानम्, तस्या सम्बन्धमात्रेण शास्त्रस्याप्यकादुपपत्त। न चात्र लक्षकस्याभिधेयस्य लक्ष्येणाविनाभावोऽभिप्रेतो भूतस्योक्त विपरीताभिधानात्, किन्त्वभिधेयसम्बन्धित्वरूपादर प्रदर्शनार्थं यष्ट्यादिशब्दानाम्, अपि च अभिधेययष्ट्यादिसम्बन्धित्वाभावाद्रूपेण गुणस्वरूप प्रवृत्त्य भावेन अभिधेयाविनाभूतप्रवृत्तित्वाभावात् सम्बन्धमात्रस्य च लक्षणाहेतोर्भावाद् युक्तैव लक्षणाया प्रवृत्तिरिति"।

एतन्न्यायपूर्व्ववर्त्तितया प्रदीपे धृतम् "मानान्तरविरोधे तु मुख्यार्थस्यापरिग्रहे" इति, तथैव बालबोधिनीधृतम् 'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे' इति वा पद्यार्द्धं नात्रोपलभ्यते इति।

लक्ष्यमाणेति। अत्र प्रदीप—"लक्ष्यमाणा ये गुणा जाड्यादयस्तैरेव यदि योग शक्यसम्बन्ध-

अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्। तत्त्वे हि मञ्चाः क्रोशन्तीत्यादौ न लक्षणा स्यात्। अविनाभावे चाक्षेपेणैव सिद्धेर्लक्षणाया नोपयोग इत्युक्तम्।

आयुर्घृतम् आयुरेवेदमित्यादौ च सादृश्यादन्यत् कार्यकारणभावादि सम्बन्धान्तरम्। एवमादौ च कार्यकारणभावादिलक्षणपूर्वे आरोपाध्यवसाने। अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि ताद्रूप्यप्रतीतिः सर्वथैवाऽभेदावगमश्च प्रयोजनम्। शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येना-

---

तस्य सम्बन्धस्य सादृश्यरूपत्वे सा वृत्तिर्गौणीत्यत्र संवादमाह—लक्ष्यमाणेति। गुणाः शक्यगुणाः, लक्ष्यमाणश्च ते चेति द्वन्द्वः, तैः परस्परं योगादित्यर्थः। तथाच शक्यवृत्तिधर्मरूपात् सादृश्यादित्युक्तम्। केचित्तु—गुणैः शक्यगुणैः लक्ष्यमाणस्य योगादिति समासवाक्यार्थं व्याचक्षते, तन्न; लक्ष्यमाणस्य गुणैः सह समासः, अन्वयस्तु योगादित्यत्र इत्यव्युत्पत्तेः, एकार्थत्वाभावे समासाभावात्।

अविनाभूतेत्यत्र 'अविनाभावं व्याचष्टे—अविनाभावोऽत्रेति। 'नान्तरीयकत्वं' व्याप्तिः, सा च यत्र धर्मस्तत्र तादात्म्येन धर्मीत्येवरूपा गोगोत्वयोरिव। मञ्चा इति, मञ्चमञ्चस्थयो'रविनाभावाभावात्। इत्युक्तमिति गौरनुबन्ध्य इत्यादावुक्तमित्यर्थः।

सम्बन्धान्तरतस्तथेत्यस्य विषयं दर्शयति—आयुर्घृतमिति। आयुरेवेत्यत्र एवकारः सम्पातायात एव, प्रकृते त्वनुपयुक्तः। क्वचित् पुस्तके तु तच्छून्य एव पाठः। अत्रायुर्जनके लक्षणा, सम्बन्धोऽप्यत्र जनकत्वमेव। अनयोरारोपाध्यवसानपूर्वकत्वमाह—एवमादाविति। कार्यकारणभावस्य लक्षणं 'ज्ञानं तत' 'पूर्व्वमारोपाध्यवसाने इत्यर्थः। ते च समानाधिकरणविभक्तिकत्वदर्शनादिति बोध्यम्'। गौर्वाहीक इत्यत्र गौरयमित्यत्र च लक्षणाद्वयस्य प्रयोजनं दर्शयति—अत्रेति। वाहीकादौ गवादेर्भेदे 'प्रतीतेऽपि एकत्र गो'ताद्रूप्यप्रतीतिराहार्य्या, अन्यत्र तु तादृशी

स्तदा गौणी वृत्तिरिति" इति। व्याख्यातञ्चोद्योतकारैः "लक्ष्यमाणगुणैरिति लक्ष्यतावच्छेदकगुणैरित्यर्थः, गुणलक्ष्यतावच्छेदकिका लक्षणा गौणीति भावः" इति।

व्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः, यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावात्, यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचिदवयवावयविभावात्, यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात्, यथा अतक्षा तक्षा।

(१७) लक्षणा तेन षड्विधा(A) ॥ १२ ॥

प्रतीतिरेव [1]'सम्बन्धात्यन्तता उत्कर्ष इत्यर्थः'। गौणभेदयोः प्रयोजनमित्यन्वयः। आयुर्घृतम् आयुरिदमित्यनयोः प्रयोजनमाह—शुद्धभेदयोस्त्विति। कार्यकारित्वं लक्षणागम्यमेव, तत्र अन्यवैलक्षण्यमव्यभिचारित्वञ्च [2]'यथासङ्ख्यं प्रयोजनद्वय'मित्यर्थः। सम्बन्धान्तरं पल्लवयति—क्वचिदिति। उपचार इति। [3]'उपचारपूर्विका लक्षणा'[*]। 'स्थूणा' स्तम्भः। इन्द्र स्थूणा इन्द्रार्थमित्यक्तिरीत्या वक्ष्यमाणत्वर्थैव सारोपासाध्यवसाने वाच्ये। इन्द्रवत् पूज्यत्व तद्वदस्य पूज्यमानत्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। राजेत्यत्रापि राजवत् सेव्यमानत्वम् अपरस्य सेव्यमानत्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। अग्रहस्त इत्यत्र समासनिर्देशो लाक्षणिकत्वप्रदर्शनमात्रपरः। वस्तुतु हस्तोऽग्रं हस्त इत्येव। [4]'अवयवावयविसम्बन्धेन निर्देशो रूपकसम्भवादत्र हस्तस्यैव विधेयस्य पश्चान्निर्देशोऽपि न रूपकमतोऽत्र लक्षणैव'। हस्तवत् कार्यकारित्व [5]'सम्यग्वा हस्त' *कार्यकारित्वञ्च द्वयोः प्रयोजनम्। 'तात्कर्म्यं' तत्कर्मकारित्वम्, 'अतक्षा' ब्राह्मणादि। तक्षवत् 'कार्यकारित्व'[6] तदतिशयश्च द्वयोः प्रयोजनम्।

(A) इदं पुनरिहावधेयम्—मूलोक्त लक्षणायाः षड्विध्य तावद् उपादानलक्षणा (१) लक्षणलक्षणा (२) शुद्धा सारोपा (३) शुद्धा साध्यवसाना (४) गौणी सारोपा (५) गौणी साध्यवसाना (६) इत्येवं विभागाभ्युपगमे उपपद्यते। इत्थं—'रूढिप्रयोजनाभ्यां भेदे सम्भवत्यपि न ते विभाजकत्वेनात्रोक्ते, किन्तु हेतुत्वेन इति मन्तव्यो भेदो न गणित। अत एव च पश्चाद् व्यङ्ग्येन रहिता' इत्यादिना तत्कृतं भेदं दर्शयिष्यति। (अथ) 'षण्विधेति रूढिप्रयोजनोपादानलक्षणारोपाध्यवसानरूपैः षड्भिरुपाधिभिः कल्पिता विधा प्रकारा यस्यामिति षड्विधा इति चण्डीदास व्याख्यानम् सत् 'शुद्धैव सा द्विधा। सारोपाऽन्या तु' इति एव-तु'शब्दयोरनालोचन

---

1 'सम्यग् इत्यत्र' क। 2 'यथाक्रम' ख। 3 उपचार सारोपासाध्यवसानान्यतरा तत् पूर्वं समानविभक्तिकशब्दप्रदीपचार ख ग। 4 'अत्र सारोपावामारोप्यस्य पश्चात् पूर्वनिपातनियमोल्लङ्घन इत्यसारोपत्व परिहार्य प्रयोजनसम्भवाभावात्' क। 5 'अन्यदतिशयः हस्त—' क 6 'कर्मकारित्व' ख।

आद्यभेदाभ्यां सह। सा च—

(१८) व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने।

प्रयोजनं हि व्यञ्जनव्यापारगम्यमेव।

आद्यभेदाभ्यामिति उपादान-लक्षणलक्षणाभ्यामित्यर्थः।

विजृम्भितत्वादनादेयम्" इति प्रदीपकारोक्तेरप्यनाकुलमवसीयते। तथाच इत्थमत्राकूयते— लक्षणायास्तावत् विभाजकौ उपादानत्वलक्षणत्वधर्म्मौ, तयोर्विभाजकौ सारोपात्वसाध्यवसानात्वधर्म्मौ, तयोरपि विभाजकौ शुद्धात्वगौणीत्वधर्म्माविति विभाजकतद्विभाज्यसाधारणसङ्ख्यापरिपोषेण लक्षणाया षड्विधत्वकथनं कथं युज्यते, न हि क्वचिदप्यवान्तरतद्वान्तरधर्म्माणां सङ्ख्यामुपादाय व्यापकधर्म्माणां विभागो दृष्टचर, न खलु केनापि शुक्लादिभेदेन रूपाणां मधुरादिभेदेन रसानां वा षाड्विध्यमुपादाय गुणानाम्, साधारणत्वादिभेदेन वा सव्यभिचारस्य त्रैविध्यमादाय हेत्वाभासानाञ्च सप्ताधिक्यमभ्युपगम्यते। तदभ्युपगमे भेदाभेदव्याहतिरविभागस्य प्राचां विभागलक्षणस्यानुपपत्तिः, सर्व्वत्र कृतानां विभागानां संख्याधिक्यापातेन व्याघातश्चेति। समाधानञ्चात्र—विभागस्य विभागकर्तृपुरुषबुद्ध्यास्थवैचित्र्यसहकृततदिच्छाधीनतयाभ्युपगमेन विभागलक्षणस्यांशतोऽन्यथाकारेण च कथञ्चित् करणीयम्। तथाच टीकाकृता मोहनेन सारोपायां विषयस्य स्वशब्देनोल्लेख' साध्यवसानायाञ्च सर्व्वनाम्नेति वदता तदुभयव्यतिरिक्तोपादानलक्षणात्वं 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यता'मित्यादौ, तथा तदुभयभिन्नलक्षणलक्षणात्वं गङ्गायां घोष इत्यादौ समानविभक्तिकपदसमभिव्याहारशून्ये अङ्गीकृतमिति तन्मते तयोरेव नामान्तरविरहेण उपादानत्वं लक्षणत्वञ्चेत्यनाकुलमवसीयते। एवं कारिकोक्तक्रमानुरोधेन उपादानलक्षणात्मक एव प्रथमं सारोपासाध्यवसानोदाहरणयोः प्रदर्शनस्योचितत्वेऽपि तत्परीहारेण लक्षणलक्षणायामेव 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्युदाहरणात्, तत्रापि परे साध्यवसानाया उदाहरणत्वेन स्वीकृतस्य 'कुन्ताः प्रविशन्ति' 'गङ्गायां घोष' इत्युभयस्य स्वयमपि प्रागुक्तस्य परीहाराच्च सारोपादावुपादानादिकृतविभागविशेषो नास्तीति मूलकृतामप्यस्ति तत्रैव स्वरस इत्यवगम्यते। एवमेव च 'एतल्लक्षणाद्वयमिश्रां चतुर्विधां लक्षणामाह' इति टीकाकृदुक्तिं सङ्गच्छते। इत्थमुपादानलक्षणसारोपासाध्यवसानाभेदाल्लक्षणायाश्चतुर्व्विधत्वे नास्त्यनुपपत्तिः। गौणी यद्यपि क्वचित् सारोपात्मिका क्वचिच्च साध्यवसानात्मिका तथाऽपि कैश्चिद्वृत्त्यन्तरत्वेनैवाभ्युपगतेति तत्राप्यस्ति कश्चिद् विशेष इति तस्या अपि सारोपादिव्यापकतुल्यतया निर्देश प्राधान्यसूचनायेति लक्षणाया षड्विधत्वमप्युपपन्नमिति सर्व्वं चतुरस्रम्।

सारोपादीनामुपादानत्वादिकृतविभागादेः तु अष्टौ भेदा लक्षणाया भवन्ति। तासां नामान्युदाहरणानि च—

(१६) तच्च गूढमगूढं वा——

तच्चेति व्यङ्ग्यम्। गूढं यथा—

मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिम प्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते (१) ॥ ९ ॥

गूढं सहृदयैकसंवेद्यम्। अगूढं वाच्यवत् सर्व्वजनसंवेद्यम्। गूढत्वे ध्वनिः, अगूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यम्। मुखमित्यादि। बत हर्षे। इन्दुवदनायास्तनौ वपुषि तरुणिमोद्गमः उद्गत तारुण्यं मोदते उत्कर्षभाग् भवति, यतो मुखं विस्तृतहास्यम्, प्रेक्षणम् आयत्तीकृतवक्रभावम्, गतिरुद्बुद्धविभ्रमा, मतिरपास्तास्थिरता नानाविलासविषयीकरणात्, उरः स्थलं मुकुलाकारस्तनम्, अंसबन्धः अङ्गविभागः, जघनं तेनोद्धुरं पीनम् अङ्गविभागेन मध्यक्षैण्यात् जघनस्थौल्याच्च। अत्र विकासस्य पुष्पधर्म्मत्वेन स्मिते तद्बाधाद् विस्तारे लक्षणलक्षणा, असङ्कोचत्वं विकासविस्तारयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, पुष्पवन्मनोहरत्वं सहृदयैकसंवेद्यं व्यङ्ग्यम्। विकाशस्य पुष्पधर्म्मत्वेन

१। उपादानलक्षणा सारोपा शुद्धा छत्रिणः पुरुषा गच्छन्ति।
२। उपादानलक्षणा सारोपा गौणी तैलानि सार्षपादीनि हेमन्ते सुखानि।
३। उपादानलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।
४। उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी तैलानि हेमन्ते सुखानि।
५। लक्षणलक्षणा सारोपा शुद्धा आयुर्घृतम्।
६। लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी युधिष्ठिरोऽयमिन्द्रो राम।
७। लक्षणलक्षणा साध्यवसाना शुद्धा गङ्गायां घोष।
८। लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी राजा गच्छति।

(महैश्वर्य्यसम्पन्नप्रवृत्तिरिति तात्पर्य्यम्)।

(१) मुखमिति। 'इन्दुवदनायास्तनौ शरीरे तरुणिम्न उद्गम आविर्भावो मोदते स्वकार्य्यजनने-ऽनियन्त्रितोऽस्तीत्यर्थः। प्रकृत्यैवेयमिन्दुवदना तत्राप्येवंविधं यौवनविजृम्भणमिति कन्दर्पशरपतितं विदग्धजनस्येत्येव खेदो बतेत्यनेन प्रतिपाद्यते, अहो रमणीयतातिशय इति विस्मयो वा, भाग्येन परमोत्सवस्थानमुपसम्पन्नं युवजननयनानामिति हर्षो वा, 'बतामन्त्रणसन्तोषखेदानुकम्पाविस्मये' इति नानार्थकोषात्। कथमित्यपेक्षायामाह—मुखमिति, यतो मुखं विकसितं प्रवृत्तं स्मितं

अगूढं यथा—

श्रीपरिचयाज्जडा अपि भवन्त्यभिज्ञा विदग्धचरितानाम् ।

अविदग्धैरज्ञानात् तेषां पुंस्त्वस्यैवानुपस्थितेः, साधर्म्यहेतुकाऽपीयं न गौणी तुल्यनिमित्तया द्वयोर्निर्देशाभावात् । दर्पणे तु साधर्म्यहेतुकमात्रलक्षणैव गौणी, तच्च न ग्रन्थकृत्सम्मतमिति प्रागेव वर्णितम् । तथा मोदस्य प्राणिधर्मत्वात् तारुण्ये तद्बाधादुत्कृष्टे लक्षणलक्षणा, स्वाश्रयोत्कर्षकत्वं मोदोत्कृष्टयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, उत्कृष्टतारुण्याश्रयत्वेनेन्दुवदनायाः प्रकृष्टत्वं सहृदयैकवेद्यं व्यङ्ग्यम्, तारुण्ये मोदबाधस्यैवाविदग्धैरज्ञानात् ।

श्रीपरिचयादिति । जडा अपि जना श्रीपरिचयाद् विदग्धचरितानामभिज्ञा

'ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्याद् स्पन्दिताधरम्' इत्युक्तलक्षणहास्यविशेषस्य यत्र तथाभूतम्, एवं प्रेक्षितं प्रेक्षणम्, भावे क्त, वशितो वशीकृत स्वायत्तीकृत स्वसम्बद्ध इति यावत् वक्रिमा वक्रत्वं येन तथाभूतम् । तथा गतिर्गमनं समुच्छलिता धारारूपेण प्रादुर्भूता विभ्रमा विलासा यस्यां सा तथाभूता । मतिर्बुद्धिः अपास्ता त्यक्ता संस्था परिमितविषयत्वं यया, अनेकविषयसञ्चारिणीति यावत् । उरो वक्षःस्थलं मुकुलितौ मुकुलाकारावुन्नतौ वा स्तनौ यत्र तथाविधम् । एवं जघनम् असत्य बन्धो विभक्ततासम्पादनं तेनोदुरमुत्कृष्टं पीवरमिति यावत् । असमबन्धो वृत्तविशेषस्तत्र समर्थमिति वा (बन्धुरं वा) । तथाच असाधारणस्मितादिरूपेण स्फुटमेव यौवनमोदमवगमयतीति भावः । अत्र च विकासस्य पुष्पधर्म्मस्य स्मिते, वशीकरणस्य चेतनधर्म्मस्य वक्रिमणि, समुच्छलनस्य मूर्त्तधर्म्मस्य विभ्रमे, संस्थायाः मर्य्यादायास्त्यागस्य चेतनधर्म्मस्य मतौ, मोदस्य हर्षस्य चाचेतने यौवनोद्गमे बाधितत्वात् विकसितादिपदैः स्ववाच्यसम्बन्धाश्रयणेन उपदर्शितार्था लक्ष्यन्ते । तत्र विकासस्य पुष्पप्रसवनस्य प्रसृतत्वमात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, मनोहारित्वं व्यङ्ग्यम् । एवं वशितत्वस्य सम्बन्धत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, पूर्व्वं मौग्ध्यात् सर्व्वत्र वक्रता प्रेक्षितस्यासीत् इदानीं त्वभिमतं पश्यतीति पुरुषानुरागित्वं व्यङ्ग्यम् । समुच्छलनस्य प्रादुर्भूतत्वेन सामानाधिकरण्यं सम्बन्धः, सकलवशीकारित्वं व्यङ्ग्यम् । तथा मर्य्यादात्यागस्यापि अपरिमितविषयत्वेनैकाधिकरण्यं सम्बन्धः, अनुरागातिशयो व्यङ्ग्यः, तस्य तादृशमतिप्रयोजकत्वात् । मुकुलितत्वस्य पुष्पावस्थानस्य तादृशावस्थामात्रेण सामान्यविशेषभावः सम्बन्धः, उन्नतत्वेन तु सामानाधिकरण्यम्, आलिङ्गनयोग्यत्वं व्यङ्ग्यम् । एवमुन्मुद्रत्वरूपस्योद्धुरत्वस्य उत्कृष्टत्वेन कार्य्यकारणभावः सम्बन्धः उत्कर्षस्योन्मुद्रत्वहेतुत्वात्, रमणीयत्वं व्यङ्ग्यम् । एवं मोदस्यानियन्त्रितत्वेन समं हेतुहेतुमद्भावः सम्बन्धः मोदस्यानियन्त्रितत्वे हेतुत्वात्, स्पृहणीयत्वञ्च व्यङ्ग्यम् । एतानि च काव्यभावनापरिपक्वबुद्धेः सहृदयस्यैव प्रकाशन्ते" इत्युदाहरणचन्द्रिकासङ्क्षेपः ।

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि(A) ॥१०॥

अत्रोपदिशतीति ।

(२०) तदेषा कथिता त्रिधा ॥१३॥

अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च ।

(२१) तद्भूर्लाक्षणिकः—

शब्द इति सम्बध्यते । तद्भूस्तदाश्रयः ।

(२२) (B)तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः ।

भवन्ति । तत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—उपदिशतीति, यौवनमद एव कामिनीनां ललितानि हेलालीलादीनि उपदिशति ज्ञापयतीत्यर्थः । यथा यौवनमदात् कामिनीनां हेलालीलादिज्ञानं तथा जडानामपि धीपरिचयात् विदग्धचरितज्ञानमित्येवमाकारको दृष्टान्तालङ्कारः । अत्र पद्मप्रवर्त्तकयागात्मन उपदेशस्य चेतनगुरुधर्म्मत्वेन(C) अचेतने यौवनमदे तद्बाधात् ज्ञापने लक्षणलक्षणा, प्रवर्त्तकत्वमुपदेशज्ञापनयोः शक्यलक्ष्ययोः सम्बन्धः, ललितज्ञाने कामिनीनामनायासः सर्व्वजनवेद्यो व्यङ्ग्यः, उपदेशादनायासेन ज्ञानमिव्यविदग्धैरपि ज्ञानात् । क्वचित् पुस्तके तु अनायासेन शिक्षादानमभिधेयवत् स्फुटं प्रकाशते इत्येव पाठस्तिष्ठति । सम्बध्यते इति, 'शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्यतः सम्बध्यत इत्यर्थः । तत्र प्रयोजने ।

(A) ललितं नायिकालङ्कारविशेषः । तल्लक्षणम्—"सुकुमारतयाऽङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्" इति साहित्यदर्पणे, "अनाचार्य्योपदिष्टं स्याल्ललितं रतिचेष्टितं" मित्यन्यत्र । एवञ्च ललितान्त्यन्तविभिन्नलक्षणानां हेलालीलादीनां ललितत्वोक्तिष्टीकाकृतामसङ्गतैवेति ध्येयम् ।

(B) तत्रेति । "अथ व्यञ्जकशब्दनिरूपणाय व्यञ्जना निरूपणीया । सा च द्वेधा—शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च । तत्रान्त्या शब्दलक्षणेऽनुपयुक्तेत्यग्रे विवेचनीया । आद्या तु द्वेधा—अभिधामूला लक्षणामूला च । तत्र यद्यप्यभिधायाः प्राथम्यादुपजीव्यत्वाच्च तन्मूला प्रथमं निरूपयितुमुचिता तथाऽपि सुप्रसिद्धत्वाल्लक्षणाया प्रकृतत्वाच्च तन्मूलामेव प्रथमं निरूपयति—तत्रेति । तत्र लाक्षणिकशब्दे । व्यापारो व्यङ्ग्यप्रकाशानुकूलः" इति प्रदीपः ।

(C) चेतनो यो गुरुरध्यापकादिस्तद्धर्मत्वेनेत्यर्थः ।

कुत इत्याह—

(२३) यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥१४॥

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।

प्रयोजनप्रतिपिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।

तथा हि—

(२४) नाभिधा समयाभावात्—

गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः।

(२५) हेत्वभावान्न लक्षणा ॥१५॥

मुख्यार्थबाधादित्रयं हेतुः।

यस्य फलस्य। अत्र फले इत्यन्वयः। फलञ्चात्र फलीभूतज्ञानविषयरूपं बोध्यम्। व्याचष्टे—**प्रयोजनेति**। नान्यत इति शब्दैकगम्ये इत्यस्य विवरणम्, **व्यञ्जनादृते** इति व्यञ्जनापरेत्यस्य विवरणम्। व्यञ्जनं व्यञ्जनेति युड्ण्युभ्यां रूपद्वयम्।

समयाभावादिति। अत्र समयः शक्तिग्रहस्तद्व्यापारो(A) वा, सतो नाम साध्यविशेषः। **बाधादित्रयमिति** रूढिप्रयोजनयोर्वैकल्पिकहेतुत्वात् त्रित्वम्(B)। 'हेतु' लक्षणाज्ञापकम्(C)।

(A) शक्तिग्रहव्यापार पदार्थस्मृति।

(B) तथाच मुख्यार्थबाध एक, मुख्यार्थयोगो द्वितीय, रूढिप्रयोजनान्यतरच्च तृतीय इति त्रित्वमित्यर्थ।

(C) अयमभिप्राय—मुख्यार्थबाधादिज्ञानत्रितय लक्षणज्ञाने एव हेतु, गङ्गायां घोष इत्यत्र शैत्यपावनत्वयोस्तत्त्रितयस्यैवाभावेन लक्षणाज्ञानं न सम्भवति, ततश्च अविदिते प्रमाणाभावादिति न्यायेन तत्र लक्षणैव नास्तीति सिद्धमिति। एतेनोक्तत्रितयस्य प्रकृतार्थस्योत्पत्तिक-लक्षणायामहेतुत्वात् तदभावस्य लक्षणाऽभावसाधकत्वं न सम्भवति 'कारणाभावात् कार्याभाव' इति न्यायस्यात्राप्रयोगादित्याशङ्का निरस्ता।

---

1 'गङ्गे च' इति क्वचित् पाठ।

तथा च—

(२६) (A)लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो ।
न प्रयोजनमेतस्मिन्(B) न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥२६॥

यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति, तद्वद् यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत्; न च तटं मुख्योऽर्थः, नाप्यत्र बाधः, न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः

हेतुत्रयस्यैवाभावं दर्शयति—लक्ष्यमिति, मुख्यबाधस्य तु 'लक्ष्यस्यापकत्वेनैव चरितार्थत्वाच्च प्रयोजनलक्षणायामुपयोग इति भाव'। ननु लक्ष्यस्य मुख्यत्वा-भावेऽप्युपस्थितार्थबाध एव लक्षणाहेतुरोऽस्त्वित्यत आह—नाप्यत्रेति, तदादौ बाधा-धिकरणतया बाधो नास्तीत्यर्थः। वक्तव्यों तु—लक्षणीयस्य पावनत्वादेस्तटादौ बाधो नास्तीत्यर्थः इति व्याचष्टे, तन्न, लक्षणीयार्थान्वयबाधस्य लक्षणाहेतुत्वा-भावात्, 'योगः फलेन नो' इत्यनेन 'अन्वयोत्तरबाधसत्त्वस्यैव' दर्शितत्वाच्च।

नन्वेवं लक्षणाहेतुत्रयस्यैवाभावात् गङ्गादिशब्दानां पावनत्वादिबोधकत्वमेव नास्तीत्यत आह—न च शब्द इति। 'गति' स्वभावः अनुमतस्मिंस्तद्बोधकत्व स्वभावो न स्खलतीत्यर्थः। व्याचष्टे—यथेति। 'सबाध' बाधितान्वयबोधकत्वात्। न च गङ्गाशब्दार्थस्येति। प्रमाहीय "पावनत्वं हि प्रवाहस्यैव, तटे त्वाहार्यमेव प्रतीयते इति न तटे तद्युक्त"। परम्परासम्बन्धस्य त्वयावर्त्तकत्वेन लक्षणाहेतुत्वाभावात्।

(A) अत्र प्रदीप—' यथा गङ्गाशब्दस्य तीरं (नीरं ?) मुख्योऽर्थः, तत्र च बाधः, तीरं च तत्सम्बन्धं, तीरस्य च लक्षणावाच्यत्वम्, मुख्यशब्देन प्रतिपादयितुमशक्यस्य पावनत्वादेः प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति गङ्गाशब्देन तटं लक्ष्यते तद्वत् यदि तत्रापि मुख्यं स्यात्तत्र च बाधो भवेत्, प्रयोजनस्य च गङ्गादिशब्दावाच्यत्वादिविशेषस्य तेन सम्बन्धः स्यात् लक्षणया प्रयोजनप्रतिपादनस्य च प्रयोजनान्तरं सम्भवेत् तदा गङ्गाशब्दः प्रयोजनं लक्षयेत् न चैतत्सम्भवतीत्यर्थः" इति।

(B) अत्र प्रदीप—'मुख्यार्थबाधादित्रयस्याभावात् स्खलद्गतित्वम्। एवं "नापि गङ्गाशब्दस्तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः" इत्यादिवृत्तौ बाधादित्रयस्य' इति शेषो द्रष्टव्यः। 'समर्थ' इति पाठे "बाधादित्रयस्याभावेन" इति शेषः" इति। "'स्खलन्ती वाचकव्यापारेण विधुरीक्रियमाणा गतिरवबोधनशक्तिर्यस्य" तादृशः इत्यर्थः इति "मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थ-दर्शनम्। यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः॥" इति ध्वन्यालोकीयकारिकाव्याख्याने श्रीमदभिनवगुप्ताचार्याः।

सम्बन्धः, नापि प्रयोजने लक्ष्ये किञ्चित् प्रयोजनम्, [1]न च गङ्गाशब्दः तटमिव प्रयोजनं प्रतिपादयितुमसमर्थः।

(२७) एवमप्यनवस्था स्याद् या [2]मूलक्षतिकारिणी।

एवमपि प्रयोजनं चेल्लक्ष्यते तत् प्रयोजनान्तरेण तदपि प्रयोजनान्तरेणेति प्रकृताप्रतीतिकृदनवस्था भवेत्।

ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत् किं व्यञ्जनयेत्याह—

(२८) प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ॥१७॥

गर्भाद्धि सार्धशतहस्तपर्यन्तं(A) तीरं च पावनत्वविशेषस्तस्य तटे [3]लक्ष्येऽपि गङ्गाशब्दात् तत्प्रतीत्या तस्याकिञ्चित्करत्वात्। न च शब्दः स्खलद्गतिरित्यादिकं व्याचष्टे—न च गङ्गाशब्द इति। तटमिव पावनत्वमपि प्रतिपादयितुं नासमर्थः, यदि तु समर्थ एव, 'अनुभवसिद्धतद्बोधकत्वस्वमात्रेण स्खलद्गतित्वविरहः'[4]। तथा च तत्प्रतिपादिका व्यञ्जनावृत्तिरेव स्वीकार्येति भावः।

ननु लक्षणां विना विवक्षितार्थबोधानुपपत्तिरेव मुख्यार्थबाधः, विवक्षितार्थस्तु तटगतत्वेनारोप्यमाणं प्रवाहीयं पावनत्वमेव, तटे च पावनत्वं मुख्यार्थस्य प्रवाहस्य योगोऽस्त्येव, प्रयोजनं तु तदुत्तरं नियमतो यत् प्रतीयते तदेव वाच्यमित्यत आह—एवमपीति। अनुक्तस्यापीत्यर्थस्य इतिशब्देनैव योग्यतावशाद् एवकारेण परामर्शः। प्रकृताप्रतीतिकृदिति मूलक्षतेर्विवरणम्। मूलञ्च लक्षणया तटबोधः।

एवं लक्षणया तटबोधानन्तरं पुनर्लक्षणया पावनत्वबोधे स्वीकृते प्रथममेव पावनत्वविशिष्टे तटे लक्षणया पावने तटे घोष इति बोधोऽस्तु इत्याशङ्कते—नन्विति। प्रयोजनेनेति प्रयोजनीभूतज्ञानविषयपावनत्वादिनेत्यर्थः। अत्र

(A) "भाद्रकृष्णचतुर्दश्यां यावदाक्रमते जलम्। तावद् गर्भं विजानीयात् तदूर्ध्वं तीरमुच्यते॥ सार्धहस्तशतं यावद् गर्भतस्तीरमुच्यते।" इति तीरलक्षणम्।

---

1 'नापि' इति मुद्रितपुस्तके। 2. 'मूलक्षय' इति मुद्रितपुस्तके। 3. 'योऽपदस्य' ख-ग।
4 'अनुभवसिद्धं न स्थ तत्प्रतिपादकत्वं स्खलद्गतित्वाभावादिति भावः' ख-ग।

कुत इत्याह—

(२६) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्(A)।

प्रत्यक्षादेर्हि[1]नीलादिर्विषयः, [2]फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।

प्राचीना—विशिष्टे लक्षणाया अयुक्तत्वे ज्ञानस्येत्यादिना हेतुमुत्थापयति—कुत इत्याहेति। ज्ञानस्येति। हि यस्मात् ज्ञानस्य लक्षणाजन्यज्ञानस्य विषयोऽन्यः। फलं तु फलीभूतज्ञानविषय ततो लक्षणाजन्यज्ञानविषयादन्यदेव[3]*। उदाहृतम् उदाहरणेषु दृष्टम्। यथा विकसितस्मितमित्यत्र लक्षणाजन्यज्ञानविषयो विस्तार 'फलीभूतज्ञानविषयस्तु ततोऽन्यत् पुष्पवन्मनोहरत्व तत्रैव दृष्टान्तान्तर वृत्तिकराह[4]*—प्रत्यक्षादेर्हीति। 'प्रकटता' ज्ञातता। भट्टमते घटादौ ज्ञाते हि तत्र ज्ञाततारूप एको धर्मो जायते। 'संवित्ति' अनुव्यवसाय। तद्द्वयमपि नीलादिज्ञानविषयान्नीलादितोऽन्यदेवेत्यर्थ इति व्याचक्षते, तत्र, फलमन्यदित्यत्र फलपदस्य फलीभूतज्ञानविषयपरत्वे दृष्टान्ते तादृशज्ञानविषययोः प्रकटतासंवित्त्योः फलत्वेन

(A) अत्र प्रदीप—"ननु विषयफलयोर्भेद इति सूत्रार्थ स चायुक्त। फलत्वं हि जन्यत्वं वा अन्यप्रतीतिविषयत्व वा? आद्ये पावनत्वादौ तदभाव, तद्ज्ञाने विषयाद् भेद एव। अन्त्ये 'प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषय फलन्तु प्रकटता संवित्तिर्वा' इति वृत्तिविरोध, प्रकटताज्ञानस्य प्रत्यक्षजन्यत्वाभावात्। न च अन्यज्ञाप्यत्वमात्रमनेक साध्यत्वमस्तीति। अत्र ब्रूमः—ज्ञानस्य जनकीभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्वतो भिन्नम्, कारणस्यैव कार्य्यस्यापि भिन्नकालत्वनियमात्। शैत्यादौ तु क्वचित् फलत्वमौपचारिकं दृश्यते। तथाच लक्ष्यज्ञानमेव यदि शैत्यज्ञानं तदा प्रयोजनं न स्यादित्यर्थ। ननु लक्ष्यप्रतीतेर्न शैत्यप्रतीति फलं किन्तु तत्स्वरूपमन्यस्याया लक्षणया, तथाच न किञ्चिद्दूषणमिति। अत्राहु—अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयीकरोति अन्वयानुपपादकमपीति कथं तदे पावनत्वमपि विषयीकुर्य्यात्। अन्वयानुपपत्त्या कल्प्यमानाऽपि लाक्षणिकमपि शैत्यं विषयीकरोति यथा तापोपशमायोपादीयमानं चन्दनं शैत्यमपि अपनयतीति चेद् न चन्दनस्य सन्निधिमात्रेण शैत्यजनकत्वं लक्षणायास्तु अनुपपत्तिप्रमाणितत्वेति वैषम्यात्" इति।

1. 'प्रत्यक्षादेर्नीलादि'—इति क्वचित् पाठ। 2 'फलं च' इति क्वचित् पाठ। 3 "हि को हेतु, यस्मात्फलं ... 'ज्ञानस्य' ... 'विषय' फलीभूतज्ञानविषयात् 'फल' फलन्तु फलीभूतज्ञानविषयस्य ... ख-ग। 4 'फलन्तु' ख-ग। 5 '-फलमिति ... तु ... फलीभूतज्ञानस्य च विषय ... एवं दर्शयति—ख-ग।

(३०) विशिष्टे लक्षणा नैवम्—

व्याख्यातम् ।

(३१) विशेषाः स्युस्तु लक्षिते ॥ १८ ॥

तट्टादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधा-तात्पर्य-लक्षणाभ्यो

प्रदर्शनानुपपत्ते(A), तथा पावने तटे घोष इति यल्लक्षणाजन्यं ज्ञानं [1]'तदीयफलरूप-ज्ञानान्तराभावात् पावनत्वस्य फलीभूतज्ञानविषयत्वानुपपत्तेः'। अधिकार्थस्य प्रतिपत्तिः प्रयोजनमित्याशङ्काप्रन्थे प्रतिपत्तेरेव प्रयोजनत्वकथनात् तद्विषयरूपस्य फलस्य [2]'अन्यत्व-कथनेन तदाकाङ्क्षाया अनिवृत्तेश्च'[3]। अत्रोच्यते—पावनत्वविशिष्टरूपाधिकार्थस्य प्रतिपत्तेरेव लक्षणाजन्यपावनत्वविशिष्टप्रतिपत्तिफलत्वेन कथने फलफलिनोरभेदापत्तिः, अतो विशिष्टे लक्षणीयं न युज्यते इति कारिकापूर्वार्द्धार्थः। ननु फलफलिनोरभेदे स्वीकृते कथं विशिष्टे न युज्यते इत्यत्र परार्द्धोक्त(B) हेतुं वृत्तिकृदुत्थापयति—कुत इत्याहेति। हेतुमेवाह[4]—ज्ञानस्येति। 'हि'शब्द यथार्थो(C)ऽव्ययत्वात्। तथाच ज्ञानस्य विषयो यथा ज्ञानाद्भिन्नस्तथा तस्य फलमपि 'तद्भिन्नमेव'। 'उदाहृतम्' उदाहरणेषु दृष्टम्, न तु त्वया अङ्गीकृत 'पावनत्वविशिष्टतटज्ञानस्य फलं पावनत्व-विशिष्टतटज्ञानमेवेत्यर्थः'। तदेवोदाहरणेषु[5] दर्शयति—प्रत्यक्षादेर्हीति, प्रत्यक्षादे-

---

(A) अत्रेदं चिन्तनीयं प्रकटनाजाते यदि फल तदा तद्विषयस्य प्रकटतायां दृष्टान्तत्वं नानुपपन्नमिति।

(B) अत्रेदमवधेयम्—टीकाकृदुक्तानुसारेण 'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते। ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥' इत्येतत्पादचतुष्टयात्मक एक श्लोक इति प्रतीयते। अस्माभिस्तु गतानुगतिकतयैव श्लोकसंख्या परिगृहीतेति।

(C) अत्र 'हि' शब्दस्यैवार्थत्वे कारिकाव्याख्यपरवाक्यस्योपस्थापितस्य भेदरूपस्यान्वयो दुरुपपाद इति यथा तथेत्यर्थद्योतकत्वमङ्गीकृत्य टीकाग्रन्थः कथञ्चित् सङ्गमनीयः।

---

1 'तदुपभौभूतस्य ज्ञानान्तरस्याभावात्' ख-ग। 2 'अन्यत्वकथनानपेक्षोभाव' ख-ग। 3 'तथाचायमर्थः यद्यपि विशिष्टलक्षणायां तटशब्दशक्यो धात्तटभावादधिकस्य पावनत्वविशिष्टतटस्य प्रतिपत्तिः प्रयोजनमिति यदुक्तं तदर्थविशिष्टे लक्षणैव न युक्ता तटशब्दस्य शब्दान्तरापेक्षया चाधिकार्थस्य प्रदानेऽपि गङ्गाशब्देन प्रतिपादनकप्रयोजनस्य लक्षणाहेतुत्वेनोक्तौ कल्पितलक्षणात्वं अनितरा विशेषापत्तेः कल्पिताया चाधिकस्य प्रकाशः पदस्य पदान्तरापेक्षयाऽधिकार्थप्रतिपादकत्वादित्यर्थ हेतुतत्र स्पष्ट एव इत्यतो न दर्शितः प्रत्युत विशिष्ट-लक्षणाजन्यस्य विशिष्टज्ञानस्य फलं विशिष्टज्ञानमेवेत्यापद्यते तच्च न युक्तम्, तत्र हेतुमाह' ख-ग। 4 'जनकीभूतज्ञानादन्यदेव' ख-ग। 5 लक्षणाजन्यज्ञानमेव लक्षणाजन्यज्ञानफलमित्यर्थः। नचैव विषयस्य ज्ञानाद्यत्वप्रदर्शनं प्रकृतानुपयुक्तमिति वाच्यम्, फलस्य जनकीभूतज्ञानान्यत्वे दृष्टान्तविधयोपयुक्तत्वात्। उदाहृत-मुदाहरणेषु दृष्टमित्यर्थः। उदाहरणेषु तथा दृष्टमेव' ख-ग।

व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जन-ध्वनन-द्योतनादिशब्दवाच्यम् अवश्यमेषितव्यम्।

एवं लक्षणामूलं व्यञ्जकत्वमुक्तम्, अभिधामूलं त्वाह—

(३२) अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्॥ १९॥

(A)संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

[1]विषयो नीलादिरिव तत्फले प्रकटतासंवित्ती अपि तद्विशेषे एवेत्यर्थः। अत्र च ज्ञानस्येति प्रकृताभिप्रायेणैव, सर्वेषामेव फलफलिनं परस्परभिन्नत्वात्[1]॥

व्यापारान्तरेण गम्या इति। इह च 'स्यु'रित्यत्र पूरयित्वा दर्शितम्। तच्चेति व्यापारान्तरमित्यर्थः।

अभिधामूलन्त्विति। न त्वभिधेयमूलं तस्याग्रे दर्शयिष्यमाणत्वात्। अनेकार्थस्येति, संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते इत्यन्वयः। नियन्त्रणञ्च अर्थान्तरबोधप्रतिबन्धः[2]। शब्दस्येत्यनेन समासाधीनानेकार्थकशब्दस्यापि परिग्रहः। अत एव इन्द्रशत्रुरित्यत्र [3]समासपदेऽपि तथात्वं दर्शयिष्यते। अवाच्यार्थेति, वाच्यस्यैव नियन्त्रणवशाद्वाच्यतापन्नस्येत्यर्थः।

संयोगादीनेव परकीयकारिकया दर्शयति—संयोग इति। 'विप्रयोगः' त्यागः। 'साहचर्यं' साहित्येन कार्यकारित्वम्। 'विरोधिता' वैरिभावः। एतच्चतुष्टयं समभिव्याहृतपदार्थान्तरेणेति बोध्यम्। 'अर्थः' प्रयोजनम्, 'लिङ्गं' चिह्नम्, एतद्द्वयं समभिव्याहृतं बोध्यम्। 'अन्यस्य शब्दस्य' समानविभक्तिकस्येति बोध्यम्।

(A) मुद्रितवाक्यपदीयस्य २य-काण्डे ३१७ सङ्ख्यक श्लोकोऽयं दृश्यते, तत्र "संयोग" इत्यस्य स्थाने 'संसर्ग' इति पाठः। इत पूर्वं "वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद्देशकालतः। शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥" इति कारिका वर्तते। किन्तु तत्र "सामर्थ्यमौचिती" इत्यादि श्लोकस्यादर्शनेऽपि तद्गत'व्यक्तिस्वर'पदयोर्व्याख्यानं टीकायां दृश्यते।

1 'नीलादिविषयो नीलादिज्ञानादन्यो यथा नीलादिज्ञानफले प्रकटता संवित्तिरपि तथैवेत्यर्थः', ख ग।
2. 'रम्भ नेकार्थ बोधनम्' क। 3 'समासाधीनानेकार्थकशब्देऽपि' क।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे(A) विशेषस्मृतिहेतवः ॥

इत्युक्तदिशा—सशङ्खचक्रो हरिः, अशङ्खचक्रो हरिरित्यच्युते ; रामलक्ष्मणाविति दाशरथौ ; रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययोः ; स्थाणुं भज भवच्छिदे इति हरे ; सर्वं जानाति देव इति

'सामर्थ्यं'[1] निर्दिष्टक्रियाजननसामर्थ्यम् । 'औचिती' तात्पर्यनिर्वाहकत्वम् । 'देशः' समभिव्याहृतः प्रदेशः । 'कालः' समभिव्याहृतदिनरात्र्यादिः । 'व्यक्तिः' शब्दस्य स्त्रीपुंनपुंसकलिङ्गम् । 'स्वरः' उदात्तादिः । 'अनवच्छेदे' अनेकत्वे । 'विशेषस्य' एकतरस्य, 'स्मृतौ' पदार्थोपस्थितिरूपायां हेतव इत्यर्थः । एतच्च मीमांसकमत एव, नैयायिकमते तु सर्वेषां पदार्थानामुपस्थितिः, नियन्त्रणवशादेकस्यैवार्थस्य शाब्दानुभव इति । एकत्रैव संयोगादीनां द्वित्रि सम्भवेऽपि यथास्फूर्ति नियन्त्रकत्वं बोध्यम् । 'अशङ्खचक्र' इत्यत्र त्यागे नञ् । अनयोः शङ्खचक्रसंयोगत्यागौ हरिपदस्यानेकार्थस्यार्थान्तरवारणेन(B) अच्युतरूपार्थबोधकौ । एवमुत्तरेष्वपि बोध्यम् । दाशरथ्योरिति पाठो युक्तः द्वयोरपि पदयोरनेकार्थत्वात्(C) । अत्र साहचर्यम् । विरोधितायां—रामार्जुनेति, रामोऽत्र भार्गवः, अर्जुनः(D) कार्त्तवीर्यः । अत्र द्वयोर्वैरिभावः प्रसिद्धः । (E) स्थाणुमिति अत्र भवच्छेद

(A) अनिश्चये इत्यर्थः ।

(B) 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु । शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥' इत्यमरः । 'हरिर्वातार्कचन्द्रेन्द्रयमोपेन्द्रमरीचिषु । सिंहाश्वकपिभेकाहिशुकलोकान्तरेषु च । हरिर्वाच्यवदाख्यातो हरित्कपिलवर्णयोः ॥' इति विश्वः ।

(C) 'रामः पशुविशेषे स्याज्जामदग्न्ये हलायुधे । राघवे चाऽसिते श्वेते मनोज्ञेषु च वाच्यवत्' ॥ इति विश्वः । 'दाशरथि सौमित्रिः लक्ष्मणः' इति त्रिकाण्डे ॥ न चैवमन्योन्याश्रयः, प्रकारान्तरेण भिन्नैकतरशक्तिकपुरुषभेदेन तदुपपत्तेः । एवं रामार्जुनगतिरित्यत्रापि ।

(D) 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्त्तवीर्यमयूरयोः । मातुरेकसुतेऽपि स्याद् धवले पुनरन्यवत्' ॥ इति मेदिनी ।

(E) 'स्थाणू शङ्करस्थिरौ' इत्यमरः ।

---

1. '-प्रयोजन-' ख-ग । 2 'यथं द्वयोर्नयनस्थनेऽपि एकार्थ एव तात्पर्यम्' क । 3 '-सकरे' ख ।

युष्मदर्थे ; कुपितो मकरध्वज इति कामे ; देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ ; मधुना मत्तः कोकिल इति वसन्ते ; पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये ; भात्यत्र परमेश्वर इति राजधानीरूपादेशाद् राजनि ; चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ, रात्रौ वह्नौ ; मित्रं भातीति सुहृदि ; मित्रो भातीति रवौ । इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् । आदिग्रहणात्—

एद्दहमेत्तत्थणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं ।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं ॥ ११ ॥

प्रयोजन हरबोधकम्, अशालकृसबोधवारकञ्च । सर्व्वमित्यत्र प्रकरणं देवपदस्य राजरूपार्थबोधकम्, अमरबोधवारकञ्च । युष्मदर्थ इत्यनेन प्रकान्तराजरूपार्थ एव वर्णित, न तु युष्मत्वेन तस्य शक्तिरिति मन्तव्यम् । कुपित इत्यत्र मकरध्वजपदं कामसमुद्रयोरनेकार्थकम्, कोपस्तु कामस्यैव चिह्नम् । न चाधिष्ठातृदेवतयोर्द्वयोरपि कोपश्चिह्नमेव, अधिष्ठेययोस्तु कामिनीविरयेच्छाजलराश्योर्द्वयोरपि नेति को विशेष इति वाच्य विरहिण्यां कुपित इत्यर्थात् । देवस्य इत्यत्र तुल्यविभक्तिकस्य त्रिपुरारातिशब्दस्य सन्निधिर्नियन्त्रकः । मधुना इत्यत्र मधुपदमनेकार्थम्(A), कोकिलमादने वसन्तस्य सामर्थ्यम् । पातु व इत्यत्र मुखपदमनेकार्थं (B)कामुकसाम्मुख्ये तात्पर्यात् तत्रैवौचिती । भात्यत्र इत्यत्र परमेश्वरपदमनेकार्थम्, अत्र राजधान्यां राज्ञ एव सम्भवो न नारायणस्य । भात्यत्र गगने चन्द्र इति तु न्याय्यमुदाहरणम् । काले—(C)चित्रभानुरिति दिने विभातीत्यत्रान्वयः । व्यक्तौ—(D)मित्रमित्यादि द्वयं स्पष्टम् । इन्द्रशत्रुरित्यादौ बहुव्रीहितत्पुरुषयोर्भेदे उदात्तादिस्वरभेदः ।

(A) "मधु क्षौद्रे जले क्षीरे मद्ये पुष्परसे मधु । दैत्ये चैत्रे वसन्ते च जीवाशोके मधुद्रुमे" इति विश्व ।

(B) "मुखमुपाये प्रारम्भे [illegible] नि सरणास्ययो" इति हैम ।

(C) "सूर्य्यवह्नी चित्रभानू" इत्यमर ।

(D) "मित्रं सुहृदि न द्वयो । पुंसि सूर्य्ये" इति मेदिनी । अत्र अच्युत इत्यादीनां रत्नेषां सप्तम्यन्ततया वाचकत्वं नियम्यते इत्यध्याहृतेन सम्बन्धो बोध्य ।

(३४) यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥ १९ ॥

तथेति व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशे शब्दार्थस्वरूपनिर्णयो नाम द्वितीय उल्लासः ।

शाब्द्यां व्यञ्जनायामर्थविशिष्टः शब्दः काव्यमित्यभिप्रायेणाह—यत् सोऽर्थान्तरेति । 'युक्' युक्तः ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्य्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे शब्दनिर्णयस्य द्वितीयः प्रतिबिम्बः ।

(३५) अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्—

अर्था वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्याः। तेषां वाचक-लाक्षणिक-व्यञ्जकानाम्।

(३६) अर्थव्यञ्जकतोच्यते।

कीदृशीत्याह—

(३७) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां (A)वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः॥ २१॥
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ २२॥

बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य—वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्यात्मनः। क्रमेणोदाहरति—

अर्थाः प्रोक्ता इति वाच्यवाच्यस्तद्यर्था स्युरित्यनेन प्रोक्ता इत्यर्थः। व्यञ्जकता व्यञ्जकानां तेषां व्यञ्जनाख्य। व्यञ्जकता ससहायिका [1]वाच्या इत्यर्थः। 'कीदृशी'ति व्यञ्जनाख्या कीदृशा[2]।

वक्त्रिति। कालादिपर्यन्तानां वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् अन्यार्थधीहेतुर्योऽर्थस्य व्यापारः इति सा व्यक्तिरेव व्यञ्जनैवेत्यर्थः।

[3]'प्रतिपाद्य' उच्यमानार्थग्राहिण्य। 'विकार' वैलक्षण्यम् यत्र शिरःकम्पति। सन्निधेरित्यत्र [4]'समाहारद्वन्द्वैकत्वेऽपि नपुंसकलिङ्गकार्याभावो (B)विराम

(A) आसत्तियोग्यताकाङ्क्षान्वितपदसमुदायो वाक्यम्, तत्र 'शून्यं वासगृहं विलोक्य' इत्यादेरनित्यासिवारणाय स्वार्थबोधसमाप्त्यन्यमपि विशेषणं देयमिति रामतर्कवागीशः। अभिधेय विषयो वाच्य, तथाच बोद्धव्यादस्य भेदः स्फुट एव।

(B) 'विरामव्यञ्जनादावुक्तं नपुंसकात् स्यमोर्लोपेऽपि' इति कातन्त्रसूत्रम्। अत्र वाक्यवाच्याभ्यां सहित अन्यसन्निधिरिति मध्यपदलोपिकर्मधारयसमासेन शनिराहुकेतुरितिवदुपपादनं युक्तम्।

---

1 'बोध्या, वैभाव वा व्यञ्जकतायां सहायः उच्यन्त इति पर्यवसिताय' क। 2 'कीदृशी किंस्वरूपाविशिष्टाय'' ख। 3 'प्रतिपादकिं सम्बोध्यो वा' ख। 4 'समाहारैकत्वेऽपि विरामव्यञ्जनादावित्यत्र नपुंसककार्याभावात् नपुंसकार्थाभिधानात्मकत्वात् सन्निधिन इति रूपम्' ख।

अइ पिहुलं(A) जलकुम्भं घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम्।
समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम्॥ १३॥

अत्र चौर्यरतगोपनं(B) गम्यते।

ओण्णिद्दं दोब्बल्लं चिन्ता अलसत्तणं सणीससिअम्।
मम मन्दभाइणीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवइ(C)॥ १४॥

ध्वननादावितिः मार्त्यधर्म्मिकसूत्रे नपुंसकलिङ्गकार्य्याभावेन द्वन्द्विकत्वे तन्कार्यस्य वैकल्पिकत्वज्ञापनात्* अत "सन्निधिनः" इति न रूपम्*। अइ इति।

अयि पृथुल जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिश्वासनिःसहा विश्रास्यामि क्षणम्॥ इति संस्कृतम्।

जलाहरणपथे उपनायकोपभुक्ताया. सख्यां सचिह्नसंवरणोक्तिरियम्। अयीति सम्बोधनम्। अतिपृथुलमिति वा संस्कृतम्। श्रमात् यौ स्वेदसलिलनिश्वासौ ताभ्यां निःसहा दुर्बला क्षण विश्राम्यामीत्यर्थः। अत्र वक्तृणा अनाकाङ्क्षितार्थ-वक्तृत्वं वैलक्षण्य व्यञ्जनायां सहायम्। वाच्यवैलक्षण्ये उदाहरति—ओण्णिद्दं इति।

औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिश्वसितम्।
मम मन्दभाग्यायाः कृते सखि त्वामपि अहह परिभवति॥ इति संस्कृतम्।

(A) "अइ विउल" इति पाठे "अतिविपुलं"मिति संस्कृतम्।

(B) "अत्र वक्त्री कामिनी, तस्या दु शीलत्वरूपवैशिष्ट्य विज्ञानतां चौर्यरतगोपनं व्यक्ती-भवति" इति प्रदीप।

(C) "कुमकामुकोपभोगा दूती प्रतीयमुक्ति। तुहेति कर्मणि षष्ठी, परिभवतीत्यस्य सकर्मत्वादिति केचित्। तुहेति द्वितीयान्तमेव तथाऽनुशासनादिति दीपिकाकारः। मा साधत् परिभवत्येव मन्दाग्भ्यार्थं गमनागमनादिना कामुकस्य प्रसादनव्यापारेण त्वामपीत्यपि-शब्दार्थः। मदीयनित्यर्थं तु मदीयसौन्निद्र्यादिव त्वामपि स्नेहवशात् परिभवतीत्यर्थः। अत एव सखीति सम्बोधनम्। एतेन स्वीयस्यौन्निद्र्यादेरन्यपरिभावकत्वासम्भवात् स्वीयसजातीयत्वेनेति निरस्तम्, एकेनोभयपरिभवाभावादन्यासमुच्चयानुपपत्तेश्च" इत्युदाहरणचन्द्रिकासंक्षेप।

अत्र दूत्यास्तत्कामुकोपभोगो व्यज्यते।

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥१५॥

अत्र मयि न योग्यः खेदः(A) कुरुषु [redacted] योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते।

उपनायककोपभुक्तत्वेन ज्ञातायां दूत्यां नायिकाया सोल्लुण्ठनोक्तिरियम्। अहह खेदे। औचित्यादिक कर्तुं सखि त्वामपि परिभवतीत्यन्वयः। त्वामपीत्यपिकारात् मम त्वेभि परिभवो युक्त इत्यर्थः। अत्र वाच्यस्यायाः अकार्यकारित्वेन [1]अन्यतो ज्ञाताया दूत्यास्तथात्व वैलक्षण्यम्। काकुवैलक्षण्ये उदाहरति—**तथाभूतामिति**। कदु वक्तार भीम प्रति 'आर्य खिद्यते कदाचित् गुरुरिति' सहदेवस्योक्तौ पुनर्भीमस्योक्तिरियम्। पाञ्चालतनयां द्रौपदीं नृपाणां सदसि तथाभूतां दुःशासनाकृष्टकेशाम् ऋतुमतीं दृष्ट्वा इत्यन्वयः। एव वने द्वैतवने व्याधैः सार्धं वल्कलधरैरस्माभिः सुचिरमुषितम्, विराटस्यावासे अनुचितारम्भेण बल्लवसूदादिवेषेण निभृतं गुप्तं स्थितञ्च दृष्ट्वा गुरुः युधिष्ठिरः [2]तन्निमित्तमेव इत्थं खिन्ने मयि भामा ममापकारीत्येवं खेदं भजति कुरुषु ममापकारिणि इत्येवं खेदं कुरुषु त्वद्यापि न भजतीत्यर्थः। उचितं स्थितञ्च भारतानाम्, दुर्योधनस्य कर्मपरम्। **अत्रेति** शिरश्चलन[3]महानुभवया काक्वा सहकृतेन वाच्यार्थेन मयि न योग्य इत्यादिकं प्रकाश्यते इत्यर्थः। शिरश्चलनमहत्त्वकृतत्वमेव च काकावैलक्षण्यम्। ननु वाच्यात् सिद्ध एव वाच्यार्थो व्यङ्ग्यः, सिद्धिस्तु खेदभजनायोग्ये मयि [4]खेदभजनस्यानौचित्यवशात् बाधेन न भवति, किन्तु खेदं भजतीत्यनुचितमित्येव

(A) स्थितप्रनति खल माद्यस्मिनिति प्रतीपागदुरणबल्लिवे।

---

1 'अन्यतः' इति क पुस्तके नास्ति। 2 अनुकरणेन ख। 3 'महत्कृतया' क। 4 'खेदं भजति खेदभजनयोग्येषु कुरुषु तु न भजतीत्येव वाक्यार्थस्य तत्परत्वेन व्यङ्ग्येन सहासमर्थेन तथाच [illegible] वाच्यार्थसिद्धौ वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वमपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदत्वेनोदाहरणं न तु काकुध्वनित्वमिति व्यङ्ग्यस्य ध्वनौ प्राधान्यापेक्षितत्वात् ख। [illegible] भवति खेदभजनयोग्येषु कुरुषु तु खेदं न भजतीत्यस्य वाक्यार्थस्य काकुमात्रापेक्षत्वे व्यङ्ग्य(ङ्ग्या)त्वं नान्यथा [illegible] जनायोग्ये सहजनस्य बोधकत्वात्। तथाच एतादृशव्यङ्ग्यायोगित्वेन वाक्यार्थसिद्धौ वाच्यसिद्ध्यङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणमिदं न काकुध्वनेर्वाच्यव्यङ्ग्यस्येति बोध्यम्।

अत्र सन्ध्या सङ्केतकाल इति तटस्थं प्रति कयाचिद् द्योत्यते ।

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।
एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जं ॥१९॥

अत्रोपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुता, न युक्तमिति कयाचिद् वार्यते।

(A) अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः ।

गुरुरप्यनन्यमना श्वश्रूर्मां गृहभारे(B) सकले ।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न वा भवति विश्रामः ॥ इति संस्कृतम् ।

भत्ता श्वश्रूः देशी । अत्रेति, उपनायकसान्निध्यभावे पत्युर्गृहकर्मव्यापारित्वा-भावादुपनायकसन्निधावेव इयमुक्तिः । उपनायकश्च वाच्यार्थबोद्धृभ्यस्तत्स्थानस्थ-जनेभ्योऽन्य, तस्य च सङ्केतकालबुभुत्सैव ततसन्निधि(C)वैलक्षण्यम्, तद्वशात् सन्ध्येत्यादिक सामाजिकबोध्यं व्यङ्ग्यम् । [1]तदेवोपनायकेन तु वक्तृवैलक्षण्यादव-गम्यते[1]• । 'तटस्थ' वाच्यार्थबोधे उदासीनम् । प्रकरणवैलक्षण्ये उदाहरति— सुव्वइ इति ।

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण ।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम् ॥ इति संस्कृतम् ।

समुत्क्रान्ताभिसारनिवर्त्तिकाया सख्या उक्तिरियम् । एवमेवेति तत्परिचर्य्योप-करणरहितैवेत्यापाततः, अभिसारोद्यतैवेति तु गूढम् । करणीय रन्धनादिसामग्रीम् । अत्रेति वार्य्यते इत्यत्र इति व्यज्यते इति शेषः, प्रकरणप्राप्ताभिसारनिवर्तनस्यैव सामाजिकबोध्यत्वात्, गोपनीयकार्य्यविषयत्वमेव च प्रकरणस्य वैलक्षण्यम् । देश-

---

(A) अन्यत्रेति । "सखीवेशधारिणा स्वोपनायकेन सहागता प्रियमसखीं दृष्ट्वा सखी प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । यत्तु 'पुष्पावचाय नाटयन्तीं सखीं प्रति मालती कथयतीत्यत्रान्यव्याख्यानम्, प्रच्छन्नकामुको माधव, आवस्त्वां विश्वासवर्ती कामन्दकी प्रति मालत्या व्यज्यते' इत्यभिम-व्याख्यानञ्च सरस्वतीतीर्थकृतं तत्तु चिन्त्यमेव मालतीमाधवप्रकरणेऽस्य पद्यस्यानुपलम्भात्" इति बालबोधिनी ।

(B) "गृहभरे" इति संस्कृतमिति केचित् ।

(C) "अन्यसन्निधि सन्निहितोऽन्य" इति प्रदीपः ।

---

1. 'उपनायकस्य सम्भावकस्यासबोध्यत्व यत्र वैलक्षण्याद्' ख , 'उपनायकस्य तु वक्तृवैलक्षण्यादेव' ग ।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः ॥२०॥

अत्र विविक्तोऽयं देश इति प्रच्छन्नकामुकस्त्वयाऽभिसार्यता-मिति आश्वस्तां प्रति कयाचिन्निवेद्यते ।

गुरुअणपरवस पिअ किं भणामि तुह मन्दभाइणी क्खु अहं ।
अज्ज पवासं वच्चसि वच्च सअं जेव्व सुणसि करणिज्जं ॥२१॥

वैलक्षण्ये उदाहरति—अन्यत्रेति । देशश्च विधेयक्रियाऽधिकरणत्वेन निर्दिष्टं स्थानम्, व्यङ्ग्यार्थोपयुक्तीकरणमेव च तस्य वैलक्षण्यम् । स्वमङ्केतस्थानेऽन्यासां सखीनां पुष्पावचयं वारयन्त्या उक्तिरियम् । अत्रास्मीति, अहमित्यर्थे अस्मीत्यव्ययम् । अहमत्र पुष्पावचयं करोमीत्यर्थः । त्वमेवान्यत्र व्रजेत्याह—आहमिति । व इति बहुवचनं मञ्जलिरित्येकवचनञ्च बह्वीषु प्रत्येकमञ्जलिकरणेऽप्यसामर्थ्यसूचनाय । अत्रेति 'अभिसार्यताम्' आनीयताम् । निवेद्यत इति, तथाच तन्निवेदनमेव सामाजिकत्वाय व्यङ्ग्य-मित्यर्थः । निर्जनीकरणमत्र देशस्य वैलक्षण्यम् । (A)तादृशदेशस्यात्र वाच्यत्वे[1]ऽपि सप्तम्या अधिकरणत्वेनैव निर्देशाद्देशत्वमेव पुरःस्फूर्तिकम्[*] । परमन्यस्या दूत्याः साक्षिध्यसत्त्वेऽपि तस्मात्सान्निध्यस्यापि देशवैलक्षण्यादेव लाभाद् तदेव पुरःस्फूर्तिकं[2] दूत्यास्तु निवेद्यार्थवाच्य प्रकरणसाचिव्यादेव । कालवैलक्षण्ये उदाहरति—गुरुअणेति ।

गुरुजनपरवश प्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी खल्वहम् ।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव मन्यसे करणीयम् (B) ॥ इति संस्कृतम् ।

पितृाद्याज्ञया प्रवसितु(प्रवस्तु?)मुद्यतं नायकं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । [3]तव (C)

(A) वाच्यवैलक्षण्ये पुनरुदाहरणमित्याशङ्कामपाकरोति—तादृशेति । देशस्य वाच्यत्वेऽपि वाच्यवस्त्वन्तरापेक्षया व्यङ्ग्यप्रत्यायन उपयोगविशेष एव पृथग्निदर्शनबीजमिति हृदयम् । उदाहृते अस्मीत्यादौ प्रथमार्द्धे देशवैलक्षण्यमस्त्यपि अपाद्ध विशेष्यतया वाच्यानां वाक्यानां प्रतिनियतत्वादि विशेषणेन वैलक्षण्यं तु वाच्यवैलक्षण्यमेवेति देशवैलक्षण्यात्तस्य विविक्तविषयतेति ध्येयम् ।

(B) अत्र टीकाकृतामनुवादमात्रानुसारेण प्राकृतश्लोकपाठो गृहीतः । मुद्रितपुस्तकेषु 'मन्दभाइणीअ अहं' 'मन्दभाइणी अहअं' इति पाठभेदौ दृश्येते । एव 'मन्यसे' इत्यनुवाददर्शनेन 'सुणसि'त्यत्रापि सम्मते पाठान्तरमनुमीयते 'सुणसि' इत्यस्य तु शृणोषि इत्यनुवादो युक्तः, श्रोष्यसीति सद्यः, भविष्यत्सामीप्ये लट् । बहवस्तु श्रोष्यसि' इत्यवानूदितवन्तः ।

(C) 'तुह' इत्यस्य 'त्वाम्' इति द्वितीयान्ततयाऽनुवादः स्यात् इत्यस्याध्याहारो निष्प्रयोजनक इति बोध्यम् ।

---

1 'ऽपि परीतविकरणत्वतया देशत्वेनैव पुरःस्फोरणाद्देशवैलक्षण्यमेव' ख । 2 स्फूर्तिकमिति तदुदाहरणमेव' ख । 3 चिह्नितांश खपुस्तके नास्ति ।

अद्याद्य मधुसमये यदि व्रजसि तदाऽहं तावद् न भवामि, तव तु न जानामि (A)गतिमिति व्यज्यते ।

आदिग्रहणाच्चेष्टादेः । तत्र चेष्टाया यथा—

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्य्यसारश्रिया
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम् ।
आनीतं पुरतः शिरोंऽशुकमधःक्षिप्ते चले लोचने
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते(B) ॥२२॥

अत्र चेष्टया प्रच्छन्नकान्तविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते ।

स्थाने किं भणामीत्यन्वय[3]* । अद्य वसन्ते । [1]स्थानमीहे उद्यमात्मन्द्भागिनीति । गुरुजनेच्छाविना अनिवर्त्तनीयत्वसूचनम् । "मन्यसे" जानासि । अत्रेति, "न भवामि" मृताऽस्मि । तव त्विति अत्र प्रवासोद्यमादेव न जानामि, अन्यत्रा [illegible] स्वमृत्युहेतु-क्रियाभ्यो निवर्त्तसे इति [2]जानाम्येवेति भाव , व्यज्यते इति वसन्तकालस्य कामोद्दीप-कत्वरूपाद्विलक्षणधर्मादिति शेष । द्वारोपान्तेति । उपनायिकाया भावं बुद्धा आग-तस्य सख्युः सखश्युक्तिरियम् । मयि द्वारोपान्ते निविडसन्निहिते सति सौन्दर्य्यसार-श्रीर्यस्या, तादृश्या तया ऊरुयुगं प्रोल्लास्य परस्परसमासक्तम् अन्यान्यसमासङ्ग समा-सादितं प्रापितम्, समासक्तमिति भावे क्त , एवं पुरत शिरोंऽशुकानयनादिकमपि कृतमित्यर्थः । अत्रेति 'आकूत' भाव । [3]कुलस्त्रीभिस्तावल्लज्जैव क्रियते कुलटाभिस्तु क्रियाविशेषेण [4]लज्जाकरणं ज्ञाप्यते तच्च भावसूचकम्, तदिह सर्व्वैव क्रिया लज्जाकरण-

(A) गतिमिति दशामित्यर्थ । यथा च तवापि दुःखातिशयो मरणपर्य्यन्तोऽपि सम्भाव्यते, गुरुजनेषु कथञ्चिदुद्विजाप्य निवर्त्तस्वेति, अथवा अस्ति तत्रापि तव सौभाग्यावकाश इति मम मरण-मिदानीं तवाकिञ्चित्करमिति व्यज्यते इति भाव ।

(B) "अत्रोरुसमासङ्गादिचेष्टावैशिष्ट्यात् प्रच्छन्नकामुकविषय आकूतविशेषो ध्वन्यते । तत्र प्रथमार्द्धेन स्वरूपमालिङ्गनम्, शिरोंऽशुकं पुरत आनीतमित्यनेन गृहमागच्छेरिति अथ क्षिप्ते चले लोचने वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणमित्येताभ्यां सूर्य्यास्तसमये कोलाहलरहिते काले समागन्तव्यमिति सङ्कोचिते दोर्लते इत्यनेन पारितोषिकमालिङ्गनं करोमीति व्यज्यते" इति प्रदीप ।

1. 'स्थानमीहोद्यमात्' ख-ग। 2 'जानास्येवेति' क ख। 3 '-स्त्रिया' क। 4 'भद्र लज्जे' ख ।

निराकाङ्क्षप्रतिपत्तये प्राप्तावसरतया च पुनः पुनरुदाह्रियते । वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदे अनेन क्रमेण लक्ष्य व्यङ्ग्ययोश्च व्यञ्जकत्वमुदाहार्य्यम् ।

द्योतिका (A) उत्त्युगममासञ्जनादीनामुल्लासपूर्व्वकत्वादेर्ल्लाकरणज्ञापकत्वात्* । चेष्टादेरित्यादिपदात् चेष्टाविरहपरिग्रहः । यथा—

न ते मयि पद्मक्षेप दूरे दृष्टिनिवारणम् ।
वृद्धर्व्वाणा च सूक्तौ मे मौनमालम्बते स्म सा ॥ इति

अत्र पद्मक्षेपादिविरहोऽप्याकूतसूचकः । ननु वक्तृवैलक्षण्योदाहरणमेव 'बोद्धव्य-वैलक्षण्योदाहरणमपि सम्भवति', तत् किं बहुभिरुदाहरणैरित्यत आह—निराकाङ्क्षेति, 'प्रत्येकमेषां प्राधान्येन व्यञ्जकताया किं किमुदाहरणमित्याकाङ्क्षानिरासेन प्रतिपत्तये इत्यर्थः । इत्थमेभिः सहायैर्वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृते लक्ष्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोरपि व्यञ्जकत्वमनेन क्रमेण द्विकादिसम्भिन्नोदाहरणेषु बोध्यमित्याह—वक्त्रादीनामिति । 'द्विकादि' वक्तृबोद्धव्यादि द्वित्र्यादि । 'भेद' सम्भेदे मिलने । तथाहि साहन्ती त्यादौ मनुमितमित्यादिलक्ष्यार्थस्य यत् कामुकरितेत्यादि व्यङ्ग्यमुक्तं तद्व्यञ्जने वक्तृबोद्धव्यानयक्त्यवैलक्षण्य सहायम् । उभ निश्शेष्यादौ यद्यदङ्ग्यार्थस्य व्यञ्जकत्व मुक्तं तद्व्यञ्जने प्रकरणबोद्धव्यवैलक्षण्य सहायम् । अत्र च वाच्यार्थस्य व्यञ्जकताया द्विकादिभेदेन उदाहरणम् "अत्ता एत्थ णिमज्जइ" इत्यादिकं क्वचित् पुस्तके लिखितं तिष्ठति, तत्तु न युक्तमेव उक्तोदाहरणेष्वेव तत्सम्भवस्य निराकाङ्क्षेत्यादिना सूचितत्वात् ।

(A) "उत्त्युगममासञ्जनादीनामुल्लासपूर्व्वकत्वादेर्ल्लाकरणज्ञापकत्वात्' इत्यत्र टिप्पणीति प्रतिभाति अन्यथा तस्य "सर्व्वैव क्रिया ललाकरणज्ञापिका" इत्यत्र हेतुत्वं साध्याविशेष इति चिन्तनीयम् ।

(३८) शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥२३॥

शब्देति । न हि प्रमाणान्तरवेद्योऽर्थो व्यञ्जकः ।

इति काव्यप्रकाशेऽर्थव्यञ्जकतानिर्णयो नाम तृतीय उल्लासः ॥ ३ ॥

आर्थ्यां व्यञ्जनायां शब्दविशिष्टार्थस्य काव्यत्वमित्यभिप्रायेणाह—शब्दप्रमाणेति । न हि प्रमाणान्तरेति काव्ये इति शेषः । नाट्ये तु प्रत्यक्षदृष्टोऽप्यर्थो व्यञ्जक इति बोध्यम् ।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे
अर्थव्यञ्जकतानिर्णयस्य तृतीयः प्रतिबिम्बः ।

---

1. 'र्थ्यनिर्णयो' ख-ग ।

यद्यपि शब्दार्थयोर्निर्णये कृते दोषगुणालङ्काराणां स्वरूपमभिधानीयं तथाऽपि धर्मिणि प्रदर्शिते धर्माणां हेयोपादेयता ज्ञायत इति प्रथमं काव्यभेदानाह—

(३६) अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥

लक्षणामूलगूढव्यङ्ग्यप्राधान्ये सत्येव अविवक्षितं वाच्यं यत्र सः, 'ध्वनौ' इत्यनुवादाद् ध्वनिरिति ज्ञेयः। तत्र च वाच्यं क्वचिदनुपयुज्यमानत्वादर्थान्तरे परिणमितम्। यथा—

'स्वरूपं लक्षणम्। अभिधानीयमिति अभिधातुं योग्यमित्यर्थः, तद्दोषौ शब्दार्थावितिकारिकोक्तमनुरोधा[1]दिति भावः। प्रदर्शिते इति भेदप्रभेदरूपप्रकारैः प्रदर्शिते इत्यर्थः। सामान्यतस्तु 'इदमुत्तममतिशयिनी'त्यादिना दर्शितमेवेति बोध्यम्। ज्ञायत इति 'तत्तद्धर्मिनिष्ठत्वेन ज्ञायत इत्यर्थः, सामान्यधर्मिनिष्ठतया तु सामान्यकथनेनैव ज्ञातत्वादिति बोध्यम्।

अविवक्षितवाच्य इति ध्वनिस्तावदविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च भवति तत्राविवक्षितवाच्यस्य लक्षणामूलस्थल एव सम्भवाति, अतो लक्षणामूलस्य ध्वनि स्ययार्द्धशायपि' प्रदर्शनीयत्वात् तयोश्च कारिकायां[3] पूर्वमनुक्तत्वेन 'सर्वथलस्य तद्व्य शब्द'[4]पूरणेन दर्शयन् व्याचष्टे—लक्षणामूलेति ध्वनिरिति ज्ञेय इति च[5]।
व्यङ्ग्यस्यागूढत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वापत्तेः न ध्वनित्वमतो ध्वनित्वलाभायाह—

---

1 °नुरोधा° ख। 2 तत्तद्धर्मिनिष्ठतया ख 'तद्धर्मिनिष्ठत्वेन' ग। 3 प्रथम° ककाराणुक्तत्वेनो° क्वचित्। 4 तत्तद्यथासम्भव' ख। 5 इतःपरं "वाच्या विवक्षा लक्षणामूलत्व विना नास्तीति व्यङ्ग्यस्य, लक्षणामूलेति" क पुस्तकेऽधिक पाठ तत्र 'लक्षण' स्थाने टिप्पणीति प्रतिभाति।

त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति ।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत् ॥ २३ ॥

अत्र वचनादि उपदेशादिरूपतया परिणमति ।

क्वचिदनुपपद्यमानतया अत्यन्तं तिरस्कृतम् । यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ॥२४॥

गूढेति । तथात्व एव च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमित्येतत्स्फोरणायाह—प्राधान्ये इति । व्याचष्टे—तत्र च वाच्यमिति । अनुपयुज्यमानत्वादिति वाच्यतावच्छेदकेन रूपेणेति शेष । 'अर्थान्तरे' अवच्छेदकान्तरे, 'परिणमित' धर्मितया मातम्, वाच्यो धर्मी अवच्छेदकान्तरेणैव भाव इत्यर्थ । उक्तपञ्चविधलक्षणासूपादान-लक्षणायामेव एवं भवतीति बोध्यम् । अन्यपञ्चविधलक्षणासु तु रूपान्तरेणापि न वाच्यार्थान्वयबोध इत्युक्तम् 'अत्यन्तं वे'ति कारिकाङ्गेन । त्वामस्मीति । अस्मीत्यहमित्यर्थे अव्ययम् । त्वामहं वच्मि उपदिशामि । समवाय सभा । तत् तस्मात् । अत्रेति, उच्यमानार्थमहिम्नैव 'वच्मीत्यस्य अर्थस्य लाभे'॰ 'वचनात् वचनरूपमनुपयुक्तम् अतोऽत्र उपदिशामीत्येवार्थ । 'तथाच उपदेशत्वेन रूपेणैव वाच्यार्थस्य वचनस्योपस्थापकमिति'॰ दर्शयति—अत्र वचनादीति । 'परमवर्तक वचनं ह्युपदेश'॰ । अनुपेक्षणीयत्वस्य एतल्लक्षणामूलं गूढं व्यङ्ग्य प्रयोजनम् । वचनादि-रित्यादिपदाद् विदुषां निबाहकविदुषपरम्, परोपमानदायित्वं तद्व्यङ्ग्यं च गूढं प्रयो-जनम् । मतिपदमपि प्रकृष्टमतिपरम्, परोपमानत स्वरक्षणं च तत्प्रयोजनं गूढव्यङ्ग्यम् । सर्वत्र शक्यामेव एव लक्ष्यार्थे शक्यसम्बन्ध । अत्यन्तं वेति व्याचष्टे—क्वचिदिति रूपान्तरेणापि वाच्यार्थस्यान्वयानुपपत्तेरित्यर्थ । लक्षणलक्षणादिपञ्चक एव एवं भावो बोध्य ।॰ उपकृतमिति । प्रमाणान्तरावगतापकारिणं प्रत्येव इयमुक्ति । अत्र

एतदपकारिणं प्रति विपरीतलक्षणया कश्चिद्वक्ति।

(४०) विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।

अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। एष च—

(४१) (A)कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः ॥२५॥

च तत्रेति समीचीनः पाठः, यत्रेति पाठे तु तत्रेति पूरणीयम्। परं सुखितश्चेति 'द्वय क्रियाविशेषणम्। विपरीतेति उपकृतपदस्य 'अपकृते सुजनतापदस्य दुर्जनत्वे सुखितपदस्य च 'दुःखिते 'विपरीते लक्षणालक्षणयेत्यर्थः। वैपरीत्यमेव च शक्य-लक्ष्ययोः सम्बन्धः। पूर्वद्वये वोढव्यपुरुषस्य अपकर्तुं कौटिल्यम्, तृतीये च दुःखित-त्वस्य कौटिल्यफलस्य व्यङ्ग्यम्। किञ्चैव लक्ष्यार्थस्यातिशयो व्यङ्ग्य इति तु 'दर्पणकृत्।

यदुपभेदं द्विविधितान्यपरवाच्यध्वनिमाह—विवक्षितश्चेति। यत्र ध्वनौ। व्यङ्ग्यनिष्ठमिति व्यङ्ग्ये निष्ठा पर्यवसानं यस्येति विग्रहः।

तस्य 'विभागं चिकीर्षुरादौ द्वैविध्यमाह—कोऽपीति। एष च इति तु तदुत्थापिका 'वृत्तिः। (B)वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्योऽपरिच्छेद्यो यस्य

(A) क्वचित्पुस्तके "असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य" इति विशेषः।

(B) वाच्यार्थबोधानन्तरं व्यङ्ग्यार्थबोध इति क्रमोऽलक्ष्य इति। अयमत्र टीकाकृताशयः — विभावादिभिरभिव्यक्तवाच्यार्थबोधस्य व्यङ्ग्यरसादिबोधस्य च क्रमो यद्यपि संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थल इव वर्तते तथापि विभावानुभावयोः क्वचित्तु व्यभिचारित्वं वाच्यत्वेऽपि तेषामेकतमस्यानेन झटिति तदितरोपस्थितिसम्भवात् तद्वत्स्थल एव रसबोधो भवतीति विभावादिवाच्यार्थबोधस्य रसादिव्यङ्ग्यबोध-क्रमस्यालक्ष्यतायामतिशीघ्रत्वमेव हेतुरिति। न चैतावता वाच्यार्थमात्रबोधस्य रसादिव्यङ्ग्यबोधस्य च क्रमः सर्वत्र दुर्लक्ष्य इति भ्रमः कार्यः। अत एव टीकाकृतोक्तम्—अन्येषां केवलानां प्रतीतौ विलम्बेनान्याक्षेपादिति। तथा दर्पणेऽपि—

'सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते'॥ इति।

अन्यत्र च 'अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणकत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति, किन्तूत्पल-

अलक्ष्येति । न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसः, अपि तु रसस्तैरित्यस्ति क्रमः(A) । स तु लाघवान्न लक्ष्यते । तत्र—

तादृशं व्यङ्ग्यं यस्येति बहुव्रीहित्वेन कोऽपि ध्वनिस्तादृश इत्यर्थः । परः तदन्यस्तु लक्षणीयव्यङ्ग्यबोधक्रम इत्यर्थः । तत्राद्यो रसभावादिध्वनिर्वक्ष्यते, (B)रसादेरत्यन्ताकर्षकत्वेन शीघ्रबोधाद् (C)वाच्यबोधसमकालमेव व्यङ्ग्यबोध इति भ्रमोदयात् । ननु रत्यादिस्थायिभावानां कारणानि विभावाः कार्याण्यनुभावाः कार्यविशेषाश्च सहकारिणो वक्ष्यन्ते, 'काव्ये च त एव वाच्या अपि व्यङ्ग्यरत्यादिबोधे भासमानतया प्रपाणकरसन्यायेन चर्व्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वक्ष्यते'। तथाच ये विभावादयो वाच्यास्त एव व्यङ्ग्यरसशरीरमिति वाच्यविभावादि-व्यङ्ग्यरसयोर्भेदाभावात् 'वाच्य-व्यङ्ग्यबोधक्रम एव नास्तीति 'कुतोऽलक्ष्यत्वमिति भ्रान्तशङ्कां निरस्यन्नाह—**न खल्विति** । एवकारात् तन्मात्रस्य रसत्वव्यवच्छेदः, किन्तु (D)तन्मात्रस्य वाच्यस्य (E)तद्विशिष्टस्य रत्यादेर्व्यङ्ग्यस्य रसत्वमित्याह—**अपि तु रसस्तैरि**ति, शान्त-

---

शतपत्रभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते' इति । न खल्वित्यादिवृत्तिग्रन्थेऽपि विभावादिबोधरसादिव्यङ्ग्य-बोधयो क्रमाभावशङ्कापरिहाराभ्यां स्पष्टोऽयमर्थ इति ।

(A) अस्ति क्रम इति । विभावादिबोधस्य कारणतया पूर्ववर्तित्व रसादिबोधस्य च कार्य-तया उत्तरवर्तित्व तयो कार्यकारणभावानुरोधेन सिद्धमेव कारणत्वस्य कार्याव्यवहितप्राक्-क्षणवर्तित्वात्, तथा चक्षणमात्रकालस्यातिसूक्ष्मतया रसादिव्यङ्ग्यस्यासंलक्ष्यक्रमत्वकथनं युक्त-मेवेति हृदयम् ।

(B) रसभावादिध्वनेरसंलक्ष्यक्रमतायां हेतुमाह—रसादेरिति । रसादीनामत्यन्ताकर्षक-त्वेन मनसो विषयान्तरपराङ्मुखीकरणेन झटिति अन्यमनाक्षेपे उपयुज्यत इति बोध्यम् ।

(C) रसादिव्यङ्ग्यक्रमस्यालक्ष्यतायां हेतु शीघ्रत्वम्, तत्र ज्ञापकमाह—वाच्यबोधसम-कालमेव व्यङ्ग्यबोध इति भ्रमोदयादिति ।

(D) तन्मात्रस्येति । प्रायशो विभावानुभावयो क्वचिद् व्यभिचारित्वश्चेत्यर्थ ।

(E) तद्विशिष्टस्येति । तथाच—'न खलु विभावानुभावव्यभिचारिण एव रस' इति वृत्तिग्रन्थे विभावादीनां यद् रसत्वमुक्तं तत् समूहालम्बनात्मकरसबोधे विशेषणविधया नियतविषय-

(४२) रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः॥ २६॥

आदिग्रहणाद्भावोदय-भावसन्धि-भावशबलत्वानि। प्रधानतया

बोधयितृभिस्तै रसो निष्पाद्यते ज्ञायते चेत्यर्थः। तथाच 'वाच्यविभावादेर्भेदो बोधकमश्चास्तीत्याह—**इत्यस्ति क्रम** इति। तदुक्तं दर्पणे—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्वलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥ इति। (३य प०)

लाघवादिति शीघ्रोपस्थितिकत्वादित्यर्थः।

अलक्ष्यक्रमान् व्यङ्ग्यान् दर्शयति—**तत्रेति**। तदाभासेत्यत्र तत्पदेन रसभावयो-र्द्वयोरपि परामर्शः। **अक्रमः** अलक्ष्यक्रमः। **भिन्नो रसादी**ति पराङ्गत्वे सति रसादय एवालङ्कारा मन्यन्ते(Δ), तादृशालङ्काराद्भिन्नः परानङ्गत्वेन अलङ्कार्यतया स्थितो यः स एव काव्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकोऽक्रम इत्यर्थः। पराङ्गभूते 'रसादिस्तु अक्रमत्वे-ऽपि'* काव्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वनिर्वाहक 'एवेति **भिन्न** इत्यादिना तद्व्यवच्छेदः कृतः'*। **आदिग्रहणादिति** भावशान्त्यादिरित्यादिग्रहणादित्यर्थः। भावोदयादि-

---

लेनास्वाद्यमानत्वेन च साधर्म्येण गौणम्, मुख्यं रसत्वन्तु व्यञ्जनदशापन्नानां स्थायिभावानामेवेति "व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः" इति ग्रन्थकृतोऽप्येतस्य लक्षणे स्फुटमव-गम्यते इति भावः।

(Δ) मन्यन्त इति। अत्रैव "यत्राङ्गभूतो रसादि" इत्यादिना तथा पञ्चमोल्लासे "एते च रसवदाद्यलङ्काराः" इत्यनेन गुणीभूतरसादीनामलङ्कारत्वं वृत्तौ स्वीकृतम्, कारिकायान्तु रसवदाद्य-लङ्काराणां लक्षणं नोक्तमेव। एवञ्च भिन्नो रसाद्यलङ्कारादित्युक्ति अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतीति-न्यायेन परसम्मतं तल्लक्षणमङ्गीकृत्यैवेति बोध्यम्।

यत्र स्थितो रसादिस्तत्रालङ्कार्यः, यथोदाहरिष्यते। अन्यत्र तु—प्रधाने वाक्यार्थे यत्राङ्गभूतो रसादिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्ये—रसवत्प्रेय-ऊर्जस्वि-समाहितादयोऽलङ्काराः। ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्ते।

तत्र रसस्वरूपमाह—

(४३) कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥ २७ ॥

लक्षणं तदुदाहरणावसरे वक्ष्यते। अलङ्कार्य्यतयेत्यत्र(A) अलङ्कारयोग्यतैव विवक्षितेत्याह—**प्रधानतयेति**। परानङ्गत्वमेव प्राधान्यं सैव चालङ्कारयोग्यतेति भावः[1]। काव्यस्य तु सर्वत्र सालङ्कारत्वं वैचित्र्यमात्रसाध्यमिति प्रागेव दर्शितम्। **यथोदाहरिष्यत** इति। शून्यं वासगृहमित्यादिकं तद् बोध्यम्। पराङ्गत्वे तु तस्य अलङ्कारत्वमेव नालङ्कार्य्यत्वमित्याह—**अन्यत्र त्विति** 'वाक्यार्थे' रसादिरूपे, रसस्याङ्गत्वे रसवान्, भावस्याङ्गत्वे प्रेयान्, आभासस्याङ्गत्वे ऊर्ज्जस्वी, भावशान्त्यादेरङ्गत्वे समाहितं नाम अलङ्कार इत्यर्थः। **गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधान** इति अपराङ्गाख्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अभिधाने कृते सतीत्यर्थः, एते च रसवदाद्यलङ्कारा इति [2]तदुत्तर वक्ष्यमाणत्वात्।

'रसस्वरूपं' रसलक्षणम्। तत्र विभावाद्यैर्व्यक्तः स्थायिभावो रस इति रस-लक्षणं कर्त्तुं विभावादि[3]परिभाषां ग्राहयति—**कारणानीत्यादिना व्यभिचारिण** इत्यन्तेन। अन्यत्र सहकारिपदं कारणान्तरपरम्, अत्र तु रत्यादेः कार्य्यविशेषपरमेव, रत्यादिस्वकारणजनने शीघ्रकारित्वरूपात् सहभावात् तथा व्यपदेशः। तानि च किन्नामधेयानीत्याकाङ्क्षायां वक्ष्यन्ते। **रत्यादेरिति**—

(A) अलङ्कार्य्यतयेत्यस्य अलङ्कारविशिष्टतयेत्यर्थकत्वे निरलङ्कारस्य रसादेरलङ्कार्यत्वं नास्तीत्याशङ्का स्यात् तन्निराकरणार्थं व्याचष्टे—अलङ्कारयोग्यतेति।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।
(A)व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥२८॥

[1]रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः ॥

इति वक्ष्यमाणस्थायिभावानामित्यर्थः[1]* । एवञ्च स्थायिन स्थायिपरिभाषितस्य रत्यादेर्यानि कारणानि (B)आलम्बनोद्दीपनरूपविशेषा, यानि च कार्य्याणि गणयिष्य माणश्रमस्त्रिशत्कार्य्यभिन्नकार्य्यसामान्यम्, यानि च सहकारीणि निर्व्वेदादयस्त्रय-स्त्रिंशत्कार्य्यविशेषाः लोके नाट्यकाव्यभिन्नलोकव्यवहारे कारणादितयैव श्रूयन्ते इति शेषः तानि चेन्नाट्यकाव्ययोर्व्यवह्रियन्ते इति शेष, तत्रा यथासङ्ख्य (C) विभावा अनुभावा व्यभिचारिणश्च कथ्यन्त इत्यर्थः[2] । व्यभिचारिणां सञ्चारिपरिभाषाऽपि दोषोल्लासे व्यक्तीभविष्यति । अत्र च रत्यादेरित्युक्त्यैव निर्व्वाहे स्थायिन इति यदुक्त तेन रसान्तरस्थायिभावस्य रसान्तरे स्थायिभावत्व नास्ति किन्तु (D)व्यभिचारित्व-

(A) "व्यक्त व्यक्तिविषयीकृत, व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्' इति रसगङ्गाधरकारः । अत्र "सूत्रे 'तै' इत्यनेनैव विभावादिप्राप्तौ विभावाद्यैरिति सहार्थे तृतीया, तेन विभावाद्यैः सह तैर्व्यक्त इत्यर्थाद् रसस्य समूहालम्बनरूपतालाभः" इति प्रदीपोद्द्योते । "तैरिति सहार्थे तृतीया, विभावादिभिर्व्यक्त तैर्विभावादिभिः सहेति समूहालम्बनरूपता" इति परमानन्दचक्रवर्त्ती ।

(B) आलम्बनोद्दीपनरूपेति । प्रदीपकारैस्तु उद्दीपनस्य कारणत्व "यद्यप्युद्दीपकस्य स्थायिनि न कारणत्वम्, किन्तूत्पन्ने तस्मिन् ईषदुत्कर्षाधायकत्वरूपमुद्दीपकत्वम्, तथाऽप्यनुद्दीपितो ऽजातप्राय एवेत्युद्दीपकेऽपि कारकत्वोपचारात् तत्रापि विभावव्यवहार" इत्युक्तम् ।

(C) विभावा इत्यादि । विभावादिशब्दाना व्युत्पत्ति प्रदर्शिता प्रदीपकारैः —विभावादि-संज्ञा च विभावनादिव्यापारयोगात् । तद् यथा—वासनात्मनया स्थितान् रत्यादीन् स्थायिनो विभावयन्ति रसास्वादाङ्कुरयोग्यता नयन्तीति विभावाः, अनुभावयन्ति च तानित्य-नुभावाः, पोषकतया विशेषेण अभितः काये स्थायिनं चारयन्ति विशेषणाभिमुख्येन चरन्तीति वा व्यभिचारिणः' इति ।

(D) व्यभिचारित्वमिति । तथाच साहित्यदर्पणे—'रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभि-चारिणः' इति ।

1 'रतिर्हासश्च शोकश्च' इत्यादिना वेऽष्टौ स्थायिभावा वक्ष्यन्ते यत्र शान्तिरसस्थायिभावत्वेन निर्वेदोऽपि वक्ष्यते तेषामित्यर्थः । 2 "इत्यर्थः" एतदनन्तर क्वचित् पुस्तके तथाच कारणानि विभावाः कार्याण्यनु-भावाः सहकारीणि च व्यभिचारिण उच्यन्ते इत्यर्थ" इत्यधिकोऽंशो दृश्यते, स च पूर्ववाक्यस्य टिप्पणीति प्रतिभाति ।

राम एवायम् अयमेव राम इति, 'न रामोऽयम्' इत्यौत्तरकालिके बाधे रामोऽयमिति, रामः स्याद्वा न वायमिति, रामसदृशोऽयमिति च सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणया चित्रतुरगादिन्यायेन रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्ये नटे—

'नर्तके' अनुकारके। काव्ये तु रामादावेवेति बोध्यम्। 'प्रतीयमान' व्यज्यमान। इत्थं व्यञ्जनया रामादौ सामाजिकैः प्रतीयमानो रत्यादौ रस इत्युक्तम्, राम सीताविषयकरतिमानित्याकारकज्ञानसम्बन्धेन सामाजिकवृत्तित्वादेव सामाजिका रसवन्त[1]।

अत्र मते व्यञ्जनाधीनज्ञानस्यास्वादरूपत्वं नास्ति साक्षात्कारस्यैव तथात्वादिति दूषणमवेक्ष्य तस्य साक्षात्कारत्वमुपपादयितुं श्रीशङ्कुकस्य मतमाह— **राम एवायमिति**। अत्र मते रामत्वेनाहार्यज्ञाते(A) नटे, काव्ये तु राम एव प्रथमं विभावादिभी रत्याद्यनुमानम्, ततस्तदनुमानोद्बोधितया सामाजिकानां (B)वासनात्मिकया प्रत्यासत्त्या साक्षात्कारतो रामादिरत्यादौ रस इति निष्कर्षः। तत्र नाट्याभिप्रायेण पक्षभूत-

---

व्यापारशून्यानाम्, प्रतीतौ विलम्बेन प्रकरणाद्यनुसन्धानकृतेनेति शेषः, अन्येषां विभावादिष्वभिन्नभिन्नानां विभावादीनाम् आक्षेपादित्यर्थः।

(A) विरोधिनिश्चयदशायामिच्छाप्रयोज्यं ज्ञानम् आहार्यज्ञानमित्युच्यते, रामभिन्नत्वेन ज्ञाते नटे "रामोऽयम्" इति ज्ञानमिच्छयैव सम्भवतीति तादृशज्ञानस्याहार्यत्वमुपपद्यते इति बोध्यम्।

(B) वासनेत्यादि। अत्र वासना रत्यादेः सूक्ष्मावस्थाविशेषः। अनुमानोद्बुद्धा च वासना रत्यादिस्वरूपतया पर्यवस्यति। तथाच ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्तिरेतेनोक्ता। अत एव साक्षात्कारपदमप्यत्र प्रत्यक्षमात्रपरम्, न तु लौकिकप्रत्यक्षपरम्, तत्कारणानां षड्विधलौकिकसन्निकर्षाणां परकीयरत्यादावसम्भवात्, ज्ञानलक्षणासन्निकर्षस्य तु अलौकिकसन्निकर्षमध्ये गणनेन तत्कार्यस्याप्यलौकिकत्वौचित्यात्। 'निष्कर्ष' इति। तथाच भट्टलोल्लटमते रसस्याश्रयो रामादिरनुकार्यः, तत्प्रतीतिकारणं व्यञ्जनावृत्तिः, तदधीनप्रतीतिविषयत्वमेव रत्यादेः रसत्वम्; रसांशे विशेषणीभूतप्रतीतिसम्बन्ध एव रसवत्ताव्यवहारनियामक इति सामाजिका रसवन्त उच्यन्ते। श्रीशङ्कुकमते तु अभिनयस्थले नटादयोऽभिनेतारः काव्ये तु रामादय एव रसस्याश्रयः, तत्प्रतीतिकारणं न व्यञ्जना किन्त्वनुमानोद्बुद्धवासनेति विशेष इति बोध्यम्।

सेयं ममाङ्गेषु (A)सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशोः।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता ॥२५॥

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलदः कालः समुपागतश्चायम् ॥ २६ ॥

इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्त्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथाऽनभि-

---

मद्ज्ञानाकारमाह—**राम एवेति**। चित्रलिखिते तुरगे यथा तुरगोऽयमित्याहार्य्यं प्रतीतिस्तथाभूतया रामोऽयमित्याहार्य्यप्रतीत्या **ग्राह्ये नटे** पदे, **विभावादि-शब्दव्यपदेश्यैः कारणकार्य्यसहकारिभिः** हेतुभिः, **अनुमीयमानो** रामादि-रत्यादि **सामाजिकानां वासनया** अन्यामरणा कारणभूतया **चर्व्यमाणः** साक्षान्नियमाणो **रस** इत्यन्वयः। तत्र रामत्वेन नटज्ञानस्य सम्यगादिज्ञानचतुष्टयभिन्न त्वेन आहार्य्यरूपतां परिशेषयन्नाह—**सम्यङ्मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणयेति**। तत्र साधारणसम्यग्ज्ञानद्वयाकारमाह—**राम एवाय-मिति** 'अत्र रामत्वायोगो नास्ति इति 'रामत्वायोगरहितोऽय'मिति वा प्रथम स्यार्थ (B)। 'एतदन्यो न राम'(C) इति 'एतदन्यसामान्यनिष्ठभेदप्रतियोगिरामा-भिन्नोऽय मिति वा द्वितीयस्यार्थ। एतद्द्वयमुपलक्षणम्, अयं राम इत्यनवधारणात्मकस्य सम्यग्ज्ञानस्यापि सम्भवात् ततोऽपि विलक्षण्य वाच्यम्। बाधानवतारदशायाम् अरामे रामत्वेन ज्ञानं मिथ्याज्ञानम्, तदाकारमाह—**रामोऽयमिति**, दृश्ये तु औत्तरकालिके बाधे भाविनि तत्परं रामोऽयमितीत्यर्थः। **संशया**कारमाह—**रामः स्याद्वेति**। सादृश्यप्रतीत्याकारमाह—**रामसदृशोऽयमिति**। आभ्य प्रतीतिभ्यो विलक्षणयेत्यर्थः।

(A) सुधारसस्य छटा तरङ्गपरम्परेत्यर्थः।

(B) अत्र रामपदसमुक्तस्यैवकारस्य अयोगव्यवच्छेदार्थकतया ईदृशोऽन्वयबोध इति ज्ञेयम्, तत्रापि असति बाधके प्रथमान्तपदार्थो मुख्यविशेष्यतया भासत इति नियमानुसारेण रामत्वायोग-रहितोऽयमिति द्वितीय कल्प। एवमुत्तरत्रापि।

(C) अत्रायम्पदसमुक्तस्यैवकारस्य अन्ययोगव्यवच्छेदोऽर्थ इति एतदन्यस्मिन् रामत्व योगाभाव इति द्वितीयस्य पर्य्यवसितार्थ।

मन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः संयोगाद् गम्यगमकभावरूपाद्

अनुमानात् सामाजिकानां विभावादिज्ञानोपायमाह—नटेनैवेति। काव्ये तु वास्तव एव रामे (A)शाब्दैर्विभावादिभिरित्यर्थः। नटेनापि प्रकाशनस्योपायमाह—शिक्षेति। गुरूपदेशः शिक्षा, पौनःपुन्येन प्रवृत्त्या दृढतरः संस्कारोऽभ्यासः, ताभ्यां निर्वर्त्तितस्य निष्पादितस्य स्वकार्यस्य अभिनयस्य प्रकटनेन प्रकाशनेन चेत्यर्थः। तत्प्रकाशनेऽभिनेयार्थज्ञापकं काव्यानुसन्धानमपि हेतुरित्यतस्तत्समुच्चयबोधकश्चकारः। अनुसन्धेयं काव्यद्वयमाह—सेयमिति दैवादहमिति च। तत्राद्यं सम्भोगशृङ्गारनाट्ये, द्वितीयं विप्रलम्भनाट्ये। तत्र आद्यार्थो यथा—अदर्शने या तत्तद्दुःखदत्तवती सेयं सीता मम रामस्य मनसः सकाशात् लोचनगोचरं गता प्राप्ता, गोचरमिति भावप्रधाननिर्देशाद् गोचरत्वमित्यर्थः। पूर्वं मनोगोचर एवासीदधुना तु लोचनस्यापि गोचरोऽभूदित्यर्थः। सा कीदृशी? बहुप्रवेशाङ्गेषु सुधारसस्य छटा कणावृष्टिः, तथा रुचो शोभनः पूरः समूहो यस्य तादृशस्य कर्पूरस्य शलाकिका स्वल्पशलाका तादृश्या शलाकया दृशि कर्पूरदानेन तृप्तिकारीणत्वात्, तथा दुष्प्रापविषयेच्छा मनोरथः तस्य विषयप्राप्तिरूपा श्रीः शरीरिणी। केचित्तु मनसो मनोरथश्रीरित्यन्वयमाहुः। अन्ये तु मनसः शरीरिणी मनोनिर्म्मितशरीरवतीत्यन्वयमाहुः, तद्द्वयमपि मनस इत्यस्य वैयर्थ्यापातादुपेक्षितम्। द्वितीयश्लोकार्थस्तु स्पष्ट एव। तत्र "तया" सीतया। अविरलो विलोलो जलदो यत्र तादृशः वर्षाकाल इत्यर्थः। इत्यादि—काव्यस्य नटेन यदनुसन्धानं तद्बलादित्यर्थः, अभिनेयार्थज्ञाने सत्येव अभिनयसम्भवात्। ननु कृत्रिमत्वेन सीतादिज्ञाने कथं तद्विषय[1]रामरत्यादिज्ञानमित्यत आह—कृत्रिमैरिति। यद्यपि कृत्रिमत्वज्ञानस्यानुभवसिद्धस्य दुरपह्नवत्वेन अनभिमानासम्भव एव तथाऽपि अकृत्रिमत्वेनाभिमन्यमानैरिति वचनव्यत्यासेनात्रान्वयः कृत्रिमत्वज्ञानसत्त्वेऽप्याहार्य्याकृत्रिमत्वज्ञानसम्भवात्। सूत्रे संयोगादित्यस्य मिलन(B) गम्यगमकभावश्चार्थः

(A) शाब्दैरिति। शब्देनोपस्थापितैरित्यर्थः शून्यं वासगृहमित्यादौ नायिकादीनां शब्दादेवोपस्थितेरिति बोध्यम्।

(B) मिलनमिति। अयम्भावः—विभावादीनां रसान्तरसाधारणतया व्यभिचारेण प्रत्येकं तेषां रत्याद्यनुमापकत्वं न सम्भवतीति मिलितानामेव तथात्वं वाच्यम्, तथा च व्याप्तिपर्य्यवसितान्यगम्यगमकभावस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तदुपस्थापकेन संयोगपदेन स्मारितस्य मिलनरूपार्थस्य विशेषणविधया विभावानुभावव्यभिचारिष्वपि अन्वये तात्पर्य्यमनुसन्धेयमिति।

1. '-रामादिरत्याद्यनुमान-' ग।

अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन संभाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामा-

इत्यभिप्रायेणाह—**गम्यगमकेति**। 'गम्यगमकभाव' व्याप्ति। तथाच अयं राम सीतादिविषय(क)रतिमान् सीतादिविभावादिमत्त्वादित्यनुमानम्(A); तद्विद्वत्तादिरत्र मतुवर्थ (?)। एवमनुमितस्य रत्यादेर्वासनया अन्यासत्त्या साक्षात्कारे (B) वक्ष्यादेरप्यनुमितस्य साक्षात्कारापत्तिं परिहरति—**वस्तुसौन्दर्येति**, तदेव च अन्यानुमीयमानवैलक्षण्यम्। बाधसिद्धसाधनपरिहारार्थं(C) पक्षतावच्छेदकमवशमस्य दर्शयति—**स्थायित्वेनेति** पक्षस्थायित्वेनेत्यर्थः। **तत्रेति** नटे सामाजिके(D) चेत्यर्थः। (E)असत इ-

(A) प्रदीपोद्योते तु रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् सीताद्यालम्बकविभावादिसम्बन्धित्वात् सीतादिविषयककटाक्षादिमत्त्वाद् वा यन्नैवं तन्नैवं यथाहमिति प्रयोगो दर्शितः। अत्र हेतुद्वयोपन्यासेन एतन्मते विभावादीनां प्रत्येकमनुमापकत्वमवगमीयते।

(B) साक्षात्कार इति, साक्षात्कारेण रमणीयत्वे इति फलितार्थः। एवमुत्तरत्रापि।

(C) परिहारार्थमिति। अयमत्र प्राचामभिप्रायः, पक्षे साध्यस्य तदभावस्य वा निश्चये अनुमितिर्न भवतीति सर्वेषामनुभवस्तत्कथमनुमितिं प्रति तदुभयस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनापेक्षया तदुभयाभावत्वद्व्यापकेन सम्भावितसाध्यकत्वस्य पक्षे साध्यसंशयस्य अनुमितौ कारणत्वं लाघवेन कल्पनीयं स एव च पक्षतेति।

(D) सामाजिक इति। एतेन रसप्रतिभूताया रत्यादिस्थायिनो नटसामाजिकयोरसत्त्वमुक्तमित्यवगन्तव्यं न तु रत्यादिस्थायिभावमात्रस्य, तेन सामाजिके रत्यादिवासनास्वीकारेण रतेरपि तत्र स्वीकार आवश्यक इति ग्रन्थविरोधो नाशङ्कनीयः।

(E) असत इति। असतः स्थायिनः विशिष्टेन रूपेण कविद्प्यनवस्थितमित्यर्थः, भ्रमविषय इति तु तत्त्वम्। नन्वसत्पदमत्र अलीकार्थं अलीकस्य ज्ञानासम्भवेन तद्धर्मिकेच्छायाश्चतज्ज्ञानस्याप्यसम्भवात् तद्गीनाया इच्छाया अपि अलीकविषयकत्वासम्भवेन तत्र तस्या दृष्टान्तत्वेनोपन्यासानौचित्यात्। विशिष्टरूपेणासत्त्वञ्च 'कनककदलीस्तम्भश्रेणीयोगेन्द्रनीलरचितक्रीडाशैल'वत् असत्विशिष्टरूपेच्छाविषयकत्वमत्रोपपद्यत एव। अस्मत्पक्षे तु यद्यपि स्वीयरतिवासनया परकीयरतेर्न सम्बन्धः परकीयरतिवासनायास्तु न सामाजिकवृत्तित्वमिति उद्बोधिताया अपि तस्याः परकीयरतौ साक्षात्सन्निकर्षत्वासम्भवो दोषस्तथाऽपि स्वविषयरतित्वादिना सम्बन्धोऽस्त्येव। तथाच स्मृतिपर्यवसिताया उद्बुद्धवासनाया सजातीयरत्यादिविषयीकरणं स्वभाव इति निर्गलितोऽर्थः। परकीयरते स्वसामानाधिकरण्येन ज्ञाने तत्र भ्रमविषयत्वनियमेन इच्छायाश्च अत्र दृष्टान्तत्वमपि साधु सङ्गच्छते इति सुधीभिर्विभावनीयम्।

जिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशङ्कुकः।

न(A) ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभि-

ऽप्यर्थस्य विषयीकरणमिच्छाया इव वासनाया अपि स्वभाव इति भावः। तथाच उक्तानुमानतुल्य[1]साक्षात्कार(B)विषयो रत्यादिरत्र मते रस [2]इति निष्कर्षः।

अस्मिन् श्रीशङ्कुकमते कारणान्तराधीनाया एव(C)वासनारूपप्रत्यासत्तेः स्वीकार,तस्या-

(A) तटस्थ उदासीन, प्रकृते रसप्रतीतेरनुकार्य्यरामादीनामनुकर्तृनटादीनां वा हस्तादिजननेऽनुपकारकतया रसस्तटस्थ, तद्भावस्ताटस्थ्यं तेन। नटरामादिवृत्तित्वेनेति तु फलितार्थः। न प्रतीयते इत्यादि। अस्य विवरणकारादिकृत व्याख्यानं बालबोधिन्या उद्धृयते— "न प्रतीयते नानुमीयते तदानीं रामादीनामभावेन तद्रत्यादेरप्यभावात्, असत सत्त्वेनानुमान-प्रमाणाविषयत्वात्; वस्तुतो रामगतया नटगतत्वेनानुमितयाऽपि रत्या सामाजिकेऽनया तच्चमत्-कारजननासम्भवाच्च। नोत्पद्यते न जन्यते विभावादीनां वास्तविकत्वाभावात्। नाभिव्यज्यते न व्यञ्जनया उपस्थाप्यते सिद्धस्यैव तत्सम्भवादिति"। इति विवरणम्। "अभिधात इत्युप-लक्षणम्, लक्षणात इत्यपि बोध्यम्।" इति सारबोधिनी। द्वितीयेन अन्वेत। विभावादीति, मम्मसम्बन्धित्वेनासाधारणस्य विभावादेः स्थायिनश्च व्यक्तिविशेषासपरिहारेणोपस्थापनं साधारणी-करणम्, तदात्मना। "भाव्यमानः साधारणीक्रियमाणः। सत्त्वोद्रेकेत्यादि, सत्त्व गुणस्योद्रेकेण रजस्तमसी अभिभूयाविर्भावेण व प्रकाश, स भुवानन्दात्मिका संवित् ज्ञानम्, तस्य विश्रान्ति ज्ञेयान्तरसम्पर्कराहित्येनावस्थानम्" इति विवरणम्। नोत्पद्यत इति। अत्र सामाजिकप्रतीति-विषयताऽवच्छिन्नरत्यादिरत्यादौ रस इति सिद्धान्ते विशेषणीभूताया प्रतीतेः कारणं सामाजिका, विशेष्यीभूताया रतेः कारणञ्च रामादिरिति विशिष्टस्य कारणत्वं न कुत्रापि सम्भवतीति कारणासम्भव एव रसानुत्पत्तिबीजमनुसन्धेयम्।

(B) साक्षात्कार इति। प्रदीपकारास्तु श्रीशङ्कुकमते रत्यादेरनुमानातिरिक्त साक्षात्कार नाभ्युपगच्छन्ति। तथाहि "सैव चानुमिति सचमत्कारप्रतीतिरूपा चर्वणा, अतस्तया विषयी-क्रियमाण स्थायी रस इत्युच्यते। चर्वणा च सामाजिकानामिति तेष्वेव रस इति व्यवहार" इति। अत एव तैरत्र मते दूषणमप्युक्तम्—"एतदप्यहृद्यमाहि यत प्रत्यक्षमेव ज्ञानं सचमत्कार नानुमित्यादिरिति लोकप्रसिद्धिमवधूयान्यथा कल्पने मानाभाव; सूत्रस्यान्यथैव योजन-सम्भवात्" इति।

(C) वासनारूपप्रत्यासत्ते स्वीकार इति। अत्र वासना यदि ज्ञानविशेषस्तदा तस्या ज्ञानलक्षणसन्निकर्षत्वं निर्विवादम्, रत्यादिविशिष्टे सामाजिके तस्या स्थितेरावश्यकत्वेन

1 '-नुमाकार-'-न। 2 'इत्येतावत्-' ख, 'इति मतस्थामा' ग।

व्यज्यते(A), अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः

ध्यानुमानादुद्बोध इति गौरव(B) परिहरता भट्टनायकस्य मतमाह—न ताटस्थ्येनेति। अत्र मते भावकत्वाख्य एको व्यापार सामाजिके काव्येन नाट्येन च जन्यते, तत्र च प्रत्यासत्त्या रामादिरत्यादिसाक्षात्कार इति निष्कर्ष। भट्टलोल्लटमते परकीयस्य रत्यादेर्व्यञ्जनया बोध तत्र च स्वावृत्तित्वभानमर्थसिद्धम्, तन्निरस्यति न ताटस्थ्येनेति न स्वावृत्तित्वेनेत्यर्थ। एवञ्च 'स्ववृत्तित्वपर्यवसानमपि निरस्यति—नात्मगतत्वेनेति, रसाऽत्र रत्यादि प्रतीतस्यैव रसत्वात्। रामादिरत्यादौ स्वीयत्वमस्वीयत्वञ्च न गृह्यत(C) इत्यर्थं। काव्यनाट्यज्ञान विनैव सीतादौ रामादिरत्याद्युत्पत्तेः प्रत्याह (B) नोत्पद्यत इति काव्यनाट्याभ्यां नोत्पद्यते इत्यर्थ, ताभ्यामेव

तदुत्पत्तिकल्पनागौरवमपि नास्ति, तस्या भावनाख्यसंस्काररूपत्वे च अनुमानादुद्बोधे सति स्मृतिरवश्यमङ्गीकार्या, एवञ्च तत्पक्षेऽपि स एव दोष इति किमनेन सन्दर्भेण पदार्थान्तरकल्पना, तस्या प्रत्यासत्तित्वञ्चेत्यनयोर्द्वयोरेकतरस्यैव वा कल्प्य दोष प्रदर्शित इत्यनुसन्धेयम्।

(A) नाभिव्यज्यत इति अयमभिप्राय—अद्वैतवादिमते प्रातिभासिकसत्ताविशिष्टानां घट-शुक्तिरजतादीनां ज्ञानागोचरावस्थयाऽवस्थानं यथा नाङ्गीक्रियते तथा प्रतीयमानतादशायामेव रत्यादीनां रसत्वमङ्गीकुर्वद्भिरालङ्कारिकैरपि रसानां ज्ञानागोचरावस्थया सत्त्वं नाङ्गीक्रियते। व्यङ्ग्यत्वन्तु पूर्वं प्रसिद्धस्यैव वस्तुन—यथा अन्धकारे स्थितो घटादि प्रदीपेन व्यज्यते इति। एवञ्च अज्ञातावस्थया सत्त्वरूपस्य व्यङ्ग्यत्वनियतधर्मस्याभावाद् रसस्य व्यङ्ग्यत्वमपि नोपपद्यते इति। एतावताऽपि भट्टनायकमतस्य भट्टलोल्लटमताद्वैलक्षण्यं बोध्यम्।

(B) गौरवमिति। इन्द्रियसन्निकर्षणम्, परोक्षज्ञानस्याहार्यत्वानभ्युपगमे नटे रामत्वबाधनिश्चयसत्त्वेन अयं राम इति भ्रमे रामत्वावगाहिनी अनुमितिरेव न सम्भवतीत्यपि दोषो द्रष्टव्य।

(C) न गृह्यत इति। अयम्भाव—भट्टलोल्लटमते राम सीताविषयकरतिमानित्याकारको दाशरथिविशेष्यको रसानुभव, श्रीशङ्कुकमते च अयं सीताविषयकरतिमानित्याकारको नटविशेष्यक, उक्तमतद्वये परगताया रते सामाजिकवृत्तित्वाभावेन अरस्यत्वापातो दोष, रसानुभवस्यानुमितिरूपत्वे चमत्कारित्वानुपपत्तिश्च साक्षात्कारस्यैव चमत्कारित्वानुभवात्। उक्तदोषेण रत्यादि सामाजिकवृत्तितयैव रसानुभवविषय इत्युक्तौ सभ्यानां व्रीडाऽऽतङ्काद्यापात इति रसानुभवे स्थायि-

---

१ 'स्वाऽऽत्मत्वरूपीदासीनेनेत्यर्थम् न स्वार्थपरत्वेनेत्यर्थः' ग। २ 'स्ववृत्तित्वज्ञानपर्यवसान-' ख।

स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन (A)**भुज्यते इति भट्टनायकः**(B) ।

तदुत्पत्तिरिति भ्रमनिरासार्थमिदमुक्तम्, न तु तदुत्पत्तिरेव नास्तीत्यर्थे प्रमाणसिद्धायास्तदुत्पत्तेर्दुरपह्नवत्वात् । भट्टलोल्लटमतोक्तं तस्याभिव्यङ्ग्यत्वमपि निरस्यति—**नाभिव्यज्यत** इति । तर्हि त्वया कीदृगुच्यते इत्यत्राह—**अपि तु** इति । काव्ये नाट्ये च ज्ञाते सति पुरुषे जायमानेन भावकत्वाख्यव्यापारेण **भाव्यमानः** सन्निधाप्य-

---

मात्रमात्रं विषयो न तु तदात्मकतया, अनुकार्यानुकर्तृ सभ्येषु कश्चिदपि । एतेन पूर्वोक्तमतद्वयापेक्षया भट्टनायकमते विशेषः स्फुट एवेति ।

(A) भोगेनेति । अस्य भोजकत्वव्यापारेणेत्यर्थः, तादृशव्यापारस्वीकारप्रयोजनन्तु भावकत्वांशावरणभङ्गो विषयान्तरतिरस्कारश्च । व्यक्तीभविष्यति चेदमुपरिष्टात् । एवं भुज्यत इत्यत्र भोगः सत्त्वोद्रेकात् प्रकाशमानानन्दस्वरूपः स्थायिभावविभावाद्यतिरिक्तालम्बनशून्या लौकिकसुखानुभवविलक्षणा संविदिति प्रदीपोद्द्योतयोः स्पष्टम् ।

(B) भट्टनायक इति । प्रदीपकारास्तु—आद्ययोः पक्षयोः सदोषत्वेन भट्टनायकमतेन 'विभावादिभिः संयोगाद् भोज्यभोजकभावसम्बन्धाद् रसस्य निष्पत्तिर्भुक्ति' रिति भरतसूत्रं व्याख्याय 'न च भोगपक्षेऽपि दोषावकाशः भोगस्यालौकिकत्वात्, तथाऽप्यन्यनिष्ठः स्थायी अन्यनिष्ठैश्च विभावादिभिः कथमन्येन भोज्य, अतिप्रसङ्गादिति चेत उच्यते,—शब्दात्मनः काव्यस्य त्रयो व्यापाराः—अभिधा भावकत्वं भोजकत्वञ्च । तत्राभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधा । भावकत्वं साधारणीकरणम्, तेन हि व्यापारेण विभावादयः स्थायी च साधारणीक्रियन्ते । साधारणीकरणञ्चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः, स्थाय्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन । अन्त्यं व्यापारद्वयं नाट्येऽपि । एवं काव्ये नाट्ये च द्वितीयव्यापारेण साधारणीकृतैर्विभावादिभिस्तृतीयव्यापारसाहित्येन तथाकृत एव स्थायी भुज्यते इति तन्मतं च विवृत्य तत्र 'तदपि न सम्यक्, एतादृशव्यापारद्वयकल्पने प्रमाणाभावात्, भुक्तेर्ज्ञानातिरिक्तत्वानुभवबाधितत्वेन निर्णीयमानस्य चास्य अभिव्यक्तिपक्ष एव पर्यवसानादिति दोषं ब्रुवन्ति । तत्रेदं चिन्त्यते, 'विभावनादिव्यापारवत्त्वा'दित्यनेन प्राप्तो विभावादिसाधारणीकरणार्थं व्यापारविशेष सिद्धान्तपक्षेऽप्यावश्यक इति भट्टनायकमते भावकत्वव्यापारकल्पनाया निष्प्रमाणकत्वकथनमसङ्गतमिति । रसगङ्गाधरकारास्तु—एतन्मतानुयायिन्यश्च "मतत्रैतस्य पूर्वस्मात्मतात् (आचार्याभिनवगुप्तपादमताच्) भावकत्वव्यापारान्तरस्वीकार एव विशेषः ; भोगस्तु व्यक्तिर्भोगकृत्त्वन्तु व्यञ्जनादविशिष्ट"मिति ब्रुवन्ति ।

यत्तु—यथा वेदान्तमते अविद्याया विक्षेपावरणरूपं शक्तिद्वयम्, एवम् एतन्मतेऽपि विभावादीनां

मान'(A) सन् रत्यादि 'भोगेन' साक्षात्कारेण 'भुज्यते' विषयीक्रियते इत्यर्थः। ईदृशश्च साक्षात्कारः स्वप्रकाशानन्दमयो विषयविशिष्टः सत्त्वेन स्वरस इत्यग्रे स्फुटी-भविष्यति। रत्यादिः कीदृशः? 'स्थायी' काव्यनाट्ये विनापि रामादौ स्थीयमान स्थायिपरिभावितो वा। भावकत्वव्यापारेण कीदृशेन? 'अभिधातो(B) द्वितीयेन', विधिवाक्यस्थलिङ्जन्य (C)पुरुषनिष्ठ [1]प्रवर्तकव्यापारोऽभिधा तत्तुल्यरूपेण। वाक्यजन्यत्वेन पुरुषनिष्ठत्वेन च तत्तुल्यरूपता। तदुक्तम्—

भावकत्वं भोजकत्वञ्चेति व्यापारद्वयम्, तयोराद्येन चिरनष्टा अपि सीताद्यालम्बनकारणादि-रत्यादयो ध्वस्तनुन्यायेन सामाजिकानामन्तःकरणे पुनराविर्भाव्यन्ते, तन्मतकार्यकारणादिका मते कारणे सूक्ष्मरूपेणावस्थानस्यैव नाशपदार्थतया नष्टानां पुनरुद्भवो नानुपपन्नः, तासामेव रत्यादि-व्यक्तीनां पुनरुद्भवासम्भवेऽपि तदीयत्वस्यागतविशेषाधीना सामाजिकानां स्वनायिकादि-विषयरत्यादिविलक्षणा रत्यादयस्तेषामन्तःकरणे आविर्भवन्तीत्यभ्युपगन्तव्यं तत्रैव च भावकत्व-व्यापारस्य सामर्थ्यम्। रत्यादीनां चित्तवृत्तिविशेषाणां साक्षिभास्यत्वेऽपि साक्षात्कारस्य कुड्यादि-देशगतनिकलितमहत्वकिरणस्पर्शकैरेव भोजकत्वव्यापारेण कृतावरणविशेषभङ्गेन इतरेतर-साक्षात्कारविलक्षण उज्ज्वल प्रकाशो भवतीति भोजकत्वव्यापारोऽपि सफलः। एवञ्च एतन्मते रत्यादीनां परगतत्वे अरस्यतापातः स्वगतत्वे सीतादिगम्यविरित्यादि दूषणं निरवकाशम्। वृत्ति-गतश्च विश्रान्तिमतरङ्गेनेत्यन्ताम् अभेदेन सुखाद्यर्थे अन्वियं वेदितव्यम्। मीमांसाशास्त्र-प्रसिद्धभावनार्थकाभिधादि-साम्निध्याद भाव्यमान इत्यत्र उत्पाद्यमान इत्यर्थपरिगृहीत्यौचित्येऽपि प्रकृते तदसम्भवाद उत्पत्तिपदार्थस्यैव मतान्तरे आविर्भावरूपतया यथाश्रुतार्थोऽपि कथञ्चिद् गृहीतो भवतीति भट्टनायकमतं तत्कृतग्रन्थानवलोकनविमूढधियो वृत्तिव्यपदेशकारणा सुधिया-मालोचनार्थमुपन्यस्याम।

(A) सन्निधाप्यमान इति। भाव्यमान इत्यस्य मीमांसकमतानुसारेणोत्पाद्यमान इत्यर्थकत्वे तन्नीतौ नष्टस्य रामादिरत्यादेरुत्पत्त्यसम्भवादाह इत्यतो व्याचष्टे—सन्निधाप्यमान इति, सन्निकृष्ट क्रियमाण इति तदर्थः। एतेन परकीयरत्यादेः सामाजिकैः साक्षात्कारे हेतुरुक्तः।

(B) अभिधात इति। अत्राभिधापदं बालबोधिनीकारमते शक्तिलक्षणोभयपरमिति 'अभिधात इत्युपलक्षणम्, लक्षणात इत्यपि बोध्य' मिति बालबोधिनीग्रन्थसन्दर्भेण स्पष्टमवगम्यते। "तत्राऽभिधा निरन्तरसान्तरार्थनिष्ठत्वेन द्विधे" त्युक्तत्वात् प्रदीपकाराणामपि स एव पक्ष इति प्रतिभाति।

(C) पुरुषनिष्ठ इति लौकिकवाक्याभिप्रायेण, लिङादिघटितवाक्यप्रयोक्तृपुरुषनिष्ठेत्यर्थः। अपौरुषेयवेदवाक्यस्थले तु लिङ्निष्ठेति विशेषः। केचित्तु सर्वत्रैव शब्दभावनां लिङ्निष्ठां वदन्ति। अनुपदं व्यक्तीभविष्यति चैतत् सर्वम्।

---

1 'परभवर्तक-' क।

(A) लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्या पुरुषप्रवृत्तिः ।
सम्बन्धबोधः करणं तदीयं प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥ इति ।

लिङ्जन्या अभिधेत्यर्थः । पुरुषप्रवृत्तिस्तस्या भाव्या जन्येत्यर्थः । मिश्रेण तु लिङ्-निष्ठैव अभिधेति व्याख्यातम्, तच्च नैषां सम्मतम् । पुनः कीदृशेन भावकत्व-व्यापारेण ? 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना' रामादिसम्बन्धिनां सीतादिविभावादीनां सामाजिकरामाद्युभयसम्बन्धित्वरूपं (B) साधारण्यं (C) 'दर्शयता, सीता रामस्य मम चेत्याहार्यज्ञानं सामाजिकानां जनयतेत्यर्थः' । भावकत्वव्यापारस्य इदमधिकं सामर्थ्यमनेनोक्तम् । तदुक्तं दर्पणेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न जायते ॥ इति ।

(A) लिङ इति । प्रपञ्चितोऽयमर्थोऽर्थसंग्रहे लौगाक्षिभास्करेण—"भावना नाम भवितु-र्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः । सा द्विधा—शाब्दी भावना आर्थी भावना चेति । तत्र पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना । सा च लिङंशेनोच्यते, लिङ्श्रवणे अयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारवान् (वा अयम्) इति नियमेन प्रतीतेः । यत् यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत् तस्य वाच्यम्, यथा—गामानयेत्यस्मिन् वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम् । स च व्यापारो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोऽभिप्रायविशेषः, वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावा-ल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव । अत एव शाब्दी भावनेति व्यवह्रियते । सा च भावना अंशत्रय-मपेक्षते—साध्यम्, साधनम्, इतिकर्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति । तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति, एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः, संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेऽप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः । साधना-काङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति । तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन तत्पूर्वमपि सत्त्वात् शब्दे सत्त्वात्, किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन, शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा । इति-कर्तव्यताऽऽकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति" इति ।

(B) उभयसम्बन्धित्वरूपमिति । पूर्वत्र 'रामादिरित्यादौ स्वीयत्वमन्यीयत्वं च न गृह्यते' इत्युक्तम्, अत्र तु स्थायिभावभिन्नानां विभावादीनामेव उभयसम्बन्धितया ज्ञानमित्युक्त-मतो न विरोधः । प्रदीपकारादिसम्मतं साधारण्यन्तु भट्टनायक इति वृत्तिप्रन्यटिप्पन्या व्यक्ती-कृतम् ।

(C) दर्शयतेति । अत परमादर्शपुस्तके दृश्यमान 'इत्यर्थः' इत्यंशो लेखकप्रमादेनापतित इति परित्यक्तः ।

---

1 'सामाजिकेभ्य इत्यर्तेनायं' ख, 'सामाजिकेष्वाहार्यं दर्शयतेतायं' ग ।

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमानेऽभ्यासपाटववतां (A)काव्ये नाट्ये च तैरेव [1]कारणादिभिः[1]* कारणत्वादिपरिहारेण(B)विभावनादि-

---

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थः तदेवोभयसाधारण्यपर्यवसानात्। भोगेन कीदृशेन ? 'सत्त्वस्य' सत्त्वगुणस्य 'उद्रेकेण' गुणान्तरतिरोधायकाविर्भावेण या 'प्रकाशानन्दमयी' स्वप्रकाशानन्दरूपा 'संवित्' ज्ञानं तस्याः 'विश्रान्तिः' सत्ता वृत्त्यभिहितभावत्वेन विश्रान्ता वर्तमाना संविदित्यर्थः, 'सतत्त्वेन' तत्स्वरूपेण। तत्त्वसतत्त्वयोः पर्यायो यथा—

'पेशलमपि खलवचनं दहतितरां मानसं सतत्त्वविदाम्'।

इति विरोधालङ्कारोदाहरणे, तत्त्वविदामित्यर्थः।

अनया श्रीशङ्कुकभट्टनायकमतयोः रत्यादिसाक्षात्कारार्थमलौकिकान्त्यप्रत्यासत्ति-

---

(A) काव्ये नाट्ये चेति। अयम्भावः—प्रमदास्तम्भोद्यानादीनां वस्तुतः स्वरूपसतां न विभावादिशब्दव्यपदेश्यत्वं न वा विभावनादिव्यापारवत्त्वम्, किन्तु कविवाक्यजन्यशाब्दबोधविषयताऽऽपन्नानामेव, तथाच तादृशप्रमदादिज्ञानानामेव विभावनादिव्यापारः स्वविषयप्रमदादिव्यापारत्वेनोक्तः चिरनष्टानां सीतादीनां तदसम्भवात्, अन्यथा स्वरूपसतां तेषां प्रत्यक्षतो दृष्टानां वा तत्तद्व्यापारव्यपदेशौ प्रसज्येते। नाट्य इत्यनेन च शब्दसम्पर्कशून्यचलचित्र(बायस्कोप)दर्शनविषयाणामपि तेषां तादृशव्यापारव्यपदेशयोः सम्भवः प्रतिपादितः, तेन अभिनयस्थले कविवाक्यानामावश्यकत्वेन पृथक्तया नाट्यपदोपादानमफलमित्याशङ्काया नावसरः। अत एव तत्तत्काव्यलक्षणेषु रसव्यञ्जकत्वस्याभ्युपगमेऽपि सम्भवातिव्याप्तिवारकतया शब्दपदोपादानमपि सार्थकमिति।

(B) विभावनादीत्यादि। "विभावनादिव्यापारः साधारणीकरणम्, तच्च सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः स्थाय्यनुभावादीनाञ्च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धिविशेषस्वीकारनियमस्य, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धिविशेषपरिहारनियमस्य चाग्रहणात्मना साधारण्येन प्रतीतेः। साधारण्येन प्रतीतिश्च न सर्वसम्बन्धितया प्रतीतिः, किन्तु सम्बन्धिविशेषीयत्वेनाप्रतीतौ प्रतीतिः। यद्वा अमुकस्यैवैते इत्यवधारणं विना अमुकस्येत्यत्र प्रतीतिः। अत एवोक्तम्—'ममैवैते' इति नियमानवसायादिति। तथाच स्वीयत्वासंसर्गाग्रहात् स्वीयत्वसंसर्गग्रहप्रयोजनं सम्पद्यते" इति प्रदीपे स्पष्टम्।

साधारणीकरणस्य विभावनादिशब्दव्यपदेश्यत्वे व्युत्पत्तिश्च सीतादेः स्वभिन्नप्रमाऽभिन्नत्व-

---

1 चिह्नितांशो मुद्रितपुस्तकेषु न दृश्यते।

व्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्य्यैः(A)ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मनया स्थितः स्थायी [1]रत्यादिः

कल्पनागौरवं(B) परिहरतोऽभिनवगुप्ताचार्य्यस्य मतं स्वाभिमतमाह—लोके इति। अत्र मते प्रथमं काव्यतो नाट्यतो वा विभावादिज्ञाने सति रामोऽहं सीताविषयरतिमानित्याकारकः स्वस्मिन् सीतादिविषयरतिमद्रामाभेदारोप आहार्य्यो व्यञ्जनया जायते, स च[2] स्वस्मिन् रामादिरतिमत्तां साक्षात् नावगाहते, किन्तु स्वनिष्ठे वासनाख्यगुणविशेषे तदीय वासनात्वमित्यन्त्यश्चागृह्णानस्तत्र [3]रामरतित्वारोपरूप एव

रूपेण विशेषेण भाव्यन्तेऽनेनेति विभावनम्, एवं सीतादीनां कामिनीत्वादिरूपेणोपस्थिते पश्चात् भ्रूक्षेपादय स्वात्मवृत्तितया भाव्यन्तेऽनेनेति अनुभावनम्, एवं स्वौत्सुक्यत्वाद्यनुकूलतारूपेण विशेषेण अभितश्चार्य्यन्तेऽनेनेति व्यभिचारणमिति। एतादृशेन साधारणीकरणेन रामादिरत्याद्यभिन्नत्वेन गृहीता स्वप्रेयसीविषयकसामाजिकरत्यादय एव स्वप्रकाशानन्दरूपा रसपदवीमधिगच्छन्तीति सिद्धान्तपक्षस्य निष्कर्षः। एतादृशाभेदग्रहश्च मिथ्याज्ञानस्य साधारणीकरणरूपेण दोषेणोत्पादित इति न भ्रमस्य दोषजन्यत्वनियमव्याघातः। रसानुभवस्य प्रमात्वन्तु तादृशाभेदग्रहं विनैव तेन केवलस्वीयरते साक्षात्कारो व्यावर्तये स्वाभिन्नत्वेनेश्वरोपासनया स्वात्मसाक्षात्कारवदित्यभ्युपगम्य सम्भवनीयमित्यलमधिकेन।

(A) ममैवैते इत्यादि। अत्रान्मवत्वेन सामाजिका परामृश्यन्ते। एवञ्च यदि सीतादिविभावादीनां स्वीयत्वे सामाजिकानां व्रीडाद्यापत्तिदोषस्तदा तत्परिहारार्थं ते सामाजिकानां शत्रुसम्बन्धिन इति वक्तव्यम्, तथाच शत्रुणा छन्नादयो न स्वसुखप्रतिबन्धकाः प्रत्युत तदुत्कर्षका एवेत्याह—शत्रोरेवैते इति। नन्वेवमपि शत्रुस्त्रीविषया मम रतिरित्यनुसन्धानेन सामाजिकानामधर्म्मभयापत्तिरतस्तदुभयपरिहारावश्यकत्वेन पारिशेष्यादाह—तटस्थस्येति। तथाच सर्व्व एव पक्ष सदोष। एवं न ममैव इत्यादिपक्षत्रयेऽपि दोषा ऊहनीया। तत्र प्रथमनिषेधो द्वितीयादिविधाने पर्य्यवस्यतीति विशेषः। कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितौ च स्वप्रेयस्यादिरूपेण भावनायां बाधकविरहान्न दोष इति विभावनीयम्।

(B) गौरवमिति, आलोचितमिदं प्राक् (१०४)।

---

1 'रत्यादिक' इति मुद्रितपाठ। 2 'चात्' पर क-पुस्तके 'तुल्यविशिष्टेऽन्यथा स्वस्मिन् रामादिरत्यादिमत्तामप्यवगाहते तथाऽपि रत्यावोऽधिक'। 3 'व्यधिकरणेन रामरतित्वादिना प्रकारेण वासनायां रामादिरत्यवगाहने रजतत्वेन प्रकारेण शुक्त्यां रजतवदित्यारोपो भ्रान्तौ इतिमयाभिमत' क।

स्वाश्रये सामाजिके रतित्वादिना व्यधिकरणेन प्रकारेण वासनात्मकतां रामादिनिष्ठां गृह्णाति चक्षुःसन्निकृष्टायां शुक्तौ तदीयं शुक्तित्वमित्यन्यत्राप्रगृह्णानो भूतले रजतत्वादित्यारोप इव[3]* तत्तस्तत्समानाकारः साक्षात्कार इति निष्कर्ष (A)। परञ्च व्यञ्जनया रत्याद्युपनयः संयुक्तसमवायेन च व्यधिकरणरतित्वादिप्रकारको (B)वासनासाक्षात्कारः आत्मविशेष्यक इति न प्रत्यासत्त्यन्तरकल्पनागौरव-मिति सिद्धान्ताभिप्रायः।

लोके इति, लोके संसारे प्रमदादिभिः [1]कारणादिभिः स्थायिनो रत्यादेरनु-माने येऽभ्यासपाटवसम्पन्नास्तेषां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः अर्थात् कश्चिद् गुणविशेषः स एव 'स्थायी' 'रत्यादिः' 'अभिव्यक्तः' रामादिरत्यादि-स्थायिभावाभिन्नत्वेन व्यञ्जनया [2]'प्रतिपादितः सन्'[2]* 'प्रमात्रा' [3]'दर्शिताकारप्रमया साधारण्येन(C) आचरीकृत सन् रस इत्यन्वयः। प्रमातृपदमत्र भावप्रधाननिर्देशात् प्रमातृत्वरूपप्रमापरं 'न पुनः' प्रमातृपुरुषपरम्, स्वाकारः इवाभिन्नोऽपीत्यत्रे स्वाभिन्नत्व-रूपरत्यादिविशेषणानुपपत्तेः पुरुषाभिन्नत्वाभावात् रत्यादेः, स्वाकारवादे(D)ज्ञानस्यैवाकारो

(A) निष्कर्ष इति। तथाच पूर्वोक्तमतेषु सामाजिके प्रतीतो रामादिरत्यादिरेव रसः, एतन्मते तु रामादिरत्याद्यभिन्नत्वेन गृहीतः सामाजिकवासनैव स इति मतानां परस्परविशेषः स्फुटः। प्रतीत्युपायगतविशेषस्तु टीकायामग्रे च व्यक्तीभविष्यति।

(B) वासनेति। अत्र वासना यदि भावनाख्यसंस्कारस्तदा तस्यातीन्द्रियत्वेन साक्षात्-कारानुपपत्तिरतः टीकाकृता इच्छाद्यन्यतमात्मधर्मरूपा रतिरिति स्वीकारात् तदीयधारावाहि-पातिन्यक्तिविशेषस्य तस्या एव वा वासनात्वमुक्तमित्यवधेयम्।

(C) साधारण्येनेति। अत्र यद् 'स्वाश्रममात्रां रामरत्यभेदारोपात्मकेन (क-पुस्तके तु रामरत्यादित्वारोपरूपेण) रामादिरत्यादिव्यवहाराभासाधारण्येन' इत्यत्र आदर्शपुस्तकेष्वधिको दृश्यते, स तु पुनरुक्तिभयेन लिपिकृत्प्रमादकृत इति बुद्ध्या परित्यक्तः।

(D) स्वाकारवाद इति। बौद्धविशेषा हि बाह्यं वस्तुजातमेकान्ततोऽनभ्युपगच्छन्तो घट-पटादिरूपा ज्ञानस्यैवाकारविशेषा ज्ञानेन विषयीक्रियन्त इति वदन्तीति ते स्वाकारवादिन-स्तन्मतञ्च स्वाकारवाद इत्युच्यते। तदुक्तं—'न हि वित्तिसत्तैव तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्रा-

1 'रत्यादिकारणादिभि' ख ग। 2 'प्रतीयमानतया आस्वाद्यमानः सन्' क। 3 रामोऽहमित्याकारा विषयतारतिमानिति व्यञ्जनाधीनसाक्षात्कारात्मकया साक्षात्कारकपया प्रमया' ख ग। 4 'प्रमातृत्वरूपधर्मपरं तु स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यत्रे रत्यादिविशेषणानामभिन्नत्वस्य गुणविशेषस्य विशेषणानुपपत्तेः स्यात् प्रमातृ-पुरुषाभिन्नत्वाभावात् वासनात्मकगुणविशेषस्य, प्रमातृभिन्नस्तु वासनावासनात्मको गुणविशेषस्तु सम्बन्धेन परिणामवादि-विषयत्वेन वासनारूपतया परिणामस्य सम्भवात्' ख ग।

विषय इति स्वीकारेण पुरुषपरत्वे तद्दृष्टान्तत्वानुपपत्तेश्च'*। तादृशज्ञानस्य प्रमात्वञ्च [1]धर्म्यंशे वासनांशे चेत्यवधेयम्[1]*। रत्यादिरभिव्यक्त इत्यनेन प्रथमं व्यञ्जनाधीन आरोप उक्त, स च अनुभवसिद्धो रत्युपनयार्थं स्वीकृत, अत एव विभावादिभिर्व्यञ्जित इत्यग्रे धक्ष्यति। [2]अत एव च असंलक्ष्य(क्रम)व्यङ्ग्यपरिभाषाऽपि व्यङ्ग्यत्वादेवोपपन्ना[2]*। प्रमात्रा गोचरीकृत इत्यनेन तु तस्य साक्षात्कारोऽपि दर्शित, स च आस्वादार्थं स्वीकृत, रामोऽहं सीताविषयरतिमानित्यादिस्तदाकारः। सामाजिकानामभ्यासपाटवकथनञ्च अतादृशानामृष्यशृङ्गादीनां रसानुद्बोधदर्शनात्। वासनात्मतया स्थितो गुणविशेष केन हेतुना [3]रत्यादिरूपतयाऽभिव्यक्त[3]* इत्यत आह— तैरेवेति रत्यादि[4]कारणादिभिः प्रमत्रादिभिरेव[4]* अभिव्यक्त इत्यर्थः। [5]सामाजिकानां रतिमभायकामेवारोप स्वस्मिन्निति दर्पणेऽप्युक्तम्। यथा[5]*—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृति।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोध साधारण्याभिमानत।
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति॥ इति

(सा० द० ३ प०)

यस्य हनूमत पाथोधिप्लवनादय(A) आसन् तस्याभेदेन प्रमाता स्वात्मानं प्रतिपद्यते।

विशेषात्, सा तु साम्यमाविशत् सम्यक् तत्र पश्येत्' इति। (ब्रह्मसूत्रम् —२अ० २पा० २६ "नासतोऽदृष्टत्वात्" सू० भाष्यभामती) तथा चात्र दार्ष्टान्तिकस्य वस्तुनः स्फुटीकरणार्थमेव प्रतिबिम्बस्य स्वाकारवादन्याश्रय, न्यायमते तु अनुव्यवसायन्यायेन ज्ञानस्यैव विषयविषयिभाव सम्भवस्येवेति ध्येयम्।

(A) अत्रैव व्याख्याने युद्धदानदयाधर्मोत्साहस्यैव वीररसत्वाङ्गीकरणात् ईदृशोत्साहस्य वीररसत्वासम्भवेन प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य टीकाकृता रामचरणतर्कवागीशेनान्यथैवेदं व्याख्यातम्, तत्र "स्वाश्रयं साधारणं नायकसामाजिकसम्बन्धिनं करोति उभयसम्बन्धित्वेन प्रतिपादयतीति साधारणीकृति, तत्प्रभावेण तज्जन्यसाधारण्याभिमानेन, यस्य रामस्य, पाथोधि-

---

1 'धर्म्यप्रमादावेव बोध्यम्' ख। 2 पाठोऽयं ख ग पुस्तकयोर्नास्ति। 3 'रत्यादिरभिव्यक्त' घ। 4 '-कारणादिभिरेव' ख, '-कारणविभावादिभिरेव' ग। 5 'न च कस्मिन् रतिमद्रामाद्यभेदारोपो प्रमातृदशा कथं व्याख्यायते इति वाच्यं सवासनाया रतिव्यारोपकत्वादेर्वाच्यत्वादनवोऽन्यविषयित्वलाभ, एवं परिमितप्रमातृभावविगलनवचनेनैवात्ता। तथा चोक्तं दर्पणेऽपि' इति क पाठ।

पुन इत्याह—व्यापारोऽस्तीत्यादि, [1]'साधारणीकृति' हनूमदादिनायकस्यामाजिकयोरभेद बोधात्मकसाधारण्यकारक, तत्प्रभावेणेत्यर्थ[1]* । तथा [2]'रत्याद्यभेदारोप स्वरामनाया-मित्यप्याह तत्रैव[2]* ।

साधारण्येन(A) रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते । इति

वासनावतामेव तदा[3] रत्याद्यारोपादास्वाद। [4]'भवतीत्यप्याह तत्रैव—

सवासनाना सभ्याना रसस्यास्वादनं भवेत् ।

निर्वासनास्तु रङ्गान्त काष्ठकुड्याश्मसंनिभा ॥ इति

कारणादिभिरित्यादिपदात् कार्य्यसहकारिणोरपि परिग्रह । ते कीदृशी ? काव्ये नाट्ये च 'कारणत्वादिपरिहारेण' कारणादिशब्दव्यपदेश्यत्वपरिहारेण 'अलौकिक विभावादिशब्दव्यवहार्य्यै', तादृशव्यवहारहेतु यथाक्रममाह—**विभावनादी**ति । आस्वादयोग्यतारूपेण विशेषेण भावन ज्ञापन विभावनम् पश्चादनुभावनम् अनुभव गोचरीकरणम् व्यभिचारणं सञ्चरूपेण विशेषेण अभितश्चारण ज्ञापनम्, इत्थ-व्यापारवत्त्वादित्यर्थ । एतत्प्रदर्शनञ्च स्वरूपकथनमात्र न तु रसात्पत्तावस्य उपयोगो ऽस्तीति मन्तव्यम् । पुन कीदृशी ? 'साधारण्येन प्रतीते' सीतादिविभावादय रामस्य मम चेत्येवमुभयसाधारण्येन आहार्य्यप्रतीतेरित्यर्थ । (B)तत्र साधारणी कृत्यात्मकव्यापारबलादिति(C) वाच्यम् तद्बलसाधारण्येन एतादृशसाधारण्य

ज्ञप्तावपि आन्ति रामगतादिविशेषग्रहणम्, प्रमाता सामाजिक तत्सदृश रामाभेदेन स्वात्मानं स्वम्' इति ।

(A) 'साधारण्येन' उभयसम्बन्धित्वेन सकलसामाजिकसम्बन्धित्वेनेति तु फलितार्थ । अस्य "स्ववामलोचनासाधारणिकण्येन" इत्यर्थं क-पुस्तके दृश्यते, स च टीकाया टिप्पणीति प्रतिभाति ।

(B) "तत्र" विभावादीनामुभयसाधारण्येनाहार्य्यप्रतीतत्त्वत्र इत्यर्थ, अत्र ख पुस्तक-पाठो गृहीत ।

(C) व्यापारबलादिति । अत्र पर क-ग-पुस्तकयो 'रामाश्रमकारणकत्व' इत्यादि दृश्यते स च पूर्ववाक्यस्यैव व्याख्यानरूपा टिप्पणीति प्रतिभाति रामाश्रमकारणकतया साधारणी करणान्तरस्य टीकाकृता ऽनुक्तत्वादिति ।

---

1 स धारणीकृति नाम विभ हनूमदादिनायकसामाजिकयोरभेदबोधात्मकत्, तत्प्रभावेन तादृश व्यापारस्य प्रभावेणेत्यर्थ । तत्र हनूमदादिनायकसुबोध सताम क । 2 'स्व वनिता रत्यादिरतिवारोप स्वकृतई व यथा' क । 3 'रतिवत पात्' क । 4 'भवतीत्याह' ख म ।

नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्काल-विगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषितवेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरि-

स्यापि सिद्धेः। दर्शितमिदं साधारण्यं परिशेषेण [1]पर्य्यापयति—**ममैवैते** इत्यादि। शत्रुपदम् आलम्बनविभावशत्रुभूतस्थायिभावाश्रयनायकपरम्, स च रौद्रवीरभयानक-[2]रस एव नायकरूप[2]* [3]क्रुद्धस्य नायकस्य क्रोधालम्बनविभावशत्रुत्वात्, जेतुर्नायक-वीरस्योत्साहालम्बनभूतजेतव्यशत्रुत्वात्, भीतस्य नायकस्य भयावलम्बनभूतभीषक-शत्रुत्वात्[3]*। [4]तटस्थपदन्तु [5]तादृशशत्रुन्योदासीनषड्रसीयषड्नायकपरम्[4-5]*। तथाच शत्रुतटस्थपदाभ्यां नवरसीयनवनायका(A) बोध्याः। ममैवेत्यत्र मत्पदं रसबोद्धृसामाजिकपरम्। तथाच पक्षे '[6]सीतादयो ममैवेति'* रामादिनायकस्यैवेति च यः सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण स्वीकारः, यश्च नैव ममेति नैव रामादिनायकस्येति सम्बन्धस्यावधारणरूपेण विशेषेण परिहारः, नियमेन तदुभयसायादित्यर्थः। एवञ्च उभयीयत्वरूपं साधारण्यं पर्य्यवस्यति। न ममैवेत्यत्र नैव मम इत्येवमेव-कारयोजनाभावे 'ममैव' 'न शत्रोरेव' इत्यनयोरेकार्थतापत्तिः स्यात्, पूर्वत्र एव-कारेण परत्र च नञा शत्रवीयत्वस्यैव व्यवच्छेदात्। ईदृशं साधारण्यं विभावादीना-मुक्तं दर्पणेऽपि—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न [7]जायते॥ इति

(सा० द० ३प,)

(A) नवनायका इति। इदमत्र चिन्तनीयम्, शृङ्गारवीररसादौ रत्युत्साहादिस्थायि-भावाश्रयस्य रामार्जुनादेर्लाभसम्भव, हास्यरसे तु हासस्यस्थायिभावस्याश्रयः सामाजिक एव, 'आकृष्य पाणिमशुचि'मित्यादौ विष्णुशर्मा तथा चिकित्सासकृद्धास्यचक्रभाषाकाव्यनिबद्ध-तारिणीसेनप्रभृतयस्तदालम्बनमेव, तेषां हासाश्रयत्वकल्पना तु कथञ्चिदपि न सम्भवति, तदाश्रयतया कवेरनुमन्तव्यान्तु असार्वत्रिकत्वादकिञ्चित्करमिति।

1 'दर्शयति' ख। 2 'रसीयनायकरूप' ख ग। 3 'क्रुद्धो हि क्रोधरूपस्थायिभावालम्बनस्य वध्यस्य शत्रुः, वीरोऽपि उत्साहरूपस्थायिभावालम्बनस्य जेतव्यस्य शत्रुः, भीतो हि भयजनकस्य भयरूपस्थायिभावा-लम्बनस्य शत्रुरिति' ख-ग। 4 'तटस्थपदस्यालम्बनविभावशत्रूदासीनस्थायिभावाश्रयनायकपरं स्यात् षड्रसीयनायकरूप' ख। 5 'तादृशशत्रुश्च उदासीन तटस्थ षट्' ग। 6 'विभावादयो ममैवेति' ग। 7 'विद्यते' इति मु-सा द० पाठ।

मितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणैकप्राणो विभावादिजीवितावधिः (A)पानकरसन्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव परिस्फुरन् हृदयमिव

परस्येत्यादौ सर्वत्र परस्यैवेत्यादिरर्थं प्रागेव व्याख्यात । अत एवात्र शत्रोरेवे[1]त्येवकारगर्भत्वम् । रामादिरित्यादित्वेनाभिव्यक्तो वासनारूपगुणविशेष कीदृश ? नियतप्रमाता सामाजिक तदङ्गतत्वेन स्थितोऽपि उक्तप्रमारूपेण "प्रमात्रा", "साधारण्येन" रामादि[2]रित्याद्यभेदारोपरूपेण साधारण्येन, "गोचरीकृत " । तादृशत्वेन गोचरीकरणे हेतुमाह—**साधारणोपायेति** । उभयसम्बन्धित्वेन [3]सीतादिज्ञान साधारणोपाय । व्यञ्जनाधीनज्ञानसमानाकारसाक्षात्कारप्रदर्शनमनेन कृतम् । तत्र च "साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते" इति सवादो दर्शित एव । उक्तप्रमारूपेण प्रमात्रा कीदृशेन ? तत्काले तादृशप्रमोत्पत्तिकाले प्रमातु स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपनवशाद् विगलित ज्ञानाविषयीभूत परिमितप्रमातृभावो रामाद्यभिन्नत्वेन 'स्वमात्रविषयीभावो यस्तद्वशेन अर्थात् तद्विगलनवशेन उन्मिषित आत वेद्यान्तरस्य [5]घटादे सम्पर्केण विषयीभावेन शून्य अपरिमितभाव रतिवासनासाधारण्यरूपापरिच्छिन्नभावो यस्य तादृशेन । स्वस्मिन् रामाद्यभेदारोपादेव स्ववासनाया रामादिरतित्वस्य रत्यभेदस्य वा आरोपात् तद्वत्त्वम् । अनेन स्वस्मिन् रामाद्यभेदस्य स्ववासनायां च रामादिरतित्वस्य रामादिरत्यभेदस्य वा आरोपो दर्शित । दैवात् कस्यचित् तादृशज्ञानोत्पत्तावपि न वस्तुसिद्धिरित्यत सकलसामाजिकानामेव तादृशज्ञानरूप सवाद दर्शयति—**सकलसहृदयेति** । एकत्र दृष्टस्यापरत्र दर्शन सवाद । तथाच तादृशसवादाद् वस्तुसिद्धि । वासनात्मतया स्थिता गुणविशेष पुन कीदृश ? प्रदर्शिताकारकस्वज्ञानादभिन्नोऽपि तादृशज्ञानेन गोचरीकृत । ज्ञानविषययोरभेदकथनमत्र परिणामवादाभिप्रायेण इत्युक्तमेव । तत्रैव स्वाकारवादेन दृष्टान्तमाह—**स्वाकार इवेति**, विषयो ज्ञानादभिन्न ज्ञानस्यैवाकार इति तन्मिद्धान्तात्, तद्वदित्यर्थ ।

(A) पानकेति । 'सरवन्' इति भाषा । तल्लक्षणन्तु—अम्लिकाया फल पक्व मर्दित वारिणा दृढम् । शर्करामरिचैर्मिश्र लवङ्गेन्दुसुवासितम् ॥ अम्लिकाफलसम्भूत पानक वातनाशनम् । पित्तश्लेष्मकर किञ्चित् सहृद्य वह्निबोधनम् ॥ इति (भावप्रकाश, पूर्वखण्डे द्वितीयभाग)

---

1 '-नैवकार एव' ग । 2 'रत स्ववासनाऽभेदा-' ग । 3 'सीतादेरपि हार्दिज्ञान' क ख । 4 'प्रमाद-' ख । 5 'घटादे' इति ग-पुस्तके नैव दृश्यते ।

प्रविशन् सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिक(A)चमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः ।

एवंविधरसतापन्नो वासनात्मकगुणविशेषः पुनः कीदृशः ? **चर्व्यमाणतैकप्राणः ;** प्राणो हि रसता, चर्व्यमाणता च साक्षात्क्रियमाणता तद्दशायामेव रसतापन्न इत्यर्थः । अन्यदा तु [1]रत्यादिभिन्न(B)वासनारूप[1]ः इत्यर्थः । शाब्दं विभावादिज्ञानं यावत्तिष्ठति अनुभवसिद्धं तावदेव तत्तिष्ठतीत्याह—**विभावादी**ति, विभावादिज्ञानजीविताऽवधिरित्यर्थः[2] । उक्तप्रमाया ये सीतारामतद्रतिस्वत्वाम्मनादयो विषयास्ते सर्व एव रसतापन्ना चर्व्यमाणा भवन्तीत्याह—**पानके**ति, मरीचकर्पूरादिचूर्णमिश्रिता आमिक्षा पानकम्, तदीयस्य नानाद्रव्यीयरसस्य चर्व्यमाणतादशायां यथा एकत्वाभिमान तथा नानाविषयैतच्चर्वणायामप्येकत्वाभिमान इत्यर्थः । तत्कारणीभूतज्ञानविषयस्य विभावादेरपि चर्वणागोचरत्वमाह दर्पणेऽपि—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः सम्वलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ॥ इति ।
(सा. द., ३ प)

एवं प्रपाणकलक्षणमपि तत्रैव—आम्रमाम्लं जले न्यस्तं मर्दितं रक्तपाणिना । सितादीसाम्बुमपुष्कं कर्पूरमरिचान्वितम् ॥ प्रपाणकमिदं श्रेष्ठं भीमसेनेन निर्म्मितम् । सद्यो रुचिकरं बल्यं शीघ्रमिन्द्रियतर्पणम् ॥ अन्यानि च पानकलक्षणानि तत्र द्रष्टव्यानि । आमिक्षाघटितलक्षणन्तु अन्यत्र सम्भवति भवेत्यनुसन्धेयम् । रसानुभवे मुनिस्तु दृष्टान्तविधया नाट्यशास्त्रे —'यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिर्भवति । यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनौषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ती'त्याह । 'षाडवादय इति लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो मिश्रेभ्यश्च विलक्षणः षाडवशब्दवाच्यः' इत्याचार्याभिनवगुप्तपादकृता व्याख्या ।

(A) चमत्कार इति चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्याय इति साहित्यदर्पणकृत ।

(B) रत्यादिभिन्नेति । अयं भावः, साक्षात्कारो हि रामादिरतिस्वद्वासनयोरभेदारोपनिबन्धनः, तथाच तादृशाभेदारोपाभावे साक्षात्कारस्याप्यभाव इति तदानीं रतौ रामादिनिष्ठैव वासना च सामाजिकनिष्ठेति व्यवहृभेदे रतिवासने इति ।

---

1 'रत्यादिभिन्नो वासनारूप एव, रत्यादिरपि रत्यादिरूप एव' क, 'भरता॰दि रत्यादिभिन्नवासनारूप' ग । 2 अत परं कनुभवे 'तथाच विभावादिज्ञानमनेकचर्वणस्यीनुगतम्' इत्यधिको ग्रन्थः परिदृश्यते ।

(A)स च न कार्यः, विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्यः, सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। अपि तु विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्,

---

पुर इत्यादिपद्यक स्पष्टम्। 'चमत्कार' साक्षात्काररूप आस्वादः। [1]तदभिन्नस्य तस्य तत्कारित्वं परिणामवादाभिप्रायेण बोध्यम्, रसतानापन्नदशोयस्य तत्कारित्वात्[1]*। [2]इत्यमुक्तसाक्षात्कारविषयस्यापि वासनादेः साक्षात्काराभिन्नत्वे स्वाकार इवाभिन्नोऽपीत्यनेन प्रकाशिते ज्ञानजन्यज्ञानरूपात्* कार्यज्ञानान्तरात्[3]तस्य वैलक्षण्येनापाततः कार्यत्वाभावमेव साधयति—**स च न कार्य** इति। यदि ज्ञानोत्तरज्ञानरूपत्वे सति असौ कार्यं स्यात् तदा स्वपूर्ववर्तिज्ञाननाशक्षणेऽपि स्थितिमान् स्यात् ज्ञानात्तरज्ञानान्तरवदित्याह—**विभावादी**ति, विभावादिज्ञाननाशक्षणेऽपीत्यर्थः। 'सम्भव' स्थितिः। न चानिष्टापत्तिरिति वाच्यम्, अनुभवबलेन विभावादिज्ञानरसयोरेकदैव नाशस्य विभावादिजीवितावधिरित्यनेन उक्तत्वात्, अतोऽसौ न ज्ञानान्तरवैलक्षण्येन अकार्य एवेत्यापाततः एवोक्तम्। अग्रे तु तस्य कार्यत्वमपि गुरुपक्षे स्वीकरिष्यत्येव। तथा तस्य वैलक्षण्यमेवेति साधयितुं ज्ञाप्याद्विषयान्तराद् वैलक्षण्येनाज्ञाप्यत्वमपि आपाततः एव साधयति—**नापी**ति। **सिद्धस्ये**ति पद्यविषयज्ञानदशायामपि "सिद्धस्य" स्थितस्य तस्याभावादित्यर्थः। स्वज्ञानात् पूर्वं तस्य रसस्वरूपत्वाभावस्य वक्ष्यमाणतिकृमाण इत्यनेनैव उक्तत्वात् तदेव पुनः स्मारयति—**अपि त्वि**ति। चर्वणीय इत्यत्र सन् रस इति पूरणीयम्। तथाच चर्वणीयः सन्नेव रसः '[4]अन्यदा तु वासनारत्यादिरूप एव न तु रस इत्यर्थः'*। नन्वेवं तस्याकार्यत्वेऽज्ञाप्यतया अज्ञेयत्वे च विभावादिरपि तस्य न कारको न वा ज्ञापक [5]इत्यायातम्, तथाच 'व्यक्तः स तैरि'त्यादिना कथं तज्ज्ञापकत्वमुक्तम्, कथं वा विभावानुभावेत्यादिभरतसूत्रेण विभावादीनां तन्निष्पादकत्वमुक्तमित्याशङ्कते—**कारके**ति। दर्शितरीत्या अन्यसाधारणे एव तस्य कार्यत्वज्ञेयत्वे न स्तः,

---

(A) *रसस्य कार्यत्वाभावे ज्ञाप्यत्वाभावे च हेतु प्रदीपे प्रदर्शित विस्तारभयात्तु नेयो लिख्यते। रसगङ्गाधरकारमतन्तु 'अभिनवगुप्त'पदटिप्पन्या व्यक्तीभविष्यति।*

---

1 तदभिन्न स्य पुस्तके नास्ति। अनुभवः न—शायल चैत् विषयलीनापरिणाम गौणवासनावस्थस्य तत्कारित्वात् इति विषय। 2 ध्रुवं परिणामवादालम्बनेन ज्ञानविषययोरभेदसिद्धौ वासन(ना)या रत्यादिज्ञानरूपत्व सिद्धं कार्यं म। 3 ज्ञानं न। 4 'चर्वणीयावस्थस्तु न रस इत्याप' न। 5 'इत्यायाति' न।

न क्वचिद्दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचरितेति कार्योऽप्युच्यताम्। लौकिकप्रत्यक्षादि-प्रमाणताटस्थ्यावबोधशालि(A)मितयोगिज्ञानवेद्यान्तरसंस्पर्शरहित-

---

विलक्षणव्यक्तौ तत्रानन्यसाधारणे तु कार्य्यत्वज्ञाप्यत्वे स्त एव इत्यतो विभावादिष्वपि अनन्यसाधारणे कारकत्वज्ञापकत्वे स्त एवेत्यतोऽन्यत्रादर्शनं न दोषः किन्तु विलक्षण-सिद्धौ गुण एवेत्याह—न क्वचिदिति। 'अलौकिकसिद्धेः' लोकसिद्धवस्त्वन्तर-भिन्नसिद्धेः। नन्वेवं 'कोऽप्यजायत रसो निरन्तरम्' इत्यादि लोकव्यवह्रियमाणं कथं तस्य जन्यत्वमित्यतस्तस्य लौकिके अपि कार्य्यत्वज्ञेयत्वे साधयति—चर्वणेति; तस्य विभावादिज्ञानतो निष्पत्ति[1]श्चर्वणा निष्पत्त्यैव उपचरितेत्यर्थः; वासनात्मांशे तु न विभावादिज्ञानतो निष्पत्तिः, [2]अपि तु तद्भिन्नव्यञ्जकात् एवेति बोध्यम्, नत्वेतावतैव वासनात्मांशे अजन्यत्वमुक्तं तयोर्जन्यत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। एवञ्च विशिष्टस्य रसस्य विभावादिज्ञानजन्यत्वं एवांशिक उपचारो न जन्यत्वं इत्यव-धेयम्[3]*। एवं घटादिसाधारणज्ञाप्यत्वाभावेऽपि स्वेनैव स्वस्य गृह्यमाणत्वाज् ज्ञाप्यत्वं ज्ञेयत्वञ्चास्तीति साधयति—लौकिकेति। लौकिक(B) यत् प्रत्यक्षादिप्रमाणं तत्ताट-स्थ्येन तदौदासीन्येन अर्थात् योगजधर्मेण अवबोधशालिनो मितपरिभावितस्य योगिनो यज्ज्ञानं यच्च वेद्यान्तरसम्पर्केण रहितं शून्यं विषयान्तराग्राहि स्वात्ममात्र[4]पर्य्यवसितम् आत्माद्वैतग्राहि* परिमितेतरयोगिनः संवेदनं ज्ञानं ताभ्यां

(A) मितयोगी अपरिपक्वयोगी युञ्जानपदवाच्यः, परिमितेतरयोगी परिपक्वयोगी युक्तपदवाच्य इति प्रदीपः।

(B) अत्र घ-चिह्नितपुस्तकस्य पाठः परिगृहीतः। क-ख-ग-चिह्नितपुस्तकेषु दृश्यमानः "लौकिकप्रमाणं प्रत्यक्षादि" इति पाठस्तु "लौकिकप्रमाणताटस्थ्ये"त्याकारकमूलग्रन्थानुसारितया सङ्गमनीयः।

---

1 'यथार्थनिष्पत्त्यैव-' ग। 2 'विलक्षण एवायं, तथाच विशिष्टस्य तस्य रस(स्य?) विभावादिज्ञान-निष्पाद्यत्व एवोपचारो न तु निष्पाद्यत्वे वासनादीनां व्यञ्जकादेवनिष्पाद्यत्वात्' ख,—'तदत्र विशिष्टस्यैव रसस्य विभावादितो निष्पत्त्युपचारो न तु निष्पाद्यत्वं विशेष्यवासनायास्तु व्यञ्जकादेवनिष्पाद्य एवेति बोध्यम्' ग। 3 *पर्यवसित स्वात्मन' ब्रोभनात्मान परमात्ममात्रस्य ग्राहकमद्वैतग्राहि' ख, 'शोभनात्मनि परमात्मनि पर्यवसित समस्तपदार्थानामद्वैतग्राहि' ग।

स्वात्ममात्र-पर्यवसित-परिमितेतरयोगिसंवेदनविलक्षण-लोकोत्तर-स्वसंवेदनगोचर इति प्रत्येयोऽप्यभिधीयताम्। तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न

विलक्षणस्य लोकविलक्षणस्य च स्वात्मकसंवेदनस्य गोचर इत्यर्थ । निर्दोषकवासनाग्रहात् तदंशे निर्विकल्पकत्वम् अन्यांशे सविकल्पकत्व वक्ष्यते। इदानीं निर्विकल्पकान्तरवैलक्षण्यान्निर्विकल्पकत्वाभावमपि साधयति—तद्ग्राहकमिति। स्वमात्रग्राह्यत्वात् तद्ग्राहक तद्ग्रह स्वमेव। विभावादीति। परामर्श ज्ञानम्, तत्प्रधानत्वात् तदधीनत्वात्, तथाच ज्ञानाजन्यनिर्विकल्पकादस्य वैलक्षण्येन निर्विकल्पकत्वाभाव आपातत साधित। सविकल्पकान्तरवैलक्षण्येन तस्य सविकल्पकत्वाभावमपि आपातत साधयति—नापीति। स्वसंवेदन स्वात्मकसंवेदनम्, तत्सिद्धत्वात् तन्मात्रग्राह्यत्वात्, सविकल्पकान्तरस्य तु स्वभिन्न[1]स्यानुव्यवसायेन ग्रहात्, (A)[2]तद्वैलक्षण्येन न तथात्वमिति भाव। इदञ्च गुरुभिन्नानामेव मते, तन्मते तु सर्व्व[3]सविकल्पकस्यैव स्वेन ग्रह(B) इत्यवैलक्षण्यमेव। अंशभेदेन तस्य तदुभयात्मकत्वमपि साधयति—उभयाभावेति। उभयाभाव उभयभेद, (C)[4]तेन विशिष्ट स्वरूप यस्य स, उभयभिन्न तद्रूपस्येत्यर्थ। भेदस्याव्याप्यवृत्तित्वमङ्गीकृत्येद[5]मुक्तम्। पूर्ववदिति,

---

(A) तद्वैलक्षण्येनेति। साहित्यदर्पणे तु—'तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च। सविकल्पकसंवेद्य' इत्युक्तम्।

(B) स्वेन ग्रह इति। ज्ञानमात्रस्य ज्ञानसामग्रीवेद्यत्वरूप स्वप्रकाशत्वमिति गुरूणां सिद्धान्तादिति भाव।

(C) उभयाभाव इति। [illegible] सपूर्व्वे, नैयायिकैस्तन्मतानभ्युपगमाद् व्याचष्टे तेनेति।

---

1 [illegible] क ग। 2 [illegible] ख 3 सविकल्पकान्तरमिव' ख ग। 4 तेन रूप स्वरूप क। 5 तत्सैवाय' ख। 6 '[illegible]' ख ग।

तु विरोधमिति (A)श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः।

व्याघ्रादयो विभावा भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणाम्, अश्रुपातादयोऽनुभावाः शृङ्गारस्येव करुण-भयानकयोः, चिन्तादयो व्यभिचारिणः शृङ्गारस्येव वीरकरुणभयानकानामिति पृथगनैकान्तिकत्वात् सूत्रे मिलिता निर्दिष्टाः।

अलौकिकतन्नुकारकृतज्ञापकविभावादिवदित्यर्थः। न तु विरोधमिति। अत्रापि अवगमयतीत्यन्वयः। मिलितानामेव विभावादीनां रसबोधकत्वे भरतसूत्रे द्वन्द्वनिर्देशस्याभिप्राय इति दर्शयितुं प्रत्येकस्य रसबोधनासामर्थ्यं दर्शयति—व्याघ्रादय इति, भयानकस्येव वीराद्भुतरौद्राणामपि विभावा इत्यर्थः। एवमुत्तरद्वयेऽपि अनुभावा व्यभिचारिण इति द्वय विज्ञेय बोध्यम्। पृथगनैकान्तिकत्वादिति। अनैकान्तिकत्वं साधारणत्वम्, तच्च नानारसत्वम्, तथाच नानारससाधारणत्वादित्यर्थः।

(A) रसगङ्गाधरकारास्तु आचार्यमतमित्थं विवृण्वते—"वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः, सर्वथैव चास्या विशिष्टात्मनो विशेष्यं विशेषणं वा चिदंशमादाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वञ्च सिद्धम्, रत्याद्यंशमादाय त्वनित्यत्वमितरभास्यत्वञ्च। चर्वणा चास्य चिद्गतावरणभङ्ग एव प्रागुक्ता, तदाकारान्तःकरणवृत्तिर्वा, इयञ्च परब्रह्मास्वादात् समाधेर्विलक्षणा विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दालम्बनत्वात्, भाव्या च काव्यव्यापारमात्रात्। अथास्यां सुखांशभाने किं मानमिति चेत्, समाधावपि तद्भाने किं मानमिति पर्यनुयोगस्य समत्वात्। 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रिय'मित्यादिशब्दोऽस्ति तत्र प्रमाणमिति चेत्, अत्रापि 'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति श्रुतिः, सकलसहृदयप्रत्यक्षञ्चेति प्रमाणद्वयम्। चैव द्वितीयपक्षे तदाकारचित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणोपन्यस्ता सा शब्दव्यापारभाव्यत्वात् शाब्दी, अपरोक्षसुखालम्बनत्वाच्च अपरोक्षात्मिका, तदित्थम्—(अभिनि) वाक्यजबुद्धिवदित्याहुरभिनवगुप्तपादाचार्याः' इति। अभिनव मतान्तरमपि तत्रैव—'नव्यास्तु काव्ये नाट्ये च कविना नटेन च प्रकाशितेषु विभावादिषु व्यञ्जनव्यापारेण दुष्यन्तादौ शकुन्तलादिरतौ गृहीतायामनन्तरञ्च सहृदयतोल्लासितस्य भावनाविशेषरूपस्य दोषस्य महिम्ना कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते स्वात्मनि अज्ञानावच्छिन्ने शुक्तिकाशकल इव रजतखण्डः समुत्पद्यमानोऽनिर्वचनीयः साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रसः। अयञ्च कार्यो दोषविशेषस्य, नाश्यश्च तन्नाशस्य, स्वोत्तरभाविना लौकिकाह्लादेन भेदाग्रहात् सुखत्वव्यपदेश्यो भवति, स्वपूर्वोपस्थितेन रत्यादिना तद्ग्रहात् तदरतित्वेनैक्त्वाध्यवसायानाद्वा व्यङ्ग्यो वर्णनीयश्चोच्यते' इति। अस्मिन्मते पूर्वोक्तदोषाणामनवकाश, अन्येषामपि बहूना मतभेदास्तत्र तैरेव प्रदर्शिता साहित्यरसिकैर्द्रष्टव्या इत्यलमधिकेन।

वियदलिमलिनाम्बुगर्भमेघं मधुकरकोकिलकूजितैर्दिशां श्रीः ।
धरणिरभिनवाङ्कुराङ्कटङ्का प्रणतिपरे दयिते प्रसीद मुग्धे ॥ २७ ॥

इत्यादौ,

परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गं प्रवृत्तिः
कथमपि परिवारप्रार्थनाभिः क्रियासु ।

एवञ्च वर्णितान् प्रत्येकता विरोधेन [1]न कस्यापि [2]फलस्योत्पत्तिरतो मिलिता निर्दिष्टा इत्यर्थः । मिलितनिर्देशाच्च साहित्यलाभे दण्डवत्प्र[3]त्येकमिलितानामेव रसबोधकत्व मित्यर्थः । तथाच नानाफलसाधारणेभ्योऽपि सर्वसाधारणं यत् फलं तदेव जायते [4]इत्यर्थः । सकलं फलन्तु न सर्वसाधारणमित्यदोषः ।

ननु यत्र श्लोके मिलितानामनिर्देशस्तत्राप्यनुभवसिद्धस्य रसबोधस्योत्पत्तौ का गतिरित्याशङ्क्य श्लोकद्वये मिलितनिर्देशाभावं दर्शयति [5]—वियदलीत्यादि । तत्रार्थे, हे मुग्धे भद्राभद्रविवेचनशून्ये (A)दयिते प्रणतिपरे सति प्रसीद, बहुतरोद्दीपकसत्त्वात्, अस्मिन्नवसरेऽन्यदा प्रसादे तु तव गौरवरक्षा न भविष्यतीति भावः । अतो बहुतरोद्दीपनानि दर्शयति—वियदलीत्यादि । अलिवन्मलिनः अम्बुगर्भश्च मेघो यत्र, वियत् तादृशम् तथाच तादृशोद्दीपकदर्शनात्पूर्वं सुखी स्यातु न शक्यसि, तथा मधुकरा एव [6]सुस्वरत्वात् कोकिलाः, तेषां कूजितैः दिशां श्रीः, सर्वास्वपि कश्चित् कोकिला मायन्तीत्यतो मधुकरकोकिलयोर्द्वन्द्वो वा । तथाच तच्छ्रवणात् तिर्यङ्मुख्यपि स्यातु न शक्ष्यसीति भावः । तथा अभिनवाङ्कुरा एव अङ्कस्या टङ्का[7] पाषाणदारकाऽस्त्रविशेषा यस्याः, धरणिस्तादृशी, उद्दीपकत्वेन दुःखदायकत्वादङ्कुराणां मर्म्मच्छेदकटङ्करूपणम् । तथाच तद्दर्शनादग्रामुख्यपि स्यातु न शक्ष्यसीति भावः । अत्र मानिनीविप्रलम्भस्य दयित आलम्बनम् तत्प्रणतिमेघादय उद्दीपनानीति विभाव मात्र स्थितिः ।

परिमृदितेति । मालत्या अवस्थाकथनमिदम् । तस्या अङ्गं परिमृदितमृणालीवत् म्लानम्, गृहोषु क्रियासु परिवाराणां प्रार्थनाभिः तस्याः कथम्

(A) दयित इति, अत्र विषयसप्तमीति उद्द्योतः ।

---

1 'नैकस्यापि' ख । 2 रसस्यो' ग । 3 'दित्यादीन मिलि' ख । 4 इत्यतो न दोष' घ ।
5 दर्शयति' क । 6 'सुमधुरस्वरत्वात्' क । 7 -रुलपूर्व ख 'विद्ध' ग ।

कलयति च हिमांशोर्निष्कलङ्कस्य लक्ष्मी-
मभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः ॥ २८ ॥

इत्यादौ

दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने [1]किं चाञ्चितभ्रूलतम् ।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि ॥ २९ ॥

अपेक्षा प्रवृत्तिः । बहुवचनेन प्रार्थनाबहुत्वस्य एकवचनेन प्रवृत्तेरेकत्वस्य च लाभः । प्रवृत्त्येकत्वेन तद्विषयक्रियैकत्वलाभश्च । चक्रवर्ती तु—क्रियैकत्वलाभाय क्रियाश्च-मिति पाठं रचयति, तच्च निष्फलम्, अस्मद्व्याख्यानेनैव तत्सिद्धेः । तथा तस्याः कपोलः अभिनवकरिदन्तच्छेदवत् कान्तः पाण्डुरत्वात्, छेदेति कृदभिहितभावत्वात् अभिनवच्छिन्नेत्यर्थः, तयाच अतिपाण्डुत्वलाभः । अत एव—

सद्यः कृत्तद्विरदरशनच्छेदगौरस्य तस्य ।

इति कालिदासकाव्येऽपि कृत्तत्वस्यैव सद्यस्त्वमुक्तम् । चक्रवर्ती तु अभिनवेति करिदन्तविशेषणमेवाह । अत्र मालतीविप्रलम्भस्य अङ्गकार्श्याद्यनुभावमात्रस्थितिः ।

दूरादित्यादि । निराकरणेन प्रसादाभिवृत्त्या अपक्रान्तस्य नायकस्य पुनरागमने जातभावाया मानिन्याश्चक्षुःक्रियावर्णनमिदम् । दूरादिति सप्तम्यर्थे पञ्चमी, दूरस्थ इत्यर्थः । तथाच जातागसि जातापराधे प्रेयसि दूरगे सति मानिन्याश्चक्षुः अहो, प्रपञ्चचतुरं नानावस्थाप्राप्तिकुशलं जातम् । प्रपञ्चचातुर्यं विवृणोति—दूरादित्यादि, दूरस्थे प्रेयसि स्वसन्निहितागमनार्थम् उत्सुकम् उत्कण्ठितम्, आगते सति विवलितम्, पूर्वनिराकरणलज्जया संकुचितम्, सम्भाषिणि च निराकरणेऽप्यवैमुख्य-दर्शनात् हर्षेण स्फारितम्, चाटुकरणं विनैव संश्लिष्यति सति पूर्वकोपाविर्भावेन अरुणम्, अञ्चिता आकुञ्चिता, भ्रूलतायास्तथाभावश्च चाटुकरणं विनैव वस्त्रोत्तरं प्रवृत्त्या असूयया, व्यतिकरः समूहः, ईक्षणपदञ्च गोलक[2]परमेव अतश्चक्षुरीक्षणयो-र्भेदाद् बहुव्रीहिः । पूर्णं क्षणादिति तु क्वचित् पाठः । बाष्पाम्बुपूर्णता च कोपोत्तरं

---

1. 'कोपाञ्चितभ्रूलतम्' इति पाठान्तरम् । 2. '-पद चक्षुःपदञ्च नेत्रपरम्' च ।

इत्यादौ च—यद्यपि विभावानामनुभावानाम्(A) औत्सुक्यव्रीडाहर्षकोपासूयाप्रसादानां च व्यभिचारिणां (B) केवलानामेवात्र स्थितिः तथाऽप्येषामसाधारणत्वमित्यन्यतमद्वयाक्षेपकत्वे सति नानैकान्तिकत्वमिति।

प्रसादात् प्रमादश्च हर्षरूपव्यभिचारिभावो वाच्य। यद्यपीति पूर्वश्लोके (C) विभावानां मध्यश्लोके अनुभावानां चरमश्लोके व्यभिचारिभावानां केवलानां स्थितिरित्यर्थः। कोपश्च रौद्ररसस्थायिभावोऽपि शृङ्गारेऽत्र व्यभिचारिभाव इति प्रतिपादितं प्रागेव। एषा स्थितिश्च न वाचकशब्दवाच्यस्य व्रीडादीनामतथात्वात्, किन्तु शीघ्रप्रतीयमानस्य मेव विवक्षितत्वादीनामनन्यप्रयोजनकत्वेन शीघ्रं व्रीडादिबोधनात् वाच्यत्वमावन्तु न स्थितिः अङ्गभूतान्यद्वयस्यापि तथात्वेन केवलत्वाभावात्। केवलत्वञ्च असाम्यमेव विवक्षितम्, तेन वियद्दलीत्यादौ प्रसीदेत्यनेन प्रमादस्य हर्षरूपव्यभिचारिभावस्य, दूरादित्यादौ प्रयस आलम्बनविभावस्य सत्त्वेऽपि केवलत्वमुपपन्नम्। अन्यतमद्वयाक्षेपकत्व इत्यत्र तु द्वयत्वमविवक्षितम्, अनुक्ताक्षेपकत्वे सतीत्यर्थः। एषामसाधारणत्वमिति शृङ्गारप्रकरणादसाधारण्यम्, तत्प्रकरणलाभस्तु वियद्दलीत्यादौ 'प्रणते नायके प्रसाद'-प्रार्थनया परिभुक्तितत्वादौ तत्प्रबन्धे विरहिण्या मालत्या प्रकान्तत्वेन दूरादित्यादौ तु मानिनीपदेनैवेति बोध्यम्। अन्यतमाक्षेपश्च अन्यतमस्य व्यञ्जनया बोधनम्, तत्र वियद्दलीत्यादौ प्रसादेन प्रार्थनीयस्याऽऽ

(A) औत्सुक्यमिति। अत्र व्यभिचारिण औत्सुक्यस्य स्वशब्दवाच्यत्वेऽपि यथा शोकत्वं तथा सप्तमोल्लासे स्वयं वक्ष्यते। चतमयम्मस्य तस्य चक्षुषि बाधितत्वेन तन्व्यञ्जकचेष्टाविशेषवत एव तत्पदोपन्यासनाद्वा दोषपरिहारो विधेय।

(B) केवलानामिति। अत्र दूरादुत्सुकमित्यादिश्लोके प्रयोत्स्यालम्बनविभावस्य सत्त्वात् केवलानामित्यस्यानुपपत्तिः प्रथमो वस्त्वनुकूलपक्षवत्तयाऽनिर्देशात् आतामीति विरुद्धधर्मवत्तया निर्देशाच्च विद्यमानोऽप्यालम्बनविभावोऽविद्यमानकल्प इति प्रदीपोद्द्योतयोः कथञ्चित् परिहृता वाष्पाम्बुपूर्णेत्यनुभावसत्त्वेन तदनुपपत्तिशङ्का तु नोल्लिखितेति बोध्यम्।

(C) विभावानामिति। दयितरूपालम्बनविशिष्टविप्रलम्भोद्दीपनविभावानामित्यर्थः।

---

1 मय इति न क्वचित् पाठः 2 तव प्रीणेनम् इति मुद्रितपाठः। 3 भावमस्य नोक्तो न। 4 'क्वचिद्वीडैव चाप दर्शितव्यभि—' न। 5 चन इति न पुस्तके नास्ति 6 व्याङ्गार्थमपि तथा' ख ग। 7 प्रमादस्याचक्षणः न। 8 काव्यस्या[ ] क ख 9 चव क

तद्विशेषानाह—

(४४) शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥२६॥

लिङ्गनादेरनुभावस्य आक्षेप। परिमृदितेत्यादौ तु अङ्गस्यान्यथा ग्लाने, कथमपि प्रवृत्या आलस्यस्य, कपोले पाण्डुत्वेन चिन्तायाश्च व्यभिचारिभावानाम्, चिन्तनीयस्य माधवस्याऽऽलम्बनविभावस्य तद्रूपादेरुद्दीपनविभावस्य चाक्षेप। दूरादित्यादौ तु बाष्पाम्बुस्यंदप्रसादेन आलिङ्गनादे(A)रनुभावस्याक्षेप इति (B)त्रितयसत्वम्[1]।

'तद्विशेषान्' रसविशेषान्। शृङ्गारहास्येत्यादि(C)नाट्यकारिकात्वादेव नाट्ये इत्युक्तम् काव्येऽपीत्यपि बोध्यम्। एषां लक्षणानि तु "स्थायिभावभेदादेव रतिस्थायिभावको रस शृङ्गार इत्यादिरीत्या बोध्यानीत्यभिप्रायेण 'व्यक्त स तै'रित्यादिनैवोक्तप्रायाणीत्यतो विशिष्य नोक्तानि"[2]। दर्पणे तु संज्ञाव्युत्पत्तिमुखेन शृङ्गाररसस्यान्यथाप्यन्येषां लक्षणानि तद्विभावादींश्च उक्तवान्। तत्र शृङ्गाररसस्य यथा—

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रस शृङ्गार इष्यते॥ इति

तदागमन मन्मथप्राप्ति, तद्धेतुक तज्जन्य वीतरागाणां शृङ्गाररसानुद्बोधात्। तद्विभावाद्यप्युक्ता, यथा—

(A) अनुभावस्याक्षेप इति। अत्रेद चिन्तनीयम्—बाष्पाम्बुन एवानुभावस्य सत्त्वेन तद्द्वारकप्रसादेनालिङ्गनस्यानुभावस्याक्षेपो नातिप्रयोजनक। उक्तञ्च दर्पणकारै,—सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ता इति।

(B) त्रितयसत्वमिति। इदञ्चालम्बनोद्दीपनयोर्विभावत्वेनैक्यमित्यभिप्रायेण, तयोर्भेदेन ग्रहणे तु चतुर्णामेव रसबोधकत्वम्, अन्यथा उद्दीपनविरहसत्त्वेऽपि रसबोधापत्ते। न चेष्टापत्ति पूर्णस्वरूपस्य रसस्याग्रहाच्यापत्ते।

(C) नाट्यकारिका "नाट्यशास्त्रम्" इति नाम्ना प्रसिद्धस्य ग्रन्थस्य कारिका, तत्र च "शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका" इति प्रथमार्द्धे पाठभेद। उत्तरार्द्धन्तु एकमेव। श्लोकोऽयं तत्र षष्ठेऽध्याये १६ सङ्ख्यकतया मुद्रित। (गायकवाड ओरियेण्टल सिरीज)

---

1 'सत्वम्' इत्यस्य पर क पुस्तके दृश्यमान 'वयस्यैकं कर्णेकाव यथायथत्वेन तेनैव रसबोधसम्भवतयाऽपि व्यापादय स्वादिना कुसकार्यकारणभावबलादव्यवतमन्याक्षेप' इत्याख टिप्पणी साऽपि असमानविजृम्भितमेवेति प्रतिभाति। 2 'स्थायिभावकथनादेवोक्तानीत्यभिप्राय' ख, 'स्थायिभावभेदादेव बोध्यानीति 'व्यक्त' स तैरित्यादिनैवोक्तप्रायाणीति' ग।

परोढां वर्जयित्वाऽत्र वेश्याञ्चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायका ॥ इति ।

अत्र पादत्रय नायकश्रृङ्गारे, चतुर्थपादो नायिकाश्रृङ्गारे । वेश्या चात्र परानूढा । [1]दक्षिणाद्या इति, दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपाश्चत्वारो बालवृद्धरागीतरे रतिसमर्था [1]० । आद्यपदाद् धर्मोपयुक्तपरिग्रह, तेन रतिसमर्थ स्वभर्त्तर्यर्थ । [2]पर्य्युंदस्तपरोढा-विषयत्वे तु[3]० श्रृङ्गाराभास इति वाच्यम् । तदुद्दीपनविभावाद्यश्चोक्ता , यथा—

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपन मतम् ।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभाव प्रकीर्तित ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।
स्थायी भावो रति श्यामवर्णोऽय [4]विष्णुदैवत ॥

रोलम्बा भ्रमरा । औग्र्यादिवर्जन सम्भोगश्रृङ्गार एव । विप्रलम्भे तु जुगुप्सा मात्रवर्जनम् । जुगुप्सा च बीभत्सस्थायिभावोऽपि रसान्तरे व्यभिचारिभाव इत्युक्तम् ।

हास्यस्य यथा—

विकृताकारवाग्वेशचेष्टादे कुहकाद्(A) भवेत् ।
हास्यो हासस्थायिभाव श्वेत प्रमथदैवत ॥
विकृताकारवाक्चेष्ट यमालोक्य [5]हसेज्जन ।
तदत्रालम्बन प्रोक्त तच्चेष्टोद्दीपन मतम् ॥
अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादय ।
निद्राऽऽलस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिण ॥ इति ।

करुणस्य यथा—

इष्टनाशादनिष्टाप्ते करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरै कपोतवर्णोऽय कथितो यमदैवत ॥
शोकोऽत्र स्थायिभाव स्याच्छोच्यमालम्बन मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपन पुन ॥

(A) कुहक माया इन्द्रजालमिति यावत् ।

1 'दक्षिण बालवृद्धरोगीतररतिसमर्थ' ख ग । 2 परोढाऽऽदिविषयत्व बालकादिस्वभर्तृविषयत्वे समत्रु र्विषयत्वे च' म । 3 समुदाहृत ख ग । 4 'हरदैवत' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठ । 5 'हसेज्जन' इति मुद्रितपाठ ।

अनुभावा दैवनिन्दा-भूपात-क्रन्दनादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वास-निश्वास-स्तम्भ-प्रलपनानि च ॥
निर्वेद-मोहापस्मार-व्याधि-ग्लानि-स्मृति-श्रमाः ।
विषाद-जडतोन्माद-चिन्ताऽऽद्या व्यभिचारिणः ॥ इति ।

प्रलपनपर्यन्ता अनुभावा बोध्याः । रौद्रस्य यथा—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः ।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥
मुष्टिप्रहार-पतन-विकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
सङ्ग्रामसम्भ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ॥
भ्रूविभङ्गोष्ठनिर्दंश-बाहुस्फोटनतर्ज्जनम् ।
आत्माऽवदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥
अनुभावास्तथाऽऽक्षेप-क्रूरसन्दर्शनादयः ।
उग्रताऽऽवेग-रोमाञ्च-स्वेद-वेपथवो मदः ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः । इति ।

उग्रतादयो व्यभिचारिणः तत्पूर्वे त्वनुभावाः । वीरस्य यथा—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो (A)हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥
आलम्बनविभावाश्च विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ॥
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ।
सञ्चारिणस्तु धृति-मति-गर्व-स्मृति-तर्क-रोमाञ्चाः ।
स च धर्मदानयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ इति

[1]रोमाञ्चस्य व्यभिचारिभावत्वाभावेऽपि तन्निदानहर्षपरमेव रोमाञ्चपदम् । स चेति

(A) अत्र हस्तलिखितादर्शपुस्तकेषु दृश्यमान "मेघवर्ण" इति पाठो लेखकप्रमादकृत एवेति मुद्रितसाहित्यदर्पणग्रन्थादौ च-पुस्तकपाठः परिगृहीतः । इदन्तु चिन्तनीयम्—वीरस्य हेमवर्णत्वं दर्पणकृता कुत उपलब्धम्, नाट्यशास्त्रे "गौरो वीरस्तु विज्ञेयः" इत्यनेन तस्य गौरवर्णत्वस्यैव द्योतनात् । स्वर्णं च पीतवर्ण एव प्रसिद्धः स च अद्भुतरसस्यैव वर्णः इति "पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः" इति भरतोक्तेरवगम्यते इति ।

---

1. प्रथमः अ-पुस्तके नास्ति ।

धर्मवीरो दानवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्द्धेत्यर्थः दानादिषु सर्वत्रोत्साह-सम्भवात् *। भयानकस्य यथा—

भयानको भयस्थायिभावः कालाधिदैवतः।
स्त्री-नीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम्।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः॥
अनुभावास्तु वैवर्ण्य-गद्गदस्वरभाषणम्।
(A)पुलक-स्वेद-रोमाञ्च-कम्प-दिक्प्रेक्षणादयः॥
जुगुप्साऽऽवेग-सम्मोह-सन्त्रास-ग्लानि-दीनताः।
शङ्काऽपस्मार-सम्भ्रान्ति-मृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः॥ इति

पुलकैहेतुत्वादेव (पुलकैकहेतुत्वादेव ?) अत्र पुलकोऽश्रूद्गम एव। तथाच रोमाञ्चादस्य भेदः। जुगुप्साद्यास्तु व्यभिचारिणः। सम्भ्रान्तिः भ्रमणं चपलतारूपम्, न तु भयरूपा तस्याश्च स्थायिभावत्वात्।

बीभत्सस्य यथा—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः॥
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम्।
तत्रैव कृमिपातादिरुद्दीपनमुदाहृतम्॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः।
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः॥ इति

अत्र च 'तत्र स्यु'रित्याधिकं पद्यान्वितम्।

अद्भुतस्य यथा—

अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो (B)गन्धर्वदैवतः।
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम्॥

(A) 'पुलक' इत्यत्र 'प्रलय' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः, प्रलयो नष्टचेष्टता इति च व्याख्यातमभियुक्तैः।

(B) यद्यपि हस्तलिखितादर्शपुस्तकेषु 'गन्धर्व'पदस्थाने 'मन्मथ' इति पाठो दृश्यते तथाऽपि मुद्रितसाहित्यदर्पणसम्मत एव पाठोऽत्र परिगृहीतः। नाट्यशास्त्रे तु "अद्भुतो ब्रह्मदैवतः" इत्युक्त्या अद्भुतस्य ब्रह्मदैवतत्वं प्रतीयते।

---

1 [illegible] प्रामादिक इति बोध्यम्।

तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्यः परस्परावलोकना-लिङ्गना-धरपान-परिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते। यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः।
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्च-गद्गदस्वर-सम्भ्रमाः॥
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्त्तिताः।
वितर्कावेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः॥ इति।

सम्भ्रान्तिहर्षाद्या इत्यत्र सम्भ्रान्तिजन्यहर्षादय इत्यर्थः, तेनानुभावत्वेनोक्तात् सम्भ्रमा-दस्य भेदः।

सम्भोगो विप्रलम्भश्चेति। तत्र दर्पणे—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः॥

इति सम्भोगलक्षणम्, तत्र नायकनायिकयो(A)रेकतरदर्शनादिव्यङ्ग्यसम्भोगे अव्याप्तम्(B)। तथा—

'यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ'

इति विप्रलम्भलक्षणम्, तदपि नायकप्रसाद्यमानमानिनीविप्रलम्भेऽव्याप्तमतोऽन्यदेव लक्षणमाह। यथा—

सम्भोगः सुखसम्मिश्रो विप्रलम्भस्तु दुःखयुक्।
रतिस्तयोः प्रकर्षः स्यादाधिक्यात् सुखदुःखयोः॥ इति।

अत एव निःशेषच्युतेत्यादौ वाच्यात्तदन्तिकागमनाद् यादृशं दुःखम्, रन्तुं तदन्तिक-गमनाद् व्यङ्ग्यात्ततोऽप्यधिकदुःखमिति दुःखसम्मिश्ररतिव्यञ्जकस्य व्यङ्ग्यस्याति-शायित्वम्।

अनन्तभेदत्वादिति। भेदः भेदकः, बहुव्रीहिणा भेदानन्त्यादित्यर्थः।

शून्यं वासगृहमिति। अत्र उत्थायेत्यादिसमस्तक्रियासु पूर्व्वपूर्व्वक्रियापेक्षया

(A) अत्र "नायकयो" इत्येकशेष उचितः।

(B) अत्रेदं चिन्तनीयम्,—ईदृशस्थले विप्रलम्भस्यैव तथा उत्तरत्र सम्भोगस्य च स्वीकारे न किमपि बाधकमिति।

विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥३०॥

तथा—

त्वं मुग्धाक्षि विनैव कञ्चुलिकया धत्से मनोहारिणीं
लक्ष्मीमित्यभिधायिनि प्रियतमे तद्वीटिकासंस्पृशि ।

आनन्तर्यं क्त्वाप्रत्ययतो बोध्यम् । आलोक्य लज्जानम्रमुखीत्यत्र भवाहृतया जातेति क्रियायामानन्तर्यं बोध्यम् । "लज्जा"इत्येव क्रियापदमिति तु वक्रवर्त्ती । तथापि नम्रमुखीत्यस्यान्वयार्थं सत' इत्यध्याहारावश्यकत्वेनेतो विशेषाभावादुपेक्षितम्'* ।

बाला समस्तक्रियासु कर्त्री चुम्बितेत्यस्य तु कर्म । शयनात् किञ्चिदुत्थाय प्रियजागरणे झटिति संवरणाय, बालात्वेनाप्रागल्भ्यात् । उत्थाने शनैस्त्वञ्च जागरणहेत्वाघ्रानुत्पत्तये । सुचिरनिर्वर्णनञ्च अनुरागाधिक्यनिश्चयाय च । तन्निश्चयाच्च विश्रब्धं जातास्यासं परिचुम्बनम् । प्रियेण चिरं चुम्बनञ्च भावनिश्चयेन बालायाञ्चास-शङ्काऽपगमाय । चुम्बितेत्यत्र (१)सत्त्वद्धिकर्णपरिशोधनार्थं चिरमिति चक्रवर्त्ती, तच्च प्रहसनमात्रं वस्तुतस्तादृशगुरुभ्रमाभावात् उत्प्रेक्षायामेव तथात्वौचित्यात् । अत्र द्वयोरपि परस्परालम्बनिके रतौ सामाजिकेन स्वात्मनायामारोपिते रस । परमुत्तरोत्तरं बोध्यम् । निर्दिष्टा स्वस्वक्रिया स्वस्वरत्यनुभावा । ता एव व्यत्ययेन परस्पर-रत्याद्दीपनानि । शून्यं वासगृहन्तु द्वयो रत्योरुद्दीपनम् । स्वस्वक्रियाव्यङ्ग्यौ हर्षौ द्वयो रत्याव्यभिचारिणौ ।

नायिकारतिप्रयोज्यनायकरतावुदाहृत्य नायकरतिप्रयोज्यनायिकारतावुदाहरति—

त्वं मुग्धाक्षीति । गव्यप्रान्तापनिपणया नायिकाया स्तनपिधानमुद्घाटयितु छलेन तद्ग्रन्थिं स्पृशति नायके सति नायिकया महर्षविलाकित अन्तीजनश्छलेन निर्यात इति समुदायार्थः । मुग्धाक्षीति मुग्धाङ्गानि वा स्वाभाविकसौन्दर्यप्रदर्शनाय सम्बोधनम् । वीटिका ग्रन्थि । सखी आलीजनस्य नायिका । कमिति निर्याणे नायिकाया लज्जा स्यादतोऽज्ञानाभिनयाय जवैर्निर्याण तस्याल्पीकहेतुकथनञ्च । अत्रापि द्वयोरेव रत्याद्यालम्बने । एतादृशोक्ति वीटिकासंस्पर्शौ नायकरतेरनुभावौ,

---

(१) सत्त्वद्धीति, वृद्धि (सुद इतिभाषा) सहितस्य ऋणस्य परिशोधनार्थमित्यर्थः । तत्र विस्तारिकाग्रन्थस्तु—'चिरं सलाममूल्यपरिशोधनात् इदानीं प्रियस्य कालक्षेपकत्वात्' इति ।

---

१. तदध्याहारादध्याहारपरिहारादविशेष इ०' क 'न तदध्याहारपरिहार ' ग ।

शय्योपान्तनिविष्टसस्मित-सखीनेत्रोत्सवानन्दितो

निर्यातः शनकैरलीकवचनोपन्यासमालीजनः ॥ ३१ ॥

अपरस्तु (A) अभिलाष-विरहे-र्ष्या-प्रवास-शापहेतुक इति पञ्च-विधः । क्रमेणोदाहरणम्—

नेत्रोत्सवं स्मितञ्च नायिकारते । एकतररतेरनुभावा अन्यतररतेरुद्दीपनानि । द्वयोरुक्तानुभावव्यङ्ग्यौ हर्षौ व्यभिचारिणौ । रतिश्च सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

अपरस्त्विति । अस्यैतादृशपञ्चोपाधिभिः सङ्कलनमन्यथाऽऽख्यानमिति(B) समस्तसम्भोगस्य त्वभिलाषेण सङ्कलनसम्भवेऽपि पकन्यानपाय इति चाभिप्रायः । हेतुक इत्यत्र हेतुपरं ज्ञापकहेतुपरम्, तत्र च 'अभिलाषविरहेर्ष्याविषयमनुभावत्वेन ज्ञापकं रतिजन्यत्वात्तत्रयस्य'[2] । प्रवासशापौ तूद्दीपकौ मम प्रियं प्रसरतीति अह

(A) साहित्यदर्पणे तु पूर्वराग-मान-प्रवास-करुणात्मकतया विप्रलम्भस्य चातुर्विध्यमुक्तम् । सम्भोगविप्रलम्भयोरन्यथा व्याख्यानं प्रदीपे दृश्यते, तत्र "स द्वेधा सम्भोगो विप्रलम्भश्च, तत्र—

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।

दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः ॥

स च परस्परालोकनालिङ्गनादिभेदानन्त्यादनन्त एवेत्येक एव गण्यते ।

भावो यत्र रतिर्नाम प्रकर्षमधिगच्छति ।

नाधिगच्छति चाभीष्टं विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥

स च सङ्गमपूर्वं, सङ्गमान्तरं, यत्रानयोरभिलाषहेतुक इत्युच्यते अभिलाषपदेन तद्धेतोरप्यादि-सङ्गमाभावस्य लक्षणात् । आद्यस्तु कश्चिदीर्ष्यया प्रणयेन वा मानरूपः, स ईर्ष्याहेतुक इत्युच्यते ईर्ष्यापदेन मानहेतोरुपलक्षणात् । क्वचित्तु कार्यवशाद्देशान्तरस्थिते । स च प्रवासहेतुकोऽभि-धीयते, उपस्थमानोऽप्यनुपस्थमानावपि प्रवासौ स्वज्ञानद्वारा विप्रलम्भप्रयोजकाविति व्याप्तिः, प्रवासशब्देन आगमनक्षणादा । क्वचिच्छापात्, स च शापहेतुक इति व्यवह्रियते । क्वचिदुक्त-व्यतिरिक्ताद् गुरुजनादित कारणात्, स एव विरहहेतुक इत्युच्यते । करुणाख्यस्यान्यत्रैवान्तर्भाव" इति ।

(B) अत्र 'इति' पदात् परं "अभिप्राय" इति "हृदयम्" इति वाऽऽदर्शभेदेन अधिकः पाठो दृश्यते, स च प्रामादिकः 'च'कारासङ्गतेः ।

1. '-मुखौ' इति पाठभेदः । 2 'अभिलाषेर्ष्ये हे अनुभावौ विरहस्तूत्सुक्यरूपो व्यभिचारिभावः रतिजन्यत्वात्' स, न तु पत्रे तु क्वचित्पुस्तकपाठानन्तरं 'अभिलाषविरहेर्ष्याविषयमनुभावविषये ज्ञापक रतिजन्यत्वात्' इति पाठो दृश्यते ।

प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि।
यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा
दाशंसापरिकल्पितास्वपि(A) भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥३७॥

शापप्रतिबन्धात् प्रियान्तिकं गन्तु न शक्नोमीति ज्ञाने सति [1]इत्युदीरं। "अत एव शापवशेन नियजन्यागतिप्रतिबन्धकपरमेव, तत उपलिप्सत्वादिपरिग्रह। प्रवासस्तु न प्रतिव न्धक स्वेच्छया आगमनसम्भवात्[2]"। अभिलाषश्च अभिलषितस्य जनस्य साक्षात् परम्परया वा प्राप्तीच्छा, तज्जनकत्वसाधनताज्ञानधारा [illegible] गतिरित्यभिलाष स्वाज्ञत्वन्यादनुभाव। कृतसङ्कुलस्य नायकस्यानागमने स युनकण्ठा विरह। तदुक्तम्—

प्रियं कृत्वा तु सङ्केत यस्या नायाति सन्निधिम्।
सा मनाभवदु खाता विरहोत्कण्ठिता मता(B) ॥ इति।

[3]सा चात्कण्ठा रतिसञ्चार्यत्यनुभाव व्यभिचारित्वेऽप्यनुभाव चानपायात्[4]। पर्यायप्रकारप्रयुक्त सानुराग। हव इच्छा। मात्र वर्तमान वा प्रियजन येदृश्य प्रवास। इच्छाप्रतिप्रतिबन्धिका अनिच्छहतुर्वा निद्धनचसा घाक शाप। वस्तौ दानुद्वापनरिमानादि युक्तमेव[5]। तत्राभिलाषहेतुमाह—प्रेमार्द्रा इति। स्मरणेन साधनस्य पुनरनुभूतमास्तीकचष्टास्वियमाशासा। सा [illegible] भाग्ताप्रता नैपार्ष्वस्य धति परम्परया मास्तीप्राप्तीच्छैव। मुग्धदृशो मास्त्या तास्ता इव गता मयि भवत्तु इक रणान्तरमभावेन मुग्धहत्वपादानम्। घणा कीदृश्य ? प्रेम्णा आर्द्रा स्निग्धा

(A) मामव स्पष्टीकृत्य प्रवृत्ता इमाश्चष्टा इत्याशासत्र सम्भावितास्वित्यर्थं किं पुन यथार्थत्ता मा स्पष्टीकृत्य प्रवृत्ता इति निश्चितास्विति अपिकाराथ।

(B) साहित्यदर्पण तु अन्य द्वितीयार्द्ध विप्रलब्धा तु सा यस्य विलासत्त्वसमानिता इत्याकारेण दृश्यत।

---

1 वियलभो पिनात खग 2 धारमञ धु गन्युलकत्रीत दृश्यत 3 स्वतकृष्ठा चीतमुक्त रुपत्व मुभिचारिभाव एव [illegible] भाव एव (र) तिरल्पवा(त्व)नुभाव [illegible] 4 आय स चीपनचाचम्, इच्छाप्रतिप्रतिबन्धकम व न तापत तन र न प्रतिरोधान्तरमपि परिग्रह प्रवासस्य (त) प्रतिबन्धक किन्त्वागमनेच्छा रुपकारणाभाव एव इच्छश्च न समवधानात ब। 5 धारमञ धु पुनात नास्ति

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥ ३६ ॥

हास्यादीनां क्रमेणोदाहरणम्—

आकुञ्च्य पाणिमशुचिं मम मूर्ध्नि वेश्या
मन्त्राम्भसां प्रतिपदं पृषतैः पवित्रे ।

शापहेतुकमाह—**त्वामालिख्येति** । भर्तृशापप्रतिरुद्धप्रियासन्निधिगमनस्य यक्षस्य [1]मेघद्वारा प्रियायामुक्तिरियम् । प्रणयकुपितां त्वां प्रिये धातुरागैः शिलायामालिख्य आत्मानं तव चरणपतितं कर्तुं यावदिच्छामि तावदुपचितैर्बाष्पैः मे दृष्टिर्मुहुरालुप्यते अतस्तस्मिन्नपि(A) समये क्रूरः कृतान्तः दैवं नौ आवयोः सङ्गमं न सहते । 'कृतान्तो यमसिद्धान्तदैवाकुशलकर्मसु' इति कोषः । शिलायां लिखनमौज्ज्वल्याय । कुपितायाः रक्तत्वेन धातुरागैर्लिखनम् । लिखनं चरणपातश्च द्वयमपि इच्छाविषय एव न तु निष्पन्नमिति भावः । केचित्तु चरणपात एव बाष्पप्रतिरुद्धः, लिखनन्तु निष्पन्नमेवेत्याहुः । चरणपातोऽपि लेखरूप एवेत्यन्ये । अत्रालुप्यते इत्यन्तेन निराकाङ्क्षवाक्येन यक्षस्य विप्रलम्भरतिर्व्यज्यते, प्रिया तदालम्बनं दृष्टिलोपन्यद्भ्य दैन्यं व्यभिचारिभावः, इयमुक्तिरेवानुभावः । प्रकरणलभ्यः शाप उद्दीपनम्, वक्तरीव सामाजिके रसोत्पत्तिः । ननु क्रूर इत्यादिना निराकाङ्क्षवाक्येन व्यङ्ग्यो दैवविषया-सूयारूपव्यभिचारिभावोऽप्यस्तीति कथमत्र नासूयारूपव्यभिचारिभावध्वनिरिति चेत्, तद्वशे इत्यादेश्च(B), [2]किन्तु द्वयोरपि निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वेन रसभावयोर्द्वयो-रङ्गाङ्गिभावापन्नसङ्करध्वनिरेवाय वक्ष्यमाणो बोध्य, तथाऽपि सङ्करघटकविप्रलम्भ-ध्वनित्वमुपपद्यत एव[2]* ।

हास्यरसमुदाहरति—**आकुञ्च्येति** । कश्चन विष्णुशर्माणं दृष्ट्वा हसत उक्ति-

तारस्वरं प्रथितथूत्कमदात् प्रहारं
हा हा हतोऽहमिति रोदिति विष्णुशर्मा ॥ ३७ ॥

हा मातस्त्वरिताऽसि कुत्र किमिदं हा देवताः क्वाशिषो
धिक् प्राणान् पतितोऽशनिर्हुतवहस्तेऽङ्गेषु दग्धे दृशौ ।
इत्थं घर्घरमध्यरुद्धकरुणाः पौराङ्गनानां गिर-
श्चित्रस्थानपि रोदयन्ति शतधा कुर्वन्ति भित्तीरपि(A) ॥ ३८ ॥

रियम् । विष्णुशर्मा इति रोदिति । कीदृशं रोदितीत्यत आह—आकुञ्च्येत्यादि हाहा-हतोऽहमित्यन्तम् । वेश्या मम मूर्ध्नि अशुचि पाणिमाकुञ्च्य तारस्वरं प्रथितथूत्कञ्च यथा स्यात् तथा प्रहारमदात् । मूर्ध्नि कीदृशे ? प्रतिपदं प्रत्यवयनरूपप्रतिस्थान मन्त्राम्भसा पूते कृणामि पवित्रे । अत एव अशुचिपाणिप्रहारेणात्यन्तदुःखात् रोदनम् । तारेत्यादि द्वयं प्रहारदानक्रियाविशेषणम् । थूत्कः लाला । अत्र एतद्वृत्तहासस्य स्वद्विष्णुशर्मा आलम्बनम् । रोदनकथनमनुभावः । रोदन-वाक्यार्थाः आकुञ्च्येत्यादयः उद्दीपनानि । रोदनकथनध्वन्तया चकश्चपलता व्यभि-चारिभावः । हासत्वे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

करुणमाह—हा मातरिति । दह्यमानाया महालक्ष्म्याः पुरस्त्रीणां रोदन प्रदर्शयति । तत्र कथयतः कस्यचिदुक्तिः पराक्रमः । पौराङ्गनानामित्थं गिरः चित्र-स्थानपीत्यन्वयः । भित्ती देहली । त्वरिताऽसि त्वरितं गताऽसि । धिगिति शीघ्रं नश्वराणां दह्यमानप्राणानां तन्मरणेऽप्यनश्वराणां स्वप्राणानाञ्च निन्दा । दग्धोहं सन्धानानुपलम्भेनात्यन्तदुःखाद् दग्धे इत्युक्तम् । गिरः कीदृश्यः ? स्वरभङ्गया घर्घरा, श्रमान्मध्यरुद्धा, करुणा कातर्यसूचका । घर्घरमध्यरुद्धयोः कर्मधारये तेन सह करुणा इत्यस्य कर्मधारयः । अत्र रुदतीनां शोकस्य दह्यमाना आलम्बनम्, रोदन-मनुभावः, रोदनवाक्यार्थाश्च उद्दीपनानि । मध्यरोधव्यङ्ग्यः श्रमो व्यभिचारी । शोकत्वे सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

पुस्तकाना पाठस्तु समाधानांश प्रयमान्तपदाभावेन पञ्चम्यन्तस्य दुरपपादान्वयत्वेन लेखकप्रमाद-कृत इति प्रतिभाति ।

(A) काश्मीरराजजननीमरणे उत्साहयित्रा भट्टनारायणेन रचितं कृतमिति जयन्तभट्टः । राजपत्न्याः स्वर्यातायां तत्परिजनविलापोक्तिरियमित्यन्ये । इति बालबोधिनी ।

१ 'प्रथित थूत्क' मिति पाठान्तरम् । २. 'हस्ताघातादिरुद्दीपनम्' ख ।

कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरु पातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
(A)नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥३९॥
क्षुद्राः संत्रासमेते विजहित हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः ।

रौद्रमाह—कृतमिति । स्वेच्छामृतद्रोणशिरश्छेदकुद्धस्याश्वत्थाम्नोऽर्जुन(B) सम्बोध्य उक्तिरियम् । इदं स्वेच्छामृतमत्पितृशिरश्छेदरूपं गुरु पातकं यैरुद्गतायुधैः मर्य्यादाशून्यैः अत एव मनुजपशुभिः भवद्भिरर्जुनाद्यैः कृतम् अनुमतं दृष्टं वा, नरकासुरस्य रिपुणा कृष्णेन सहितानां भीमकिरीटिसहितानाञ्च तेषाम् असृङ्मेदोमांसैः अयमहं दिशां दिक्स्थितभूतानां बलिं करोमीत्यर्थः । किरीटी अर्जुनः, मेदः शैलम् । उदायुधानामीदृशाकार्य्यकरणानौचित्यान्मनुजपशुत्वमुक्तम् । तदुपपादनार्थम् उदायुधैरिति, अत एव निर्मर्य्यादैरिति । नरकरिपुपदस्योपादानात् पातकरिपुत्वमपि सूचितम्, तेन पातककारिणः पातकरिपूंश्च हनिष्यामीत्यतो मत्क्रोधाज्जगदेव नङ्क्ष्यतीति भावः । अयमहमिति एतत्क्षणवर्त्ती अहमित्यर्थः । अत्र अश्वत्थाम्नः क्रोधस्य अर्जुनाद्या आलम्बनानि तेषामकार्य्यम् उद्दीपनम् । तादृशं तर्जनम् अनुभावः । तर्जनव्यङ्ग्यो गर्वोऽमर्षश्च व्यभिचारी । क्रोधश्च सामाजिके रसोत्पत्तिः । न चात्र वीरो रस इति वाच्यम् असद्वीरत्वेन निन्दितेषु क्रोधस्यैवाभिभावात् सद्वीरयोनुत्साहात् ।

युद्धवीरमुदाहरति—क्षुद्रा इति । हे दृश्यमानाल्पसामर्थ्यत्वेन एते इयन्तः क्षुद्राः हरयः, सन्त्रासं विजहित त्यजत यतो भिन्नशक्रेभकुम्भा अमी मम सायकाः सदापातिष्यन्तो युष्मद्देहेषु अर्थात् पतितुं लज्जां परं केवलं दधति, न [illegible] पाताभिमुख्यं पौरुषं वा, युष्मद्देहेषु निष्पतन्ति इति [illegible] नार्थः निष्पतनस्य पतनरूपत्वाभावात् । सौमित्रे इति मातृसम्बन्धकीर्त्तनम् अवीरत्वख्यापनाय । मेघनाद प्रसिद्ध एतन्नाम्ना, रामन्तु

(A) "पूर्वं दण्डक्रमेण कृतमित्याद्यभिधायानन्तरं क्रोधात् कर्म विस्मृत्यानुमन्तुः प्रागुपादानम् । पशुभिरित्यनेन बलिदानयोग्यता ध्वन्यते" इत्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम् ।

(B) "अर्जुनादीन्" इति पुर्वं केचिन्मन्यन्ते उत्तरत्र भवद्भिरिति दर्शनात् ।

सौमित्रे तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि ॥४०॥
ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने [1]दत्तदृष्टिः
पश्चार्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम् ।

किञ्चिदन्वेषयामि । तत्र हेतुमाह—भ्रूभङ्गेति, न तु सोऽपि सामस्त्येन ममान्वेषणपात्रमिति भावः । अत्र भ्रूभङ्गेत्यादिना रामस्य सद्वीरत्वकथनमुत्साहस्यैवानुभाव इति वीर एवात्र रसः, रामस्तत्रालम्बनम् । जलनिधिनियमनमुद्दीपनम् । तदन्वेषणमनुभावः । वानराद्युपेक्षाव्यञ्जको गर्वो व्यभिचारी । उत्साहश्च सामाजिके रसोत्पत्तिः । (A)दानधर्मदयावीराद्युदाहरणानि तु दानाद्यतिशयवर्णनस्थलानि बोध्यानि ।

भयानकमाह—ग्रीवेति । मृगहननाय धावितरथस्य मृगक्रियां दर्शयतो दुष्मन्तस्य सारथिं प्रत्युक्तिरियम् । प्रकरणलभ्य एष मृग उद्भ्रान्तत्वाद् मोहोन-

---

(A) केचित्तु "युद्धवीरो धर्मवीरो दानवीर इति त्रिधा । वीरस्यैव च भेदोऽयं कथ्यते सूरिभिः परः ॥" इति वदन्तो दयावीरं नेच्छन्ति । प्रदीपे तु "युद्धवीरो दानवीरो दयावीरश्च" इति वीररसस्य त्रैविध्यमेवोक्तम् । उक्तचातुर्विध्यन्तु साहित्यदर्पणकृत्सम्मतम् । तत्र दानवीरो यथा—चण्डकौशिके द्वितीयेऽङ्के राज्ञ उक्तिः —सम्यगमनुगृहीतस्तर्हि भगवता वैवस्वतो मया —

नार्हन्ति सर्वभुवनान्यपि दक्षिणार्थं सर्वस्वदानविनिवेदनकुण्ठमानि ।
एनां धने कुशिकनन्दन तुभ्यमद्य हस्तागमिमां वसुमतीं विनिवेदयामि ॥ इति

अत्र दानपात्रं विश्वामित्र आलम्बनम्, भगवत्सान्निध्यजन्यतदुत्कर्ष उद्दीपनम्, तेन स्थायिभावस्य राज्ञः सर्वस्वदानोत्साहस्योद्दीपनात्, ईदृशोक्तिरनुभावः, अनुगृहीत इत्यादिपदव्यङ्ग्या हर्षादयो व्यभिचारिणः, तदुत्साहश्च सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

धर्मवीरो यथा शिशुपालवधे चतुर्दशसर्गे—

आमनेन शशिना कृता दधद्दर्शनक्षयितकामविग्रहः ।
आप्लुत स विमलैर्जलैरमूदष्टमूर्त्तिधरमूर्त्तिरष्टमी ॥

इत्यन्तः श्लोकसमुदायः । अत्र राज्ञ उत्साहस्य यज्ञ आलम्बनं कृष्णोपलब्धा प्राप्तो यज्ञे निर्विघ्नतादिप्रत्यय उद्दीपनम्, याजकस्यपरिग्रहोऽनुभावः, हर्षो व्यभिचारी यज्ञोत्साहश्च सामाजिके रसोत्पत्तिः । दयावीरो यथा मृच्छकटिके षष्ठेऽङ्के—

विधिनैवोपनीतस्त्वं चक्षुर्विषयमागतः ।
अपि प्राणानहं जह्यां न तु त्वां शरणार्थिनम् ॥

इति चन्दनकस्योक्तिः, अत्र आर्य्यकचन्दनकस्य दयाया आलम्बनम्, आर्य्यकस्य

---

1 'बद्धदृष्टि' इति पाठान्तरम् ।

¹शष्पैरर्द्धावलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥४१॥
उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ ²पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्त्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः (A)करङ्का-
दङ्कस्थादस्थिसंस्थं (B)स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥४२॥

फालत्वाद् वियति बहुतरं प्रयाति उर्व्यां स्तोकम्, पतन् पश्येत्यर्थः । मृगः कीदृशः ? अनुपतति पश्चाद्धावति स्यन्दने ग्रीवाभङ्गेणाभिरामं यथा स्यात् तथा मुहुर्दत्तदृष्टिः, तथा शरपतनभयात् शरपतन(परि)जिहीर्षोर्नितो भूयसा महता पश्चार्द्धेन पूर्वकायं प्रविष्टः कुञ्चिताङ्ग इत्यर्थः । भयपदन्तु मात्रं भीतिपरम्, तस्या अत्र स्थायिभावत्वेन शब्दवाच्यत्वे रसत्वानापत्तेः । पश्चार्द्धेनेत्यत्र पृषोदरादित्वात् 'त' लोपः । तथा श्रमविवृतात् मुखाद् भ्रंशिभिः अर्द्धावलीढैः शष्पैः कीर्णवर्त्मा । अत्र मृगनिष्ठस्य भयस्य दुष्यन्त आलम्बनम् । शरपात उद्दीपनम् । मार्गो मृगक्रिया अनुभावाः । वाच्यः श्रमो व्यभिचारी । भयके सामाजिके रसोत्पत्तिः ।

बीभत्समाह—उत्कृत्येति । श्मशाने शवं भुञ्जानं प्रेतं दृष्ट्वा माधवस्योक्तिरियम् । अथ प्रेतरङ्कः प्रेतेषु दरिद्रः अङ्कस्थात् करङ्कात् प्रेतशरीरात् अस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यं मांसम् अव्यग्रम् अनाकुलं यथा स्यात् तथा अत्तीत्यन्वयः । स्थपुटः ग्रन्थिः । क्रमेण भक्षणाऽव्यग्रता । भक्षणक्रममेवाह—उत्कृत्येति । कृत्तिं चर्म उत्कृत्योत्कृत्य प्रथमं जग्ध्वेत्यन्वयः । अथ अनन्तरं पृथूच्छोथेन महोत्फुल्लतया भूयांसि बहुलानि अंसस्फिक्पृष्ठपिण्डादिरूपावयवेषु सुलभानि उग्रदुर्गन्धीनि मांसानि जग्ध्वेत्यन्वयः । अंसः भुजमूलम् । स्फिक् नितम्बः । आदिना उरःपरिग्रहः । स्थपुटगतस्यानुपेक्षणादार्त्तत्वम् । तदाकर्षणार्थं च दशनप्रकटनम् । कश्चिदाच्छिद्य नेष्यतीति भयात् पर्यस्तनेत्रत्वम् । अत्र माधवनिष्ठजुगुप्साया भक्ष्यः शवो भक्षकः प्रेतश्चालम्बनम् । पूतिगन्धाद्युद्दीपनम् । माधवस्येयमुक्तिः तद्व्यङ्ग्य

शरणागतत्वमुद्दीपनम्, ईदृशोक्तिरनुभावः मतिदर्पादयो व्यभिचारिणः, दयोन्माद्ये सामाजिके रसोत्पत्तिरिति । बहुतरोदाहरणानि तु मृग्याणि ।

(A) करङ्कः शिरोऽस्थि । (B) स्थपुटम् अस्थिसन्धिस्थानम् ।

---

१ 'दर्भैः' इति पाठान्तरम् । २ 'पृथूत्सेध-' इति पाठान्तरम् ।

चित्रं महानेष वतावतारः क्व कान्तिरेषाऽभिनवैव भङ्गिः ।
लोकोत्तरं धैर्यमहो प्रभावः काप्याकृतिर्नूतन एष सर्गः ॥४३॥

एषां स्थायिभावानाह—

(४५) रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्त्तिताः(A) ॥३०॥

स्पष्टम्।

निष्ठीवनञ्चानुभावः। एतद्दर्शनव्यङ्ग्या जडता व्यभिचारिभावः। जुगुप्साख्ये सामाजिके रसोत्पत्तिः।

अद्भुतमाह—चित्रमिति। सर्वप्रकारप्रकृष्टं कञ्चिन्महापुरुषं दृष्ट्वा कस्यचिदुक्तिरियम्। अर्थात्तु स्तूयमानमिदम् अवतारमहत्त्वादिकं चित्रं विलक्षणं न तु विस्मये अत्र चित्रपदं तस्यात्र स्थायिभावत्वेन शब्दवाच्यत्वे रसत्वाभासे। यत इदं। यत्नोऽवतारः महान्, एषा कान्तिर्न कापि उत्कर्षे। इयं भङ्गिरभिनवैव, धैर्यं लोकोत्तरं प्रभावश्च महान् आश्चर्यं। अत्र च प्रभावातिशये एव विस्मयः मते स्थायिभावः। इयमाकृतिः काऽपि अनिर्वचनीया। एष निर्मितः सर्गः सृष्टिर्नूतनः। अत्र वक्तुर्विस्मयस्य महापुरुष आलम्बनम्, तस्य कान्त्यादिकमुद्दीपनम्, वक्तुरियमुक्तिरेवानुभावः। एतत्पदार्थो हर्षो व्यभिचारिभावः। विस्मयाख्ये सामाजिके रसोत्पत्तिः (B)।

रतिर्हासश्चेति। उक्तरसानामेते यथाक्रमं स्थायिभावाः। रत्यादीनां लक्षणानि सूक्तानि दर्पणे। यथा—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।

(A) कारिकेयं नाट्यशास्त्रे दृश्यते (६ अ, १८ श्लो०)।

(B) रसगङ्गाधरकारास्तु—'चित्रं महानेष' इत्यत्र विस्मयप्रतीतावपि नात्र अद्भुतरसध्वनित्वं सम्भवति महापुरुषविषयभावे तस्य 'पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्' इत्यादाविव गुणीभावात्। दृष्टान्तश्लोके मतिप्रतीतिस्तु सहृदयहृदयैकप्रमाणा। तथाच—

चराचरजगज्जालसदनं वदनं तव।
गलद्गगनगाम्भीर्यं वीक्ष्यास्मि हृतचेतना॥

इति मृद्भक्षणेनाभिक्षेपो न युक्त इति स्वयदनं दर्शयन्तं वासुदेवं प्रति यशोदाया उक्तिरेव उदाहरणमद्भुतरसस्य। अत्र वदनमालम्बनम्, तत्र चराचरदर्शनमुद्दीपनम्, हृतचेतनत्वमनुभावो

व्यभिचारिणो ब्रूते—

(४६) [१]निर्वेद-[२]ग्लानि-[३]शङ्काख्यास्तथाऽ[४]सूया-[५]मद-[६]श्रमाः ।
[७]आलस्यं चैव [८]दैन्यं च [९]चिन्ता [१०]मोहः [११]स्मृति[१२]र्धृतिः ॥ ३१ ॥
[१३]व्रीडा [१४]चपलता [१५]हर्ष [१६]आवेगो [१७]जडता तथा ।
[१८]गर्वो [१९]विषाद [२०]औत्सुक्यं [२१]निद्राऽ[२२]पस्मार एव च ॥ ३२ ॥

रागादिवैकृताच्चेतोविकासो हास इष्यते ।
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं 'शोक' उच्यते ॥
प्रतिकूलेषु 'तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः' क्रोधसंज्ञितः ।
कार्यारम्भेषु संरम्भ 'उत्साहः' समुदाहृतः ।
रौद्रशक्त्यादिजनितं 'वैक्लव्यं मनसो भयम्' ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा 'जुगुप्सेति निगद्यते ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
'विस्तारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः' ॥ इति

'प्रवणायितम्' उत्कटः भावोऽनुरागरूपः, सोऽपि इष्टसाधनताज्ञानधारारूपः ; न त्विच्छारूपः, अभिलाषहेतुत्वेनोक्तत्वात् । चेतोविकासः उपहसनीयत्वेन ज्ञानं मुखविकासरूपहास्यहेतुः । इष्टनाशादिभिरित्यादिपदात्प्रियान्यावस्थामात्रपरिग्रहः । वैक्लव्यं दुःखम् । संरम्भः सहर्षप्रवृत्तिः । तैक्ष्ण्यस्य अपचिकीर्षायाः प्रबोधः उत्कटत्वम् । रौद्रशक्त्येति रौद्रः क्रूरः तस्य क्रोधरूपया शक्त्या ; वैक्लव्यमिह भाविदुःखद्वेषः, तस्य च क्रोधजन्यत्वं तज्जन्यदुःखविषयत्वात्, न तु तज्जन्यं दुःखमेव वैक्लव्यं तदनुत्पत्तिदशायामपि भीत्युपलम्भात् । एवञ्च मनःक्षोभरूपाद्वक्ष्यमाणत्रासरूपव्यभिचारिभावादस्य भेदः ।

रोमाञ्चादिरनुभावः, श्रमादिर्व्यभिचारी । अत्र विस्मयान्तरेऽपि पुत्रस्य प्रीतिर्न प्रतीयते व्यञ्जकाभावात्, तत एव च महापुरुषत्वनिबन्धनो भावोऽपीति मन्यन्ते ।

सुप्तं[२३] [1]विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता[२४ २५ २६ २७]।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च[२८ २९ ३० ३१] ॥ ३३ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः[३२ ३३]।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥ ३४ ॥

निस्तार इति इष्टहेतुभ्योऽसम्भाव्यत्वज्ञानेन हेत्वनुसन्धाने मनोव्यापारणमेव चेतसो निस्तार। एते स्थायिभावा स्ववासनायामभेदेनारोप्यमाणा रसतामापद्यन्ते इति वर्णितसिद्धान्तोऽवधेय।

समाख्यातास्त्विति। नामत एव संक्षेपेणोक्ता इत्यर्थः। असङ्क्षेपकथने [illegible] एकरसस्थायिभावोऽपि अन्यरसे व्यभिचारिभाव इति सूचितम्। अत एव दूराद्‌-सुहृदागमे इत्यादौ कोपोऽपि व्यभिचारिभावत्वेनाप्त। नामत इत्यनेन च लक्षणान्यन्यत्रानुसन्धेयानीति सूचितम्। तत्र दर्पणे—

(१) निर्वेदस्य यथा— तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्य चिन्ता श्रु-निःश्वास-वैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्॥ इति

(२) ग्लानेर्यथा— रत्यायासमनस्ताप-क्षुत्पिपासादिसम्भवा।
ग्लानिर्निष्प्राणताकम्प-कार्श्यानुत्साहतादिकृत्॥ इति

(३) शङ्कया यथा— परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य चिन्तनम्।
वैवर्ण्य-कम्प-वैस्वर्य-पार्श्वालोकास्यशोषकृत्॥ इति

(४) असूयाया यथा— असूयाऽन्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता।
दोषेक्षण-भ्रूविभेदावज्ञा-क्रोधेङ्गितादिकृत्॥ इति

(५) मदस्य यथा— सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति॥ इति

(६) श्रमस्य यथा— खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः। इति

---

[1] 'प्रबोध' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः।

(७) आलस्यस्य यथा—आलस्यं श्रमगर्भाद्यैः [1]पुरुषार्थेष्वनादरः । इति

(८) दैन्यस्य यथा— दौर्गत्यादेरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् । इति

(९) चिन्ताया यथा— ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यता-श्वास-तापकृत् । इति

(१०) मोहस्य यथा— मोहो विचित्तता भीति-दुःखावेगानुचिन्तनैः ।
घूर्णता-गात्रपतन-भ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ इति

विचित्तता ज्ञानाजननम् ।

(११) स्मृतेर्यथा— *सदृशज्ञान-चिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नमनादिकृत्* ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ इति

(१२) धृतेर्यथा— ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु सम्पूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्यवचनो-ल्लास-सहास[3]प्रतिभादिकृत् ॥ इति

(१३) व्रीडाया यथा— (A)सङ्कोचश्चेतसो व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वकृत् । इति
संकोचः सहसा कार्येषु प्रवृत्त्यजननम् ।

(१४) चपलताया यथा—मात्सर्य-द्वेष-रागाद्यैश्चापल्यं त्वनवस्थितिः ।
तत्र भर्त्सन-पारुष्य-स्वच्छन्दाचरणादय ॥ इति

(१५) हर्षस्य यथा— (B)मनःप्रसादो हर्षः स्यादिष्टावाप्त्यादिभिः । इति

(१६) आवेगस्य यथा—(C)आवेगः सम्भ्रमो राज-गज-वर्षादिसम्भव । इति
सम्भ्रमो महत्त्वेन भयजनकत्वेन वा ज्ञानम्, गजवर्षयोरपि अपकारसामर्थ्यात् तादृशं ज्ञानमस्त्येव ।

(१७) जडताया यथा—अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षण-तूष्णीम्भावादयस्तत्र ॥ इति

अप्रतिपत्तिः कर्तव्यमूढता, अतो ज्ञानाजननरूपाद्विचित्ततात्मकान्मोहाद्भेद ।

(A) 'धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद्दुराचारात्' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(B) 'हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

(C) आवेगः सम्भ्रमस्तत्र वर्षजे पिण्डिताङ्गता । उत्पातजे स्रस्तताङ्गे धूमाद्याकुलताऽग्निजे । राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् । गजादेः स्तम्भकम्पादिः पांस्वाद्याकुलताऽनिलात् । इष्टाद्धर्षाः शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ॥ इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

---

1 'जाड्यं जृम्भासितादिकृत्' इति मुद्रितसाहित्यदर्पणपाठः । 2. अयमंशः क पुस्तके नास्ति ।
3 'वचनादि-' क ।

(१८) गर्वस्य यथा— गर्वो मद-प्रभाव श्री विद्या सत्[1]कुलजन्मभि ।
अवज्ञा सविलासाङ्गदर्शना ऽविनयादिकृत् ॥ इति

अवज्ञा परस्मिन् ।

(१९) विषादस्य यथा—उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निश्वासोच्छ्वास हृत्ताप सहायान्वेषणादिकृत् ॥ इति

निष्प्राणताऽनौजस्य सत्त्वसंक्षयाणां त्रयाणामपि बलहानिरूपत्वेऽपि विभिन्नकारणकत्वेन ग्लानि-दैन्य विषादानां भेदः ।

(२०) औत्सुक्यस्य यथा—इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरा-स्वेद दीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥ इति

(२१) निद्राया यथा— चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रम क्लम मदादिजा ।
जृम्भा क्षिमीलना च्छ्वास गात्रभङ्गादिकारणम् ॥ इति

(२२) अपस्मारस्य यथा—मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपात-कम्प-प्रस्वेद-फेन-लालादि[2]कारणम् ॥ इति

अपस्मारो व्याध्यन्तर्भावित्वेऽपि शृङ्गारे एतावेन, भयानकादौ तु स्यादित्यपीति प्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम् ।

(२३) सुप्तस्य यथा— [3]सुप्तं निद्रायमाणस्य विषयानुभवश्च यः ।
कापा-खेग भय-ग्लानि-सुख दुःखादि [4]कारणम् ॥ इति

(२४) विबोधस्य यथा—निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाऽङ्गभङ्ग-नयनोन्मीलना-ङ्गावलोककृत् ॥ इति

(२५) अमर्षस्य यथा— निन्दाऽऽक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्रराग शिरःकम्प भ्रूभङ्गो त्तर्जनादिकृत् ॥ इति

अभिनिविष्टता तन्निर्यातनोपायभावना । तेनात्रक्रमपविकीर्षारूपात् क्रोधादस्य भेदः ।

(२६) अवहित्थस्य यथा—(A)अवहित्था तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम् । इति

(A) भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था । व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादि-करी ॥' इति साहित्यदर्पणलक्षणम् ।

---

1 'कुलतादिभिः' इति मुद्रितपाठिकायां पाठः । 2 'कारकः' इति मुद्रितपाठिकायां पाठः ।
3 सुप्तं निद्रामुपेतस्य मुद्रितपाठिकायां पाठः । 4 'कारकं' मुद्रितपाठिकायां पाठः ।

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ ४६ ॥

एवमन्यदप्युदाहार्यम् ।

सामाजिके भावोत्पत्ति । अहौ वेत्यादौ तु शिवजपे प्रलापस्यारोपान्न तद्विषयभाव इति बोध्यम् ।

मुनिविषयां रतिमाह—हरत्यघमिति । अभ्यागतं नारदं प्रति श्रीकृष्णस्योक्तिरियम् । भवदीयदर्शनं कर्तृ कालत्रितयेऽपि शरीरभाजाम् अस्मादृशाम् अभीष्टभाजनत्वरूपां योग्यतां व्यनक्ति अनुमापयति, तत्र वर्तमानकालेऽघहरणम्, एष्यत आगमिष्यतः शुभस्य हेतुत्वेन भाविकाले शुभवत्ताम्, अतीतकाले च भवद्दर्शनानुमेयां शुभवत्तां पूर्वार्द्धेनाह—हरत्यघमिति । कृतं जनितम् । अत्र मुनिरालम्बनम्, तद्दर्शनमुद्दीपनम्, श्रीकृष्णस्येयमुक्तिरेवानुभावः, अभीष्टयत्ताव्यङ्ग्यो हर्षो व्यभिचारी, मुनिविषयश्रीकृष्णरतिश्च सामाजिके भावोत्पत्ति ।

एवमन्यदपीति । तत्र गुरुविषयरतौ यथा—

तव मन्त्रकृतो मन्त्रैर्दूरात् सयमितारिभिः ।
प्रत्यादिश्यन्त इव मे दृष्टलक्ष्यभिदः शराः ॥

इति कुलगुरुं वसिष्ठं प्रति दिलीपस्योक्तिः । नृपविषयरतौ यथा—

अहो महीयो भूपाल भुवनत्रितयोदरम् ।
भाति मातुमशक्योऽपि यशोराशिर्यदत्र ते ॥ इति

पुत्रविषयरतौ यथा—

यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो
ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया
पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥ इति

पितृ-मातृ-विमातृविषयरतौ यथा—

जीवत्सु तातपादेषु नवे दारपरिग्रहे ।
मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः ॥

इत्युत्तररामचरिते रामस्योक्तिः ।

अङ्कितव्यभिचारी यथा—

जाने कोपपराङ्मुखी प्रियतमा स्वप्नेऽद्य दृष्टा मया
मा मां संस्पृश पाणिनेति रुदती गन्तुं प्रवृत्ता पुरः।
नो यावत्परिरभ्य चाटुशतकैराश्वासयामि प्रियां
भ्रातस्तावदहं शठेन विधिना निद्रादरिद्रीकृतः ॥ ४७ ॥

अत्र विधिं प्रत्यसूया।

भ्रातृविषयरतौ यथा—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः ॥ इति

कन्याविषयरतौ यथा—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वसिक्तेषु या
नाऽऽदत्ते प्रियमण्डनाऽपि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रवृत्तिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम् ॥

इत्याश्रमवृक्षान् प्रति कण्वस्योक्तिः।

सुहृद्विषयरतौ यथा मम—

दुःखे सुखे रहसि नर्मणि तुल्यधर्मा
[1]मर्मान्तिकेऽपि किल कर्मणि शर्मदायी।
धर्मेऽप्यधर्मे रुचिरं चलितो न धर्मे
स्व मे सखे जगति कोऽस्ति तव द्वितीयः ॥ इति

[2]उदासीनविषयरतौ यथा—

यः पूयते सुरसरिन्मुखतीर्थसार्थे
स्नानेन शास्त्रपरिशीलनकीलनेन।
सौजन्यमान्यजनिरूर्जितमूर्जितानां
सोऽयं दृशोः पतति कस्यचिदेव पुंसः ॥ इति[2]

जाने कोपेति। स्वप्नवृत्तं सख्यौ कथयतः उक्तिरियम्। जाने स्मरामि। पाणिना मा मा स्पृशेति रुदत्वेत्यर्थः। यद्वा मा मा स्पृशेति पाणिनैव रुन्धन्त्येत्यर्थः। [3]तथाचात्तरमदत्त्वा हस्तसञ्ज्ञयैव निषिध्येत्यर्थः[4]। शठेन खलेन। अत्रेति असूया

---

1 मर्मोऽस्मि' ख। 2 पद्यमिदं ख पुस्तके नास्ति। 3 -मुखतीर्थमर्थे' ग। 4 'हस्तसंज्ञयैवानुराग निषिध्यताय' क ख।

(४९)—तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिताः ।
तदाभासा रसाभासा भावाभासाश्च ।

व्यञ्जकवाक्यस्येव निराकाङ्क्षत्वादिति भाव[1]। अतोऽत्र प्रतीयमानोऽपि विप्रलम्भ असूयाभावस्य व्यभिचारिभावतामेवापन्नः। त्वामालिख्येत्यादौ तु मालुप्यमे इत्यन्तं न केनापि साकाङ्क्षीकृतम्। एवञ्च रसकाव्येऽपि भावो भावकाव्येऽपि रसो वर्तत एव। तत्तद्ध्वनित्वनियामकन्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव।

अत एवान्यत्रोक्तम्—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः॥ इति

न चैवमत्र रसस्य भावाङ्गत्वे 'वक्ष्यमाणमपराङ्गाख्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यमेव किमिदं न स्यादिति वाच्यम्, अत्र रसस्य असूयानिर्वाहकत्वेन स्वचमत्काराभावादपराङ्गत्वाभावात्, यत्र स्वस्यैव चमत्कारिता तदङ्गिनस्तु निराकाङ्क्षवाक्यव्यङ्ग्यत्वमेव तत्र स्वचमत्कारेणाङ्गिप्रकर्षकत्वात्तस्यैव अपराङ्गत्वम्, तच्चाग्रे बोध्यम्'*।

तदाभासा इत्यत्र तत्पदस्य रसभावोभयपरामर्शकत्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे—**रसाभासा** इत्यादि। अनौचित्येति शृङ्गारादौ यद् यदालम्बनं वर्जितं तत्तदालम्बनकत्वमेव अनौचित्यं बोध्यम्।

तत्र रसाभासो यथा—

स्तुमः कं वामाक्षि ! क्षणमपि विना यं न रमसे
विलेभे कः प्राणान् रणमखमुखे यं मृगयसे ।
सुलग्ने को जातः शशिमुखि ! यमालिङ्गसि बलात्
तपःश्रीः कस्यैषा मदननगरि ! ध्यायसि तु यम् ॥ ४८ ॥

अत्रानेककामुकविषयमभिलाषं तस्याः स्तुम इत्याद्यनुगतं बहुव्यापारोपादानं व्यनक्ति ।

"तत्र" शृङ्गारे । अत्र "दक्षिणाद्याश्च नायकाः" इत्यनेनाधर्म्मनायकवर्जनात् तेषामनेकत्वेऽप्यधर्म्मत्वप्रौढेण अनेकोपनायकविषयनायिकारतावुदाहरति —स्तुमः कमिति । हे वामाक्षि सुन्दरनयने, यं पुरुषं विना त्वं क्षणमपि न रमसे न हृष्यसि तं कं स्तुमः त्वदेकानुरागविषयत्वेन तस्य स्तुत्यत्वादिति भावः । तथा यं पुरुषं मृगयसे अन्विष्यसि कोऽसौ, अर्थाज्जन्मान्तरे रणरूपयज्ञस्य मुखे अग्रे प्राणान् विलेभे त्यक्तवान् । विपूर्वो लभिस्त्यागेऽपि । त्वत्कर्तृकान्वेषणरूपं फलं जन्मान्तरे सम्मुखरणमरणस्यैवेति भावः । तथा हे शशिमुखि, यं पुरुषं बलादालिङ्गसि स कः सुलग्ने जातः, तथा हे मदननगरि, यं तु पुरुषं ध्यायसि कस्यैषा त्वद्ध्यानरूपा तपःश्रीः । अत्रेति स्तुम इत्यादि पादस्य चतुष्टये 'अनुगतं' सम्बद्धं 'बहुव्यापारोपादानं' रत्यभिहितभावत्वात् उपात्ता बहुव्यापाराः सदा रमणमार्गणालिङ्गनध्यानरूपाः, तस्याः अनेककामुकविषयमभिलाषं व्यनक्तीत्यर्थः । व्यक्तेनाभिलाषेण च स्वजनकैकसाधनताज्ञानधारारूपा रतिर्व्यज्यते इत्यर्थः, न त्वभिलापरूपैवात्र रतिस्तस्याः अभिलाषत्वद्व्यञ्जकत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् । नन्वीदृशव्यापारेणापि स्वीयैकनायकविषयत्वमपि सम्भवति तत् कथं कामुकानेकत्वलाभ इति । अत्र चक्रवर्त्ती—सर्वत्र वर्त्तमाननिर्द्देशादेककालत्वे लब्धे विभिन्नकालीनानामालिङ्गनान्वेषणादीनाम् [1]एकदैकपुरुषेऽसम्भवात् तदनेकत्वलाभ इति व्याचष्टे, तन्न; [illegible] स्यापीति गच्छतीत्यादाविव विभिन्नकालीनक्रियास्यापि तत्तत्कालवर्त्तमानत्वमादाय वर्त्तमाननिर्द्देशसम्भवादेककालत्वालाभात्, [2]अन्यथा एकपुरुषालिङ्गनकाले अन्यपुरुषस्य कायिकान्वेषणासम्भवात्तद्दोषतादवस्थ्यात्, न ह्यत्र मानसमन्वेषणं विवक्षितं तस्य ध्यानेन गतार्थत्वात् । अत्रोच्यते—ध्यायसि तु यमित्यत्र पूर्वनिर्दिष्टक्रियाकर्मीभूतस्य पुरुषस्य 'तु' शब्देन ध्यानान्वये [3]व्यवच्छेदात् चतुष्पदचतुष्टयाच्च कामुकानेकत्वलाभः, न हि यं पश्चात् लालयसि कोऽसौ स तु परिधत्से कोऽमायित्युक्ति

---

1 'एकदैव' क ख । 2 'अन्यथा चानेकपुरुषेष्वपि तदसम्भवात् एकं' ग । 3 'व्यवच्छेदात्' ख ग ।

भावाभासो यथा—

राकासुधाकरमुखी तरलायताक्षी
सा स्मेरयौवनतरङ्गितविभ्रमाङ्गी ।
तत् किं करोमि विदधे कथमत्र मैत्रीं
तत्स्वीकृतिव्यतिकरे क इवाभ्युपायः ॥ ४९ ॥

अत्र चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तिता । एवमन्येऽप्युदाहार्याः ।

(५०) भावस्य शान्तिरुदयः सन्धिः सबलता तथा ॥ ३६ ॥

पदैकत्वे सम्भवति, न वा 'प्रश्नैकत्वे प्रतिप्रश्न यत्पदनिर्देश उचितः । एवं भवनगरीत्यत्रापि अनेकपुरुषाश्रयनगरीरूपणादपि नानापुरुषविषयानेकभवनाश्रयत्व-सूचनं बोध्यम् ।

भावाभासो यथेति । अत्र भावो व्यभिचारिभाव, तस्य चात्र शृङ्गारीयत्वेन शृङ्गारवर्जितानुरागिणीविषयत्वादाभासता बोध्या । राकेति । राका पूर्णिमा । तरङ्गितः तरङ्गवदुत्तरोत्तरं जायमान । तथाच सा इत्य सौन्दर्यादनुपेक्षणीया, तत् तस्मात् किं करोमि, अत अस्यां कथ मैत्रीं विदधे, तत्कर्तृकस्वीकारसमूहे इह क उपाय इत्यर्थः । यत्किञ्चित् स्वीकारस्यानुद्देश्यत्वात् व्यतिकर इत्युक्तम् । अत्र तत्स्वीकारोपायचिन्तया 'अननुरागित्वलाभात् तद्विषया चिन्ता अनौचित्यप्रवर्तितेत्याह—अत्रेति । एवमन्येऽपीति, रसाभासे निःशेषेत्यादिकं यः कौमारहरेत्यादिकञ्च । भावाभासे तु—

णाभारहमि णाडिवसामिअरदिठइ' ण आणामि ।
णाअरिआणं पहुणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ इति

अत्र परपुरुषहरणाधीनो गर्वोऽनुचित' ।

रसभावेत्यादिक्रमप्राप्तान् भावशान्त्यादीनुदाहर्तुमाह—**भावस्य शान्तिरित्यादि** । 'शान्ति' नाश । 'उदय' उत्पत्ति । 'सन्धि.' विरुद्धयोर्द्वयोरपच्छेदकभेदेन एकत्र एकदा स्थिति । (A)सबलता पूर्वपूर्वभावापेक्षया उत्तरोत्तरभावानां[3]

(A) कारिकास्थ "सबलता"शब्दस्तालव्यादितया बहुषु पुस्तकेषु दृश्यते, उक्तञ्च प्रदीपे "शबलता तु कालभेदेन निरन्तरतया पूर्वपूर्वोपमर्दिनाम् । न च भावस्य शबलतायाः शान्त्युदयाभ्यामविशेष शान्तेरुदयस्य वा एकैकस्यास्वादे तद्भेदद्वयोपगमात्" इति । साहित्यदर्पणेऽप्यस्य तालव्यादित्वमुपलभ्यते ।

---

1. 'पदैकत्वे' ख । 2. 'ननुरागिणीत्व लाभात्' क । 3. '-भावाधीनचमत्कृतिभूत' ख ।

क्रमेणोदाहरणम्—

तस्याः सान्द्रविलेपनस्तनतटप्रश्लेषमुद्राङ्कितं
किं वक्षश्चरणानतिव्यतिकरव्याजेन गोपाय्यते ।
इत्युक्ते क्व तदित्युदीर्य सहसा तत् संप्रमार्ष्टुं मया
साऽऽश्लिष्टा रभसेन तत्सुखवशात्तन्व्याऽपि
तद् विस्मृतम् ॥ ५० ॥

अत्र कोपस्य

एकस्मिञ्छयने विपक्षरमणीनामग्रहे मुग्धया
सद्यो मानपरिग्रहग्लपितया चाटूनि कुर्वन्नपि ।
आवेगादवधीरितः प्रियतमस्तूष्णीं स्थितस्तत्क्षणं
मा भूत्सुप्त इवेत्यमन्दवलितग्रीवं पुनर्वीक्षितः ॥ ५१ ॥

अत्रौत्सुक्यस्य ।

बलवत्ता (A)बलवत्समूहो वा, न त्वत्र पूर्वभावस्य नाशप्रतीतिरतो भावशान्तितो भेदः । एतेषां निराकाङ्क्षता व्यञ्जकान्वये तत्तद्ध्वनित्वं बोध्यम् । तत्र भावशान्तिमुदाहरति—तस्या इति । स्वनायिकाकोपतच्छान्तिवृत्तं सख्यौ कथयत उक्तिरियम् । तत्र सम्भुक्तोपनायिकास्तनरागाङ्कितवक्षसं प्रणमन्तं स्वनायकं प्रति कुपिताया नायिकाया उक्तिः प्रथमार्धम् । तत्र च प्रश्लेष आलिङ्गनम् । मुद्राङ्कितं चिह्नितम् । इति पूर्वार्द्धे तया उक्ते, तन्मुद्राङ्कितत्वं संप्रमार्ष्टुं गोपायितुं मया 'क्व तत्' इत्युदीर्य सहसा सा आश्लिष्टा, तत्सुखवशात् तया तन्व्याऽपि तत् मुद्राङ्कितत्वं विस्मृतमित्यर्थः । कोपस्येति शान्तिरित्यनुषङ्गः । एवमुत्तरोत्तरमपि । कोपस्य च शृङ्गारे व्यभिचारिभावत्वं दर्शितमेव । कोपहेतोर्मुद्राङ्कितत्वस्य विस्मरणेन कोपस्य शान्तिर्भङ्ग्या विस्मृतमिति वाक्यस्य तद्व्यञ्जकस्य निराकाङ्क्षत्वात् ।

भावोदयमुदाहरति—एकस्मिन्निति । शयने शय्यायाम् । विपक्षरमणी सपत्नी उपनायिका वा । सुप्त निद्रित इव निस्पन्द चाटुकरणविमुखो मा भूदित्यर्थः । अमन्देति वलितक्रियाविशेषणम् । न चात्र यदि पूर्वकोपः प्रतीयते तदा सन्धिरेव यदि च तन्नाशः प्रतीयते तदा भावशान्तिरेवेति वाच्यं, पुनर्वीक्षणेन उत्सुक्यस्यैव प्रतीतेः, न तु कोप-

---

(A) अत्र "बलवत्समूह" इत्यर्थं जनता इत्यादिवत्'त'प्रत्ययेन कथञ्चिदुपपादनीय ।

१ 'च' इति पाठान्तरम् ।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोत्फालश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी (A)हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्धयन्यतः ॥५२॥

अत्रावेगहर्षयोः।

क्वाऽकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम्।

नाशस्तयोरेकस्यापि नाप्यौत्सुक्योदयादेव कोपनाशश्रौव्यात् तन्नाशप्रतीति कोपसत्वेऽपि चाटुकरणार्थमौत्सुक्योदयसम्भवात्।

भावसन्धिमुदाहरति—उत्सिक्तस्येति। परिरभ्यमाणवैदेहीकस्य भावनोपनीतवैदेहीकस्य वा रामस्य परशुरामागमे परामर्शोऽयम्। तपःपराक्रमोभयनिधेः अत एव उत्सिक्तस्य उद्धतस्यार्थात् परशुरामस्य अभ्यागमात् सत्सङ्गे प्रियता इच्छा वीररभसे वीरोचितोद्यमे उत्फालः उत्कण्ठता च माम् एकतः एकस्यां दिशि कर्षतः, तपःपराक्रमद्वयवशात् यथासङ्ख्यं तद्द्वयेनाकर्षणम्। अन्यतः अन्यस्यां दिशि एषः अनुभूयमानः भावनोपनीतो वा वैदेहीपरिरम्भः मां रुणद्धि मुनिपार्श्वे[3]गमनान्निवर्त्तयतीत्यर्थः। परिरम्भः कीदृशः? हरिचन्दनं चन्दनविशेषः तद्वत् इन्दुवच्च शिशिरः स्निग्धः, स्पृहणीयत्वमेव स्निग्धत्वम्। अत एव आनन्दी आनन्दजनकः। अत्रेति। 'आवेगः' मुनागमनप्रत्ययस्वरूपः सम्भ्रमः, स च उभयाकर्षणस्याङ्गम्। हर्षस्तु परिरभ्यमाणस्याङ्गम्। अनयोर्विरुद्धयोरेकदा एकत्र स्थितिरूपः सन्धिरत्र निराकाङ्क्षवाक्यद्वयव्यङ्ग्यः।

भावशबलत्वमुदाहरति—क्वाकार्यमिति। उर्वशीविरहात् स्वमरणमुपक्रम्य

(A) हरिचन्दनं देवतरुविशेषः, तथाच "पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः। सन्तानः कल्पवृक्षश्च पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥" इत्यमरः। "हरिचन्दनमस्त्री स्यात् त्रिदशानां महीरुहे। नपुसकं तु गोशीर्षे ज्योत्स्नाकुङ्कुमयोरपि ॥" इति मेदिनी। हरिचन्दनं कोकणे प्रसिद्धम्, अस्य गुणाः—हरिचन्दनन्तु स्निग्धं स्निग्धं तदिह दुर्लभं मनुजैः। पित्तादोषविलोपि वमथु-भ्रम-शोष-मान्द्यभेदोहन् ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे।

---

1 'रभसोन्मादश्च' इति पाठान्तरम्। 2 'न' इति पाठान्तरम्। 3 'वमने प्रतिषधातौ' ख।

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा।
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ॥५३॥

अत्र वितर्कौत्सुक्य-मति-स्मरण-शङ्का-दैन्य-धृति-चिन्तानां सबलता।
भावस्थितिस्तूक्ता उदाहृता च।

(५१) मुख्ये रसेऽपि तेऽङ्गित्वं प्राप्नुवन्ति कदाचन।

पश्चान्निवर्तमानस्य पुरूरवस उक्तिरियम्(A)। अत्र कुलमित्यन्तेन चन्द्रकुले क्वेयमिति 'ह्यात्महत्या त्वकार्यमित्येव विचाररूपो वितर्कः प्रतीयते। भूयोऽपि दृश्येत सेत्यनेन व्यङ्ग्यमौत्सुक्यं वितर्कोत्तरज्ञानत्वात् ततोऽपि बलवत्। दोषाणामित्यादि श्रुतमित्यन्तेन व्यङ्ग्या 'सर्वथा तदनुरागो दोषायैवे'त्यर्थनिर्धारणरूपा मतिस्ततोऽपि बलवती। (B)श्रुत वेद'। अहो इत्यादि मुखमित्यन्तेन व्यङ्ग्यं मुखकमनीयत्वस्मरणं ततोऽपि बलवत्। किमित्यादि कृतधिय इत्यन्तेन व्यङ्ग्या शङ्का ततोऽपि बलवती। स्वप्नेऽपि सा दुर्लभेत्यनेन व्यङ्ग्यं स्वाधीनत्वरूपं दैन्यं ततोऽपि बलवत्। चेत स्वास्थ्यमुपैहीत्यनेन व्यङ्ग्या धृतिस्ततोऽपि बलवती। क खल्वित्यादिव्यङ्ग्या चिन्ता ततो बलवतीत्येव सबलतेत्याह—अत्रेति। धास्यति पास्यति। बलवतो व्यञ्जने बलवत्ताऽपि व्यङ्ग्या। बलवत्समूह इत्यर्थे वा सबलेति तद्धितान्तं पदम्। भावस्थितेरपि सम्भवात् किमत्र तदनुक्तिबीजमित्यत आह—भावस्थितिस्त्विति स्थितभावस्थितिः, सा च भावा नातिरिच्यते इत्यतो भावोक्त्यैव तदुक्तिः जाने कोपपराङ्मुखीत्यादिकमेव तदुदाहरण मित्याह—उक्ता उदाहृता चेति।

नन्वेषूदाहरणेषु सर्वत्रैव रससम्भवाद् रसध्वनय एव किं नेत्यत आह—मुख्ये रसेऽपीति भावाद्यपेक्षया आस्वादाधिक्येन मुख्ये रसे सत्यपि ते कदाचन निराकाङ्क्षत्वान्यव्यङ्ग्यत्वदशायां साकाङ्क्षत्वानन्यव्यङ्ग्यरसस्य अङ्गित्वं प्राधान्यं

(A) यद्यपि पद्यमिदमस्मदुपलब्धेषु विक्रमोर्वशीयादिनाटकेषु नोपलभ्यते उर्वशीपुरूरवसावधिकृत्य विरचितं काव्यान्तरमपि न दृश्यते तथापि १८७९ मुद्राब्दाङ्कित पुस्तके १२७ पृष्ठे अधिकपाठरूपेणोपलभ्यत एव। एतेन शुक्रकन्यां देवयानीं दृष्टवतो राज्ञो ययातेरुक्तिरियमिति वदन्तः श्रीवत्सलाञ्छनकमलाकरवैद्यनाथभीमसेनाद्याः प्रत्युक्ता इति बालबोधिन्यां स्पष्टम्।

(B) 'श्रुतं शास्त्रश्रवणम्' इत्युदाहरणचन्द्रिका।

---

1 ˚त्महत्या त्वकार्यम् ख आत्मवधमकार्यम् ग। 2 तदाश्रयत्वदशा ग।

ते भावशान्त्यादयः। अङ्गित्वं राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत्।

(५२) अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः।

शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यः उभयशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्यश्चेति त्रिविधः।

तत्र—

(५३) अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते ॥ ३८ ॥

प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।

प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। **भावशान्त्यादय** इत्यत्र भावतच्छान्त्यादय इत्यर्थः अन्यथा [1]भावस्याङ्गित्वाप्राप्त्यनुक्तिरूपन्यूनतापत्तेः[1]*। **राजानुगतेति** विवाहप्रवृत्तो भृत्यो यथा राज्ञा तद्दिने अनुगम्यते(A) तथा मुख्येनापि रसेन निराकाङ्क्षदशायामङ्गभूतो भावादिः प्रधानीकृत्यानुगम्यत इत्यर्थः।

इत्थमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यं समाप्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य प्रपञ्चमाह—**अनुस्वानेति**। अनुस्वानः प्रतिध्वनिः। तस्य खलु जनकीभूतशब्दानन्तरजायमानत्वरूपः क्रमो लक्ष्यते। तदाभं तत्तुल्यं यथा स्यात् तथा संलक्ष्यक्रमा व्यङ्ग्यस्थितिः व्यङ्ग्यप्रतीतिर्यस्य तादृशस्तु यो ध्वनिः स शब्दसामर्थ्यार्थसामर्थ्योभयसामर्थ्योत्थत्वेन त्रिविध इत्यर्थः। शक्तिरत्र सामर्थ्यम्। उत्थत्वं प्रभवत्वम्। तादृशव्यङ्ग्यसम्बन्धात् काव्यमपि तथोपचर्यते। अनेकार्थस्य शब्दस्येत्यादिना यत्र शाब्दी व्यञ्जनोक्ता तत्र शब्दप्राधान्याच्छब्दशक्त्युत्थत्वम्, यत्र तु वक्तृबोद्धव्येत्यादिना आर्थी व्यञ्जनोक्ता तत्रार्थप्राधान्यादर्थशक्त्युत्थत्वम्, यत्र तु एकस्मिन् व्यङ्ग्ये परस्परनिरपेक्षस्य शब्दस्यार्थस्य च सामर्थ्यं तत्रोभयशक्त्युत्थत्वम्। शब्दस्य शक्यार्थ एव व्यञ्जनायाः स्वीकृतत्वाच्छाब्द्यां व्यञ्जनायां शक्तिसहकृतैव व्यञ्जना बोधिकेति मन्तव्यम्। संक्षिप्य व्याचष्टे—**शब्दशक्तीति**। 'अनुरणनं' प्रतिध्वनिः, इयमनुस्वानपदव्याख्या।

तत्र व्यङ्ग्यद्वैविध्याच्छब्दशक्त्युद्भवद्वैविध्यमाह—**अलङ्कारोऽथेति**। वस्तु-

---

(A) यस्य पुरोगामित्वमुक्तं मनुना "चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः। स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ॥" इति।

1. 'भावस्याङ्गित्वानुपपत्तेः' क-ख।

वस्त्वेवेति अनलङ्करणं वस्तुमात्रम् । आद्यो यथा—

उल्लास्य कालकरवालमहाम्बुवाहं
देवेन येन जरठोर्जितगर्जितेन ।
निर्वापितः सकल एव रणे रिपूणां
धाराजलैस्त्रिजगति ज्वलितः प्रतापः ॥ ५४ ॥

अर्थस्येत्यर्थः । शब्दस्य प्रधानत्वेनेत्यन्वयः । शब्दस्य व्यञ्जकतायामर्थस्यापि व्यञ्जकताया उक्तत्वात् प्राधान्यमात्रं शब्दस्येति भावः । अनलङ्करणमिति अलङ्कारभिन्नमित्यर्थः । अनलङ्कारमिति क्वचित् पुस्तके पाठस्तु प्रामादिक एव पुंलिङ्गस्यालङ्कारशब्दस्य नञ्तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गत्वानुपपत्तेः, बहुव्रीहिणा त्वलङ्कारभिन्नत्वालाभात् । (१)

शब्दशक्त्युत्थमलङ्कारमुदाहरति—उल्लास्येति, येन देवेन प्राकरणिकेन राज्ञा कालकरवालं कृष्णायसखड्गं महाम्बुवाहमिव उल्लास्य तस्य धाराभिः जलैरिव रिपूणां त्रिजगति ज्वलितः सकल एव प्रतापो निर्वापितः । करवालमहाम्बुवाहमित्यत्र धाराजलैरित्यत्र च पुरुषव्याघ्रादिवदुपमासमासः, न तूभयत्रैव रूपकं राज्ञि इन्द्ररूपणाभावे तस्य महाम्बुवाहोल्लासकत्वस्य प्रतापे वह्निरूपणाभावे जलजन्यतन्निर्वापकत्वस्य चासम्भवात् । 'न च राज्ञ इन्द्रत्वं प्रतापस्य वह्नित्वञ्च गुणसिन्धुरित्यत्र गुणस्य जलत्वमिव व्यङ्ग्यमिति वाच्यम् उपमासमाससम्भवे धर्मिणि व्यङ्ग्यरूपणबाधात् इत्यस्य ग्रन्थकृत्सम्मतत्वात्,'[1]* अन्यथा दशमोल्लासे—

पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जु
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ।

इत्यत्र अम्बुजे मञ्जीरबाधात् पादः अम्बुजमिवेत्युपमासमासस्यैव परिग्रहो वक्ष्यमाणोऽनुपपन्नः स्यात्, मञ्जीरे व्यङ्ग्यभ्रमररूपणे रूपकसमासस्यापि सम्भवात्, उपमासमासासम्भवे तु भवत्येव गुणसिन्धुरित्यत्र गुणे व्यङ्ग्यजलरूपणम् । अत एव इन्द्रोपमाध्वन्युदाहरणमेवेदं न श्लिष्टरूपकध्वनिः । देवेन कीदृशेन ? जरठं कठिनम् ऊर्जितञ्च गर्जितं यस्य तादृशेन । अत्र इत्थं प्रकरणाद् राजान्वयिन्यर्थेऽवगते इन्द्ररूपोऽप्यर्थः शब्दशक्त्या व्यञ्जनया प्रतीयते । तथाहि येन देवेन इन्द्रेण प्रकटस्तावो यस्य

---

१ 'न च रूपकस्य राज्ञीन्द्ररूपणमिति वाच्यं प्रयोजनाभावात् इन्द्रोपमाया एव वक्ष्यमाणत्वात् । न च तेनापि कथं रूपकं नाश्रितमिति वाच्यं तदुल्लासितमिव धाराजलेन प्रतापनिर्वापणासम्भवात् । न च प्रतापे [illegible] रूपणमस्तु गुणसिन्धुरित्यादौ गुणे [illegible] इति वाच्यम्, [illegible] ख ।

अत्र वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायकत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरुपमानोपमेयभावः कल्पनीय[1] इत्युपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः।

तिग्मरुचिरप्रतापो विधुरनिशाकृद् विभो मधुरलीलः।
मतिमानतत्त्ववृत्तिः प्रतिपदपक्षाग्रणीर्विभाति भवान् ॥५५॥

स, अर्थाद् रिपूणामस्त्राग्निः कृपाणधाराजलैर्निर्वापितः, किं कृत्वा? कालकरं कृष्णरश्मि बलं नवीनं महाम्बुवाहमुल्लास्य। येन कीदृशेन? कठिनोर्जस्वलगर्जितेन, तत्प्रयोज्यमेघगर्जनस्यैव तदीयत्वात्। तथाच तच्छब्दकश्लिष्टपदप्रयोगाद् राज्ञीन्द्रोपमायां वक्तुस्तात्पर्य्यमुन्नीयते तत इन्द्रोपमाऽपि अत्र व्यङ्ग्या, अन्यथा प्रकृतासम्बद्धेन्द्रप्रत्यायकशब्दप्रयोगोऽनुपयुक्तः स्यादित्याह—अत्रेति। 'अभिधायकत्वं' प्रत्यायकत्वम्। 'मा प्रसाङ्क्षीत्' मा प्रसक्तं भूत्। प्राकरणिको राजा, अप्राकरणिक इन्द्रः, 'उपमानोपमेयभावः' उपमा। 'कल्पनीयः' व्यङ्ग्यः। दर्शितानिष्टप्रसक्तया तत्कल्पने वक्तुस्तात्पर्य्यस्य ग्राहितत्वादिति भावः। उपमाया अलङ्कारत्वादलङ्कारव्यञ्जनासिद्धिरित्याह—इत्युपमालङ्कार इति। अत्र चक्रवर्ती—व्यङ्ग्यबोधे अनिष्टप्रसक्तिबोधस्याहेतुत्वादर्थापत्तिमूलकानुमानमेव तस्य हेतुत्वात् कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इत्येवार्थः। तदनुमानानन्तरञ्च उपमालङ्कारो व्यङ्ग्य इत्युक्तम् उपमालङ्कार इति व्याचष्टे, तन्न, 'दर्शितानिष्टप्रसञ्जनस्य कथितातात्पर्य्यग्राहकतयैव दर्शितत्वात्, न तु व्यङ्ग्यबोधकतया[2]'। तथा कल्पनीय इत्यत्र अनुमेय इति व्याख्याने उपमानोपमेयभावात्मिकाया उपमाया अनुमेयत्वव्यङ्ग्यत्वद्वयकथनानुपपत्तेः 'न' ह्यनुमेयस्य पश्चाद्व्यञ्जनया पुनर्बोधः[3]।

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारान्तरमाह—तिग्मरुचिरेति। हे देव भवान् विभाति। कीदृशः? शत्रूणां तिग्मो मित्राणां रुचिरश्च प्रतापो यस्य तादृशः, विधुराणां शत्रूणां निशाकृत् चिन्तया दिनस्यापि निशारूपकरणात्, निशा कालरात्रिर्वा। तथा मधुरा लीला यस्य (सः), मत्या मानतत्त्वे प्रमाणतत्त्वे वृत्तिः व्यवसायो यस्य तादृशः। प्रतिपदे प्रतिस्थाने पक्षाणां 'सपक्षाणाम् अग्रणीः श्रेष्ठः'।

---

1 'रूपादौपमा—' इति पाठान्तरम्। 2 '-दर्शितानिष्टप्रसञ्जनस्य कथितातात्पर्य्यमात्रोपाययकत्वेन व्यङ्ग्यानुमानानुपयोजकत्वात्' ख। 3 'पश्चाद्भावात् व्यञ्जकशब्दविरहेण' क, 'पश्चद्भावाद्व्य-'' ग। 4 'प्रतिपदाक्षाम्' ख।

अनेकैकस्य पदस्य द्विपदत्वे विरोधाभासः ।

अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद प्रभो ।

अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥ ८६ ॥

अत्रापि विरोधाभासः ।

निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥८७॥

अत्र व्यतिरेकः । अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता ।

अत्रेति, एकपदमत्र समासैकपदम्, तस्य भङ्गेन विभक्त्यन्ततया द्विपदत्वज्ञान इत्यर्थः । तथाच द्विपदत्वज्ञानमाहात्म्यादखण्डपदस्यैव श्लेषशक्तिमूला विरोधालङ्कार इत्यर्थः । तथाहि तिग्मरुचि सूर्य्य अप्रताप प्रचण्डतापशून्य, विधु चन्द्र अनिशाकर भाशून्यश्च, मधु वसन्त लीलाशून्यश्च, मतिमान् तत्त्वपरमार्थशून्यश्च प्रतिपन्न तिथि पक्षानादिभूता च, इति विरोधा व्यङ्ग्य एव सन्ते प्रकरणनियन्त्रित एव स्यातन्याभावात् ।

द्विपदत्वज्ञानाभावेऽप्यखण्डपदस्यैव विरोधमाह—अमित इति । हे विभो त्वम् असताम् अहितोऽसि । कीदृशः ? समित् युद्ध तत्र प्राप्तैरुत्कर्षैः अमितः अपर्याप्त, साधुयशोभि सहितश्च । अत्र अमित मितशून्य समित मितसहित श्चेति अहित हितशून्य सहित हितयुक्तश्चेति विरोध ।

शब्दशक्तिमूल व्यतिरेकालङ्कारमाह—निरुपादानेति, तस्मै शूलिने नम । कीदृशाय ? उपादानस्य समवायिकारणस्य सम्भार विना चित्र नानाकार जगत् अभित्तौ अनाश्रय एव तन्यते । शुक्रशोणितादिसमवायिकारण मातृजठराद्याश्रयसापेक्षत्वेऽपि स्तुतित्वाद्दोषेऽयमुक्तम् । कला चन्द्रकला तया श्लाघ्याय । अत्रेति शिल्पचातुरी बाधककलाशब्दस्य आलेख्यबाधकचित्रशब्दस्य च सामर्थ्याद् हरितालाद्युपादानमापद भित्त्याद्यधिकरणश्चित्रलेखकाद्वैलक्षण्यरूपा व्यतिरेकालङ्कार इत्यर्थ । ननु वाच्यस्य व्यङ्ग्यस्य वा प्रत्येकत्वे सम्येनालङ्कारत्वमिति हारादिवदलङ्कारा इत्यग्रे वक्ष्यति तथा व्यङ्ग्यत्वे त्वास्वादपात्रतया प्राधान्यात् परप्रकारकत्वाभावेन कथमलङ्कारत्वमित्यत आह—अलङ्कार्य्यस्यापीति । श्रमण सन्न्यासी, तस्य तद्दशाया ब्राह्मण्याभावेऽपि यथा दशान्तरीयब्राह्मण्यमादाय तथा व्यपदेश तथा वाच्यतादशीयमलङ्कारत्वमादाय तथा व्यपदेश इत्यर्थ ।

वस्तुमात्रं यथा—

पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण (A) जइ वससि ता वससु ॥५८॥

अत्र यद्युपभोगक्षमोऽसि तदा आस्स्वेति व्यज्यते ।

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र ! यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥५९॥

अत्र विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति ध्वन्यते ।

(५४) अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः संभवी स्वतः ॥३६॥

पन्थिअ ण एत्थेति—

पथिक नात्र सस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस ॥ इति संस्कृतम् ।

निवासार्थिनं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । सस्तरं शयनीयकादम् मनाग् अल्पमपि तत्रास्ति । प्रस्तर एव धय स्वपिम इति दर्शयति प्रस्तरस्थल इति । पयोधरं मेघम् । शयनीयोपकरणादिकं निवासोपकरणं नास्त्येव मेघप्रतिबन्धगतिकतया यदि वस्तुमिच्छसि तद्वसेत्यापाततोऽभिप्रायः । शब्दशक्तिमूलमत्र गूढं व्यङ्ग्यमाह—अत्रेति । एतच्च परदारगमननिषेधकशास्त्रार्थकस्य प्राकृतश्लिष्टसत्थरपदस्य, स्तनार्थकसंस्कृतश्लिष्टपयोधरपदस्य, प्रस्तरस्य स्त्रीजनं पुमान् लाति सम्भोगार्थमत्र गृह्णातीत्येवमर्थकप्रस्तरस्थलपदस्य च सामर्थ्याल्लभ्यम् ।

शब्दशक्त्या साक्षाद्व्यङ्ग्य वस्तुद्वारकस्य तद्व्यङ्ग्यालङ्कारद्वारा व्यङ्ग्यं वस्तूदाहरति—शनिरशनिश्चेति । हे नरेन्द्र त्वं यस्मै कुप्यसि शनिर्ग्रहः अशनिर्वज्रश्च तम् उच्चैर्निहन्ति, यत्र जने पुनः प्रसीदसि स उदारः अनुदारश्च भाति । अत्र पूर्वार्द्धे अशनिशब्दस्य शक्त्या शनिविरुद्धे व्यञ्जिते तद्द्वारा व्यङ्ग्यं वस्तु दर्शयति—अत्रेति । परार्द्धे [illegible] विरोधालङ्कारमात्रं न तु तद्द्वारा दर्शितवस्तुव्यञ्जनम् तत्रैककार्यकरणाप्रतीतेः ।

अर्थशक्त्युद्भवमाह—अर्थशक्त्युद्भवोऽपीति । अर्थशक्त्युद्भवोऽप्युच्यत इति शेषः । तत्र अर्थो व्यञ्जक इत्यर्थः । अर्थशक्त्युद्भवेऽपीति क्वचित् पाठः सुगम एव । व्यञ्जकः

(A) अत्र "पेक्खिअ उम" इति पाठे "प्रेक्ष्य पुन-" इति संस्कृतं बोध्यम् ।

प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा।
वस्तु वाऽलङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥४०॥
वस्त्वलङ्कारमथ वा तेनायं द्वादशात्मकः।

स्वतः सम्भवी न केवलं भणितिमात्रनिष्पन्नो यावद्बहिरप्यौचित्येन संभाव्यमानः; कविना प्रतिभामात्रेण बहिरसन्नपि

सोऽर्थस्त्रिविध इत्याह—सम्भवीति। स च वाच्यो व्यङ्ग्यो[1]* वेत्यनियम इति बोध्यम्। प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वेत्यत्र 'प्रौढोक्ति' कवेः तेन कविना उम्भितस्य निबद्धस्य जनस्य वा इत्याह—कवेस्तेनोम्भितस्य वेति[2]*। मात्रपदात् स्वतः सम्भवित्वव्यवच्छेदः। तथा च वक्तृद्वैविध्याद् द्विविध इत्यर्थः। स्वतः सम्भविना सह तु त्रिविध इति। प्रौढोक्तिश्च (A)अलीकार्थकत्वेऽपि प्रतिभामात्राधीनार्थिका उक्तिः। स्वतःसम्भविपदार्थं व्याचष्टे—अत्रेति। अपिर्यत्यर्थः याववदिति। बहिरपीति 'तादृशप्रकारेण बहिः, प्रमाणेनापीत्यर्थः'[3]*। 'औचित्येनेति' अनेनेदमुक्तं निर्दिष्टविशेषणविशेष्ययोः संसर्गस्यालीकत्वेऽपि तत्सदृशविशेष्यान्तरे तादृशविशेषणसंसर्गे दृष्टे सत्यपि निर्दिष्टवक्तयोरपि तथात्वस्यौचित्येन सम्भावनया स्वतःसम्भवित्वमिति निर्दिष्टव्यक्तिमद्ध्येऽपि तद्विशेषणादर्शने तु प्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धिः। एवञ्च अधरो म्लानकमलमिति रूपकं स्वतःसम्भवितया वक्ष्यमाणमुपपद्यते 'शोणत्वसाधर्म्येण अधरसदृशो कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्शनात्[4]*। तथा धम्मिल्लः श्यामलाङ्गः स्मर इति प्रौढोक्तिसिद्धतया वक्ष्यमाणं रूपकं

(A) अत्र अलीकानां ज्ञानासम्भवेन तद्विषयकशब्दप्रयोगोऽपि न सम्भवतीति नाऽऽशङ्कनीयम्, "अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि" इति न्यायेन तथा शाब्दज्ञानसम्भवात्।

निर्मितः, कविनिबद्धेन वक्त्रेति वा द्विविधोऽपर इति त्रिविधः। वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति षोढा व्यञ्जकः, तस्य वस्तु वाऽलङ्कारो वा व्यङ्ग्य इति द्वादशभेदोऽर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

क्रमेणोदाहरणम्—

अलससिरोमणि धुत्ताणं अग्गिमो पुत्ति धणसमिद्धिमओ।
इअ भणिएण णअङ्गी पप्फुल्लविलोअणा जाआ ॥६०॥

श्चोपपत्त्यने, बहूद्दीपकतया धम्मिल्लन्तरे उद्दीपकान्तरे '[1]श्यामलाङ्गस्यरूपाभेददर्शनेन'* प्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धे श्यामलाङ्गस्यस्यैवाप्रसिद्धेः। परन्तु सादृश्याधीनविशेष्यविशेषणभावरूपकस्थले [2]एव सदृश विशेषान्तर ग्राह्यम्, अन्यत्र तु निर्दिष्टव्यक्तयोरेव स्वत सम्भवित्वासम्भवित्वे ग्राह्ये इति मन्तव्यम्*(A)। एवमुक्तत्रिविधार्थस्य वस्त्वलङ्कारभेदेन षड्विधत्वं कारिकोक्तं व्याचष्टे— वस्तु वाऽलङ्कारो वाऽसाविति। षड्विधानां तेषां व्यङ्ग्या अपि वस्त्वलङ्कारभेदेन द्वादशविधा इति कारिकोक्तं व्याचष्टे—तस्य वस्तु वेति। द्वादशभेद इति द्वादशव्यङ्ग्यवत्त्वेन काव्यस्यापि द्वादशत्वम्। एवञ्च स्वत सम्भविनोर्वस्त्वलङ्कारयोरेकैकस्य वस्त्वलङ्कारौ द्वौ द्वौ व्यङ्ग्याविति स्वत सम्भविव्यङ्ग्याश्चत्वारः एवमपरद्वयव्यङ्ग्या अपि चत्वारश्चत्वार इति द्वादशत्व(B) बोध्यम्। क्रमेणेति स्वत सम्भविव्यङ्ग्यवस्त्वलङ्कारचतुष्कादिक्रमेणेत्यर्थः।

तत्र स्वत सम्भविवस्तुव्यङ्ग्य वस्त्वाह—अलसेति—

अलसशिरोमणिर्धूर्त्तानामग्रिम पुत्रि धनसमृद्धिमय।
इति भणितेन नताङ्गी प्रफुल्लविलोचना जाता॥ इति संस्कृतम्।

(A) अत्र पर "सादृश्यघटितत्वाभावे तत्सादृश्यस्यानुसन्धेयत्वात् अन्यथा प्रौढोक्तिसिद्धतया वक्ष्यमाणानां सर्वेषामेव स्वत सम्भवित्वापत्ते प्रमेयत्वाभिप्राय सन्महरो कापि तद्विशेषगमसर्गध्रौव्यात्" इत्यधिक पाठ क-चिह्नितपुस्तके दृश्यते, स च टिप्पनीति प्रतिभाति।

(B) अत्र विभागस्य वैचित्र्याधीनतया कविनिबद्धोक्तौ अनादृतकविकाव्यापेक्षया अधिकचमत्कारित्वस्य सहृदयानुभवसिद्धत्वेन कविनिबद्धवक्त्रोक्ति कवेरेवोक्ति ततश्च मूलोक्तस्य

---

1 'कारे वा श्यामलाङ्गरूपभेदादर्शनात्' ग। 2 'एव सादृश्यघटकधोवलोद्दीपकत्वादिधर्मेण तद्विशेष्यसदृश' ग।

अत्र ममैवोपभोग्य इति वस्तुना वस्तु व्यज्यते।

धन्याऽसि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः! शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि(४) ॥६१॥

पतिरस्याः धात्र्या प्रलोभनेतिरियम्। अन्नापमिति प्रकरणमप्यो विशेष्य। अत्र अलसशिरोमणित्वेनाधमास्त्वि धूर्ताधिमत्वेन पतिचातुर्यं धनसमृद्धिमयत्वेन अदरिद्रत्वञ्च व्यङ्ग्य वस्तु स्वतःसम्भवि, तद्व्यङ्ग्यञ्च कुमारीबोधरूप वस्तु सामाजिकबोध्यमाह—अत्र **ममैवोपभोग्य** इति, पतत्तिरशिरोमणि वरो मयैवान्विष्यते नान्यये-त्येवकारार्थः। **वस्त्विति** कुमारीबोधरूप वस्त्वित्यर्थः। कुमारीहर्षोऽपि परार्द्धव्यङ्ग्या वाच्य, तद्दशे व्यभिचारिभावध्वनित्वमेवेति बोध्यम्।

(२) स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—**धन्यासीति**। पतिवृत्तान्तालापिनीनां

विभागस्य व्यापार इत्यादावुक्तया भावना। न खलु स्वादो मधुरस्यापि सलिलस्य निदाघमध्यन्दिनोपानयननिर्मितम् उपकरणस्य वा शयनाशनसाम्मुख्यादे प्रयसीकरकमलरचनातिक्रान्तं विनय न कश्चिदनुभवति। उक्तं हि कविना—त्रिषन्मुखेऽपि स्वदते स्तुतिर्या तन्निम्ना नेष्टमुखे प्रमेया इति। नायिकादीनां साधारणीकरणव्यापारके काव्येऽपि समानोऽयं न्याय। अत एव साहित्यदर्पणेऽपि 'न खलु कवे कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता अत कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति कविप्रौढोक्तरधिक सहृदयचमत्कारिणीति' इति। एतेन कवि-तदुम्भितवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नयो रथ्यात पृथग्भावेन गणनोचिता उम्भितोम्भितान्तरपि भेदान्तरप्रयोजकतापत्त इति रम्ग गङ्गाधरकारोक्तमपि निरस्त तत्कृतवैचित्र्यविशेषस्य केनाप्यननुभवादिति स्पष्टमेतत् प्रदीपोद्योते।

(४) धन्यासीति। रसकथापराश सखीषु मध्ये रतिकालीन स्वप्रियालाप कथितवती काञ्चित् प्रगल्भस्त्या कन्याश्चिदुक्तिरियम्। हे सखि या त्व रतान्तरेषु रतमध्येषु प्रियेण सङ्गमेऽपि सुरतसङ्गमेऽपि विश्रब्ध विश्वासयुक्तं नि शङ्कमिति यावत् चाटुकाना प्रियवाक्याना शतानि कथयसि सा त्व धन्याऽसीति सोल्लुण्ठनम्। हे सख्य प्रियेण नीवीं वस्त्रग्रन्थिं प्रति कर प्रणिहित नीव्या करोऽर्पयितव्य इति प्रणिधानस्य मङ्गलस्य विषयीकृते सति न त्वर्पिते अवाचकतापत्त यदि किञ्चिदपि स्मरामि तत्र शपामि शपथ करोमीत्यन्वय। यत्रापि शपथे शप इत्यनुशासनाद् आत्मनेपदमुचितं तथाप्यङ्गस्पर्शपूर्वकमिथ्यात्वनिरासस्य मुख्यशपथस्याविवक्षितत्वान्न दोष। प्रियसङ्गमे वालापान्पि सर्वापि रतमध्येषु न पुनरङ्गावसाने वा इति वा अर्थ। यदि किञ्चिदपि

अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कारः ।

दर्पान्ध(A)गन्धगजकुम्भकपाटकूट-
संक्रान्तिनिघ्नघनशोणितशोणशोचिः ।

सखीनां मध्ये रतिकाले बाह्यकथालापिनीं काञ्चित् सखीमुपहसन्त्या अताद्रूप्याः सख्या उक्तिरियम् । विश्रब्धं विश्वासं निःशङ्कत्वं तेन रत्यनुपयुक्तचाटुकशतानि या त्वं रतान्तरेषु रतिमध्यकालेष्वपि कथयसि सा त्वं धन्याऽसीत्यर्थः । रतान्तरेष्विति बहुवचनात् प्रतिदिनमेवं भाव सूचितः । अन्तरं मध्यम् । एतेनोपहासाधिक्यम्, ईदृशकालेऽप्यन्तरतावेशस्यैवौचित्यात् । स्योन्मुकवं सूचयति—नीवीमिति । तत्सूचने च बह्वीनामप्यधान्यस्य सख्य इति बहुवचनम् । शपामि शपथं करोमि । अत्र पूर्वापरार्द्धवाक्यार्थद्वयव्यङ्ग्यं वस्तु उपहसनीयनायिकायाः सामाजिकानाञ्च बोध्यमाह—अत्रेति । व्यतिरेकः उपमानीभूतामुपहसनीयनायिकामपेक्ष्य उपमेयीभूताया वक्त्र्या आधिक्यरूपः । अत्र चण्डीदासः—उक्तालापेनोपहसनीयनायिकाया 'अधन्यत्वे तानुपर्व्यप्रहात्'[1] अधन्यत्वबाधात्तदधन्यत्वं लक्षणागम्यमेव, अत अहन्तु धन्येत्यंशो व्यतिरेकैकदेश एव व्यङ्ग्य इत्याह, तन्न, अग्रेऽप्यधन्यत्वस्य ग्रहे आहार्य्यस्य पश्चात् तद्ग्रहे त्वनाहार्य्यस्य धन्यत्वबोधस्य सम्भवात् तेनाधन्यत्वस्य व्यञ्जनेऽनुपपत्त्यभावात् ।

(३) स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—दर्पान्धेति । यस्य राज्ञः करे कृपाण

स्मरामीति वाक्यमध्ये सख्य शपामीत्यस्य प्रवेशाद् गर्भितत्वं प्रकृते गुण एव विवक्षितार्थस्य सत्यत्वप्रत्यायनार्थत्वात् । लोलुण्ठेनानेकत्वा एव सौभाग्यगर्विताया सम्बोध्यत्वाद् धन्यासीत्येकवचनम् । स्योन्मुकर्षसूचने तु बह्वीनां तथात्वात् सख्य इति बहुवचनमिति भासकृति । अत्र च रतिकालेऽपि विषयान्तरवेदनेन रागस्य कृत्रिमतामवेद्यता चाटुकथनेन त्वमधन्येति व्यज्यते । अन्तराऽपिशब्दाभ्यामत्यन्तानौचित्यप्रकाशनद्वारा तदतिशय । एवञ्च बहुवचनस्य प्रति रतिमप्य तथाभावसूचनद्वारा तद्राढ्यकत्वम् । एवं शतानीति प्रातिपदिक-वचनयोश्चेति । तथा उत्तरार्द्धे स्मरणमात्रेण प्रियकरस्पर्शमात्रेण सम्मोहानन्दमन्थरतया अकृत्रिमरागातिशयं सूचयता अहं धन्येति व्यज्यते । इत्यत्र उभयसम्बलनेन व्यतिरेकालङ्कार-लाभ इति बोध्यम् । अत स्वतःसम्भविना वस्तुना अलङ्कारध्वनि" इत्युदाहरणचन्द्रिका । उद्योतेऽप्येवम् ।

(A) "यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः ।
स गन्धहस्तिनं विद्यान्नृपतेर्विजयावहम् ॥" इति

1. 'अधन्यत्वश्च वरेण्य' क ।

धीरैर्व्यलोकि युधि कोपकषायकान्तिः
कालीकटाक्ष इव यस्य करे कृपाणः ॥६२॥

अत्रोपमालङ्कारेण सकलरिपुबलक्षयः क्षणात् करिष्यते इति वस्तु।

गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥६३॥

अत्र(A) विरोधालङ्कारेणाऽधरनिर्दंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापा-

धीरैः कालीकटाक्ष इव व्यलोकि। कृपाणः कीदृशः ? दर्पान्धस्य गन्धगजस्य स्वीयमद-गन्धेन अन्यगजत्रासकगजस्य कुम्भ एव स्फारत्वेन कपाटं तस्य कूटे अग्रभागे सङ्क्रान्त्या पतनेन निम्ने सम्बद्धे घनशोणिते शोणकान्तिः। कालीकटाक्षः कीदृशः ? कोपेन कषाया शोणा कान्तिर्यस्य तादृशः। अत्रेति, शोणत्वसाधर्म्येण उपमितस्य खड्गस्य उपमानकटाक्षगतं धर्मान्तरं व्यञ्जनागम्यमित्याह—सकलेति।

(४) स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—गाढकान्तेति। यो राजा युधि निजाधरं निर्दशन् अरिवधूजनस्य ओष्ठरूपाणि विद्रुमस्य प्रवालस्य दलानि पत्राणि गाढस्य कान्तदशनक्षतस्य व्यथारूपात् सङ्कटात् अमोचयत्, क्रोधेन स्वाधरं निर्दंश्य निहते शत्रौ तद्वधूनां रतिकालीनः कान्तकर्तृकोऽधरदंशो निवृत्त इत्यर्थः। अत्रेति अधरदंशकत्वाधरदंशमोचकत्वयोरापाततो भासेन विरोधेनेत्यर्थः। दश्यमानमोच्यमान-भेदान् न विरोधः। समकालमेवेति निर्दशन्निति वर्तमाननिर्देशात् तत्कालीनमोचनेन

"स्वेदं मूत्रं पुरीषञ्च भक्षा चैव मतङ्गजाः।
यस्याऽऽघ्राय विमाद्यन्ति तं विद्याद् गन्धहस्तिनम् ॥"
इति वा गन्धगजलक्षणम्।

(A) "अत्र निर्दशन्निति वर्तमाननिर्देशादधरदशनमोचनयोः कार्यकारणयोः पौर्वापर्य-विपर्ययरूपा अतिशयोक्तिः। इयमेव वृत्तौ विरोधपदेनोक्ता। तन्मूलत्वात् स्वतःसम्भविनाऽ-लङ्कारेण दंशनव्यापादनयोर्यौगपद्यरूपसमुच्चयालङ्कारध्वनिः। तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या वृत्तावपि समुच्चय एवोक्त इति ध्येयम्" इत्युदाहरणचन्द्रिकाकारेण विरोधतुल्ययोगितापदयो-रर्थान्तरं प्रदर्शितम्। प्रदीपकारस्यापि "अत्र निजाधरदंशनवैरिवधूजनोष्ठदशनव्यथामोचनयोः पौर्वापर्याभावलक्षणया अतिशयोक्त्या अलङ्कारेण दंशनसमकालमेव शत्रवो व्यापादिता इति "समुच्चयोऽसौ स त्वन्यो युगपद् या गुणक्रिया" इत्युक्तलक्षणः समुच्चयालङ्कारो द्योत्यते। एष एव च तुल्यकालं योगितेति व्युत्पत्त्या तुल्ययोगितेति केश्चिदुच्यते" इत्युक्तवचसोऽयमेवाभिप्रायः। तथाच तुल्ययोगिताशब्दस्यार्थान्तरकल्पना टीकाकृतैव कृतेति न मन्तव्यम्।

स्तद्वैरिणोऽपि तु ततः पराभवं संभाव्य तान् कन्दरा न त्यजन्ती-त्यपह्नुतिश्च ।

गाढालिङ्गणरहसुज्जुअम्मि दइए लहुं समोसरइ ।
माणंसिणीण माणो पीलणभीअ व्व हिअआहिं ॥६६॥

अत्रोत्प्रेक्षया प्रत्यालिङ्गनादि तत्र विजृम्भते इति वस्तु ।

जा(A) ठेरं व हसन्ती कइवअणंबुरुहबद्धविणिवेसा
दावेइ भुअणमण्डलमण्णं विअ जअइ सा वाणी ॥ ६७ ॥

अत्रोत्प्रेक्षया चमत्कारैककारणं नवं नवं जगद् 'अजलजाब्जा-

पलायनस्य । चकारः अत्र वाऽर्थे समुच्चयस्य उक्तयुक्त्या बाधात् ।

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्य वस्त्वाह—गाढालिङ्गणेति ।

गाढालिङ्गनरभसोद्यते दयिते लघु समपसरति ।
मनस्विनीनां मानः पीडनभियेव हृदयात् ॥ इति संस्कृतम् ।

रभसोद्यते बलाद्युद्यने । अत्रेति, मानस्य भयाभावात् उत्प्रेक्षायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धिः । अत्र यद्यपि मानापसरणस्यैवेदं व्यङ्ग्यं तथाऽपि तत्सहकृताया उत्प्रेक्षाया अपि इद व्यङ्ग्यमित्यभिप्राय ।

(८) कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—जा ठेरमिति ।

या वृद्धमिव हसन्ती कविवदनाम्बुरुहबद्धविनिवेशा ।
दर्शयति भुवनमण्डलमन्यदिव जयति सा वाणी ॥ इति संस्कृतम् ।

ठेरः वृद्धे देशी । वृद्धम् अत्र अर्थात् ब्रह्माणम् । तदीयभुवनान्यत्वप्रदर्शनेन तस्यैवोपहसनीयत्वौचित्यात् । 'ब्रह्मणोऽपि पद्मासनत्वादत्र कविवदने अम्बुरुह-रूपणम्, तदेव तस्योपहसनयोग्यतासम्भवात्'* । वाणी चात्र कवित्वरूपैव तस्या एव कविवदनस्थितेः, अतस्तत्कर्तृकोपहासोत्प्रेक्षाया भुवनान्यत्वदर्शनोत्प्रेक्षायाश्च कवि-प्रौढोक्त्यैव सिद्धिरित्यभिप्रेत्याह—अत्रेति । नवमिवेत्यन्त भुवनान्यत्वोत्प्रेक्षाया

मूलकृता स्वयं तस्य खण्डनाच्च । "एकत्रैव संग्रामे विजयदर्शनात् तस्याराय पलाय्य गुहासु तिष्ठन्तीति काव्यलिङ्गम्" इत्युक्तवान् प्रदीपकारस्याप्ययमेवाभिप्राय इत्यवधन्तव्यम् ।

(A) "ठेर" इति "स्थविर"शब्दस्यापभ्रंशः ।

1 'भगजासनस्या' इति पाठान्तरम् । 2 '-योपहसनौचित्यलाभात्' क । 3 'कविवदनाम्बुरुह-लक्षणस्य पद्मासनस्य ब्रह्मण उपहासात्' क ।

सनस्या निर्मिमीते इति व्यतिरेकः । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नो व्यञ्जकः ।

जे लङ्कागिरि(A)मेह्लाभिखलिआ संभोगखिण्णोरई-
फारुप्फुल्लफणावलीकवलणे पत्ता दरिद्दत्तणम् ।
ते एण्हिं मलआनिला विरहिणीणीसाससंपक्किणो
जादा झत्ति सिसुत्तणे वि बहला तारुण्णपुण्णा विअ(B) ॥६८॥

अथ निःश्वासैः प्राप्तैश्वर्या वायवः किं किं न कुर्वन्तीति वस्तुना वस्तु व्यज्यते ।

अकलङ्काङ्केत्यादिरुपहासानुमेयाया व्यङ्ग्यम् । मदनस्य यदत्र मुखात्मकं पद्म तत्राननस्येत्यर्थः । 'व्यतिरेक' इत्यस्या उपमेयस्या उपमानस्यापनया आधिक्यरूपः ।

(१) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्त्वलङ्कारव्यङ्ग्यचतुष्के उदाहर्तव्ये प्राग्वत् वस्तुव्यङ्ग्यं पद्यमाह—जे लङ्केति ।

ये लङ्कागिरिमेखलाभिस्स्खलिताः सम्भोगखिन्नोरगी-
स्फारोत्फुल्लफणावलीकवलने प्राप्ता दरिद्रत्वम् ।
ते इदानीं मलयानिला विरहिणीनिःश्वाससम्पर्किणो
जाता झटिति शिशुत्वेऽपि बहलास्तारुण्यपूर्णा इव ॥ इति संस्कृतम् ।

कविनिबद्धाया विरहिण्या उक्तिरियम् । अत्र जाता इति विशेष्यं पूरणीयम्, मलयानिला इति तु विशेषणपदमेव न विशेष्यपदं तेषां लङ्कागिरिमेखलाताऽभिस्खलनाभावात् । तथाहि—ये वाता लङ्कागिरेः सुवेलस्य मेखलातः अभिस्खलिताः, मलयागमने सति मलयानिलाः, सम्भोगखिन्नानामुरगीणां स्फारोत्फुल्लफणावलीभिः कवलने सति दरिद्रत्वं क्षीणत्वं प्राप्ताः, ते इदानीं विरहिणीनां निःश्वाससम्पर्किणः सन्तः शिशुत्वेऽपि बहला निबिडाः सन्तः तारुण्येन पूर्णा इव जाता इत्यर्थः । सुवेलतो मलयागमने समुद्रलङ्घनात् शैत्यम्, मलयानिलत्वेनैव चन्दनसौरभम्, क्षीणत्वप्राप्त्या मान्द्यं वायोरत्र बोध्यम् । (C)आहारो द्विगुणः स्त्रीणामित्यतो भक्षणादिरस्य लाभाय उरगीत्युपादानम्, सम्भोगखिन्नत्वेन तत्राधिक्यम् । अत्रेति अस्यार्थस्य

(A) 'लङ्कागिरिमेखलासु खलिआ' इति पाठे 'लङ्कागिरिमेखलासु स्खलिता' इति संस्कृतम् ।

(B) जे लङ्केति । कर्पूरमञ्जरीसट्टके देव्या विभ्रमलेखाया निदेशेन विचक्षणानाम्न्या सख्या वसन्तवर्णनमिदमिति बालबोधिन्यामुक्तम् ।

(C) "आहारो द्विगुणः स्त्रीणां बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा । षड्गुणो व्यवसायश्च कामश्चाष्टगुणः स्मृतः ॥" इति सम्पूर्णः श्लोकः ।

सहि विरइऊण माणस्स मज्झ धीरत्तणेण आसासम्।
पिअदंसणविहलंखलखणम्मि सहसत्ति तेण ओसरियम्॥६९॥

अत्र वस्तुनाऽकृतेऽपि प्रार्थने प्रसन्नेति विभावना, प्रियदर्शनस्य सौभाग्यबलं धैर्येण सोढुं न शक्यते इत्युत्प्रेक्षा वा।

ओल्लोल्लकरअरअणक्खएहिं तुह लोअणेसु मह दिण्णं।
रत्तंसुअं पसाओ कोवेण पुणो इमे ण अक्कमिआ॥ ७० ॥

अत्र किमिति लोचने कुपिते वहसि इत्युत्तरालङ्कारेण

अलीकत्वेन वक्तुः प्रौढोक्त्यैव सिद्धिः, तद्व्यङ्ग्यमाह—निःश्वासैरिति। 'पेम्बव्यं' बलम्। अत्र च तारुण्यपूर्णत्वोत्प्रेक्षाया अपीदं व्यङ्ग्यं बोध्यम्।

(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—सहीति।

सखि विरचय्य मानस्य मम धीरत्वेनाश्वासम्।
प्रियदर्शनविशृङ्खलक्षणे सहसेति तेनापसृतम्॥ इति संस्कृतम्।

सख्याः सख्यां स्वमानभ्रंशकथनमिदम्। मानस्य स्थाने विशृङ्खलः व्याकुल', स्वव्याकुलत्वस्य क्षणेऽप्ययमारोप'। तेन धीरत्वेन। अपसृतं पलायितम्। सहसेतीत्यत्र 'इति'शब्दस्य अपसृतमिति इत्येव योजना। तथाच—वाक्यसमाप्तावेव अत्र इतिशब्दः "इति हेतुप्रकरणप्रकाशादिसमाप्तिषु" इति कोशात्। अत्रेति, 'वस्तुना' मानाश्वासनपूर्वकधैर्यपलायनरूपेण, कविनिबद्धाया वक्तृ्या प्रौढोक्त्यैव सिद्धेन। **विभावनेति** प्रसादकारणस्य प्रार्थनस्याभावात्। उत्प्रेक्षाऽत्र स्पष्टैव। 'प्रियदर्शनस्य' धैर्यविरोधिन 'सौभाग्यबलमवस्थानविरोधि'[1]।

(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्त्वाह—ओल्लोल्लेति।

आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैस्तव लोचनयोर्मम दत्त (A)।
रक्तांशुकं प्रसाद' कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते॥ इति संस्कृतम्।

आर्द्रार्द्रकरजरदनक्षतैः अर्थात् परनायिकाकृतैः मम लोचनयोः रक्तांशुकं प्रसादो दत्त' कोपेन पुनरिमे नाक्रान्ते इत्यर्थः। अत्रेति। वहसीत्यन्त' प्रश्नाकार, तदाक्षेपकमुत्तरश्लोकार्थ उत्तरालङ्काररूप। स च क्षतकर्तृकरक्तांशुकदानालीकत्वेन कवि-

---

(A) अत्र टीकाकृतां 'दत्त' इत्यनुवादः प्राकृते 'दिण्णो' इति पाठाभिप्रायेणेति प्रतिभाति। अस्माभिस्तु बहुमुद्रितपुस्तकमेवादौ 'दिण्णं' इति पाठो गृहीत, तस्य संस्कृतं 'दत्तम्' इति।

1. षयमध क-ग-पुस्तकयोर्नास्ति।

न केवलमार्द्रनखक्षतानि गोपायसि यावत्तेषामहं प्रसादपात्रं जातेति वस्तु ।

महिलासहस्सभरिए(A) तुह हिअए सुहअ सा अमाअन्ती ।

अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं वि तणुएइ ॥७१॥

अत्र हेत्वलङ्कारेण 'तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तते' इति विशेषोक्तिः । एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो व्यञ्जकः । एवं द्वादश भेदाः ।

निबद्धाया नायिकायाः प्रौढोक्त्यैव सिद्धं, तद्व्यङ्ग्यमाह—न केवलमिति, 'न गोपायसि' मम दुःखजननार्थं दर्शयसीत्यर्थः । न केवलं तत्, अपि तु मम दुःखजननार्थं दर्शितानां तेषां प्रसादपात्रमहमेव जाता मम दुःखन्तु तैर्न जनितमिति भावः । अत्र लोचनयोः प्रसाददानस्य वाच्यत्वेऽपि लोचनयोः प्रसादपात्रस्य व्यङ्ग्यत्वेनेति नानुपपत्तिः ।

(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—महिलेति ।

महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।

अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ॥ इति संस्कृतम् ।

नायकस्यानेकनायिकाभावनादुःखेन कृशाया नायिकाया अवस्था तस्मिन्नावेदयन्त्या दूत्या उक्तिरियम् । अमान्ती अवकाशमलभमाना । दिवसं व्याप्य(B) । तनयति तनूकरोति, तनुशब्दात् करोत्यर्थे नामकारितान्तमिदम् । अत्रेति, बहुनायिकाक्रान्तहृदये स्थानाभावनिरङ्गतनूकरणे हेतुर्हेत्वलङ्कारः(C), स च अलीकत्वाद्दूत्याः प्रौढोक्त्यैव सिद्धः । तद्व्यङ्ग्यमाह—तनोरिति । 'न वर्तते' इति तनयतीति वर्तमाननिर्देशसाहाय्यादेव हेत्वलङ्कारव्यङ्ग्यमिदं बोध्यम् । विशेषोक्तिरिति तनोस्तनूकरणकारणतनुसत्त्वेऽपि हृदयवासरूपफलाभावात् ।

(A) 'भरिए' इत्यस्य 'भरिते' इत्यनुवादः, सर्वेषु मुद्रितपुस्तकेषु दृष्टोऽपि चिन्त्यः । तत्र 'भरः संजातोऽस्ये'त्यर्थे इतच् ।

(B) "अनुदिनम्" इत्यस्य व्याख्यानमिदम् ।

(C) अत्र हेत्वलङ्कारः काव्यलिङ्गमेव, तथा व्याख्याने बीजं 'केशेषु बलात्कारेणे'त्य त्रोक्तमेव । "हेत्वलङ्कार" इत्यत्रैकवचनमविवक्षितं महिलासहस्रभरणस्य स्थानालाभे तस्य च तनोस्तनूकरणे हेतुत्वोक्ते पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गालङ्कारद्वयस्य सम्भवादिति प्रदीपकाराणामभिप्रायः ।

(५५) शब्दार्थोभयभूरेकः——

यथा—

अतन्द्रचन्द्राभरणा समुद्दीपितमन्मथा ।
तारकातरला श्यामा सानन्दं न करोति कम् ॥७२॥

अत्रोपमा व्यङ्ग्या ।

शब्दार्थोभयेति, कुत्रचिद्विशेषणांशे स्वातन्त्र्येण शब्दशक्त्या क्वचिद्विशेषणांशे तु स्वातन्त्र्येणार्थशक्त्या एकस्यैव व्यङ्ग्यस्यार्थस्य समावेशसिद्धमुभयव्यङ्ग्यत्वमित्यर्थः । अतः शब्दशक्त्युद्भवस्यार्थशक्त्युद्भवस्य च प्रपञ्चेनैवास्य प्रपञ्चो यतार्थ इत्यभिप्रायेणाह— **एक** इति । चक्रवर्ती तु उपमालङ्कारस्य एवायं सम्भवतीत्यत उक्तम् एक इतीत्याह, तन्न, व्यञ्जकार्थस्य स्वतःसम्भवित्वादिभेदेन भेदप्रसक्तेर्दुर्वारत्वात् । **अतन्द्रेति** । प्राकरणिकाऽत्र श्यामा रात्रिः कं जनं सानन्दं न करोति । कीदृशी ? अनलसचन्द्राभरणा (A)तारकाभिस्तरला यस्यां तादृशी, मन्मथोद्दीपिका च । अत्रोभयशक्तिव्यङ्ग्यया नायिकाया उपमा उभयशक्त्युत्था । तथाहि समुद्दीपितमन्मथेत्यत्र अर्थशक्त्यैव नायिका व्यङ्ग्या नायिकाया एव मन्मथोद्दीपने प्राधान्यात्, तथा नायिकाविशेषवाचक(B)श्यामापदशक्त्या अनल्पकर्पूराभरणेत्येवमर्थकातन्द्रचन्द्रपदशक्त्या तारकावत् तरलो हारमध्यगो (मणि) यस्यास्तादृशीत्येवमर्थकतारकातरलापदशक्त्या च स्वातन्त्र्येऽपि नायिका व्यङ्ग्या, तत्प्रतीतौ च नायिकेव रात्रिरिति नायिकोपमाऽपि प्रतीयते इति । निरुपादानेत्यादौ तु चित्रपदकलापसाहाय्यं विना निरुपादान इत्यादेरर्थस्य न चित्रकरव्यञ्जकत्वमिति तत्र शब्दशक्तिमात्रोद्भवत्वम् ।

(A) अत्र रात्रिपक्षे तारकाभिस्तरला भास्वरा इत्यर्थः समीचीनतया प्रतिभाति 'तरलं चञ्चले षिड्गे भास्वरेऽपि त्रिलिङ्गकम् । हारमध्यमणौ पुंसि यवागूसुरयोः स्त्रियाम् ॥" इति मेदिनीकोषात् ; उदाहरणचन्द्रिकोक्तरीत्या बहुव्रीहौ तु तस्य विशेषणबोधकतया पूर्वनिपातापत्ते । हारमध्यगतमणिबोधकता च रात्रिपक्षे न युक्ता अर्थद्वयोपस्थापकस्य प्रकृतेऽपेक्षितत्वात् रूपकेणोपमाया बाधप्रसङ्गाच्चेति ध्येयम् ।

(B) "श्यामा यौवनमध्यस्था' इति "शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे च सुखशीतला । तप्तकाञ्चनवर्णा या सा स्त्री श्यामेति कथ्यते ॥" इति च श्यामालक्षणम् ।

(५६)———भेदा अष्टादशास्य तत् ॥४१॥

अस्येति ध्वनेः।

ननु रसादीनां बहुभेदत्वेन कथमष्टादशेत्यत आह—

(५७) रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते।

अनन्तत्वादिति। तथाहि—नव रसाः, तत्र शृङ्गारस्य द्वौ भेदौ—सम्भोगो विप्रलम्भश्च, सम्भोगस्यापि परस्परावलोकनाऽऽलिङ्गन-परिचुम्बनादि-कुसुमोच्चय-जलकेलि-सूर्यास्तमय चन्द्रोदय-षड्ऋतुवर्णनादयो बहवो भेदाः; विप्रलम्भस्याभिलाषादय उक्ताः। तयोरपि विभावानुभाव-व्यभिचारिवैचित्र्यम्, तत्रापि नायकयोरुत्तम-मध्यमाऽधमप्रकृतित्वम्। तत्रापि देश-काला-ऽवस्थादिभेदा इत्येकस्यैव रसस्यानन्त्यम्। का गणना त्वन्येषाम्। असंलक्ष्यक्रमत्वं तु सामान्यमाश्रित्य रसादिध्वनिभेद एक एव गण्यते।

(५८) वाक्ये द्व्युत्थः—

द्व्युत्थ इति शब्दार्थोभयशक्तिमूलः।

अष्टादशेति। लक्षणामूलौ द्वौ, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एकः, शब्दशक्त्युद्भवौ द्वौ अर्थशक्त्युद्भवा द्वादश, उभयशक्त्युद्भवश्चैक इत्यष्टादश(A)।

अनुभावभेदादपि रसादीनां भेदसम्भवमाह—**परस्परेति**। उद्दीपनविभावभेदादपि भेदसम्भवमाह—**कुसुमोच्चयेति**। **वर्णनादय** इति, [1]"ऋतुषट्कादिवद् वन्यादिना तद्वर्णनस्याप्युद्दीपकत्वमित्यभिप्रायः"[1]*।

वाक्ये इति। वाक्यव्यङ्ग्य एवेत्यर्थः [2]"व्यञ्जकशब्देन सह व्यञ्जकार्थवाचकशब्दस्य वाक्यत्वप्राप्तिध्रौव्यात् द्व्युत्थस्य पदव्यङ्ग्यत्वासम्भवात्"[2]*।

(A)लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः ।

तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान् ॥ ७८ ॥

अत्र तदादिपदैरनुभवैकगोचरा अर्थाः प्रकाश्यन्ते । यथा वा—

(३) मुग्धे ! मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते

मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि ।

इति वाक्यार्थे धीराणां महत्त्वं व्यङ्ग्यं तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य उपनायकविषयशृङ्गार-रसाभासस्य प्रकर्षकम्, धीरे तस्मिन् महत्त्वेन रत्यतिशयात् । उपकृत बहु तत्रेत्यादौ [illegible] लाक्षणिकपदानामेकवाक्यस्थत्वेनैव व्यञ्जकत्वं बोध्यम् । विमुह्यन्तीत्यत्र व्युपसर्गेण समासाभावेऽपि पदत्वमुपपादितमेव प्राक् । (२)

असंलक्ष्यक्रमं पदप्रकाश्यमाह—लावण्यं तदिति । अत्रेति, प्रकाश्यन्ते शक्त्यैवेति शेषः तदादीनां तथैव शक्तेः, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भनिष्ठ प्रकर्षं एव पूर्वानुभूतसुख[1]हेतुस्मरणे विप्रलम्भप्रकर्षात्[2] तस्य तत्प्रकर्षकत्वञ्च उपपादितमेव प्राक् तदादीनाञ्चात्र प्रत्येकैकवाक्यस्थत्वात् पदत्वमेव । न च तदा सुधास्पदमभूदित्यत्रैव सर्वेषामन्वयात् वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यं तल्लावण्य-मित्यनेनैव पूर्वानुभूतकाले विप्रलम्भप्रकर्षोदयेन तादृशपदेन तद्व्यञ्जने सुधास्पद-मित्यत्रान्वयस्यानपेक्षणीयत्वात् । अत्र च अनुभवैकेत्यादिना व्यङ्ग्यप्रदर्शनमेव कृतं धटत्वादिनैव तदादीनां शक्तेरिति केचिद्व्याचक्षते तन्न, अनुभवैकगोचरत्वस्य वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनायां असंलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वोदाहरणानुपपत्तेः । स इत्युक्ते श्रोतुरननुभूतार्थस्य 'अनुभूतलुप्तसंस्कारस्यार्थस्य वा'[3] घटत्वादिना बोधाभावाच्च । विप्रलम्भे उदाहृत्य सम्भोगेऽप्युदाहरति—यथा वा मुग्धे इति । पत्याव-

---

(A) मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥ इति लावण्यलक्षणम् ।

---

1 अत्र 'हेतु' इति [illegible] पुस्तकयोर्नास्ति । 2 अत्र 'विप्रलम्भ' इत्यस्य पर 'प्रकर्षपोषात् स च महावाक्यव्यङ्ग्यविप्रलम्भस्य प्रकर्षकः । न च प्रकर्षं कथं प्रकर्षक इति वाच्यं प्रकाशत्वेन भासमानस्य प्रकर्षकत्वात् प्रकाशस्य च विशेषणस्य भासमानतया वाचकत्वात्' इति ख-ग-पुस्तकयोरधिकः पाठः । ग-पुस्तके तत परमपि 'इयांस्तु विशेषो यत्र मिथाधीनादिषु पुलकसीत्कारव्यवहारिलादिव्यञ्जनाद्वारा तद्विषयो भाव-प्रकर्षो व्यज्यते न साक्षादिति' इत्यप्यधिकः । 3. 'अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति ।

सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥७६॥

अत्र भीताननेति। अनेन हि नीचैः शंसनविधानस्य युक्तता गम्यते। भावादीनां पदप्रकाश्यत्वेऽधिकं न वैचित्र्यमिति न तदुदाहृियते।

(४) रुधिरविसरप्रसाधितकरवालकरालरुचिरभुजपरिघः(A)।
झटिति भ्रुकुटिविटङ्कितललाटपट्टो विभाति नृप भीमः ॥७७॥

धकभावां सखीं धकभावावरणायोद्वेजयन्त्या सख्या उक्तिं प्रमाद्धे मुग्धे मुग्धतयेत्यादिकम्। सख्या एव प्रतिबोधिता नायिका भीतानना सती तां सखीं नीचैरित्यादिकं प्रतिवच प्रत्युत्तरमाहेत्यन्वयः। यद्वा मान धत्स्वेत्यादि वच प्रतिवच, नीचै शंसेत्याहेत्यर्थ। प्रतिबोधनीयमर्थमाह—मुग्धे इत्यादि। मुग्धे उपदेशग्राहिणि मुग्धतया यथोचिताचरणमूढतया नेतुमित्यादि। तर्हि किं करोमीत्यत्राह—मानमित्यादि। धत्स्व गृहाण। ग्राम बन्दीकुरु, प्रियगतिं प्रत्यधीरा मा भूरित्यर्थ। श्रूयताम् भवत्ताम्। अत्रेति, नायिकाया सम्भोगशृङ्गारोऽत्र महावाक्यव्यङ्ग्य। भीताननेत्यनेन तत्प्रकर्षो व्यज्यते तद्भीतिजनकत्वात्तस्येन भयासदनुरागात्मिकाया रते प्रकर्षलाभात्, अन्यथा नीचै शंसनाभिधानस्य प्रतारणरूपताया अपि सम्भवात्। तदेवाह—अनेन हीति। 'युक्तता' अनुरागाधीनत्वेन अप्रतारणरूपता। शून्यं वासगृहमित्यादौ तु नेदृश किमपि पदमित्यतो वाक्यमेव तत्र व्यञ्जकम्। **भावादीना**मिति भावादीनां प्रकर्षस्येत्यर्थ भावादीना महावाक्यव्यङ्ग्यत्वेन पदप्रकाश्यत्वाभावात्। 'नाधिक' न इतोऽधिकम्। तथाच एतदुदाहरणेनैव तद्गतार्थमिति भाव। चक्रवर्ती तु—अमृततुल्यस्य रसस्य कणाऽप्यास्वाद्या मधुतुल्यस्य भावादेस्तु कणा नाऽऽस्वाद्या, अतो रसकणायामिव भावादिकणायां नाधिकं वैचित्र्यमिति व्याचष्टे, तन्न, रसादिप्रकर्षस्यैव प्रकाश्यत्वात् व्यञ्जकाल्पत्वेन व्यङ्ग्याल्पत्वाभावेन(B) रसादे कणस्यैवासम्भवाच्च, न हि महाप्रदीपाल्पप्रदीपाभ्या व्यङ्ग्यत्वेन घटादेर्महत्त्वाल्पत्वे। (३)

शब्दशक्तिमूलमलङ्कार पदप्रकाश्यमाह—**रुधिरे**ति। हे नृप भीम' भीषणीय

(A) "परिघ" अर्गल, अपश्रीनिरोधकत्वादित्युदाहरणचन्द्रिकायां स्पष्टम्।
(B) व्यञ्जकाल्पतया व्यङ्ग्यस्याप्यल्पत्वमिति नियमाभावेनेत्यर्थ।

अत्र भीषणीयस्य भीमसेन उपमानम् ।

(८) (A)भुक्ति-मुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।

कस्य नाऽऽनन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥ ७८ ॥

भवान्(B) विभातीत्यन्वयः । "विसरः" समूहः, "प्रसाधित" मण्डित, "कराल" भीषण, "करवाल" खड्ग, "परिघ" मुद्गर, "विद्रुतम्" उच्चनीचीकृतम्, "पट्ट" स्फारदेशः । अत्र अनेकार्थकभीमपदसामर्थ्यात् राज्ञि भीमसेनोपमा व्यङ्ग्या वीरत्वं व्यञ्जयन्त्या तया च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयभावस्य प्रकर्षो व्यङ्ग्ये वीरे भावातिशयात् । उल्लास्य कालेत्यादौ [illegible] एकवाक्यस्थानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । (४)

शब्दशक्तिमूलं पदप्रकाश्यं यत्त्वाह—भुक्तिमुक्तीति । अन्यान्तरस्तत्क्रियानुप-नायके उपस्थिते पुराणाद्यागमप्रशंसाव्याजेन तदागमनाधीनं हर्षं व्यञ्जयन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । सदागमः सच्छास्त्रं पुराणादिकं कस्य जनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्त्योः स्वर्गापवर्गयोः कर्त्ता, एकान्तसमादेशनं तत्वोपदेशः तत्परः तत्कारी । व्यङ्ग्यार्थस्तु सदागमः सत्पुरुषस्यागमनं कस्य मद्विध-जनस्य आनन्दनिस्यन्दं न विदधाति । कीदृशः ? भुक्तिमुक्त्योः सुरतोपभोगगृहकर्म-त्यागयोः कर्त्ता, एकान्तसमादेशनं रहस्यलीलोपदेशः तत्परः । एवंविधस्त्वर्थो-ऽनेकार्थकसदागमपदप्रकाश्यः, तदभावे एकार्थकभुक्त्यादिपदेभ्य ईदृशार्थबोधानुदयात्, स च उपनायकप्रशंसारूपत्वान्महावाक्यव्यङ्ग्यतद्विषयरसाभासप्रकर्षकः प्रशस्ते रत्या-धिक्यात् । पन्थिअ [illegible] पत्थेत्यादौ तु एकवाक्यस्थितानेकपदानां वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम् । [1]न च व्यञ्जकपदानामेकवाक्यस्थितत्वेऽपि एकैकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वं विवक्षितम्,

---

(A) "भुक्ति" सम्भोग, "मुक्ति" विरहादिषु स्वत्याग ।

(B) अत्र उदाहरणश्लोके "विभासि नृप भीम" इति काव्यप्रदीपादिसम्मतः पाठः, स तु ज्यायान्, "नृप" इति सम्बोधनानन्तरं भवत्पदप्रयोगस्य तदनुसारिक्रियापदप्रयोगस्य वा असमं-ञ्जस्येयम् ।

---

1 'न च तत्र महावाक्यव्यङ्ग्येऽपि तेषामेकत्वेन कलमानात् पदत्वेनैव व्यञ्जकत्वमिति वाच्यम्, तत्र विभिन्न व्यङ्ग्यद्वारा भयुपभोगसम्भोऽमीतिरव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वात्' सु-ज ।

(६) सायं स्नानमुपासितं मलयजेनाङ्गं समालेपितं

यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।

आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्ताऽसि येनाधुना

नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥ ७९ ॥

अत्र वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया क्लान्ताऽसीति वस्तु अधुनापदद्योत्यं व्यज्यते ।

अन्यथा वक्ष्यमाणे तथाभूतमहासुखेत्यादौ एकवाक्यस्थयोरपि अर्थोभयपदयोर्व्यङ्ग्यद्वयबोधकत्वात् पदत्वेन व्यञ्जकतोदाहरणमनुपपन्नं स्यात्, तथाच 'पथिअ ण एत्थ'-त्यत्र शाखादिभिर्भिन्नव्यङ्ग्यव्यञ्जकानां सत्थरादिपदानां कथं वाक्यत्वेन व्यञ्जकत्वमिति वाच्यम्, प्रत्येकं तत्तद्व्यञ्जनद्वारा यदुपभोग इत्याद्येकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन वाक्यत्वात्। *[1]अत्रेति उद्देश्यनिर्देशकत्वेन व्यञ्जनाया एवात्र मुख्यत्वमुक्तम्। [1]अमुख्ययेति पाठस्तु क्वचित् सुगम एव*। (५)

स्वतःसम्भवि वस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदप्रकाश्यमाह—सायमिति। उपनायकेन पर्युपभुक्तां क्लान्त्याऽऽगतां सखीमुपहसन्त्याः सख्या उक्तिरियम्। तव सौकुमार्यमधुना आश्चर्यम्, येन सौकुमार्येण अभितः सर्वाङ्गे क्लान्ताऽसि। क्लमज्ञापकमाह—नेत्रद्वन्द्वमिति। यतस्तव नेत्रद्वन्द्वं मीलनस्य व्यतिकरं सम्बन्धं विना आसितुं स्थातुं न शक्नोति। सौकुमार्यातिरिक्तस्तव क्लमहेतुर्नास्त्येवेत्याह—सायमिति। अनेन क्लमहेतुरतया नास्ति प्रत्युत क्लमनिवृत्तिहेतू स्नानमलयजाङ्गलेपावेव स्त इति दर्शितम्। अत्र च सायपदस्य निधुवनात्मकसायाह्नपरत्वे तन्नातपसम्भावना निरस्यति—यातोऽस्तेति। विश्रब्धं स्वैरम्। अत्रागति इहागमनम्। एतेन भयाद् द्रुतत्वाद्वा क्लमो नास्तीति दर्शितम्। विश्रब्धमन्देति क्वचित् पाठः। अत्रेति 'वस्तुना' वाक्यार्थेन स्वतःसम्भविना। अधुनापदेति। ईदृक्क्लमस्य सौकुमार्यप्रयुक्तत्वे दिनान्तरेऽप्येवं स्यादतोऽधुनापदादाधुनिकक्लमहेतुलाभ इति भावः। अत्र च महावाक्यव्यङ्ग्य उपहासे व्यङ्ग्यमिदञ्च तदुत्कर्षकं पदव्यङ्ग्यसम्बन्धेनाधिकोपहाससिद्धेः। अलमशिरोमणीत्यादौ तु एकविशेष्यकपदत्रयस्य वाक्यत्वेनैव व्यञ्जकत्वम्। (६)

---

1 अयमंशः ख-ग-पुस्तकयोर्नास्ति

(७) तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥ ८० ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका(१) ॥ ८१ ॥

अत्र जन्मसहस्रैरुपभोक्तव्यानि दुष्कृतसुकृतफलानि वियोगदुःखचिन्ताह्लादाभ्यामनुभूतानीत्युक्तम् । एवं च अशेष-चयपदद्योत्ये अतिशयोक्ती ।

स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पद्यकाव्यमाह—तदप्राप्तीति । जगत्सूतिं जगज्जनकम् । परं सर्वोत्कृष्टम्, ब्रह्मस्वरूपिणम् चिन्तयन्ती पूर्वोक्तनायिकातोऽन्या गोपकन्यका निरुच्छ्वासतया निरुद्धप्राणवायुतया मुक्तिं गता कृष्णवियोगान्मृता मुक्तेत्यर्थः । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिरित्यत आह—तदप्राप्तीति । भोगेन हि पापपुण्यक्षयः, अतस्तदप्राप्तिजन्यमहादुःखेन समस्तपापस्य तच्चिन्ताजन्यविपुलसुखभोगेन समस्तपुण्यस्य च क्षयवतीत्यर्थः । पापपुण्ययोः सामस्त्यलाभाय अशेषचयपदाभ्याम् । अत्रेति । समस्तपापपुण्यक्षयादेव मुक्तिप्राप्तिरूपं स्वतःसम्भवि वस्तु प्रकृतवाक्यार्थः तद्व्यङ्ग्यौ च अतिशयोक्त्यलङ्कारावित्यर्थः । तथा हि मुक्त्युपयोगितया प्रकृतानां समस्तपापफलानां पापविशेषफलेन तदप्राप्तिदुःखेनाप्रकृतेन मुक्त्युपयोगितया प्रकृतानां समस्तपुण्यफलानाञ्च पुण्यविशेषफलेन तच्चिन्ताविपुलसुखेनाप्रकृतेन स्वभेदेन निर्देशात्मकनिगरणरूपावेतौ अलङ्कारौ,

"निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्"

इति तल्लक्षणात् । निगरणं हि प्रकृतस्य स्वशब्देनानुक्तया उक्ताप्रकृताभेदेन व्यञ्जनया प्रतीतिः, कमलकमलमसीत्यत्र अप्रकृतेन कमलेन प्रकृतस्यानुक्तस्य मुखस्येव । तौ चालङ्कारौ पापपुण्यसामस्त्यद्योतकाभ्यामशेषचयपदाभ्यां द्योत्येते कारणसामस्त्येन तत्फलसामस्त्यद्योतनात् । तदाह—अशेषचयपदेति । धन्याऽसि या कथयसीत्यादौ तु

(१) अत्र अन्या गोपकन्यका मुक्तिं गतेत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—तदप्राप्तीति तच्चिन्तेति च, प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षय इति सिद्धान्तादिति भावः । "चिन्तयन्ती" इत्यनेन साक्षात्कारहेतुनिदिध्यासनमुक्तम् । निरुच्छ्वासतयेत्यस्य नास्ति उच्छ्वासः प्राणोत्क्रमणं यस्याः सा, तत्तयेत्यर्थः 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते' इति श्रुतिरत्रार्थे प्रमाणम् । परब्रह्म निर्गुणं ब्रह्म, परापरभेदेन ब्रह्मणो द्वैविध्यं शास्त्रे प्रसिद्धम् । स्पष्टमन्यत् । विष्णुपुराणस्यैतत् पद्यद्वयम् ।

(८) क्षणदाऽसावक्षणदा वनमवनं व्यसनमव्यसनम् ।

वत वीर तव द्विषतां पराङ्मुखे त्वयि पराङ्मुखं सर्वम् ॥ ८२ ॥

अत्र शब्दशक्तिमूलविरोधाङ्गेनार्थान्तरन्यासेन 'विधिरपि त्वामनुवर्त्तते' इति सर्वपदद्योत्यं वस्तु ।

(९) तुह वल्लहस्स गोसम्मि आसि अहरो मिलाणकमलदलो(A) ।

इदिशपदाभासान्महावाक्यमेव व्यञ्जकम् । तौ चालङ्कारौ नायिकाविप्रलम्भव्यञ्जिकाया युक्तरुपपादकस्य समस्तारोपपुष्टस्यपदस्योपपादकत्वेन महावाक्यमङ्गत्वयोग्यो 'विप्रलम्भप्रकर्षको विप्रलम्भप्रकर्षकमुक्त्युपपादनद्वारत्वात्'१ । न च अंशत्वयपदयोर्व्यञ्जकयोरेकवाक्यस्थत्वेन कथं पदत्वमिति वाच्यम्, विभिन्नस्वस्वव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वेन पदत्वात्, एकव्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वे सत्येव तादृशवाक्यत्वस्यत्वात् । (७)

स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्य वस्तु पद्यात्यमाह—क्षणदाऽसाविति । क्षणदा अनुत्सवदा । अवन रक्षकम्, वनस्य पलायनस्थानत्वात्, नन्द्यादित्वाद् कर्त्तरि ल्यु । व्यसन द्यूतादिकौतुकम् । अव्यसनम् अविस्तीर्णम्, यद्वा अविभि[?] असन शिरःप्रहारेण क्षेपणम्, तादृशं व्यसनम् आपत्, त्वद्विद्विषो शिरसा प्रहृत्य त्वद्दया निःसार्यन्त इत्यर्थः । तत्र च क्षणदादिशब्दापस्थाप्य शब्दशक्तिमूल क्षणदादे क्षणदात्वादिपराङ्मुखत्वरूपा विरोध आपाततो भासते तथार्थान्तरन्यासेन समर्थ्यते पराङ्मुखे त्वयीति, त्वयि पराङ्मुखे सति तान् प्रति न केवल क्षणदादेः स्वस्वधर्मत्यागेन पराङ्मुखत्वमपि तु सर्वेषामेव पराङ्मुखत्वमित्यर्थः । स चार्थान्तरन्यासो दुष्करत्वात् स्वतःसम्भवीति तद्व्यङ्ग्यमाह— अत्रेति । 'विरोधाङ्गेन' विरोधनिर्वाहेण । विधिरपीत्यादि सर्वपदद्योत्यता सर्वदैव विधेरपि स्वभावात् शत्रून् प्रति पराङ्मुखत्वस्यैव वाच्यत्वेन तदनुवर्तनस्य व्यङ्ग्यत्वम् तथ महावाक्यव्यङ्ग्यस्य राजविषयभावस्य प्रकर्षकमेव विधिनाऽप्यनुवर्त्तनीयं भावप्रकर्षोदयात् । दृष्टान्ते यादौ तु ईदृशपदाभासाद्वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (८)

स्वतःसम्भव्यलङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कार पद्यान्यमाह तुह वल्लहस्सेति ।

(A) "गोसम्मि" इति पद "प्रभाते" इत्यर्थे देशी । अस्य संस्कृत 'प्रात' इति काव्यप्रदीपटीकाकार । अत्र "कमलदलो" इति पुंस्त्व प्राकृत लिङ्गानियमादिति व्यक्तमुद्योतादौ ।

---

१ 'विप्रलम्भस्य प्रकर्षव्यञ्जकौ विप्रलम्भाधीनमुक्त्युद्भूतयो समस्तारोपपुष्टकत्वभोगयोस्तदभावसिद्धस्य तद्विनाशुद्धाव्यामभिन्नाव्यवस्थानात् वाहृत्तु स्वसातिशयत्वसाधनेन विप्रलम्भातिशयनाभावात् दुःखमभिन्नरतिरूपस्य विप्रलम्भस्य दुःखाधिक्यनाधिक्यात्' ख ग, ।

इअ णववहूआ सोऊण कुणइ वअणं महीसंमुहं ॥ ८३ ॥

अत्र रूपकेण त्वयाऽस्य मुहुर्मुहुः परिचुम्बनं तथा कृतं येन म्लानत्वमिति मिलाणादिपदद्योत्यं काव्यलिङ्गम् । एषु स्वतः-सम्भवी व्यञ्जकः ।

(१०) राईसु चंदधवलासु ललिअमप्फालिऊण जो चावं ।

एकच्छत्तं [1]विअ कुणइ भुअणरज्जं विजम्भन्तो ॥ ८४ ॥

तव वल्लभस्य गोसे आसीदधरो म्लानकमलदलम् ।

इति नववधूः श्रुत्वा करोति वदनं महीसम्मुखम् ॥ इति संस्कृतम् ।

राज्ञात्यन्तचुम्बितपत्यधरां नवयौवनां वधूं प्रति कस्याश्चिदुक्तिरियम् । गो. गोसे-ऽस्मिन्निति गोसं प्रभातम् । नववधूः नवयौवना वधूः । अधरस्य म्लानकमलदलत्वेन रूपणात् म्लानिहेतुपत्यधरात्यन्तचुम्बनप्रकाशनात् मुखनमनम् । अत्र च रूपरूपकयो[2]रभेदसंसर्गस्यालीकत्वेऽपि रूपकहेतुना शोणत्वरूपसाधर्म्येण अधरसन्निभे कमलदल एव म्लानकमलदलाभेददर्शनात् अधरेऽप्यौचित्येन सम्भावितस्य म्लानकमलदलाभेदात्मनो रूपकालङ्कारस्य स्वतःसम्भवित्वमिति प्रागेव दर्शितम्* । तद्व्यङ्ग्यश्च अधरम्लानिहेतुरत्यन्तचुम्बनमित्येवंरूपो हेत्वलङ्कारः । स च रूपकबोधकम्लानकमलदलपदकाश्य इत्याह—अत्रेति । व्यङ्ग्यश्च म्लानिहेतुचुम्बन परार्द्धरूपमहावाक्यव्यङ्ग्यवधूलज्जया [3]प्रकर्षकः स्वकर्तृकात्यन्तपत्यधरचुम्बनप्रकाशनाल्लज्जाधिक्यात् । गाढकान्तेत्यादौ तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (९)

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्य वस्तु पद्यप्रकाश्यमाह—राईसु इति

रात्रिषु चन्द्रधवलासु ललितमास्फाल्य यश्चापम् ।

एकच्छत्रमेव करोति भुवनराज्यं विजृम्भमाणः ॥ इति संस्कृतम् ।

अत्र य इत्यस्य प्रकरणलभ्यः कामो विशेष्यः । भुवनराज्यं भुवनराजत्वम् । अत्र अनङ्गस्य व्यापारकारणपूर्वकभुवनाधिकारकरणस्यालीकत्वेन तद्रूपं वस्तु कवि-

---

1 'विव' इति क्वचित् पाठः । 2 '-भेदरूपसंसर्गस्यालीकत्वेन रूपकस्य म्लानकमलदलस्य प्रसिद्ध्या स्वतःसम्भवित्वं रूपकस्य बहिरप्यौचित्येन सम्भाव्यमानं इत्यत्र व्याख्यातमेव' ख ग । 3. 'प्रकर्षप्रसक' ख-ग ।

अत्र वस्तुना येषां कामिनामसौ राजा स्मरस्तेभ्यो न कश्चिदपि तदादेशपराङ्मुख इति जाग्रद्भिरुपभोगपरैरेव तैर्निशाऽतिवाह्यते इति सुअणरज्जपदद्योत्यं वस्तु प्रकाश्यते।

(११) निशितशरधियाऽर्पयत्यनङ्गो
दृशि सुदृशः स्वबलं वयस्यराले।
दिशि निपतति यत्र सा च तत्र
व्यतिकरमेत्य समुन्मिषन्त्यवस्थाः ॥ ८९ ॥

प्रौढोक्त्यैव सिद्धम्, तद्व्यङ्ग्यमाह—अत्र येषामिति। तेभ्य इत्यत्राऽपाये पञ्चमी, तेभ्योऽपेतो बहिर्भूत इत्यर्थः, निर्धारणे तु पञ्चम्यनुपपत्तेः (A)। पराङ्मुख इत्यन्तं जाग्रद्भिरित्यादेर्हेतुप्रदर्शनपरम्, ईदृशञ्च व्यङ्ग्यं प्रजानां सामस्त्यव्यापकभुवनराज्यपदादेव प्रकाशत इत्याह—भुवनेति। तत्र महावाक्यव्यङ्ग्यस्य समस्तजनव्याप्तस्य प्रवर्तकं जाग्रद्भिरित्यादिना तत्प्रकर्षस्य स्फुटत्वात्। कैलासस्येत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। पक्कच्छत्त निभ इत्यत्र पक्वच्छत्रमिवेति संस्कृतमाह चक्रवर्ती, तत्र, तदा उत्प्रेक्षाया एव व्यञ्जकतापत्तेर्न तु वस्तुन (B)। (१०)

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—निशितेति। अराले युवत्या धनभावहेतुत्वेन कुटिले वयसि यौवने सति सुदृशो दृशि अनङ्गो निशितशरधिया स्वबलमर्पयति, सा चार्पितबला दृग् यत्र दिशि निपतति तत्र दिशि अवस्था अर्थात् यूनां विरहकालीना कामिन्यो दश दशा व्यतिकरं मिलनम् एत्य समुन्मिषन्ति जायन्ते। दशावस्थाश्च—

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः।
[1]अधृतिश्चाप्यनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह॥

इति वात्स्यायनोक्ताः। तासाञ्च कामिकाणां युगपदुन्मेषरूपं वस्तु वाक्यार्थं व्यक्तोऽ-

(A) बोपदेवानुयायिनस्तु "निर्धारेऽपि केन क्रियान्त कालाध्वनोश्च ङौ च" इति सूत्रेण निर्धारेऽपि पञ्चमी सम्भवतीति प्राहुः।

(B) "न तु वस्तुन" इति व्यञ्जकत्वं सम्भवतीति शेषः। पूर्वत्र व्यञ्जकत्वापत्तेरित्यत्र व्यञ्जकत्वापत्तिरिति प्रथमान्तपाठः समीचीनः।

1 'अधृति सारुना' इति मुद्रितपुस्तकपाठः।

अत्र वस्तुना युगपदवस्थाः परस्परविरुद्धा अपि प्रभवन्तीति व्यतिकरपदद्योत्यो विरोधः।

(१२) वारिज्जंतो वि पुणो संदावकदत्थिएण हिअएण।
धणहरवअस्सएण विसुद्धजाई ण चलइ से हारो॥ ८६॥

अत्र विशुद्धजातित्वलक्षणहेत्वलङ्कारेण हारोऽनवरतं कम्पमान एवास्ते इति 'ण चलइ'पदद्योत्यं वस्तु।

सम्भवात् कविप्रौढोक्त्यैव सिद्ध, तद्व्यङ्ग्यश्चात्र कामिकाणां युगपदुन्मेषो विरुद्ध इत्येवरूपो विरोधालङ्कार, स च युगपत्तावोधकव्यतिकरपदप्रकाश्य इत्याह—अत्रेति। परस्परविरोधोऽत्र कालिक, तद्व्यलीकत्वाद्विरोध। स च विरोधो महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाद्भुतयुवजनशृङ्गारस्य प्रकर्षक युगपद्विरुद्धसर्वावस्थोदयेन तेषां शृङ्गाराधिक्यलाभात्। 'केसेसु बलामोडिअ' इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (११)

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्य वस्तु पदप्रकाश्यमाह—वारिज्जंतो वीति—

वार्यमाणोऽपि पुन सन्तापकदर्थितेन हृदयेन।
स्तनभरवयस्यतया विशुद्धजातिर्न चलति(A) तस्या हार॥

इति संस्कृतम्।

सन्तापकदर्थितेन हृदयेन पुन पुनर्वार्यमाणोऽपि तस्या हारो विशुद्धमुक्ताजातीयघटित, स एव च श्लेषाद् विशुद्धब्राह्मणादिजातीयत्वेन अध्यारोपित ; स्तनभरस्य वयस्यतया न चलति नापगच्छति विशुद्धजातीयस्य वयस्यत्यागाभावादित्यर्थ। पुनरित्यत्र पुन पुनरित्यर्थ। एतच्च विशुद्धजातित्वमनपगमे हेतुरिति हेत्वलङ्कारो वाच्यार्थ कवि प्रौढोक्त्यैव सिद्ध, तस्यानपगमहेतुत्वस्यारोप्यत्वेनावास्तवत्वात्। तद्व्यङ्ग्य वस्त्वाह—हारोऽनवरतमिति, वार्यमाणस्यानपगमे कम्पनीयत्वात्, अत एव न चलतीति पदद्योत्यं तत्, नञर्थस्य कारकान्वयाभावात् तदन्वयेन व्यञ्जकस्यापि न चलतीत्यस्य असमासेऽपि पदत्वमेवेति प्राग् दर्शितम्। व्यङ्ग्येन हारकम्पेन च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य नायिकाविप्रलम्भस्य प्रकर्ष हारकम्पकतापेन(B) विप्रलम्भातिशयलाभात्। गाढालिङ्गनेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (१२)

(A) 'से' इत्यस्य 'अस्या' इत्यनुवाद बालबोधिन्यां दृश्यते।

(B) तापपदमत्र तापजन्यदीर्घनिश्वासादिपरमिति बोध्यम्।

(१३) सो सुद्धसामलंगो धम्मिल्लो कलिअललिअणिअदेहो ।

तीए खंधाहि वलं गहिअ सरो सुरअसंगरे जअइ ॥ ८७ ॥

अत्र रूपकेण मुहुर्मुहुराकर्षणेन तथा केशपाशः स्कन्धयोः प्राप्तः यथा रतिविरतावप्यनिवृत्ताभिलाषः कामुकोऽभूदिति खंधपद द्योत्या विभावना । एषु कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारं पदप्रकाश्यमाह—सो सुद्धेति ।

स शुद्धश्यामलाङ्गो धम्मिल्लः कलितललितनिजदेहः ।

तस्याः स्कन्धाद्बलं गृहीत्वा स्मरः सुरतसङ्गरे जयति ॥

इति संस्कृतम् ।

रत्युत्तरं नायिकास्कन्धपतितश्लथबन्धकेशदर्शनात् पुनरुद्दीप्तमदनस्य नायकस्य पुनः सुरतवर्णनमिदम् । धम्मिल्लः संयतः केशपाशः । शुद्धश्यामलाङ्गः स एव, शुद्धश्यामलाङ्गः स्मरः तस्या नायिकायाः स्कन्धाद् बलं गृहीत्वा सुरतसङ्गरे जयति पुनः सुरतयुद्धप्रवर्तकत्वादुत्कर्षवानित्यर्थः । मुग्धेति पाठे मुग्धश्यामलाङ्ग इति संस्कृतम् । कीदृशः ? कलितधम्मिल्लात्मकललितनिजदेहः । अत्रेति, 'श्यामलाङ्गः स्मरस्य प्रसिद्धत्वमनारोप्यैवोक्तम्, स्मरस्य तथात्वाभावात् । तथाच तदभेदस्य धम्मिल्ले रूपकघटकोद्दीपकत्वधर्मेण तत्सदृशे उद्दीपकान्तरे स्मरे चाऽवर्णनाद् रूपकमिदं कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धम्,'[1]* तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—रतिविरतावपीति । अभिलाष हेतो रत्यनुत्तरकालस्याभावेऽपि अभिलाषरूपफलव्यक्तिरिमका विभावनेत्यर्थः,

'क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

इति तल्लक्षणे क्रियापदस्य कारणमात्रपरत्वेन रत्यनुत्तरकालस्यापि क्रियापदार्थत्वात् । तस्याः स्कन्धपदद्योत्यतामुपपादयति—मुहुराकर्षणेनेति, आकर्षणात् स्कन्धप्राप्तेः प्रायशः रत्युत्तरं सम्भवात् रत्यनुत्तरकालाभावप्रापकं स्कन्धपदं तद्द्योतकम् । तत्कालीनाभिलाषात्मिकया च विभावनया महावानयव्यङ्ग्यशृङ्गाररसोत्कर्षं स्फुट एव । आ ठेर च हमन्तीत्यादौ ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१३)

---

1 श्यामलाङ्गत्वरूपकमिदं रूपमालयामनारोप्यपरिसिद्धः तदनौचित्येन कविप्रौढोक्त्यैव सिद्धमिति प्राचीन दर्शितम्' खत्र ।

(१४) णवपुण्णिमामिअंकस्स सुहअ को तं सि भणसु मह सच्चं ।
का सोहग्गसमग्गा पओसरअणि व्व तुह अज्ज ॥ ८८ ॥

अत्र वस्तुना मयीवान्यस्यामपि प्रथममनुरक्तस्त्वं (A)न तन इति णवेत्यादि-पओसेत्यादिपदद्योत्यं वस्तु व्यज्यते ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु पदद्योत्यमाह— णवपुण्णिमेति ।

नवपूर्णिमामृगाङ्कस्य सुभग कस्त्वमसि भण मम सत्यम् ।
का (B)सौभाग्यसमग्रा प्रदोषरजनीव तवाद्य(C) ॥ इति संस्कृतम् ।

उपनायिकागृहे जिगमिषुं स्वनायकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम् । हे सुभग नवीनपूर्णिमाचन्द्रस्य कस्त्वमसि किमवयस्योऽसि पुत्रो भ्राता वा, तन्मम स्थाने सत्यं भणेत्यर्थः, शास्त्रसम्बन्धित्वस्य तद्धर्मत्वगणिकानुरागित्वस्य त्वय्युपपत्तेरिति भावः । तथा तव सौभाग्यं समग्रं यस्यां तादृशी का मम चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव, चन्द्रस्यापि प्रदोषरजन्यां तणिकरागात् । अत्र साधर्म्योपलम्भात् पुत्रत्वभ्रातृत्वादिविधसम्बन्ध पक्षार्थं प्रश्नविषयः । न च अचेतनस्य चन्द्रबिम्बस्य पुत्राद्यभावादलीक इति तद्विषयप्रश्नोऽप्यलीक कविनिबद्धाया नायिकाया प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, एवं प्रदोषरजन्यां सौभाग्यस्यालीकत्वेन तदुपमितायाः सौभाग्यप्रश्नोऽप्यलीक । तत्र प्रथममव्यङ्ग्यं यस्याह—मयीवेति । चन्द्रस्य अवन्येन तदीयरक्तिमार्थके एकपदे समासिने श्लिष्टस्य तस्यार्थयो रक्तिमानुरागयोरेकत्वाध्यासात् (व्यवसायात् ?) प्रथममनुरक्तस्त्वमित्यन्तं वस्तु व्यङ्ग्यं तच्च णवेत्यादिपदप्रकाश्यम्, न तन

(A) न तन इत्यादि । तन इदानीं प्रथमानुरागकालाभावान्तरमित्यर्थं, न सम्प्रत्यनुराग इति शेषः । अस्य पदद्योत्यकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यवस्तूदाहरणत्वम्, "अत्र पदे रजनी वेत्युपमानैरपेक्ष्येण कथं व्यङ्ग्यत्वमिति चिन्त्यम्" इति वदता प्रदीपकारेणाक्षिप्तम् । तत्र "इव पदानुपादानेऽपि प्रदोषरजनी तव का इत्येतावताऽपि व्यङ्ग्यत्वसिद्धिसम्भवती"ति यत् कैश्चित् परिष्कियते तदपि न मनोरमम्, लोके तत्र 'इव'पदस्यानुपादानकल्पनाऽनौचित्यात् अनुपादानकल्पस्य तु उदाहरणान्तरत्वात् प्रदोषरजनी तव का इत्युक्तावतिशयोक्तिसापेक्षस्यैव व्यङ्ग्यत्वापातेन तदोषतादवस्थ्याच्च तावताऽपि क्षणिकानुरागनायकानुरागिण्या सौभाग्यप्रश्नव्यङ्ग्यस्योपहासस्याभावात् । वस्तुत टीकाकृत्प्रथमप्रश्नव्यङ्ग्याभिप्रायेणास्य वस्तुव्यङ्ग्यवस्तूदाहरणत्वसम्मतं द्वितीयार्धे अलङ्कारस्य व्यञ्जकत्वेऽपि न क्षतिरिति ध्येयम् ।

(B) सौभाग्येन समग्रा सम्पूर्णा ईदृशनायकलाभेन या आत्मानं पूर्णसौभाग्यं मन्यते तादृशीत्यर्थः ।

(C) अत्र उद्योत —"खण्डितायाः कृतपरवध्वनुरक्तं स्वामिनं प्रतीयमुक्तिः । ... प्रथमोदित·

(१८) सहि णवणिहुवणसमरम्मि अंकवालीसहीए णिविडाए।
हारो 'णिवारिओ च्छिन्नि॰'* 'उच्छेरन्तो तदो कहं रमिअं॥८९॥

अत्र वस्तुना हारच्छेदानन्तरमन्यदेव रतमवश्यमभूत् तत्कथय कीदृगिति व्यतिरेकः कहंपदगम्यः।

इति तु प्रदोषरजन्युपमितोपनायिकासौभाग्यप्रत्यङ्ग्‌य तत्र महावाक्यव्यङ्ग्यस्योपहासस्य प्रकर्षक क्षणिकानुरागित्वेन उपहासाधिक्यलाभात्। अत्र लङ्कागिरीत्यादौ तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यञ्जकम्। (१४)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यमलङ्कारं पद्योत्यमाह—सहि णवणिहुवणेति।

सखि नवनिधुवनसमरेऽङ्कपालीसख्या निबिडया।
हारो निवारितश्छित्त्वा उच्छ्रीयमाणस्ततः कथं रमितम्॥

इति संस्कृतम्।

स्योद्देश्यनिधुवनप्रतिबन्धकहारनिवारकत्वेन अङ्कपाली (A)आलिङ्गनमेव सखी अत्यन्तप्रत्यासन्नत्वेन निबिडया तया छित्त्वा 'उच्छ्रीयमाण' गलितछिन्नमौक्तिको हारो निवारित' ततः कथं रमितमित्यर्थः। रमितमिति कारितान्त परस्परेण परस्पररति कथं कारितेत्यर्थः। अत्रालिङ्गनरूपाया सख्या हस्ताद्यभावाद् विवक्षितस्तादृशो हारच्छेदोऽलीक, तथाच तज्जन्यरतौ प्रश्नोऽप्यलीकत्वात् कविनिबद्धाया सख्या प्रौढोक्तयैव सिद्ध, तद्व्यङ्ग्यमलङ्कारमाह—अत्रेति। "वस्तुना" उक्तप्रश्नार्थ-

---

पूर्णिमासम्बन्धी मृगाङ्कश्चन्द्र तस्य त्वं क सखा भ्राता वाऽसि सन् तस्य मम तत्सम्बन्धित्वं विना क्षणिकानुरागित्वस्य तन्मात्रस्य त्वय्यनुपपत्ते, तथा चन्द्रस्य प्रदोषरजनीव तव का नायिका सौभाग्य नायकानुरागादि समग्र सम्पूर्णं यस्यां तथाभूता। प्रदोष रजनीमुखम्। प्रदोष एव यथा रजन्यां चन्द्रानुरागसामग्र्य तथा तव तस्यामित्यर्थ। भवत्वेन चाञ्चल्यं क्षणानुरागित्वम्। पूर्णिमाचन्द्र प्रदोषे रज्यतेऽनन्तरन्तु विरज्यते एवं पूर्णिमामृगाङ्कत्वेन नायिकान्तरानुरागित्वं कलङ्कित्वम्। प्रदोषपदेन प्रकृष्टदोषवत्त्वम्। यत्तु (ये तु?) मयप्रतिपदुदित इति व्याचक्षते तेषा पूर्णिमापदासङ्गति स्पष्टैव" इति।

(A) 'अङ्कपाली परीरम्भे कोट्यामङ्क्योरपि' इति कोष।

---

1 'णिवारिओ छिण्ण' इति प्रदीपादिसम्मत पाठ। 2 उच्छेरन्तो' इत्युदाहरणचन्द्रिकाधृतपाठान्तरम्। 3 '-रागित्वपत्ताल्यमानायिकासौभाग्यव्यञ्जक' ख ग। 4 'उच्छीयमान' ख ग। 5 'व्यलीकार्थत्वात्' ख ग।

(१६) पविसंती घरवारं विवलिअवअणा विलोइऊण पहं ।
खंधे घेत्तूण घडं हा हा णट्ठोत्ति रुअसि सहि किं ति ॥९०॥

अत्र हेत्वलंकारेण संकेतनिकेतनं गच्छन्तं दृष्ट्वा यदि तत्र गन्तुमिच्छसि तदा अपरं घटं गृहीत्वा गच्छेति वस्तु किंतिपदद्योत्यम् । यथा वा—

(१७) विहलंखलं तुमं सहि दट्ठूण घडेण[1] तरलतरदिट्ठिं ।
वारप्फंसमिसेण अप्पा गुरुओत्ति पाडिअ विहिण्णो ॥९१॥

रूपेण । 'व्यतिरेक' उपमानात् रत्यन्तराद् वैलक्षण्यरूपः । कथंपदेति, व्यञ्जकीभूतप्रश्नवाचकत्वात् कथंपदं (A) व्यञ्जकम्, व्यङ्ग्यञ्चात्र रतिवैलक्षण्यं महावाक्यव्यङ्ग्यतदुभयरूपाप्यलङ्कारक्रमेण । सहि विरहउण इत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१५)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यं वस्तु पदद्योत्यमाह—पविसन्ती इति ।

प्रविशन्ती गृहद्वारं विवलितवदना विलोक्य पन्थानम् ।
स्कन्धे गृहीत्वा घटं हा हा नष्ट इति रोदिषि सखि किमिति ॥

इति संस्कृतम् ।

नष्ट इत्यत्र घट इति शेषः । किमिति रोदिषि, बुद्धिपूर्वकघटभङ्गे रोदनवैयर्थ्यादिति भावः । अत्रेति, नायिकया बुद्धिपूर्वकं कृतो घटभङ्गः रोदनहेतुत्वेन वर्णितः, सच (अत ?) हेत्वलङ्कारः, स च वस्तुतो हेतुत्वाभावात् कविनिबद्धसखीप्रौढोक्त्यैव सिद्धः । तद्व्यङ्ग्यं वस्त्वाह—सङ्केतेति । तच्च महावाक्यव्यङ्ग्यस्य सखीविषयवक्तृभावस्योपकारकं समीहितसाधनानुमत्या मत्सखीविषयस्नेह[2]भावाधिक्यलाभात् । तस्य किमिति पदद्योत्यता च रोदनवैयर्थ्यबोधकेन तेन समीहितसाधनानुमतिलाभात् । ओल्लोल्लेत्यादौ तु ईदृशपदाभावाद् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । ननु घटभङ्गस्य रोदनहेतुत्वमौचित्येन सम्भाव्यत एवेत्यतः स्वतःसम्भव्येवायं हेत्वलङ्कार इत्यत आह—यथा वेति । (१६)

(A) अत्रोदाहरणश्लोके भवनिजुवममर इति स्वरूपमस्त्वेऽपि तत्रैवैत्वेण पदस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकत्वं सम्भवतीति पदद्योत्यवस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारोदाहरणसङ्गतिरिति बोध्यम् ।

---

1. “कुडेण” इति प्रदीपादिधृत पाठः, घटेनेति तदर्थः । 2 ‘–भावातिशय’ क, ‘भावनातिशय’ ग ।

अत्र नदीकूले लतागहने कृतसङ्केतमप्राप्तं गृहप्रवेशावसरे पश्चादागतं दृष्ट्वा पुनर्नदीगमनाय द्वारोपघातव्याजेन बुद्धिपूर्वं व्याकुलया त्वया घटः स्फोटित इति मया चिन्तितम्, तत्किमिति नाश्वसिषि, तत्समीहितसिद्धये व्रज, अहं ते श्वश्रूनिकटे सर्वं समर्थयिष्ये इति द्वारस्पर्शनव्याजेन(A)त्यपह्नुत्या वस्तु।

(१८) जोह्लाइ महुरसेण अ विइण्णतारुण्णउत्सुअमणा सा।
बुड्ढा वि णवोढव्विअ परवहुआ अहह हरइ
तुह हिअअं ॥ ९२ ॥

विशृङ्खला त्वा सखि दृष्ट्वा घटेन तरलतरदृष्टिम्।
द्वारस्पर्शमिषेण आत्मा गुरुक इति पातयित्वा विभिन्न ॥

इति संस्कृतम्।

विशृङ्खलां व्याकुला त्वां दृष्ट्वा घटेन आत्मा गुरुक इत्यता हेतोर्द्वारस्पर्शव्याजेन विभिन्न भेदितः, अन्तर्भूतकारितार्थत्वात्। पतनहेतौ गुरुत्वे स्वनाशेनापि परोपकारित्वरूप गुरुत्वमध्यासितम् (अध्यवसितम्?) श्लेषात्। अत्रेति, नायिकया कारितस्य द्वारस्पर्शस्य भेदहेतुत्वापह्नवेन स्वस्मिन्नेव तद्धेतुत्वारोपरूपया अपह्नुत्येत्यर्थः। घटस्याचेतनस्य तदसम्भवात् कविनिबद्धसखीप्रौढोक्त्यैव तत्सिद्धिः। तद्व्यङ्ग्यं वस्त्वाह—**किमिती**ति। नदीगमनायेत्यादिकन्तु अपह्नुतिबीजप्रदर्शनं न त्वपह्नुतिशरीरम्। चिन्तितमित्यन्तं तु अपह्नुतिविषयस्वज्ञानकथनम्। तत् किमितीत्यादेः सखीपद्यात्यता च सखीकृत्यत्वादेवेङ्गितापदेशत्वं। तादृशापदेशरूपव्यङ्ग्यञ्च महावाक्यव्यङ्ग्यसखीविषयकप्रीभावस्य प्रकर्षकं स्पष्टमेव। (१७)

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारव्यङ्ग्यमलङ्कारं पद्यान्तरमाह—**जोह्लाइ** इति।

ज्योत्स्नया मधुरसेन च वितीर्णतारुण्योत्सुकमना सा।
वृद्धाऽपि नवोढेव परवधूरहह हरति तव हृदयम् ॥ इति संस्कृतम्।

गलितयौवनोपनायिकाप्रसक्तं स्वनायकमुपहसन्त्या नायिकाया उक्तिरियम्। वृद्धाऽपि सा नायिका ज्योत्स्नामधुरसाभ्यां दत्तेन तारुण्येन उत्सुकमनाः यतः परवधूः,

---

(A) अत्र प्रकृतार्थगोपनमात्रम् अपह्नुतिः, न तु तत्रोपमानोपमेयभावोऽप्यावश्यक इत्यभिप्रायः, नायिकया इच्छाकृतघटभङ्गे घटकर्तृकस्वस्फोटनरूपं फलमत्रोपप्रत्यमिति प्रतीयमानोत्प्रेक्षालङ्कारोऽत्र व्यञ्जक इति तु विभावनीयम्।

अत्र काव्यलिङ्गेन वृद्धां परवधूं त्वमस्मानुज्झित्वाऽभिलषसीति त्वदीयमाचरितं वक्तुं न शक्यमित्याक्षेपः परवधूपदप्रकाश्यः ।

(A)एषु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः । वाक्यप्रकाश्ये तु पूर्वमुदाहृतम् । शब्दार्थोभयशक्त्युद्भवस्तु पदप्रकाश्यो न भवतीति पञ्चत्रिंशद्भेदाः ।

(६०) ·· ··प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥

यथा—गृध्रगोमायुसंवादादौ—

> अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
> कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥ ९३ ॥

मतस्तव चित्तं हरति, न तु सौकुमार्येण तारुण्येन च । अत्रेति, 'काव्यलिङ्ग' हेत्वलङ्कारः चित्तहरणहेतुपरवधूत्वरूपः, स च नायिकाया प्रौढोक्त्यैव सिद्धः, विरूपया परवध्वा चित्तहरणाभावेन परवधूत्वे चित्तहरणस्य हेतुत्वाभावस्तथत्वात् । 'आक्षेप' आक्षेपनामा अलङ्कारः,

> निषेधो वक्तुमिष्टस्य यो विशेषविधित्सया ।
> वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥

इति तल्लक्षणात्, वृद्धामित्यादिकन्तु तादृशनिषेधसम्पादकतयैवोक्तमिति बोध्यम्; परवध्वभिलाषादेव आक्षेपोपपत्तेः तस्य परवधूपदप्रकाश्यता, तस्य च महावाक्य-व्यङ्ग्यपत्युपहासोपकारकत्वम् अयुक्तकारित्वेन अनिर्वचनीयचरितस्य उपहास्यत्वात् । महिलासहस्रे त्यादौ तु ईदृशपदाभावात् वाक्यमेव व्यञ्जकम् । (१८)

पञ्चत्रिंशदिति दृष्टयो वाक्यप्रकाश्यत्वेनैकविध एव, अन्ये तु सप्तदश पद-वाक्यप्रकाश्यत्वेन द्विगुणाश्चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशदित्यर्थः ।

प्रबन्धेऽपीति, द्वादशविधोऽर्थशक्तिभूः स नैकरूपमहावाक्यात्मक (अनेक-महावाक्यशतमक ?)प्रबन्धव्यङ्ग्योऽपीत्यर्थः । तथाच पदवाक्याभ्यामिव प्रबन्धेना-प्यर्थशक्त्युद्भवा द्वादश व्यङ्ग्या इत्यर्थः । यद्यपि तद्भ्रान्तिमद्वादुःखेत्यादिपद्यद्वया-त्मकमहावाक्यमपि प्रबन्ध एव, तथाऽपि तत्र अशोपवयपद्योर्व्यञ्जकत्वात् पदप्रका-श्यता तादृशपदाभाव एव प्रबन्धप्रकाश्यता । तत्र स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यं वस्तु प्रबन्धप्रकाश्यमाह—अलमित्यादिपद्यद्वयेन । श्मशाने मृतबालकं त्यजतस्तद्बन्धून्

---

1. एष्विति पूर्वोदाहरणेषु, निष्पन्नशरीर इति व्यञ्जक इति शेषः ।

न चेह जीविनः कश्चित्कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥९४॥

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य पुरुषविसर्जनपरमिदं वचनम् ;

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत सांप्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्त्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥ ९५ ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥ ९६ ॥

इति निशि (A)विजृम्भमाणस्य गोमायोर्जनव्यावर्त्तननिष्ठं(B) च वचनमिति प्रबन्ध एव प्रथते । अन्ये त्वेकादश भेदा ग्रन्थविस्तरभयान्नोदाहृताः, स्वयन्तु लक्षणतोऽनुसर्त्तव्याः । अपिशब्दात् पदवाक्ययोः ।

इति गृध्रस्य वाक्यमिदम् । 'कालधर्मं' मरणम् । 'दिवा प्रभवत' दिवा भक्षणप्रभो । 'पुरुषविसर्जन' पुरुषाणां श्मशानत्यजनम् । तथाच यूयं श्मशानादपगच्छतेत्येवं वस्तु स्वतःसम्भवि प्रबन्धार्थरूपवस्तुना प्रबन्धस्य च व्यङ्ग्यमित्यर्थः । गोमायूक्तिरूपप्रबन्धस्यापि तादृशमेव व्यङ्ग्यमाह—आदित्योऽयमिति । आदित्यसत्त्वाद् युष्माकं रात्रिभ्रष्टतांऽपि भीतिर्नास्तीति दर्शितम् । स्नेहकरणे स्थितिरेव, तत्फलमाह—जीवेदपीति । बहुविघ्न इत्यनेन विघ्नरहितमुहूर्त्तान्तरे जीवनसम्भावना दर्शिता । तत्सम्भावनायां हेतुमाह—अमुमिति । कनकवर्णाभत्वेन रूपविपर्ययाभावात् जीवनसम्भावना । बालत्वेन मृत्युकालाप्राप्त्या मृत्युहेतुयौवनाधीनापचाराभावेन च जीवनसम्भावना । मूढा इत्यत्र बाला इति पाठान्तरम्, शिशुत्वस्य इत्यर्थः । 'विजृम्भमाणस्य' भक्षणार्थं वर्त्तमानस्य । व्यावर्त्तनं श्मशानत्यागतः परावर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्पर्यवसितम् । अत्रापि अनव्यावर्त्तनरूपवस्तु तादृशवस्तुव्यङ्ग्यम् । अन्ये त्वेकादशेति स्वतःसम्भविवस्तुव्यङ्ग्यालङ्काराप इत्यर्थः (C) । अपिशब्दादिति प्रबन्धेऽपीत्यपिशब्दात् उक्तसमुच्चयपरादित्यर्थः ।

(A) भक्षणे प्रकटशक्तिकस्येत्यर्थः ।
(B) व्यावर्त्तनं निवर्त्तनम्, तन्निष्ठं तत्परमित्यर्थः
(C) प्रबन्धगता इति शेषः ।

(६२) (१)पदैकदेश-रचना-वर्णेष्वपि रसादयः।

तत्र प्रकृत्या यथा—

रइकेलिहिअणिअसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वई परिचुम्बिअं जअइ॥ ९७॥

अत्र जयतीति न तु शोभते इत्यादि समानेऽपि हि स्थगन-

पदैकेति। रसादय इत्यनेन असंलक्ष्यक्रमा उक्ताः, ते च प्रकृतिप्रत्ययोप-सर्गरूपे पदैकदेशे, दीर्घसमासादिरूपाभी रचनाभिर्वर्णविशेषैश्च(२) व्यज्यन्त इत्यर्थः। प्रकृत्या इति धातुप्रकृतेरित्यर्थः। रइकेलि इति

रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति॥ इति संस्कृतम्।

रतिक्रीडासक्तया पार्वत्या करद्वयेन हरस्य नयनद्वये पिहिते चुम्बनपिहिततृतीयनयन-वर्णनमिदम्। रतिकेलौ हृतनिवसना अर्थात् पार्वती तस्याः करकिसलयेनेत्यर्थः, प्राकृते समासे निवसनेत्यत्र [illegible]स्य (३)। यद्वा हृतम् अर्थात् पार्वत्या निवसनं येन स चासौ करकिसलयरुद्धनयनयुगलश्चेति कर्मधारयः, तादृशस्येत्यर्थः। [1]करश्च अर्थात् पार्वत्याः। 'जयति' उत्कृष्टम्, करद्वयपिहितनयनद्वयापेक्षया शृङ्गारानुभाव-चुम्बनपिहितत्वेन शृङ्गारानुकूलव्यञ्जकत्वात्, अत शृङ्गारानुकूलां जिधातुरूपप्रकृतिं व्यनक्ति इत्याह—अत्रेति(४)। न त्विति, शोभनार्थवाचको जिधातुरेव शृङ्गारानुकूल-

(१) "अत्र पदैकदेशेत्युपलक्षणम्, पुरुषव्यत्ययवर्णनिपातादयोऽपि ग्रहीतव्या इति सार-बोधिनीकारः। पुरुषव्यत्ययवर्णनिपातादय पदैकदेशान्तर्गतत्वात् पदैकदेशा एव गण्यन्ते इति प्रदीपप्रभयोः स्पष्टम्। प्रकृतिरपि धातुरूपा नामरूपा चेति द्विविधा, उपसर्गाणां स्वातन्त्र्येणार्था-प्रत्यायकत्वात् पदैकदेशत्वं बोध्यमित्युद्योत" इति बालबोधिनी।

(२) एषु 'र' 'ण' प्रभृतिषु।

(३) प्राकृते समासे कुम्भानटीकाकारे 'रतिकेलिहृतनिवसनकरे'त्यादि संस्कृतमभिप्रेत्य व्याख्यं यद्वेति।

(४) एवमेव व्याख्यातं प्रदीपे 'अत्र रतिव्यक्तौ' 'जि'धातुरूपप्रकृतेः प्राधान्यम्। यत स्थगनव्यापारसाम्येऽपि अन्यनेत्रयोः कराभ्यां पिधानमस्य तु लोकोत्तरेण कर्मणेति सर्वोत्कृष्टं धन्यजीवितमिति स्तुत्युत्कर्षप्रयोजकमनया व्यज्यते। अत एव जयतीत्युक्तम् न तु शोभते इत्यादि' इति।

1　'करस्तु' ख।

व्यापारे लोकोत्तरेणैव व्यापारेणास्य पिधानमिति तदेवोत्कृष्टम्। यथा वा—

प्रेयान् सोऽयमपाकृतः सशपथं पादानतः कान्तया
द्वित्राण्येव पदानि वासभवनाद् यावन्न यात्युन्मनाः।
तावत्प्रत्युत पाणिसंपुटगलन्नीवीनिबन्धं धृतो
धावित्वेव कृतप्रणामकमहो प्रेम्णो विचित्रा गतिः(A) ॥ ९८ ॥

व्यञ्जने समर्थं न तु तत्कान्तिवाचकं शुभ्रतानुरित्यर्थं, अत शृङ्गारोत्कर्षव्यञ्जकं शुभ्रत्वपिहितत्वात्(B) तृतीयनयनमेव उत्कृष्टमित्याह—समानेऽपि हीति, नयनद्वयपिधाने समानेऽपि हीत्यर्थ। लोकोत्तरेणेति लोकविलक्षणेनेत्यर्थ, [1]शृङ्गारानुभावकत्वाच्चुम्बनस्य। तदेवेति तृतीयनयनमेवेत्यर्थ। चक्रवर्ती तु—तृतीयनयनपिधानमेवेत्यर्थ इत्याह, तन्न, वाच्यस्योत्कर्षस्य तदानन्तरत्वादेव व्यङ्ग्यस्य तु लोकोत्तरपदेनैव व्याख्यातत्वात्, अत पिधानोत्कर्षव्याख्यानमसदेव। नामप्रवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वमुदाहरति—यथा वा प्रेयानिति। पादानत सोऽयं प्रेयान् कान्तया सशपथमपाकृत सन् उन्मनाश्च सन् वासभवनाद् यावद् द्वित्राण्येव पदानि न याति

(B) अत्र "पिहितत्वात्" इत्यतः परम् आदर्शपुस्तकेषु दृश्यमान "तदेव" इत्यशो लिपिकरप्रमादकृत इत्यनुमीयते वृत्तिस्थस्य "तदेव" इत्यस्य अग्रे व्याख्यातत्वादिति चिन्तनीयम्।

(A) अत्र प्रदीपोद्द्योत—सशपथमित्युभयान्वयि। सोऽयमिति प्रियतरत्वेन प्रसिद्ध प्रेयान् शपथेन सहित यथा स्यात्तथा पादयोरानत कान्तया च सशपथं निराकृत सन् उन्मना उत्कण्ठमना वासभवनात् क्रीडागृहाद् द्वित्राण्येव नाधिकानि पदानि न द्वाराणि यावन्न याति न तु यात तावत् कृतप्रणामकं यथा स्यात्तथा धावित्वैव धृत स्थापित। धृङ् अवस्थाने, अस्मात्कर्तृभीविवक्षायाम् कर्मणि क्त। अत्र यातीत्युक्तं न तु यात इत्युक्तम्, तेन गमनानुकूलव्यापारदशायामेव तथाभाव इति ध्वन्यते। धावित्वैवेत्यनेन धावनाविषयेऽपि तथाभावकरणादौत्सुक्यातिशयो ध्वन्यते। पाणिसम्पुटे प्रणामार्थं कृताञ्जलौ गलन् नीवीबन्धो यस्या क्रियाया सा यथा भवति तथेति धारणक्रियाविशेषणम्। रागोत्कर्षात् स्खलतो नीवीबन्धस्य प्रणामाञ्जलिमैवालम्बनात् तदेवोपायनत्वमानीतं कृतमिति भाव इति केचित्। त्वराऽतिशयद्योतनाय धावनक्रियाविशेषणमित्यन्ये। पूर्वं हि कृतप्रणामकस्यापाकरणमधुना प्रणामपूर्वकं धारणमिति

1 चक्रवर्ती स पुस्तके नास्ति।

अत्र पदानीति न तु द्वाराणीति ।

तिङ्सुपोर्यथा—

> पथि पथि शुकचञ्चूचारुराभाङ्कुराणां
> दिशि दिशि पवमानो वीरुधां लासकश्च ।
> नरि नरि किरति द्राक् सायकान् पुष्पधन्वा
> पुरि पुरि विनिवृत्ता मानिनीमानचर्चा ॥ ९९ ॥

अत्र किरतीति किरणस्य(A) साध्यमानत्वम् । निवृत्तेति निवर्त्तनस्य

तावत्तु धावित्वैव कृतप्रणामक यथा स्यात् तथा प्रत्युत कान्तया धृतः । प्रत्युतेत्यपाकरणवैपरीत्ये । पाणिसम्पुटेत्यादिक धारणक्रियाविशेषणम् । गलदिति पाठे गलन्नीवीबन्धस्य पाणिसम्पुटधृतत्वमर्थः, न तु पाणिसम्पुटे गलनं गलत एव पाणिसम्पुटधृतत्वात् । स्खलदिति पाठे तु नीवीबन्धस्य गलत्त्वमूह्यम् । 'अहो' इति तादृशगतिरैकित्र्यविषयविस्मये । प्रेम्णां गति' स्वभाव । कान्ताया औत्सुक्य-रूपव्यभिचारिभावध्वनिरयम् । यत्तु स्वल्पपदगमने सति धरणे तदुत्कर्षधीरतो बहुवचन विना पदरूपप्रकृतिभाग एव तस्य व्यञ्जक इत्याह—पदानीति । द्वाराणीत्यपेक्षया पदानीत्यस्यैव औत्सुक्यव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्विति ।

प्रत्ययस्य व्यञ्जकत्वमुदाहरति—तिङ्सुपोरिति । पथि पथि अङ्कुराणामाभा शुकचञ्चूनामिव चारु(B) । अत्र शुकचञ्चुतुल्यत्वात् पत्राङ्कुरा एव अङ्कुरपदार्थो [1]त एव च उद्दीपकाः । 'वीरुधां' लतानां 'लासक' नर्तक । नरि नरीति नृशब्दस्य सप्तम्यां रूपम् । द्राक् झटिति । चर्चा प्रसङ्ग । किरणस्येति, न च कॄ विक्षेपे इत्यस्य

वैपरीत्य प्रत्युतपदगम्यम् । स्खलन्नीवीति पाठे गलनमार्थिकम् । अर्थान्तरं न्यस्यति—अहो प्रेम्ण इति । गति स्वभाव । प्रेयान् कान्तयेत्याभ्या पारस्परं विरहाक्षमत्वं ध्वन्यते" इति ।

(A) अत्र प्रदीपोद्योत —'किरणस्येति क्षेपणस्येत्यर्थ. । औणादिक'क्यु'प्रत्ययान्त । किरति समासीति क्युन्प्रत्ययान्तस्य मयूख एव शक्तत्वात् चिन्त्य. किरणपदप्रयोग । विकरणस्येति वक्तुं युक्तम्' इति ।

(B) अत्र "शुकचञ्चूनामिव चारु" इत्यनेन 'अङ्कुराणामाभा शुकचञ्चूनामिव चारु' इत्यर्थस्य प्रदर्शनमेव कृतम्, श्लोकस्थसमासस्य व्यासवाक्यन्तु शुकचञ्चूवत् चारुरिति 'उपमानस्य सामान्यवाचिना' इत्यनेन कर्मधारय ।

---

1 'त एव च उद्दीपका' इत्यंश क-पुस्तके नास्ति ।

सिद्धत्वं तिङा सुपा(A) च, तत्रापि क्तप्रत्ययेनाऽतीतत्वं द्योत्यते।

युटि करणमित्येवं रूपं सम्पद्यते उणादौ साधितं किरणपदन्तु रश्मिवाचकमेव न विक्षेपवाचकमिति वाच्यम्, करणं कीर्णिरिति भावक्तिन्नन्तस्य नामकारितान्तत्वे युटि किरणरूपसिद्धेः। तिङा सुपा चेति किरतीत्यत्र किरणस्य साध्यमानत्वं निवृत्तेत्यत्र निवृत्ते सिद्धत्वं तिङ्सुब्विभक्तिलभ्यम्, एवमतीतत्वञ्च क्तप्रत्ययलभ्यम्। एवञ्च द्योत्यते इत्यत्र उच्यते इत्येवार्थः, एषामर्थाना

(१) अत्र प्रदीपे 'अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यता, तिङ्योगे साध्यतयैव धात्वर्थोपस्थिते। निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्तेः सिद्धता, सुप्प्रयोगे तथैव प्रकृत्यर्थप्रतीतेः, तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतता प्रकाश्यत इति विकरणनिवृत्त्योः कारणकार्यभूतयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति। यत्तु लृटा साध्यत्वं क्तप्रत्ययेन भूतत्वमिति व्याख्यानम्, तदयुक्तम्, सुप्तिङ्भ्यां सिद्धत्वसाध्यत्वमभिधाय 'तत्रापि क्तप्रत्ययेनातीतत्वम्' इति वृत्तिव्याख्यानेन विरोधात् इति। व्याख्यातञ्च उद्योतकारैः 'अयमत्र भावः—तिङ क्रियागतसाध्यमानत्वद्योतनद्वारा तद्गतानागतत्वमानं वस्तुसाध्यत्वमनुभूयत इत्यर्थम्। एवं निवृत्तपदं निवृत्तिकर्तृकम्, तदनुवादकेन तदुक्तत्वपदेन स्वप्रकृत्यर्थविकरणनिवृत्तौ सिद्धत्वं व्यज्यते इतरासमभिव्याहृतयोः निवृत्तिरित्यादौ तद्व्यञ्जकत्वस्य दृष्टत्वात्, निवृत्तिर्भविष्यति निवृत्ता स्यादित्यादौ तथाप्रतीतेरितरासमभिव्याहृतेति। विकरणनिवृत्त्योरिति कारणकार्यभूतयोरित्यर्थः। अतिशयोक्तिप्रकाश इति अयं व्यङ्ग्य एव। रसोत्कर्ष इति निवृत्तेः शीघ्रत्वबोधनद्वारा यत्तन्त्योर्दीपकत्वातिशयाभिव्यक्तेरिति भावः' इति।

सुधासागरकारस्तु "अत्र किरतीति तिङा किरणस्य साध्यत्वं तिङ्योगे क्रियायाः साध्यतयैव धात्वर्थोपस्थितेः। निवृत्तेति सुप्प्रत्ययेन निवृत्तेः सिद्धत्वं सुब्योगे सिद्धतया तथैव प्रकृत्यर्थप्रतीतेः। उक्तञ्च वैयाकरणभूषणे—

साध्यत्वेन क्रिया तत्र धातुरूपनिबन्धना।

सिद्धभावस्तु यस्तस्याः स घञादिनिबन्धनः॥ इति।

तथा च क्रियान्तराकाङ्क्षानुत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयितावच्छेदकरूपवत्त्वं वा साध्यत्वम्। एतदेव च असत्त्वभूतत्वम्। क्रियान्तराकाङ्क्षोत्थापकतावच्छेदकरूपवत्त्वं कारकान्वयितानवच्छेदकरूपवत्त्वं वा सिद्धत्वम्। एतदेव च सत्त्वभूतत्वम्। अत एव—

'असत्त्वभूतो भावश्च तिङ्पदैरभिधीयते'

इति वैयाकरणैरुक्तम्। तत्र सिद्धत्वेऽपि क्तप्रत्ययेनातीतत्वं व्यज्यत इति किरणनिवृत्त्योः पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्यलङ्कारप्रकाशो रसोत्कर्षे पर्यवस्यति' इत्याह। विस्तरस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः।

यथा वा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहाराः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः ।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना(A) ॥ १०० ॥

तत्सहाव्यत्वात्, तथाच [1]कारणे सायकक्रियायां साध्यस्य कार्यस्य माननिवृत्तौ च सिद्धत्वं बाधितमर्थाहार्यं बोधयन्तस्तिङन्तद्वयो[1] माननिवृत्तेः शीघ्रोत्पन्नत्वमभिव्यज्य तद्द्वारा शृङ्गारोत्कर्षं व्यञ्जयन्तीत्यर्थः ।

प्रदर्शयति—**यथा वा लिखन्निति** । बहुदिनव्यापकमानवतीं प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे कठिने, तव प्राणतुल्यो दयित अवनतः सन् भूमिं लिखन् बहिरास्ते, एवं तव सख्यश्च निराहाराः सततरुदितैः उच्छूननयनाश्च, तव चेयमवस्था कृशतरेत्यर्थः, बहुदिनव्यापकान्मानात् कार्श्यम्, तस्मादधुना मानं विसृज । अत्र सकलक्रियाकारकस्थतिङ्सुपां(B) नायकस्य मोहरूपव्यभिचारि-

---

(A) व्याख्यातमिदमुद्द्योते—"बहुदिनव्यापिमानवतीं प्रति सख्या इयमुक्तिः । प्राणाना दयित प्राणदयित, तेन दयितस्तु सैव त्वत्प्राणा अपि तु विना भविष्यन्तीति भावः । यद्वा तव प्राणा इव सोऽस्माकं दयित इत्यर्थः, तथाच त्वत्प्राणा इव सोऽस्माकं रक्षणीय इति भावः । ईदृशोऽपि भूमिं न तु भूमौ, तेनाकाङ्क्षितस्य कर्मणोऽनुद्देश्यत्वं ध्वन्यते । लिखन् न तु लिखतीति, तेन लिखनस्याबुद्धिपूर्वकत्वरूपमप्राधान्यं ध्वन्यते । बहिर्न तु गृहमध्ये, तेन नायकस्यात्युद्वेगः । आस्ते न तु आसीत्, तेनैवमवस्थानस्य प्रसादपर्यन्तता ध्वन्यते । तथा सख्यः सर्वा वयस्या निर्गत आहारो यासां तथाभूताः सख्यः सततं निरन्तरं यत् रुदितं तेनोच्छूने जातशोथे नयने चक्षुषी यासां तथाभूताः, सन्तीति शेषः । तथा पञ्जरशुकैः हसितं पठितं मन्यच्च सर्वं परित्यक्तम्, अज्ञानामपीदृशवस्था किं पुनरस्माकमिति भावः । पञ्जरेत्यनेन अन्यत्र गमनासामर्थ्यम् । शुकैरित्येकवचनन्तु न कृतम्, एकस्य शिक्षादिनाऽपि तथा ज्ञानसम्भवात् । सर्वमित्यस्य शरीरधारणोपयोगि भोजनादिकमपीत्यर्थः । अत एव कठिने । 'इयम्' उत्तरोत्तरवर्धमानावस्थाशरीरजनिता । 'अधुना' वसन्तचन्द्रिकादिभिरुद्दामे मन्मथविलम्भिते सतीत्यर्थः । मानं विसृज निःशेषेण त्यजेत्यर्थः" इति ।

(B) सकलतिङेति लिखनासनक्रिये इत्यर्थः । कारकेति भूमिमिति कर्मकारकेत्यर्थः ।

---

1 'सायकक्रियमाणविशब्दौ कारणकार्ययोः पौर्वापर्यविपर्ययौ बाह्यतया भवतः' घ ।

अत्र लिखन्निति न तु लिखतीति, तथा आस्ते इति (A)न तु आसित इति, अपि तु प्रसादपर्यन्तमास्ते इति; भूमिमिति(B)न तु भूमाविति, न हि बुद्धिपूर्वकमपरं किञ्चिल्लिखतीति तिङ्सुप्विभक्तीनां व्यङ्ग्यम्।

भाव एव व्यङ्ग्य इत्याह—अत्रेति(C)। 'लिखन्' इत्यत्र शतृप्रत्ययोक्तलिखनकृते कृत्यन्तरसाकाङ्क्षतया विधेयत्वाप्रतीत्या उपेक्षात्मकज्ञानाधीनत्वमेव प्रतीयते अतोऽत्र अनुपेक्षात्मकज्ञानस्य विरोधी मोह सुबन्तशतृप्रत्यय(D) प्रतीयते। लिखतीति करणे तु आख्यातोक्तकृतेर्निराकाङ्क्षत्वेन विधेयतयैव प्रतीत्या तद्विज्ञानमनुपेक्षात्मकज्ञानमपि प्रतीयेत न तु मोह इत्याह—न तु लिखतीति। मुग्धावस्थयैवाधुनाऽपि स्थितिर्वर्तमानाबोध्येत्याह—अपि त्विति। एवञ्च आस्ते इत्यत्र तिङा व्यङ्ग्ये च दर्शितेऽपि 'तथा आस्ते इती'ति यत् क्वचित् पुनर्लिखनं तत् 'न त्वासित' इति दर्शयितुमनुवाद एव कृत इति बोध्यम्। आसित इति निर्देशे तु मोहानुवृत्तिर्न प्रतीयते इति भावः। भूमिमितीति। भूमिमिति करणे उन्मीलितचक्षु साध्य भूमिविषयज्ञानमेव प्रतीयते न तु मननसाध्य लेख्यविषयज्ञानम् अतो लेख्यविषयो मोह एव प्रतीयते, भूमाविति करणे तु सकर्मकलिखधातोः कर्मीभूतलेख्यविषयज्ञानमपि प्रतीयते न तु लेख्यविषयो मोह इत्याह—न तु भूमावितीति। तथाच लेख्यविषयो मोह प्रतीयत एवेत्याह—न हि बुद्धिपूर्वकमिति।

(A) वर्तमानत्वस्य प्रत्ययवाच्यत्वमतेऽपि व्यङ्ग्यमाह "न त्वासित" इति। एवञ्च स्थित्यतीतत्वव्यवच्छेदो व्यङ्ग्य इत्युद्द्योते।

(B) भूमिमित्यत्र द्वितीयाया व्यङ्ग्यमुक्तं प्रदीपे—"न तु भूमाविति, तेन बुद्धिपूर्वकं भूमौ न किञ्चिल्लिख्यत इति द्वितीयविभक्त्या व्यज्यते" इति। तद्व्याख्यानञ्च "भूमावित्युक्ते आकाङ्क्षितस्य कर्मण उद्देश्यत्वं प्रतीयते, न चात्र तथेति भाव" इत्युद्द्योते।

(C) अत्र लिखन्निति 'शत्रा लिखनस्याप्राधान्यमबुद्धिपूर्वकत्वरूपम्' व्यज्यत इत्युक्तं प्रदीपे। तस्य च व्याख्यानम् 'शत्रेति, आख्यातान्तक्रियाविशेषणत्वे शत्रा इतरक्रियोद्देश्यसाधनत्वज्ञानाधीनकृतिसाध्यत्वपर्यवसितनान्तरीयककृतिसाध्यत्वरूपमप्राधान्यं स्वप्रकृत्यर्थगतं बोध्यते। अत एव गच्छन्नित्युक्ते किं करोतीति प्रधानक्रियाप्रश्न सङ्गच्छत इति बोध्यम्' इत्युद्द्योते।

(D) यद्यपि शतृप्रत्यय एव प्रकृतिरेव तथाऽपि तिबादेशित्वाद्विवक्षितया तिङ्त्वेनोदाहृत इति बोध्यम्। प्रदीपेऽप्येवम्।

सम्बन्धस्य यथा—

(A)गामारुह्म्मि गामे वसामि णअरट्ठिइं ण जाणामि ।
णाअरिआणं पइणो हरेमि जा होमि सा होमि ॥ १०१ ॥

अत्र नागरिकाणामिति षष्ठ्याः ।

'रमणीयः क्षत्रियकुमार आसीत्' इति कालस्य ।

एषा हि भग्नमहेश्वरकार्मुकं दाशरथिं प्रति कुपितस्य भार्गवस्योक्तिः ।

वचनस्य यथा—

ताणं गुणग्गहणाणं ताणुक्कण्ठाणं तस्स पेम्मस्स ।
ताणं भणिआणं सुन्दर ! एरिसिअँ जाअमवसाणं ॥१०२॥

सम्बन्धस्येति सम्बन्धार्थकविभक्तेरित्यर्थः, तस्या एव पदैकदेशत्वात् । गामारुहम्मीति—

ग्रामरुहाऽस्मि ग्रामे वसामि नगरस्थितिं(B) न जानामि ।
नागरिकाणां पतीन् हरामि या भवामि सा भवामि ॥

इति संस्कृतम् ।

कलहे नागरस्त्रियं प्रति ग्राम्यस्त्रिया उक्तिरियम् । ग्रामरुहा ग्रामभवा । नागरिकाणामित्यनादरे षष्ठी । 'षष्ठी चानादरे' सम्बन्धस्यार्थः[1] । तथा च नागरिका अनादृत्य तासां पतीन् हरामीत्यर्थः । अनादरश्च पतिकर्तृकोऽपि परम्परया तत्स्त्रीकर्तृको बोध्यस्तन्मूलकत्वात्तदनादरस्य । अत्रेति, अनादरबोधनद्वारा षष्ठ्या गर्वरूपव्यभिचारिभावो व्यङ्ग्य इत्यर्थः । चक्रवर्ती तु—अनादरमेव व्यङ्ग्यं व्याचष्टे, तन्न, अनुशासनानुशिष्टस्यार्थस्य वाच्यत्वादेव अनादरस्य वस्तुरूपत्वेन तद्व्यञ्जनया रसादिव्यञ्जकत्वोदाहरणत्वानुपपत्तेश्च । रमणीय इति । 'आसी'दिति सम्प्रति त्वमर्यकवलितः क्षणाद्भविष्यतीति भावः[2] । कालस्येति कालार्थकविभक्तेरित्यर्थः । अत्रापि गर्वो व्यङ्ग्यः ।

वचनस्येति एकवचनादिवचनस्येत्यर्थः ।

(A) 'गामारि अम्हि' इति प्रदीपादौ पाठान्तरं तस्य संस्कृतं 'ग्रामीणास्मि' इति प्रभायाम् ।

(B) नगरस्य स्थितिं वैदग्ध्यरूपां मर्यादामित्यर्थः ।

---

1 चयमंश ख-पुस्तके नास्ति । 2 चयमंश, ख-पुस्तके नास्ति ।

अत्र गुणग्रहणादीनां बहुत्वं प्रेम्णश्चैकत्वं द्योत्यते।

पुरुषव्यत्ययस्य यथा—

(A)रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे चेतः प्रमुच्य स्थिर-
प्रेमाणं महिमानमेणनयनामालोक्य किं नृत्यसि।
किं मन्ये विहरिष्यसे बत हतां मुञ्चान्तराशामिमा-
मेषा कण्ठतटे कृता खलु शिला संसारवारां निधौ ॥१०३॥

तानं इति—

तेषां गुणग्रहणानां तासामुत्कण्ठानां तस्य प्रेम्णः।
तेषां भणितानां सुन्दर ईदृशं जातमवसानम् ॥ इति संस्कृतम्।

इतावत्र नायकं प्रति तत्पत्न्याः प्रीतिमत् सन्देशमिदम्। अत्रेति, बहुवचनैर्गुणादिबाहुल्यम्, एकवचनेन 'अन्तराऽविच्छेदेन प्रेमैकत्वं द्योत्यते उच्यते इत्यर्थः। तद्द्वारा नायिकाविप्रलम्भोत्कर्षो व्यङ्ग्यः पूर्वानुभूततत्तत्स्मरणाद् दुःखाधिक्यात्।

पुरुषव्यत्ययस्येति व्यत्ययितमध्यमोत्तमपुरुषयोरित्यर्थः। रे रे इति। रे रे इति शान्तपुरुषस्य स्वचित्तं प्रति साक्षेपसम्बोधनम्। चञ्चललोचनायाम् अञ्चिता गमिता रुचिर्येन, रे रे तादृश चेतः, एणनयनां हरिणाक्षीमालोक्य किं नृत्यसि नर्त्तकवत् लोलं भवसि। महिमानं वैराग्यरूपम्। नृत्यहेतुं तदभिमानं पृच्छति किं मन्ये किं मन्यसे इत्यर्थः। विहरिष्यसे विहरिष्यामि। विहारार्थनृत्याभ्युपगमे ततो निवर्त्तयति—बत हतामिति, हतां निन्द्याम् इमाम् अन्तराशां मुञ्च। अमोचने दोषमाह—एषेति,

---

(A) अत्र एणनयनामालोक्य स्थिरं प्रेम यत्र तादृशं महिमानं माहात्म्यं विषयाभावस्थायिनं लब्धमुत्कर्षं प्रमुच्य त्यक्त्वा किं कस्मात् नृत्यसि नर्त्तकवद्धर्षात् लोलं भवसि। किं मन्ये मन्यसे इत्यर्थः। एवं विहरिष्यसे इत्यस्यापि विहरिष्यामीत्यर्थः। अन्तराशाम् अन्तर्विद्यमानामाशां विहरणविषयिणीमित्यर्थः। चञ्चललोचनाञ्चितरुचे इत्यस्य चञ्चललोचनायामञ्चिता गमिता रुचिरभिलाषो येन तथा, चञ्चलाभ्यां लोचनाभ्यामञ्चिता प्रकटीकृता अर्थान्नायिकया रुचिरभिलाषो यत्र तत् इति वा अर्थः। अत्र मृगीमिति विहाय एणमिति पुलिङ्गेन यथा त्वयि नयनव्यापारादि करोति एवमन्यत्रापि पुंसि यथा वा त्वं नयनयोर्व्यापारमस्याः करोष्येवमन्योऽपि पुमान् इति नास्याः साधारण्यामनुरागं उचितं इति सूचयतीति उद्योते स्पष्टम्। अन्यत् सुगमम्। अत्र "प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च" (पाणिनीये १।४।१०६ सू.) इति सूत्रेण मन्यतेरुत्तमपुरुषस्तल्लम्ममभिव्याहृतविपूर्वहृतेर्मध्यमपुरुष इति बोध्यम्।

---

१ 'अन्तराविच्छेदरूप' क ख।

अत्र प्रहासः । पूर्वनिपातस्य यथा—

येषां दोर्बलमेव दुर्बलतया ते सम्मतास्तैरपि
प्रायः केवलनीतिरीतिशरणैः कार्यं किमुर्वीश्वरैः ।
ये क्ष्माशक्र ! पुनः पराक्रमनयस्वीकारकान्तक्रमा-
स्ते स्युर्नैव भवादृशास्त्रिजगति द्वित्राः पवित्राः परम् ॥१०४॥

यत खेदे, एवा आशा । अनयैवाशया कण्ठबद्धशिलारूपया संसाराब्धौ मङ्क्ष्यसी-त्यर्थः । अत्र प्रहासो व्यत्ययितपुरुषद्वयस्यैव व्यङ्ग्य एव पुरुषद्वयान्तःपदयोर्वाक्यत्वनियमेन तत्र शक्त्यभावादिति केचित् । उत्तमपुरुषस्यैव प्रहासे शक्तिर्मध्यमपुरुषस्तु तद्ग्राहक एवेत्यन्ये (A) । [1]तद्द्वारा च शान्तरसोत्कर्षो व्यङ्ग्य[1]* ।

पूर्वनिपातस्येति पूर्वनिपतितपररूपसमासैकदेशस्येत्यर्थः । **येषामिति** । दोर्बलमेव न तु नीतिबलम्, सम्मताः ज्ञाताः, नीतिबलमात्रमपि न बलमित्याह—तैरपीति । तैः (B)बुद्धिस्थैः किं कार्यं किमपि कर्तुं न शक्यमित्यर्थः । हे क्ष्माशक्र हे पृथिवीन्द्र ये पुनरित्यन्वयः । नय नीतिः । कान्तक्रमाः कमनीयव्यवसायाः । ते भवादृशाः परं केवलम् । पवित्राः त्रिजगति द्वित्रा नैव स्युः एकस्तु कदाचित् यदि

(A) अत्र उद्योतकाराः—प्रहासे च मोत्तमपुरुषस्य शक्तिः, सतन्त्रप्रतीतेः तस्मात् व्यञ्जकानुशासनमेव तत् (प्रहासे च इत्यादिसूत्रम्) इति भावः । तेन च शान्तरस-प्रकृष्यते । अत एव प्राक् पदैकदेशादीनामसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वमेवोक्तं सङ्गच्छते इति । एवं सुधा-सागरेऽपि—ननु 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' इति सूत्रेण पुरुषव्यत्ययविधानात् प्रहासो वाच्य एवेति चेत्—उच्यते, अभिधा हि पदशक्तिरिति निर्विवादम्, तत्र प्रहासे तावन्नो-त्तमपुरुषान्यतमस्य तत्तत्प्रतीतेः, न चोत्तमपुरुषमात्र पदं न वा नैयायिकरीत्या प्रहासो वाक्यार्थ इति शक्यं पदार्थसंसर्गरूपताविरहात् । किन्तु प्रहासे विवक्षिते अनुशिष्टेन पुरुष-व्यत्ययेन स प्रतीयते इति दिक् इति ।

(B) अत्रोदाहरणपद्यस्थेन तैरिति पदेन पूर्वोक्तयत्पदार्थां न परामृश्यन्ते दोर्बलमेवेत्येव-कारेण तेषां नीतिबलशून्यत्वावगमात् तैरित्यनेनोपस्थापितानाञ्च केवलनीतिबलशालितया अप्राप्तस्य कीर्तनस्यावश्यकत्वादित्यत आह बुद्धिस्थैरिति । बाहुबलशून्यास्तु बुद्धिस्था ।

1 चिह्नगत, खपुस्तके नास्ति ।

अत्र पराक्रमस्य (A)प्राधान्यमवगम्यते।

विभक्तिविशेषस्य यथा—

प्रधनाध्वनि [1]वीर धनुर्ध्वनिभृति विधुरैरयोधि तव दिवसम्।
दिवसेन तु नरप! भवानयुद्ध (B)विधिसिद्धसाधुवादपदम्॥१०८॥

अत्र दिवसेनेत्यपवर्गतृतीया फलप्राप्तिं द्योतयति।

भूयो भूयः सविधनगरीरथ्यया पर्यटन्तं
दृष्ट्वा दृष्ट्वा भवनवलभीतुङ्गवातायनस्था।

स्यादित्यर्थः। अत्रेति द्वन्द्वे पूर्वनिपतितपदार्थेऽर्थितरधरूपप्राधान्यावगमात्(C)। तथाच पराक्रमिराजविषयभावोऽत्र व्यङ्ग्य।

विभक्तिविशेषस्येति, अपवर्गे विहितायास्तृतीयाया इत्यर्थः। प्रधनेति, हे वीर टङ्काररूपधनुर्ध्वनिभृति युद्धपथे तव विधुरैः शत्रुभिः दिवसं व्याप्य अयोधि, हे नरप, भवांस्तु युद्धविधिसिद्धसाधुवादपदं यथा स्यात् तथा दिवसेन अयुद्ध साधुवादपदयुद्धफलसिद्धौ दिवसव्याप्तियुद्धसमाप्तिमतनित्यर्थः। अत्रेति, फलसिद्धौ क्रियायाः समाप्तिरपवर्ग इत्यपवर्गलक्षणम्, तस्मिन्नर्थे च 'अपवर्गे तृतीया' (२।३।६) इति पाणिनिसूत्रेण विहिता तृतीया युद्धसमाप्तिपूर्वभूता फलप्राप्तिं द्योतयति यतोऽन्यथा अनुशासनानुशिष्टस्यार्थस्य बाध्यत्वात्, राजविषयभावातिशयश्च तद्व्यङ्ग्य इत्यर्थः।

(A) पूर्वनिपातस्य पदैकदेशधर्मत्वेन तद्व्यङ्ग्य पदैकदेशव्यङ्ग्यमेव इति हृदयम्।

(B) विधिसिद्धयोरीश्वरसिद्धयोः साधुवादस्य विधिसिद्धस्यानाहार्यस्य वा साधुवादस्य पदं स्थानं यथा तथेत्यर्थः। सुगममन्यत्।

(C) अयम्भावः—अत्र नयपराक्रमशब्दयोर्द्वन्द्वे अल्पाच्तरतया नयशब्दस्य पूर्वनिपाते प्रसक्तेऽपि "अभ्यर्हितञ्च" इति वार्त्तिकसूत्रस्य 'अल्पाच्तरम्' इति पाणिनि-(२।२।३४) सूत्रापेक्षया बलवत्त्वाभ्युपगमेन उदाहरणपद्ये कृतः पराक्रमशब्दस्य पूर्वनिपातः पराक्रमपदार्थस्य प्रशस्ततरतामवगमयति। अत एव "वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्" इति निर्देशेनेदं ज्ञाप्यत इति चतुर्थे भाष्यम्। 'अल्पाच्तरम्' 'अजाद्यदन्तम्' इति सूत्राभ्यामर्जुनस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते तमकुर्वन् ज्ञापयति सर्वतोऽभ्यर्हितं पूर्वमिति तत्त्वबोधिनीकाराः। तथाचात्र प्राधान्यस्य पदांशव्यङ्ग्यतया पूर्वनिपातस्य तद्व्यञ्जकत्वमेव। तेन व्यङ्ग्यवस्तुना च राजविशेषविषयभावोत्कर्ष एवेति न पदैकदेशस्य असंलक्ष्यक्रमव्यञ्जकत्वकथनानुपपत्तिरिति।

1 धीरधनु इति पाठान्तरम्।

साक्षात्कामं नवमिव रतिर्मालती माधवं यद्
गाढोत्कण्ठालुलितलुलितैरङ्गकैस्ताम्यतीति ॥१०६॥

अत्रानुकम्पावृत्तेः 'क'रूपतद्धितस्य ।

परिच्छेदातीतः सकलवचनानामविषयः
पुनर्जन्मन्यस्मिन्ननुभवपथं यो न गतवान् ।
विवेकप्रध्वंसादुपचितमहामोहगहनो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते(A) ॥१०७॥

भूयो भूय इति । मालतीमाधवनाटके(B) "लवङ्गिकया इति निवेदितम्" इति चूर्णकेनान्वयः । भवनवलभी भवनोपरि भवनम् । 'तुङ्गवातायनम् उच्चगवाक्षः' । तत्रस्था मालती तन्निकटस्थया नगरीरथ्यया राजमार्गेण पर्यटन्तं माधवं भूयो भूयो दृष्ट्वा दृष्ट्वा लुलितलुलितैः अत्यन्तकोमलैः अङ्गकैस्ताम्यतीत्यर्थः । अङ्गकैरिति तान्तिज्ञापकत्वे विशेषणे वा तृतीया । साक्षादित्यव्ययम्, कामरत्योर्द्वयोरपि विशेषणम् । नवं नवयौवनम् । अत्रेति, अनुकम्पार्थक "क"रूपतद्धितेन मालत्या विप्रलम्भातिशयो व्यज्यते इत्यर्थः, विप्रलम्भातिशयादेव अनुकम्पनीयावस्थाप्रत्तेः । कप्रत्ययस्य तद्धितत्वञ्च पाणिनिमते बोध्यम् ।

उपसर्गस्यापि स्वतः प्रयोगाभावात् पदैकदेशत्वम्, अतस्तद्व्यङ्ग्यमाह—परिच्छेदेति । मकरन्दं प्रति [1]माधवस्योक्तिरियम् । मम कोऽपि विकारः अन्तर्मानसं जडयति तत्र तापञ्च कुरुते इत्यर्थः । परिच्छेदेत्यादीनि विकारविशेषणानि । परिच्छेदः इयत्ताज्ञानम् ।

(A) व्याख्यातमिदमुद्द्योते—परिच्छेदेति । तत्रैव (मालतीमाधवे) मकरन्दं प्रति माधवस्य स्वावस्थाकथनमेतत् । परिच्छेद इयत्तामतिक्रान्तः इयत्तारहित इत्यर्थः । सकलानां सामान्यविशेषशक्त्याऽभिधानक्षमानां वचनानामविषयः, तैर्निर्वक्तुमशक्य इति भावः । पुनरन्यदा कालान्तरे अस्मिन् जन्मनि अनुभवपथं तद्विषयत्वं यो न प्राप्त इत्यर्थः । विवेकप्रध्वंसादिति विवेको दोषगुणविभागः, 'प्र'शब्देन समूलोन्मूलनरूपप्रकर्षस्तेन मोहप्रकर्षस्तेन च रागातिशयस्तेन च विप्रलम्भातिशयो व्यङ्ग्यः । तेनोपचितामुपचितिं वृद्धिं प्राप्तो यो महामोहः सकलविषयाणामज्ञानं विपरीतज्ञानं वा यत्र तादृशश्चासौ गहनश्च, दुर्लङ्घ्य इत्यर्थः । ईदृशः कोऽप्यनिर्वचनीयो विकारः अन्तः अन्तःकरणं जडयति विषयग्राहिवृत्तिविषये स्तब्धं करोतीत्यर्थः' इति ।

(B) नाटकपदमत्र रूपकपरं मालतीमाधवस्य प्रकरणत्वादिति बोध्यम् ।

---

1 'माधवस्य स्वावस्थाकथनमिदम्' प० ।

अत्र प्रशब्दस्योपसर्गस्य।

कृतं च गर्वाभिमुखं मनस्त्वया
किमन्यदेवं निहताश्च नो द्विषः।
तमांसि तिष्ठन्ति हि तावदंशुमान्
न यावदायात्युदयाद्रिमौलिताम्॥ १०८॥

अत्र तुल्ययोगिताद्योतकस्य 'च' इति निपातस्य।

(A)रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद्भाग्यविपर्ययाद् यदि परं देवो न जानाति तम्।

पुनःशब्दोऽत्र स्पर्धे। अस्मिन् जन्मनि त्वदनुभवपथं यो न गतवान्, जन्मान्तरे तु तदनुभवोऽस्तु मा वेत्यर्थः। केचित्तु आवृत्तिबोधकमेवात्र पुनःशब्दं व्याचक्षते, तन्न, तदा पुनर्जन्मनीति वा पुनरनुभवपथमिति वा अन्वयः स्यात्, तदुभयमपि न सम्भवति प्राग्जन्मप्रागनुभवयोरावृत्तिरूपत्वाभावात्, चरमस्यैवावृत्तिरूपत्वात्। [1]'विवेकस्य इतरभेदविचारस्य प्रध्वंसात् निःशेषाभावात् उपचितेन महामोहेन विवेकविपरीतज्ञानेन'* गहनं व्याप्तम्। अत्रेति, निःशेषतारूपस्वप्रकर्षबोधनाद् विप्रलम्भातिशयो व्यङ्ग्य इत्यर्थः। कृतञ्चेति। नृपं प्रति मन्त्रिवाक्यमिदम्। गर्वोऽत्र क्रोधफलकत्वबोध्यः। किमन्यत्कर्तव्यमित्यर्थः। एवं सत्येव न अस्माकं द्विषः निहता अमोघक्रोधत्वादिति भावः। अत्र दृष्टान्तालङ्कारमाह—तमांसीति। मौलितां मौलिस्थताम्। अत्रेति। 'तुल्ययोगिता' तुल्यमेककाल योगिता समुच्चयालङ्कार इत्यर्थः। प्राकरणिकत्वेनाप्राकरणिकत्वेन वा नियतानां क्रियागुणाद्येकधर्मान्वयरूपायास्तुल्ययोगिताया असम्भवात्। द्योतकता चात्र वाचकतैव, चकारद्वयस्यैककालवाचकत्वात् [2]'तद्द्वारा च'* तत्रविषयभावप्रकर्षो व्यङ्ग्यः। चकारयोः पदैकदेशत्वञ्च पदान्तरादसम्भवादिति नियमात्, [3]अत एव निपातत्वमपि। वाचकता चानयोः परस्परोपसन्धानादेव'*।

एकत्रैव बहूनां पदैकदेशानां व्यञ्जकत्वमाह—रामोऽसाविति। रावणं प्रति

(A) रामोऽसाविति। राघवानन्दनाटके रावणमुद्दिश्य कुम्भकर्णस्योक्तिरियमित्युदाहरणचन्द्रिकाकारः। उद्द्योतकारैस्तु 'रावणमुद्दिश्य विभीषणोक्तिः' इत्युक्त्वा व्याख्यातमिदम्—

1 'विवेक इत्यादौ मार्गविरोधे तस्य प्रकृतो भ्रम निःशेषत्व विविक्त किमिद वति विप्रलम्भ मोह हेत' क ख। पत्र च चिह्नितपाठस्य पाठो मूलेन, चिह्नितपुस्तके तु एव भागो नास्त्येव।
2 'चोपसम्पादितो शक्तिरियम्, तथाच' ख। 3 चतत्पाठ ख-पुस्तके नास्ति।

वन्दीवैष यशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ॥ १०९ ॥

अत्रासाविति भुवनेष्विति गुणैरिति सर्वनाम-प्रातिपदिक-

मन्त्रिवाक्यमिदम्। भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तप्रसिद्धिमपि देवः भवान् यदि पुनर्न जानाति, तदा अस्मद्भाग्यविपर्ययादेव तदित्यर्थः। प्रसिद्धिप्राप्तिं दर्शयति—वन्दीवेति। वन्दी स्तुतिपाठकः। एकबाणस्याहतिर्यत्र तादृशा ये श्रेणीभूतविशालतालाः तेषां विवराणि बाणकृतानि तदुद्गीर्णैः सप्तभिः निषादर्षभगान्धारादिभिः (A) स्वरैर्यस्य यशांसि मरुद् गायति, [1]सप्तविवरोत्थितसप्तरन्ध्रेषु निषादर्षभादिसप्तस्वरत्वाध्यासादिदमुक्तम्[1]*। अत्र पदैकदेशानां स्वस्वार्थबोधनद्वारा तावन्मात्रस्वरूप-व्यभिचारिभावव्यञ्जकत्वं दर्शयति—अत्रेति। असावित्यत्र [2]प्रकृतिमात्रेण पुरःप्रायत्व-

---

'राम सकलभुवनजनमनोरमण, एतेन सर्वे तद्धितकारिण इति व्यज्यते। असौ स्वरूपतादि-रूपत्वेनातिप्रसिद्धः विलक्षणधैर्यगाम्भीर्यशाली च भावनया प्रत्यक्षायमाणश्च। विक्रम-गुणैरिति केवलं प्रसिद्धिं प्राप्त इत्युक्तौ सदोषगुणैरपि प्रसिद्धिसम्भवः यथा सम्बोध्यरावणस्य, तन्निवृत्त्यर्थं गुणैरिति। न केवलं गुणैरपि तु विक्रमजैः। एतेन सीतात्यागस्याभव्यत्वं व्यज्यते। सोऽपि न ग्रामे न नगरे नापि भुवने किन्तु भुवनेषु, तेष्वपि न इतरान् किन्तु परान्, तेनाज्ञातत्वनिरासः। यद्वा विक्रमगुणैः प्रकृष्टां सिद्धिं जयलक्ष्मीं भुवनेषु प्राप्त इत्यर्थः। एतेन सर्वथाऽपि युद्धेऽजेयत्वं व्यज्यते। तथापि यद्देवो न जानाति तदस्मद्भाग्यविपर्ययादेव न तु त्वद्भाग्यविपर्ययात्, त्रैलोक्यनाथसाक्षात्प्रभुपुरःसरत्वेन मरणेऽपि मोक्षलक्ष्मीविलासलाभेन तस्यापि भाग्यफलत्वात्। अस्माकं तु भवच्चिरकालजीविनां त्वादृशप्रभुविप्रयोगात् त्वद्वियोगाच्च निरन्तरदुःखदावानलज्वलमानानां परं भाग्यविपर्यय इति भावः। यदिपदमिति निपात-समुदायोऽवधारणार्थः। देवो दिव्यज्ञानवानपीत्यर्थः। अत्र भाग्यविपर्ययादित्युक्तं न तु अभाग्यादिति, तेन त्वादृशप्रभुलाभात् सार्वदिकातिशयसुखलाभेनाभाग्यविरहेऽनुमितेऽपि भाग्यान्येव विपरीतफलत्वेन परिणतानीति ध्वनिः। अस्मद्भाग्येत्यनेन समस्तानां दुःखस्यैव यथार्थं प्रतीयते। प्रसिद्धिहेतुभूतं विक्रमगुणोदाहरणमाह—वन्दीति। वन्दी वैतालिकः। एकबाणाहत्या जातानि यानि श्रेणीभूतविशालतालानां विवराणि तदुद्गीर्णैरित्यर्थः। एक-बाणाहतेति पाठः स्पष्टः। रामेण किल सुग्रीवप्रत्ययाय सप्त तालवृक्षा एकबाणेन भिन्ना इति प्रसिद्धिः' इति।

(A) 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः। पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः' इत्यमरः।

---

1. अयमंशः ख पुस्तके नास्ति। 2. 'विभक्त्यर्थं विना सर्वनाम्ना' ख।

वचनानां न त्वदिति न मदिति अपि तु अस्मदित्यस्य सर्वाक्षेपिणः,
भाग्यविपर्ययादित्यन्यथासंपत्तिमुखेन (A)न त्वभावमुखेनाभिधानस्य।

तरुणिमनि कलयति कलामनुमदनधनुर्भ्रुवोः पठत्यग्रे ।
अधिवसति सकलललनामौलिमियं चकितहरिणचलनयना ॥११०॥

अत्र इमनिजव्ययीभावकर्मभूताधाराणां स्वरूपस्य, तरुणत्वे इति

व्यञ्जनात् सर्वनाम, भुवनेष्वित्यत्र भुवनपदेन त्रैलोक्यबोधनात् गुणैरित्यत्र गुणपदेन(B) दाक्ष्याद्युक्तिबोधनाच्च प्रातिपदिकयोरुभयत्रैव बहुवचनेन तदनेकत्वबोधनात् वचनस्य च प्रासत्यकत्वमित्याह—सर्वनामेति। बहुवचनसमासनियता स्मत्पदस्यापि प्रासव्यञ्जकत्वमित्याह—न त्वदितीति । एकवचनसमास एव त्वन्मदौ नियते, (C)तथा अकृत्वा कृतस्य सर्वगोप्त्याक्षेपकस्य अस्मदिति निर्देशस्येत्यर्थः । विपर्ययपदस्यापि तद्व्यञ्जकत्वमाह—भाग्येति। 'यथा सम्पत्ति' दुर्भाग्यत्वेन [1]निष्पत्ति । न त्वभावेति भाग्याभावात् सत्फलाभाव एव न त्वसत्फलम्, दुर्भाग्यत्वे त्वसत्फलमिति भावः ।

विदग्धप्रयाज्यस्वरूपविशेषरूपपदैकदेशस्यापि व्यञ्जकत्वमाह—तरुणिमनीति। तरुणिमनि तारुण्ये कलां चातुरीं कलयति प्रकाशयति सति तथा भ्रुवाग्रे कर्त्तरि अनुमदनधनु मदनधनुषः समीपे स्वयमेव कला पठति सति सकलललनामौलिमियमधिवसति सकलनारीमूर्द्धन्या भवतीत्यर्थः । अत्रेति । तरुणिमनीत्यत्र इमनिच्, अनुमदनेत्यत्राव्ययीभाव, मौलिमधिवसतीत्यत्र कर्मभूताधारस्य मौलेः

(A) न त्वभावेति । तथोक्तौ हि भाग्यस्य सार्वत्रिकाभावप्रतीतौ सम्पत्तेरपि तथाभावः प्रतीयेत इति भावः इत्युद्द्योते । अन्ये तु अभावमुखेनोक्तौ अभाग्यादित्येव वक्तव्यम्, तथा च भाग्यात्यन्ताभावात् सम्पत्त्यभाव एव प्रतीयेत न तु भाग्यध्वंस इति तात्पर्यमाहुः ।

(B) अत्र गुणैरित्यत्र प्रकृतिप्रत्यययोर्द्वयोरेव व्यञ्जकत्वेऽपि व्यङ्ग्यभेदसत्त्वान्न पदैकांश व्यञ्जनोदाहरणत्वासङ्गतिरिति ध्येयम् ।

(C) तथा अकृत्वेति। एकवचनसमासपरिहारेण कृतस्य अस्मदितिबहुवचनसमासस्येति फलितार्थः 'सर्वगोप्त्याक्षेपकस्य' समस्तरक्षकुरूपाभासिन इत्यर्थः ।

---

1 परिणामः क्व।

धनुषः समीपे इति मौलौ वसतीति त्वादिभिस्तुल्ये एषां वाचकत्वे अस्ति कश्चित् स्वरूपस्य विशेषो यश्चमत्कारकारी स एव व्यञ्जकत्वं प्राप्नोति।

एवमन्येषामपि बोद्धव्यम्। वर्णरचनानां व्यञ्जकत्वं गुणस्वरूपनिरूपणे उदाहरिष्यते। अपि-शब्दात् प्रबन्धेषु नाटकादिषु। एवं रसादीनां पूर्वगणितभेदाभ्यां सह षड्भेदाः।

(६२) भेदास्तदेकपञ्चाशत्[1]—

व्याख्याताः।

तद्बोधकशब्दस्येत्यर्थः। एषां स्वरूपस्येत्यर्थः। एषां स्वरूपस्य विदग्धविशेषप्रयोज्य-गाढसंस्कृतरूपत्वात् तदपि रसोत्कर्षव्यञ्जकमित्यर्थः। अत्र च अव्ययीभावस्य रचनारूपत्वमव्ययस्य पदैकदेशत्वम्, तत्समानार्थकमगाढसंस्कृतस्वरूपन्तु न तद्व्यञ्जकमित्याह—तरुणत्व इतीति। 'त्वादिभि' त्वप्रत्ययादिभि। **अस्ति कश्चिदिति** अनुभवैकगम्यो न निशिष्य वक्तुं शक्य इत्यर्थः। चक्रवर्ती तु—अत्र कोमलवर्णस्वरूपमेव स्वरूपविशेष इति व्याचष्टे, तन्न; तदा वर्णानामेव व्यञ्जकतापत्तेः, तस्य चानुपदमेव वक्ष्यमाणत्वात्। **अपि-शब्दादिति** वर्णेष्वपीत्यपि-शब्दादित्यर्थः। कुलकरूपमहावाक्यात्मकप्रबन्धव्यावर्त्तनाय—**नाटकादिष्विति**। आदिशब्दात् नाटिका-परिग्रहः। "नाटकादिषु अन्तरा रसान्तरसम्भवेऽपि"[2] प्रबन्धव्यङ्ग्य एको रस। **एवं रसादीनामिति** असंलक्ष्यक्रमत्वेन एकविधतया गणितानामित्यर्थः। **पूर्वगणितेति** पदवाक्यप्रकाश्यतया पञ्चत्रिंशन्मध्ये गणिताभ्यामित्यर्थः। **षड्भिति** पदैकदेशरचनावर्णप्रबन्धव्यङ्ग्यतया गणितचतुर्भेदमिलनेन षडित्यर्थः। एवञ्च पदवाक्यप्रकाश्यौ द्वौ पूर्वगणितौ विहायात्र गणिता पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार एव इति सिध्यति। तथा च पूर्वगणिताः पञ्चत्रिंशत्, कुलकरूपप्रबन्धव्यङ्ग्या अर्थशक्त्युद्भवा द्वादश पदैकदेशादिव्यङ्ग्याश्चत्वार इत्येकपञ्चाशत् ध्वनयो भवन्तीत्याह—**भेदास्तदेकेति**।

---

1 '-पञ्चाशदेव' इति क्वचित् पाठः। 2 'नाटकादावन्तरा रसान्तरे सत्यपि' ख।

अयमत्र ध्वनेर्विभागप्रकारः ।

- **ध्वनिः ५१**
  - अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्य ४७
    - लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ४१
      - शब्दशक्तिमूल (४)
        - पदगत (२)
          - वस्तुरूप १
          - अलङ्काररूप १
        - वाक्यगत (२)
          - वस्तुरूप १
          - अलङ्काररूप १
      - अर्थशक्तिमूल (३६)
        - पदगत १२
        - वाक्यगत १२
        - प्रबन्धगत १२
      - शब्दार्थोभयशक्तिमूल (१)
    - असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ६
      - पदांशगत १
      - वर्णगत १
      - रचनागत १
      - पदगत १
      - वाक्यगत १
      - प्रबन्धगत १
  - लक्षणामूल अविवक्षितवाच्य ४
    - अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य २
      - पदगत १
      - वाक्यगत १
    - अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य २
      - पदगत १
      - वाक्यगत १

(A) एकप्रकारादिति। अयमभिप्रायः—प्रथमं तावद् ध्वनेर्लक्षणाऽभिधामूलकत्वेन अविवक्षितवाच्य विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ भेदौ। तत्रापि अविवक्षितवाच्यस्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वेन अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वेन च द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन पुनरपि द्वैविध्ये चातुर्विध्यम्। ते च नामतः—

(१) पदगतार्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनि
(२) वाक्यगतार्थान्तरसंक्रमिताविवक्षितवाच्यध्वनि
(३) पदगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि
(४) वाक्यगतात्यन्ततिरस्कृताविवक्षितवाच्यध्वनि

इति।

एवं विवक्षितान्यपरवाच्यस्य प्रथमतः लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च द्वौ भेदौ। तत्रापि लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलतया अर्थशक्तिमूलतया शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया च त्रैविध्यम्। तत्रापि शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वस्तुरूपतया अलङ्काररूपतया च द्विविधस्य पदवाक्यगतत्वेन चातुर्विध्यम्।

तेषां नामानि च—

(५) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
(६) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमवस्तुध्वनि
(७) पदगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि
(८) वाक्यगतशब्दशक्तिमूललक्ष्यक्रमालङ्कारध्वनि

इति।

एवमर्थशक्तिमूले लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्येऽपि अर्थस्य स्वतःसम्भवितया कविप्रौढोक्तिसिद्धतया कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धतया च प्रथमं त्रैविध्यम्, तस्त्रिविधस्यापि वस्तुरूपत्वेनालङ्काररूपत्वेन च प्रत्येकं द्वैविध्ये षड्विधत्वम्। पुनः षड्विधस्यापि व्यङ्ग्यतया व्यञ्जकतया च द्वैविध्ये द्वादशविधत्वम्। तस्यापि द्वादशविधस्य पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन प्रबन्धगतत्वेन च प्रत्येकं त्रैविध्ये षट्त्रिंशत्प्रकारोऽर्थशक्तिमूलोऽनुरणनरूपो लक्ष्यक्रमध्वनिः। तेषां नामानि च—

(९) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(१०) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(११) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(१२) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(१३) वाक्यगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(१४) प्रबन्धगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(१५) पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि

(१६) वाक्यगतः स्वत सिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(१७) प्रबन्धगत स्वत सिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(१८) पदगत स्वत सिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(१९) वाक्यगत स्वत सिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(२०) प्रबन्धगत स्वत सिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(२१) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(२२) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(२३) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(२४) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(२५) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(२६) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(२७) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(२८) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(२९) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(३०) पदगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(३१) वाक्यगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(३२) प्रबन्धगतकविप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(३३) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(३४) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(३५) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनि
(३६) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(३७) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(३८) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुना अलङ्कारध्वनि
(३९) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(४०) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(४१) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनि
(४२) पदगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(४३) वाक्यगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि
(४४) प्रबन्धगतकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धार्थशक्तिमूलोऽलङ्कारेण अलङ्कारध्वनि

इति ।

शब्दार्थोभयशक्तिमूलो लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्तु वाक्यमात्रगतत्वेन एकविध एव । स च

(६३)——तेषां चान्योन्ययोजने ॥ ४३ ॥
संकरेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।

न केवलं शुद्धा एवैकपञ्चाशद्भेदा भवन्ति, यावत्तेषां स्वप्रभेदैरेकपञ्चाशता संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतयैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन संकरेण परस्परनिरपेक्षरूपयैकप्रकारया संसृष्ट्या चेति चतुर्भिर्गुणने—

इत्थं शुद्धानेकपञ्चाशद्ध्वनीनुक्त्वा एतेषामन्योन्ययोजनमाह—तेषाञ्चान्योन्येति। योजनस्यैव प्रकारमाह—सङ्करेणेति। व्याचष्टे—न केवलमिति। अपि तु इत्यर्थे यावदिति। त्रिरूपं सङ्करं व्याचष्टे—संशयास्पदत्वेनेति। अयं ध्वनिरयं ध्वनिर्वेति संशयविषयत्वम्, प्रकृष्यमाणत्वप्रकर्षकत्वम् अनुग्राह्यानुग्राहकभावः, एकेन व्यञ्जकेन उभयव्यञ्जनम् एकव्यञ्जकानुप्रवेशः, इति त्रिविधेन 'सङ्करेण एतत्त्रितय'भिन्नरूपया परस्परनिरपेक्षत्वात्मिकया एकप्रकारया संसृष्ट्या चेत्यर्थः।

(४५) शब्दार्थोभयशक्तिमूलो ध्वनि ।

इति व्यवतिष्ठते। एकचत्वारिंशदिमे ध्वनिभेदा विवक्षितान्यपरवाच्येषु लक्ष्यक्रमाः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्य द्वितीयो भेदः असंलक्ष्यक्रमस्तु पदैकदेश-वर्ण-रचना-पद-वाक्य-प्रबन्धगतत्वेन षड्विध एव। ते च—

(४६) पदैकदेशगतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।
(४७) वर्णगतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।
(४८) रचनागतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।
(४९) पदगतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।
(५०) वाक्यगतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।
(५१) प्रबन्धगतासंलक्ष्यक्रम रसादिध्वनि ।

इति ज्ञातव्या। एवमेते मिलित्वा एकपञ्चाशद् भवन्तीति।

1 '-बहिर्भूतया' ख।

(६४) वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः(A) (१०४०४)

वेदखाब्धीति। अङ्कानां वामतो गतिरिति नियमेन वेदाश्चत्वारः (४) तद्वामे खं शून्यं (०४) तद्वामे अब्धयश्चत्वारः (४०४) तद्वामे वियत् शून्यं (०४०४) तद्वामे चन्द्र एकः (१०४०४) इत्यङ्काः। एवं चतुरधिकचतुःशतोत्तरमेकमयुतं ध्वनय इत्युक्तम्। ननु पञ्चपञ्चाशतश्चतुर्गुणने चतुरधिकद्विशतमेव भवति, तत् कथं चन्द्रखेत्याद्यङ्का इति चेन्न, प्रथममस्य स्वजातीयेनैकेन

(A) यद्यपि तेषामित्यादिना 'चन्द्राः' इत्यन्तेन वाक्यस्य निराकाङ्क्षतासम्पादनार्थम् एकमेव सूत्रं गणयितुमुचितम्, तथाऽपि मुद्रितबहुपुस्तकसंवादार्थमुक्तक्रमेण सूत्रसंख्या गृहीता। व्याख्यानमिदं प्रदीपे—"रसायनाद्युद्भिन्नानेकरूपकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधः सङ्करः, उक्तप्रकारान्तरं विना संयोगः संसृष्टिः। एवमेकपञ्चाशतो भेदानामेकपञ्चाशता भेदैर्योजनमिति तावता तावद्गुणनेन सहस्रद्वयम् एकाधिका पञ्चशती च, संयोगश्च संसृष्टिरित्येवं चतुर्भिः प्रकारैरिति तावता चतुर्भिर्गुणने दश सहस्राणि चतुरधिकानि चत्वारि शतानि च सम्पद्यन्ते। स च अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सङ्करस्थानेऽनुग्राहकस्याङ्गतया गुणीभाव इति न ध्वनित्वहानिरिति वाच्यम्, तत्र हि स्वतन्त्रसहकारित्व एव तस्य किञ्चिदुपकारितामात्रम्, न तु शेषशेषिभाव इति।

अन्यस्तु एकपञ्चाशद्भेदैरेकतरस्य पञ्चाशता योजनम्, स्वस्य तु स्वेन कथं योजनमिति चेत् न, व्यक्तिभेदमाश्रित्य विजातीयवत् सजातीयेनापि सङ्करादिसम्भवादिति मुख्यव्याख्या। अनाश्रयणीया गणनेयमधुना, अभिन्नाभिन्नभेदस्य योजने एकैकभेदग्रहणात्। तथाहि—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्येन योजने यो भेदः स एव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्यार्थान्तरसंक्रमितवाच्येन योजनायाम्, एवमन्यत्रापि। तस्मात्

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत् सङ्कलितं लघु॥

इत्युक्तदिशा द्विपञ्चाशदर्धेन षड्विंशत्या एकपञ्चाशतं गुणयेत्। तथा च 'रसनेत्राग्निनेत्राणि' (१३२६) इति त्रयोदशशतानि षड्विंशत्यधिकानि जायन्ते। योगश्चतुष्प्रकारक इति तेषु चतुर्भिर्गुणितेषु 'वेदाभ्रवह्निनेत्र' (५३०४) इति पञ्चसहस्राणि चतुरधिकं शतत्रयं सङ्कीर्णभेदा इत्येव न्याय्य इति वदन्ति।

अत्र ब्रूमः—अनुभवसिद्धौ तावत् पुण्डरीकाणां गुरुसेव्वित्र ध्वनिष्वपि स्वरूपतोऽतिशयानतिशयौ। तथा च अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य यत्रातिशयस्तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्येन संयोजनम्। यत्र तु तद्वैपरीत्यं तत्रात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्येतरेण योजनमिति व्यपदेशः। एवमन्यत्राप्यूह्यम्। एतदेव प्राधान्यमादाय गणना सौत्री। नन्वेवं यत्रोभयोस्तुल्यमेव चारुत्वम्, तत्र भेदान्तरं स्यादिति, नैवम्; अपकर्षाभावस्यातिशयपदेन विवक्षितत्वात् तत्रोभयभेदसङ्करस्वीकारात्। एतादृशे

स्वविजातीयैः पञ्चाशता च ¹सह चातुर्गुण्ये एकस्यैव चतुरधिकद्विशतत्वम्, एवञ्च पञ्चाशतस्तावद्भिः(A) गुणने भवन्त्येव वेदखेत्याद्यङ्का'* । परन्तु औत्सर्गिकीं रीतिं दृष्ट्वा ग्रन्थकृता ²अप्रणिधानादिदं लिखितम् । प्रणिधानतस्त्विदं ⁴अल्पमेव । तथाहि—प्रथमस्यैकपञ्चाशता सह चातुर्विध्ये गणिते द्वितीयस्य प्रथमेन सह चातुर्विध्यं ³पूर्वगणनायामेव गणितमिति द्वितीयस्य पञ्चाशतैव सह चातुर्विध्यं गणनीयम्, एवं तृतीयादेरपि पूर्वपूर्वेण सह चातुर्विध्यस्य पूर्वगणितत्वात् तदपहायैव गणनीयत्वे चरमस्य सजातीयेनैव सह चातुर्विध्यं गणनीयमेव रीत्या एकशताधिकपञ्चसहस्रस्थाने चतुरधिकत्रिशतोत्तरपञ्चसहस्राण्येव भवन्ति'* । दर्शिता चेयं रीतिर्विरोधालङ्कारे । तत्र हि—

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणैस्त्रिभिः ।
क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश ॥ (१०म उल्लास)

इति वदता जात्यादिचतुर्णां जात्यादिचतुर्भिः सह विरोधे षोडशत्वप्रसक्तौ पूर्वपूर्वेण सह परपरस्य विरोधं पूर्वगणनाप्रविष्टमपहायैव दशविधत्वमुक्तमिति । किञ्च

अस्थाने पदाङ्कक्रममात्रमेव महत् गौरवमिति सहृदयभावमास्थायालोचनीय"मिति । तथैव चिन्त्यते—एवं रीत्या मूलोक्तसङ्ख्यायाः कथञ्चिदुपपादनेऽपि किञ्चेत्यादिना टीकाकृदुक्तस्य केषाञ्चिद् ध्वनीनामेकव्यञ्जकानुप्रवेशासम्भवेन संकराद्यसम्भवदुष्परिहरतया 'वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः' इत्यस्यानुपपत्तिरेवेति ।

(A) तावद्भिरिति चतुरधिकद्विशतरूपेणेत्यर्थः ।

1 'सह प्रत्येकं चातुर्विध्ये एकस्यैव चतुरधिकद्विशतरूपत्वम्, एवं रीत्या एकपञ्चाशतामेव (सत एव ?) प्रत्येकं तावद्भागैर्भवन्त्येव वेदखेत्यादयः, तथाहि (१) चतुरधिकद्विशतस्य एकपञ्चाशद्गुणने तावत्सङ्ख्या- सिद्धेः । (तथाहि २) [illegible] चतुरधिक- द्विशतत्वम् । [illegible] पञ्चाशत प्रत्येकं चतुरधिकद्विशतत्वमिति भवेदेव वेदखाब्ध्यादिसङ्ख्या [illegible]' ख । 2 'अप्रणिधानादिदमुक्तम्' ख । 3 'पूर्वगणनायां प्रविष्ट- [illegible] एकशताधिकपञ्चसहस्रस्थाने [illegible] न वेदखाब्ध्यादि" ख । 4 'अपि' इति मुद्रितपुस्तकपाठः ।

शुद्धभेदैः सह—

(६५)———शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) ॥ ४४ ॥

तत्र दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

[1]खणपाहुणिआ देअर जाआए सुहअ किंपि दे भणिआ ।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई ।[(A)] ॥ १११ ॥

---

[1]पदैकदेशाश्रयं वाक्यं महावाक्यमाश्रित्य सङ्कीर्णस्यान्यतरेणाग्रहणात् कथं तेषामेकत्वव्यवस्था-नुपपत्तेः (B)इत्येतावताऽपि (C)बहुतरह्रासे वेदखाब्धीत्याद्युक्तमविचारसुभगमेव[2]० ।

वेदखेत्यादौ [3]शुद्धभेदानपि प्रवेश्य गणने सङ्ख्याधिक्यमाह—शुद्धभेदैरिति । शरा पञ्च, इषव पञ्च, युगानि चत्वारि, खं शून्यम्, इन्दुरेक, परम् १०४५५ । तत्र सङ्करा-स्पदत्वरूपं सङ्करमुदाहरति—खणपाहुणिआ इति—

क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता ।
रोदिति पश्चाद्भागवलभीगृहे अनुनीयतां वराकी ॥ इति संस्कृतम् ।

(A) क्षणेति । व्याख्यातमिदमुद्द्योतकारैः—'देवरानुरक्तामुपनायिकामुत्पन्नसम्-पत्तां कदाचिदनुनेतुं देवरं प्रति कस्याश्चिदुक्तिरियम् । त्वज्जायया अतिदुःखिनि पीडिताय अपि त्वय्यनुरागदर्शनेन हे सुभग हे देवर ते तव च क्षण उत्सवस्तत्र क्षणमात्र वा प्राघुणिका अतिथि सा त्वं तत्र जायया न तु प्रियया किमपि अवाच्यं भणिता गृहपश्चाद्भागवलभीगृहे रोदिति । अतो वराकी उत्तराशागत्वात् त्वन्मात्रसक्तत्वाच्च दीना अनुनीयताम् । अत्रानुनयो रोदननिवर्तको व्यापारः । तेन सम्भोगो व्यङ्ग्य । गृहपश्चाद्भागेत्यनेन विजनता । क्षण-प्राघुणिकेत्यनेन तु तातिशयोक्तिरित्यम् । स्वगृह उत्सवसमयेन सर्वेषां जनाना व्यासक्तचित्तत्वञ्च' इति । "पडोहरशब्दो गृहपश्चाद्भाग वाचि, प्रतिवासिवाचीत्यन्ये" इत्युदाहरणचन्द्रिका ।

(B) इत्येतावतापीति । इदमुपलक्षणम्—शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्य शब्दार्थोभयशक्त्युत्थ-व्यङ्ग्यान्तरेण एकाश्रयानुप्रवेशसम्भवोऽपि द्रष्टव्य ।

(C) बहुतरह्रास इति । इदमत्र चिन्तनीयम्—लक्षणामूलव्यङ्ग्यवत् व्यञ्जनामूलव्यङ्ग्य

---

1 क्षणप इति क्वचित् पाठ । 2 'यद्यपि नानेकभेदवाक्यात् नातिरेकस्तथाप्युत्थापक पदस्याश्रयोऽव्यवस्थाऽस्पदत्वात् सङ्करत्वमप्यस्यागाच्च एकव्यञ्जकानुप्रवेश एव न सम्भवति व्यञ्जकान्तरपदसमभिव्याहारादिति कथमेकवाक्यानुप्रवेश बहुतरोऽपि बहुतरह्रासे यदुक्तमविचारसुभगमेव' ख । 3 'शुद्धभेदैरपीति' क ।

अत्रानुनयः किमुपभोगलक्षणे(A)ऽर्थान्तरे संक्रमितः (B)किमनुरणनन्यायेनोपभोगे एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देहः ।

देवरं प्रति प्रसक्तामुनुत्सवे तद्गृहागतां तत्पत्न्या निर्भर्त्सितां(C) मनुनेतुं ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या उक्तिरियम् । खण उत्सवः, तत्र प्राघुणिका अभ्यागता । वडोहर' पश्चादर्थे देशी, वराकी दुःखिता । अत्रेति । 'अनुनयः' प्रीतिजननम्, प्रीतिविशेषजननस्तूपभोगः, तत्त्वेन संक्रमितवाच्योऽनुनय इत्यर्थः, तथाच सादृश्यलक्षणया उपभुज्यतामित्यर्थः । तद्व्यङ्ग्यञ्च दुःखापनयनम् । **किमनुरणनन्यायेनेति** । अनुनयो वाच्यो विवक्षित एव किमुपभोगस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जक इत्यर्थः । न चैवमुपभोगस्य लक्षणीयत्वव्यङ्ग्यत्वसंशयः प्रधानेन दर्शितो न तु व्यङ्ग्यद्वयस्य संशयास्पदत्वं दर्शितमिति वाच्यं

सम्भवस्यापि 'उअ णिच्चल' इत्यादौ प्रदर्शितत्वेन तद्गणनाऽप्युचिता । एवं शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्य वस्त्वलङ्काररूपतया द्वैविध्य सम्भवतीति टीकाकृदुक्तरीत्या ह्रासवत् किञ्चिदाधिक्यमपि भवितुमर्हति । सर्वथा तु भेदगणनेत्याद्युक्तेरसङ्गतिः स्थितैव । एतेन 'वेदखाग्निशराः' (५३०४) इति साहित्यदर्पणकारोक्तिरपि प्रत्युक्तेति ।

(A) अर्थान्तरे संक्रमित इति । अयं भावः—कोपमानादिचित्तविकारनिवर्तकव्यापारविशेषोऽनुनयः पादपतनादिरूपः, स च कान्ताया उपभोगजन्योऽपीति अनुनयस्य सामान्यविशेषभावसम्बन्धेन उपभोगजन्यतावच्छेदकव्यापारोऽत्र अनुपूर्व'नी'धातुना लक्ष्यते, लक्षणाबीजन्तु उपभोगस्यादिरूपप्रतीयमानतात्पर्यानुपपत्तिरेव, प्रयोजनञ्च लक्ष्यार्थगतातिशय इति सन्देहस्य प्रथमकोटौ लक्षणामूलत्वम्, एवञ्च द्वितीयकोटौ उपभोगस्यैव व्यङ्ग्यतया व्यङ्ग्यभेदोऽपि सन्देहसङ्करे आवश्यकतया टीकाकृत्सम्मत उपपद्यते इति बोध्यम् । अत्र अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणया अनुनीयतामित्यस्य उपभुज्यतामित्यर्थस्तु न क्वापि दृष्टः । प्रभाकाराणान्तु "कोपाभावाद्रूपाजरूपनयोज्ज्यमानोऽनुनयो लक्षणया उपभोगप्रतिपादकः उपभोगगततासाम्यञ्च व्यङ्ग्यम्, अथवा बाधाभावाद्वाच्य एवोपभोगव्यञ्जक इत्यर्थः । उभयथाऽप्युपभोग एव तात्पर्यपर्यवसानात् सन्देहस्याटोपत्वम्" इति वदता सन्देहसङ्करध्वनौ एकव्यङ्ग्यविषय एव संशय आवश्यक इति मतमिति प्रतिभाति । अत्र बालबोधिनीकारस्य 'सन्देह इति, यथा चात्र व्यङ्ग्यसन्देहस्तेनैतन्मूलकः एवाविवक्षितवाच्यत्वविवक्षितान्यपरवाच्यत्वयोरपि सन्देहरूपः सङ्करालङ्कारः' इत्युक्तिः वस्तुव्यङ्ग्यध्वनिसन्देहस्यालङ्कारलक्षणानाक्रान्तत्वात् चिन्त्या ।

(B) 'किम्' पदात् परं पक्षान्तरव्यञ्जको वाकार आर्थो बोध्यः ।

(C) अनुनेतुमिति अनुनाययितुमित्यर्थः, समानकर्तृकत्वे तुमो विधानात् उक्तिकर्तृभूताया ज्येष्ठभ्रातृपत्न्या अनुनयकर्तृत्वाभावात् देवरस्यैव तथात्वादिति बोध्यम् ।

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥ ११२ ॥

व्यङ्ग्यस्य ज्ञापनयनोपमानयोस्तत्सदृशयोधानसत्त्वविषयत्वात् । तथाच उपभोगेन दुःखमपनीयतामिति वा उपभुज्यतामिति वा अनयोरुक्तमिति सामानिकमनयोरसत्त्वस्य लक्षणमूलव्यङ्ग्य इत्त सम्भविरस्तुभङ्ग्यरस्तुनारीति सञ्ज्ञास्वरूपम् ।

अनुग्राह्यानुग्राहकतासङ्करस्य एकव्यञ्जकानुप्रवेशसङ्करस्य सदृष्टेश्चादरमुदाहरणमाह—स्निग्धेति । रामस्येयमुक्तिः । घना स्निग्धश्यामलकान्त्यावलोकाशा वल्लद्-

---

(A) स्निग्धेति । 'स्निग्धा श्लक्ष्णा श्यामला या कान्तिस्तया लिप्तं निबिडमलवर्द्ध वियदाकाशं यै, वल्लन्त्यो वा वहन्त्यश्चिन्ता वहुतर श्यामन्त्य (श्यामलता ?) सविलास चलन्त्यो वा बलाकाः (बलाका ?) पक्षिविशेषाः यन्त्रता येषु तथाभूता घना मेघा एव घना निबिडा (!) कामं यथेष्टं सन्तु । तथा शीकरिणोऽम्बुकणशालिनः, तत शैत्यशालिनो, तादृशा वाता अपि सन्तु । एव पयोदो मेघ तस्य सुहृत् केकारवकाहलरवकस्तथा मित्रं यथा तेषां मेघाद्यागमशालिध्यान् मयूराणां कलाः अव्यक्तमधुरा आनन्दजन्याः वाच्य सन्तु, आनन्दस्य कण्ठाद्व्यादिव्यक्तता । यद्वा पयोदस्य सुहृत् तदुदयाह्लादितानामित्यर्थ । तत एवानन्दकेकाः पयोदोद्गमे सन्तुहृद्दामानन्दयोचितान् । पर्प्रत्ययन् । काम सन्तु तावता न मे क्षतिरिति भाव तदेवाह—दृढमतिशयेन कठोरहृदयोऽहं रामः सकलदुःखसहनेन प्रसिद्धोऽस्मि, अत एव सर्वमुद्दीपकातिशयमतिनिकृष्टं सहे । उत्तमपुरुषकथनमेतत् । अत्रैवाहस्य [illegible] सजनकसम्मानऽस्ति प्रागवरणाद्रामस्य कारा व्यङ्ग्य । वैदेही विदेहराजपुत्री तु राजापन्नत्वात् धीरत्वाच सुकुमारतया दुःखाक्षमा विरहस्य कामस्याश्रया (भाश्रय) च कथं भविष्यति कथं जीविष्यति । तज्जीवनं न सम्भाव्यते इत्यर्थ । हहेति समुदाय खेदातिशये, भावनोपनीता सीता सम्बोध्य हहा हा देवि धीरा भव । दयस्व च धैर्यौचित्यम् । अत्र रामपदेन दुःखसहनालक्षणया व्यज्यमानस्य राज्यत्यागवनवासवल्कलधारणपितृशोकाद्यनुगत-दुःखसहनातिशयस्यावगमे व्यञ्जनयाऽवगतैः शोकावेगैर्यनिर्वेदादिभिः परिपुष्टो विप्रलम्भः प्रकाश्यत इति बोध्यम्" इत्युद्योतव्याख्याप्रश्नेप । "यत्तु—सीतायाम सम्भाव्य पूर्वी प्रत्याह—हे सर्वसहे वसुधे देवि, धीरा भव दुहितृशोकेन त्वं मा विदीर्णा भू' इत्यर्थो मदीय इत्युक्तं पूर्वोक्तार्थेऽज्ञानकृतत्वाभिधानं कस्यचित्, तत् काव्यकुण्डलनमिज्ञतया प्रलपितमिति सहृदयैरुपेक्ष्यम्' इत्युदाहरणचन्द्रिकाया विचार । अत्र दृढमिति कठ कृच्छ्रजीवने' इति भोरन् प्रत्ययान्तकठधातुरूपस्याप्येऽर्थे अन्वितत्तया क्रियाविशेषणे द्वितीया, तस्य कारकत्वातिदेशाच

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह (A)रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्यानु-

---

बलाकाश्च, तथा पयोदसुहृदां मयूराणाम् आनन्दजन्या केका कला गभीरा; धत्ते उद्दीपकाः कामं यथेष्टं सन्तु, मम किञ्चित् कर्तुं न क्षमा इति भावः। यतः इदम् अतिशयकठोरहृदयः रामोऽस्मि दुःखसहिष्णुरस्मि, अतः सर्वमेव अहं सहे। हहा खेदे। वैदेही त्वदीदृशी कथं भविष्यति कथं सत्तावती स्यात्, तस्मात् हा देवि धीरा भवेत्यर्थः। अत्रेति(४)। द्रवद्रव्यस्य व्यापनमेव लेपः कान्तेस्तु द्रवद्रव्यत्वाभावेन तद्बाधात् लिप्तपद

'स्फुट चलच्चामरपुञ्जचञ्चलैरनिज्जुषाम निजवाजिराजताम्' इतिवत् सापेक्षत्वेऽपि समासो न दोषाय। अथवा इदं सहे इत्यन्वयः।

(A) रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्येति। ननु कठोरहृदय इत्यत्र हृदयपदं मनःपरम्, 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यभिधानात्, तथा च अपार्थिवे तस्मिन् कठोरपदार्थस्य प्रस्तरादिसाधारणकाठिन्यस्य बाधेन कठोरपदमेव दुःखसहिष्णौ लाक्षणिकम्, एवञ्च रामपदस्य दुःखसहिष्णुरामे लक्षणाकथनमनुचितमिति चेन्न कठोरहृदय इत्यस्य कठिनवक्षःस्थल इत्यर्थेऽभिप्रायात्। वक्षःस्थलस्य काठिन्येन च बहुतादृशेऽपि अविदीर्णत्वमात्रं व्यज्यते। विरहादिना हृदयविदारणञ्च कविसमयेऽपि ख्यातम् 'धूतासङ्गे हारा स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः' इत्युक्तेः। वर्णितञ्च तथा कविभिः—

''भिदां हृदि द्वारमवाप्य मैव मे हृतासुभिः प्राणसमं समं गम'' (नैषधचरितं २य सर्ग)

''ममैव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि विपद्यते यदि'' (नैषधचरितं १म सर्ग)

''हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः'' इत्यादिभिः। (उत्तररामचरितम् ३य अङ्क)

अतोऽत्र कठोरहृदयपदेन कथञ्चिदपि दुःखसहिष्णुत्वाप्रतीतेर्युज्यत एव रामपदे लक्षणेति सुधीभिर्विभावनीयम्।

(B) अत्रेति। अत्र ध्वनिसङ्कर उपपादितः प्रदीपकारैः—अत्र मुख्यार्थबाधाल्लिप्तपदं सम्पर्कं लक्षयदतिशयं व्यनक्ति। पयोदे चाचेतने सौहृदाभावात् सुहृत्पदमुपकारित्वं लक्षयत्तदतिशयं प्रतिपादयति, पयोदानां मयूरनिष्ठकेकाद्युपकारशीलत्वात्। रामपदञ्च सर्वसहत्वानुपयुक्तधर्मतया सकलदुःखसहनस्य लक्षयत् सीतां विनाऽपि जीविष्यामीति व्यङ्ग्यमेव विप्रलम्भं व्यनक्ति। तत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामित्यनयोरत्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोः संसृष्टिः। ताभ्यां सह राम इत्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य अनुग्राह्यानुग्राहकभावेन सङ्करः, तयोरुद्दीपकत्वात्। रामपदेन चैकव्यञ्जकानुप्रवेशो वा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः रामोऽस्मीत्यनेनैव लक्षणामूलस्य विप्रलम्भस्य च व्यञ्जनात् विप्रलम्भे वाच्यस्याङ्गत्वेऽप्यस्य प्राधान्यात्' इति।

व्याख्यातमिदमुद्योतकारैः—'मुख्यार्थेति, द्रवद्रव्यस्य सर्वावयवावच्छेदेन संयोगो लेपनम्।

ग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसंक्रमितवाच्यरसध्वन्योः सङ्करः। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिनिर्णयो नाम चतुर्थ उल्लासः।

व्याप्ते अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, विरहोद्दीपकत्व तद्व्यङ्ग्यम्। तथा पयोदसुहृदमित्यत्र अचेतनस्य पयोदस्य इत्यामन्त्रणेन पयोदसुहृत्पद पयोदर्शनहर्षितत्वेन रूपेण अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकम्, तत्केकानां विरहोद्दीपकत्वञ्च तद्व्यङ्ग्यम्, अनयोर्व्यङ्ग्ययोरेकविविधसङ्करभावेन संसृष्टिमात्रम्। **ताभ्यां सहेति** ताभ्यां विरहोद्दीपकत्वाभ्यां सहेत्यर्थः। **रामोऽस्मीत्यर्थान्तरसंक्रमितेति**, दुःखसहिष्णुत्वरूपेण रामस्यैव उपस्थापनादर्थान्तरसंक्रमितवाच्य लक्षणा, तद्व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः। तत्र प्रियाविरहेऽप्यम्रियमाणत्वेन स्वावधीरणम्। **अनुग्राह्येति** रामस्य स्वावधीरणम् अनुग्राह्य विरहोद्दीपकत्वद्वयञ्च तदनुग्राहकम्, घनकेकयाविरहोद्दीपकत्वज्ञानात् तदानीमम्रियमाणत्वेन स्वावधीरणादिति। **रामपदलक्षणेति**, रामपदेन (१)स्वावधीरणस्येव तत्कारणविप्रलम्भस्यापि व्यञ्जनात्। [1]'ध्वन्यादिस्यत्र ध्वनिपदं व्यङ्ग्यपरमेव'[1] ॥।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृत काव्यप्रकाशादर्शे
ध्वनिनिर्णयस्य चतुर्थं प्रतिबिम्बम्।

सम्पर्को रससम्बन्धः। पयोदे चेति सौहृद चित्तवृत्तिविशेषः। पयोदाः सुहृदो येषामिति बहुव्रीहिरिति भावः। तद्‌व्याचष्टे—पयोदानामिति। अत्यन्ततिरस्कृतेति, एषामुहृत्त्वयो सर्वथा ऽसम्भवादिति भावः। संसृष्टिरिति निरूप्यसङ्कराभावादिति भावः। अर्थान्तरेति तु दुःखसहिष्णुत्वेन रामस्य वाच्यस्यैवान्वयादिति भावः। सङ्कर इति पूर्वोक्तात्यन्ततिरस्कृतवाच्याभ्यां सहेत्यर्थः। तयोरुद्दीपकत्वादिति तद्व्यङ्ग्ये(ङ्गे ?) विप्रलम्भ इति भावः। रामोऽस्मीत्यनेनेवेति, रामपदलक्षणेन विप्रलम्भव्यञ्जनेऽपि रामपदस्य सहकारित्वादिति भावः। सीता विना न जीविष्यामीति लक्षणामूलकमनुमत्र वाक्यस्य प्राधान्येनैव ध्वनित्वप्रयोजकत्व बोध्यम् इति।

(१) स्वावधीरण निर्वेदः। स च व्यभिचारिभावः। तथाच वृत्तौ रसपदम् आस्वाद्यत्व रूपेण व्यभिचारिभावपरं विप्रलम्भस्य महावाक्यव्यङ्ग्यस्य केवलरामपदव्यङ्ग्यत्वाभावात् रामपदस्य [illegible] वाक्यैकदेशत्वेन व्यञ्जकत्वमस्त्येवेति न क्षतिः। सकलदुःखसहिष्णुरामोपस्थापकतया विप्रलम्भव्यञ्जनाया प्राधान्यात् प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन रामपदस्यैव [illegible]ञ्जकत्वोपगमे तु रसपदं मुख्यमपि सम्भवतीति ध्येयम्।

---

१ 'रसध्वनिपदस्य भावस्य नरसपदमत्र बोध्यम्' च।

पञ्चम उल्लासः

एवं ध्वनौ निर्णीते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदानाह—

(६६) (A अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥ ४५ ॥
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदाः स्मृताः ।

कामिनीकुचकलसवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेव ।

अगूढमित्यादि । सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । व्यङ्ग्यमेवमिति, इत्यष्टविधं व्यङ्ग्यम्, एवं सति तत्सम्बन्धात् गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यस्यापि भिदा भेदा अष्टौ इत्यर्थः । तत्र अगूढस्य गुणीभूतत्वमुपपादयति—कामिनीति । 'गूढ' [1]विदग्धैरुवेद्यम् ।

(A) अगूढमिति । व्यङ्ग्यमिति द्वितीयश्लोकस्य प्रथमपदं प्रथमश्लोकस्थप्रथमान्तैः सम्बध्यते । तथाच अगूढं व्यङ्ग्यम्, अपराङ्गं व्यङ्ग्यमित्यादिरर्थः । 'एवम्' अगूढत्वादिना प्रकारेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य अष्टौ भेदा इति समुदायार्थः । प्रत्येकं पदानि तु व्याख्यायन्ते प्रदीपे—अगूढम् असहृदयैरपि वेद्यम्, तादृशं वाच्यायमानतया न तथा चमत्करोति यथा कामिनीकुचकलशवद् गूढम् । 'अपरस्य' रसादेः स्वातिरिक्तस्य अपरस्य, 'अङ्गम्' उपकारकम् । वाच्यसिद्ध्यङ्गं वाच्यस्य सिद्धिरेव यदधीना तत् । अस्फुटं सहृदयानामपि दुःसंवेद्यम् । सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये इति सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यञ्चेति द्वयम् । काक्वाक्षिप्तं यथा काकुं विना वाक्यार्थ एव नात्मानं लभते तथा प्रकाश्यम्, काक्वा हठेनोपस्थितमिति वा । असुन्दरं वाच्यापेक्षया अचारु । वाच्यापेक्षया अचमत्कारकारित्वेन व्यङ्ग्यस्य गुणीभाव, स च स्वत एवासुन्दरत्वेन अगूढत्वादिविशेषणसहकृतेन वा इति ।

---

1. 'स (स ?) हृदयैः-' ख ।

अगूढं यथा—

यस्यासुहृत्कृततिरस्कृतिरेत्य तप्त-
सूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति कर्णौ ।
काञ्चीगुणग्रथनभाजनमेष सोऽस्मि
जीवन्न सम्प्रति भवामि किमावहामि(A) ॥११३॥

अत्र जीवन्नित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यस्य ।

(१) यस्यासुहृदिति। मन्युमेयया जीवता नृपस्य स्वाभ्युदयचेष्टार्थं केनाप्युद्विज्यमानस्य त प्रत्युक्तिरियम्। असुहृदा कृता तिरस्कृति तिरस्कार, सा यस्य मम कर्णावेत्य तप्तसूचीनामिव व्यधव्यतिकरेण युनक्ति असुहृत्कृततिरस्कार'वार्ताऽपि यस्य मम कर्णयोरसहा आसीदित्यर्थ, एष सोऽहं काञ्चीगुणग्रथनभाजनम् अस्मि मालादिग्रन्थकोऽस्मीत्यर्थ। अत सम्प्रति जीवन् न भवामि किं स्वाभ्युदयचेष्टामावहामि करोमीत्यर्थ। चक्रवर्ती तु—मया कृततिरस्कृति असुहृत् यस्य मम शरणागत सन् तप्तसूचीव्यधव्यतिकरेण स्वकर्णौ युनक्ति शरणागततया पाञ्चाल्यानामीदृशतनत्रहारादिति व्याचष्टे तन्न, तादृशव्यवहारस्य अदृष्टत्वात् तद्व्यधव्यतिकरस्य सुतरामभावात्। अत्रेति, अजीवत उभयसम्भवात् जीवन्निति पदं प्रकृष्टजीवनपरमित्यर्थ। अर्थान्तरेति, नञ्समासाग्रहणात् मूलप्रायत्नरूपस्य तद्धर्मशून्यत्वाद्गूढमिति शेष, जीवन् न भवामीत्युक्ते मूलप्रायत्नरूपस्य सहजावगम्यत्वात्।

(A) यस्येति। कीचककृतपराभव निवेदयन्तीं द्रौपदीं प्रति युधिष्ठिरस्यार्जुनस्योक्तिरियमिति छगमागरकारा। अर्जुनस्य मूर्छाव्यवस्थाया स्वाभ्युदयाय किमिति न चेष्टसे इति केनापि पृष्टस्य वाक्यमिदमित्युद्योतकारा। यस्य मम असुहृत् शत्रु कृततिरस्कृति सहजशत्रुत्वादेव कृतदुर्वाक्यप्रयोग सन् भृत्यपरम्परया श्रुततिरस्कारस्य मम समीपमागत्य कर्णौ स्वीयश्रवणे तप्तसूचीव्यधव्यतिकरेण युनक्ति स्वहस्तेनैव तप्तसूचीभिर्भिनत्तीत्यर्थ, कर्णपीडाजनकं कर्णपीडातिशयभोगम्यस्यैव युक्तत्वादिति भाव। एतच्च खलु सापराध एव दण्डविधायकत्व मम्मुखमागतस्य स्वहस्तेन दण्डग्रहणात् प्रभावातिशयश्च गम्यते। ■ एषोऽहं शत्रुणा काञ्चीगुणग्रथनभाजनमस्मि, एतेन कर्णकावतुल्यतिरस्कारोऽपि प्रतीयते। प्रयतपद प्रथ् यथि कौटिल्ये' इति चन्द्रगोमिन्द पठितात् ग्रथधातोर्निष्पन्नम्। अन्यत् सुगमम्। व्याख्यान्तरमुद्योतादौ द्रष्टव्यम्।

(१) 'श्रापी कुवभावापि' ख।

उन्निद्रकोकनदरेणुपिशङ्गिताङ्गा
गायन्ति मञ्जु मधुपा गृहदीर्घिकासु ।
एतच्चकास्ति च रवेर्नवबन्धुजीव-
पुष्पच्छदाभमुदयाचलचुम्बि बिम्बम् ॥ ११४ ॥

अत्र चुम्बनस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य ।

अत्रासीत् फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं प्रापितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी(A) ॥११५॥

अत्र केनाप्यत्रेत्यर्थशक्तिमूलानुरणनरूपस्य । "तस्याप्यत्र" इति युक्तः पाठः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलाक्षणिकव्यङ्ग्यस्यापि अगूढत्वमाह—उन्निद्रेति। प्रातर्मानिनीं प्रति उद्दीपकप्रदर्शनमिदम्। कोकनदमत्र रक्तपद्मम्। एतद् रवेर्बिम्बं चकास्तीत्यन्वयः। अत्रेति, वक्त्रसंयोगात्मकचुम्बनस्य रविबिम्बे बाधात् स्पर्शमात्रे चुम्बिपदस्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणा। चुम्बनपदस्योद्दीपकत्वं तद्व्यङ्ग्यं सर्वजनवेद्यम्। अत्यन्तेति, एतद्व्यङ्ग्यस्येत्यर्थः, अगूढत्वमिति तच्छेषः। अर्थशक्त्युद्भवस्याप्यगूढत्वमाह—अत्रासीदिति। पुष्पकेण गमने सीतां रणस्थलं दर्शयतो रामस्योक्तिरियम्। विधिपर्यन्तानुधावनं बन्धनमोचनस्यापि सूचनार्थम्। भवद्देवरं इति सम्बन्धप्रदर्शनमनुरागोत्पादनाय। द्रोणाद्रिं गन्धमादनम्। दिव्यैर्लक्ष्मणशरैः इन्द्रजिदत्र लोकान्तरं प्रापित इत्यन्वयः। शराणां कर्तृत्वप्रदर्शनं लक्ष्मणस्य तत्र अवहेलासूचनार्थम्। राक्षसपते रावणस्य। अत्रेति, अनुरणनरूपस्य मयेत्यस्य अगूढत्वमिति शेषः। केनापीत्यनेन कर्तृप्रदर्शने कृते कर्त्रन्तरबाधेन मयेत्यस्य सर्वजनवेद्यत्वात्, कर्तृप्रदर्शनाभावे तु भवत्येव मयेत्यस्य गूढत्वमित्यभिप्रायेणाह—तस्याप्यत्रेति। युक्त एतदपेक्षया प्रशस्त इत्यर्थः। तद्गूढत्वे एव ध्वनित्वं नायकस्य धीरोदात्तत्वात्तदिष्टेति भावः।

(A) श्लोकेऽस्मिन् प्रतिवाक्यम् अत्रेति पदोपादानं प्रत्येकमेवाद्भुतत्वं व्यनक्तीति प्रदीपे स्पष्टम्।

अपरस्य रसादेर्वाच्यस्य वा वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गं (A)रसादि अनुरणनरूपं वा ।

यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः ।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः ॥ ११६ ॥

अत्र शृङ्गारः करुणस्य ।

---

(२) अपरस्याङ्गमिति व्याचष्टे—अपरस्येति । रसादेरङ्गं रसादि वाक्यार्थीभूतस्याङ्गन्तु अनुरणनरूपमिति यथासङ्ख्यं योज्यम् । वाच्यस्येत्युक्तौ पदार्थस्यैवाङ्गित्वं स्यादत उभयसाधारण्यार्थं वाक्यार्थेति । उदाहरिष्यति च यथासङ्ख्याभिप्रायेणैव । चक्रवर्त्ती तु—वाक्यार्थीभूतस्याप्यङ्गं रसादिकम् । अन्यथा—

तदिदमरण्यं यत्र दशरथवचनानुपालनव्यसनी ।
निवसन् बाहुसहायश्चकार रक्षःक्षयं रामः ॥

इत्युदात्तालङ्कारोदाहरणतया दशमोल्लासे यदुक्तं तत्र 'न चात्र वीरो रसः' इत्याशङ्क्य—'तस्येह अङ्गत्वा'दिति समाधानेन वाक्यार्थीभूतस्यारण्यविवरणस्याङ्गत्वेन वीररसप्रदर्शनं ग्रन्थकृतोऽनुपपन्नं स्यादिति व्याचष्टे, तन्न, तस्य अङ्गत्वप्रदर्शनेन तदङ्गघटितस्योदात्तालङ्कारस्यैव ग्रन्थकृता दर्शितत्वात् न त्वपराङ्गत्वस्य, 'महतां चोपलक्षण'मिति तल्लक्षणे हि 'उपलक्षणम् अङ्गभाव' इति व्याख्यास्यति, अङ्गभावश्च तत्र परम्परया वीररसोत्कर्षेण रामस्य प्रकर्षो रामसम्बन्धादरण्यमहत्त्वमिति, अपराङ्गत्वन्तु साक्षादङ्गस्यैवेति । अयं स इति । भूरिश्रवसः समरपतितं हस्तमालोक्य तत्पत्न्या रोदनोक्तिरियम् । अत्रेति, 'शृङ्गारः करुणस्य' अङ्गमित्यर्थः । रसनोत्कर्षणादिस्मृत्या शृङ्गारो ह्यत्र चमत्कारी करुणस्य प्रकर्षकः तदभावे करुणपुष्ट्यभावात्, पूर्वानुभूतसुखसम्भिन्नरतिस्मरणेन पतिमरणे करुणप्रकर्षात् । अङ्गिनिर्वाहकाङ्गस्य तु अङ्ग्यपेक्षया चमत्काराधिक्याभावात् नापराङ्गत्वम् यथा 'आते कोपपराङ्मुखी'त्यादौ प्रत्युतानिर्वाहकाङ्गस्य शृङ्गारस्य । न चात्र शृङ्गारोऽपि निराकाङ्क्षतयाप्यव्यङ्गच

(A) अत्र 'निष्पन्नस्य रसस्यापराङ्गत्वाभावाद् रसपदेनात्र स्थायिभावो ग्राह्य' इति प्रदीपः ।

---

१. 'चमत्कारात्' क ।

कैलासालयभाललोचनरुचा निर्वर्तितालक्तक-
व्यक्तिः पादनखद्युतिर्गिरिभुवः सा वः सदा त्रायताम् ।
स्पर्धाबन्ध[1]समिद्धयेव सुदृढं रूढा यया नेत्रयोः
कान्तिः कोकनदानुकारसरसा सद्यः समुत्सार्यते ॥ ११७ ॥

अत्र भावस्य रसः ।

अत्युच्चाः परितः स्फुरन्ति गिरयः स्फारास्तथाऽम्भोधय-
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्ताऽसि तुभ्यं नमः ।

यत्वेति कथं तस्य करुणाङ्गत्वमिति वाच्यम्, मृतालम्बनकत्वेन तस्य तदानीं (A)रसत्वाप्राप्त्या करुणाङ्गत्वादेव ।

इदानीं भावमङ्गिनं कृत्वा रसादीनां सर्वेषां तदङ्गत्वं प्रदर्शयिष्यन् भावाङ्गं रसमाह—कैलासेति । मानिन्या पार्वत्या महेशेन पादप्रणामे कृते कोपापगमात् तन्नेत्रारुण्यनाशवर्णनमिदम् । कैलासालयो महेशः प्रणामकाले तद्भाललोचनस्य आग्नेयस्य ज्योतिर्मयत्वेन अरुणस्य रुचा निर्वर्तिता निष्पादिता 'अलक्तकस्य व्यक्तिः' प्रकाशो यस्याः तादृशी गिरिभुवः पार्वत्याः सा पादनखद्युतिः वो युष्मान् त्रायताम् । सा का इत्याह—स्पर्धेति, यया पादनखद्युत्या पार्वत्या नेत्रयोः रूढा जाता शोणत्वात् कोकनदानुकारेण रक्तोत्पलसादृश्येन सरसा कान्तिः सद्यः समुत्सार्यते पादपतनेन कोपाधीनस्य नेत्रारुण्यस्य नाशात् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते स्पर्धेति, पादनखद्युतिरहमरुणा कथमन्याऽपि द्युतिः अरुणा भासतामित्येव स्पर्धाबन्धेन समिद्धया दीप्तयेव । अत्रेति, त्रायतामिति विवक्षितवाक्यान्वयेन व्यङ्ग्यस्यापि न पार्वतीविषयभावस्येत्यर्थः । 'रस' महेशशृङ्गार अङ्गमित्यर्थः । स च निर्वर्तितालक्तकव्यक्तिरित्यन्तसाकाङ्क्षवाक्यलभ्येन पादपतनेन व्यङ्ग्यः ।

भावस्याङ्गं भावमाह—अत्युच्चा इति । अम्भोधय इत्यत्रापि परितः स्फुरन्तीत्यन्वयः । न क्लान्ताऽसीत्यत्र हे पृथिवीति सम्बोधनमूह्यम् । स्तुतिमित्यत्र च

(A) अत्र रसत्वाप्राप्तेरित्येतावानेव पाठो युक्ततया प्रतिभाति 'कथं तस्य करुणाङ्गत्व'मिति प्रश्ने 'रसत्वाप्राप्त्या करुणाङ्गत्वादेव' इत्युत्तरस्याशोभनत्वादिति ध्येयम् ।

---

1. '-समृद्धयेव' इति पाठान्तरम् । 2. 'अलक्तकस्य' क ।

आश्चर्येण मुहुर्मुहुः स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद् भुव-
स्तावद्विभ्रदिमां स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिताः ॥ ११८ ॥

अत्र भूविषयो रत्याख्यो भावो राजविषयस्य रतिभावस्य ।

वन्दीकृत्य नृप द्विषां मृगदृशस्ताः पश्यतां प्रेयसां
श्लिष्यन्ति प्रणमन्ति लान्ति परितश्चुम्बन्ति ते सैनिकाः ।
अस्माकं सुकृतैर्दृशोर्निपतितोऽस्यौचित्यवारां निधे
विध्वस्ता विपदोऽखिलास्तदिति तैः प्रत्यर्थिभिः स्तूयसे ॥११९॥

अत्र भावस्य रसाभास-भावाभासौ प्रथमार्धद्वितीयार्धयोरङ्गे ।

सनमस्काराभिव्यक्तम्, तदेव [1]स्तुतिमितीत्यत्र इतिकारेण 'नम' इत्यन्तस्य परामर्श-सम्भवात्'* । प्रस्तौमि करोमि । तावदिमां भुवं बिभ्रत् तव भुज स्मृत, ततो वाचो मुद्रिता इत्यन्वय । बिभ्रदित्यत्र श्लेषवशात् [2]पालने धारणाख्यासादिदमुक्तम् । अत्रेति उभयत्र [3]रतिभावस्यकथन स्वरूपकथनमात्रम्, भावान्तरप्रसक्तयभावेन अप्रासंकल्यात् ।

भावस्याङ्गे रसाभासभावाभासावाह—वन्दीकृत्येति । हे नृप, तव द्विषां मृगदृश पत्नी वन्दीकृत्य ते तव सैनिका ता पश्यतस्तत्प्रेयस अनादृत्य ता श्लिष्यन्तीत्यादि । अनादरे षष्ठी । लान्ति गृह्णन्ति । तैं प्रत्यर्थिभिस्तु त्व स्तूयसे । स्तुत्याकारमाह—अस्माकमिति । [4]दुष्कृतैर्दृग्भ्येऽपि नयाद्विपरीतत्वेन सुकृतैरित्यादिस्तुति '* । आपत्तिनिरसंकल्पेन सम्बोधयति—औचित्येति । तत् तस्मात् अखिला विपदा विध्वस्ता । अत्रेति [5]परोढाविषयत्वाद् रसाभास, शत्रुविषय चाय भावाभास । अनयोराख्यातान्तनिराकाङ्क्षतयान्यत्वेऽपि राजस्तुतिपर्यवसायकत्वेन अस्वातन्त्र्यादङ्गत्वेन ।

---

1 'तुभ्य नम इत्युक्त्वा (का० १) नमस्कारस्योक्तत्वेऽपि स्तुतिमितीत्यत्र इतिपदेन स्तुतिपरामर्शकेनापि नमस्कारपरामर्शसम्भवात्' ख । 2 'पोषणे' क । 3 'रतिभावत्वेन कथनं' क । 4 'दुष्कृतैरित्यादिविपर्ययेनायोक्तम्' ख । 5 'परोढानायुराभियोगविषयत्वात्' ख ।

अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात्(A) ॥१२०॥

अत्र भावस्य भावप्रशमः ।

साकं कुरङ्गकदृशा मधुपानलीलां
कर्तुं सुहृद्भिरपि वैरिणि ते प्रवृत्ते ।
अन्याभिधायि तव नाम विभो गृहीतं
केनापि तत्र विषमामकरोदवस्थाम् ॥ १२१ ॥

अत्र त्रासोदयः ।

असोढा तत्कालोल्लसदसहभावस्य तपसः
कथानां विश्रम्भेष्वथ च रसिकः शैलदुहितुः ।
प्रमोदं वो दिश्यात् कपटबटुवेषापनयने
त्वराशैथिल्याभ्यां युगपदभियुक्तः स्मरहरः ॥ १२२ ॥

भावाङ्ग भावप्रशममाह—अविरलेति । ददृशे अस्माभिः, तवेक्षणे त्वत्कर्तृक-दर्शने सति स मदः क्षणात् क्वापि गतः नष्ट इत्यर्थः । अत्रेति, अविरलेत्यादिव्यङ्ग्यस्य राजवैरिविषयकभावस्य नाशः, तन्मदनाशव्यङ्ग्यराजविषयकभावस्याङ्गमित्यर्थः । चक्रवर्ती तु—शत्रूणां मदरूपव्यभिचारिभावस्य नाशः एवाङ्गमित्याह तन्न । मदस्य गमनाभावेन तन्नाशस्य क्वापि गत इत्यनेन लक्षणयैव गम्यत्वात् न तु व्यञ्जनया व्यङ्ग्यस्यैव [illegible] गुणीभूतत्वेनोदाहर्तव्यत्वात् ।

भावाङ्ग भावोदयमाह—साकमिति । हे विभो, कुरङ्गकदृशा सुहृद्भिरपि साकं सह तव वैरिणि मधुपानलीलां कर्तुं प्रवृत्ते सति, अन्यार्थकं तव नाम केनापि गृहीतं सत्[1] तेषामवस्थां विषमां व्याकुलत्वेन विपर्यस्ताम् अकरोदित्यर्थः । अत्रेति, पूर्वार्द्धे त्रासाप्रतीत्या तदनुदयभावात् परार्द्धे "तत्प्रतीत्या तदुदयः"[2] । [illegible] चात्र निराकाङ्क्षत्वात्त्यव्यङ्ग्योऽपि राजस्तुतित्वात् तद्विषयभावस्यैव पर्यवसायकः, तेन तद्विषयभावस्य अङ्गम् ।

भावाङ्गं भावसन्धिमाह—असोढेति । तपस्यन्तीं पार्वतीं जटिलविप्ररूपेण

(A) अविरलेति । अस्य पद्यस्य द्वितीयादिपादत्रयं छन्दोवृत्तेन निबद्धम्, प्रथमपादस्तु वृत्तान्तरेणेति उपजातिवृत्तमिदम् । 'अविरलैः करवालकम्पनैः' इति पाठे तु छन्दोवृत्तमेवेति बोध्यम् ।

---

1. 'सत्' स्थाने पर पुस्तके 'तत्कर्तृ' इत्यधिक पाठो दृश्यते । 2 'एव तदन्वय' घ ।

अत्रावेगधैर्ययोः सन्धिः।

पद्येत् कश्चिच्चल चपल रे का त्वराऽहं कुमारी
हस्तालम्बं वितर ह ह हा व्युत्क्रमः कासि यासि(A)।

हत्यतो महेशस्य वर्णनमिदम्। कपटवटुवेशापनयने युगपत् पकन्या त्वराशैथिल्याभ्यामभियुक्तः स्मरहर च प्रमोदं दिस्यात्, तत्र त्वराहेतु प्रथमचरणार्थं, तत्काले उल्लसन् उद्बुध्यमान अनहमानो तु महत्त्व यस्य तादृशस्य तपन प्रमोदा मोढुमसमर्थं, तप कृत्स्नेन स्वरूपप्रदर्शयित्वा स्थातुमसामर्थ्यात्। शैथिल्यहेतुर्द्वितीयचरणार्थं। निश्रम्भो विश्वास।

भाराद्भ भावसवलत्वमाह—पद्येदिति। हे पृथ्वीपरिवृढ पृथ्वीपते अरण्यभूते भवच्छित्रि कन्या (B)भक्षणार्थं वन्यफलकिसलयान्यादद्राता अर्थात् आकर्षकामं

(A) पद्येदिति। अत्र पद्येन कश्चित्स्याद्यवान्तरवाक्यै प्रतिपाद्यपुरुषस्य अभिप्रायव्यञ्जका चेष्टाविशेषा उदनीया तदनुयोगेनैव कुमार्या उत्तरोत्तरवाक्यानि सङ्गच्छन्ते। तथाहि—पद्येन कश्चिन्नित्यत्र पूर्वोक्तान्तावस्थानेऽनौचित्यसम्भावनया शङ्का। शङ्काप्रशमनस्य प्रवृत्ते तस्मिन्नाह 'चल चपल रे' इति। चपल स्वच्छन्दाचरणात् चलस्त्वर्थं। अनेन रागानुविद्धा असूया। चपलत्वेन सम्बोधनात् बहुनुरागेण तेन प्रणयमाने व्यञ्जिते आह—का त्वरेति, अत्र मनोरथसिद्धेरवश्यम्भाविनया धृति। अहेतुकविलम्बासहिष्णुतया पुन प्रवृत्ते तस्मिन्नाह अहं कुमारीति, अत्र कुमार्या मम नैव स्वातन्त्र्यमुचितमिति स्मृति। पूर्ववाक्येण तस्य प्रत्यनुप्रस्थानोद्यममालोक्याह—हस्तालम्ब वितरेति। ईदृशप्रार्थना आत्मजनस्यैवेति अत्र श्रम। हस्तालम्बनेऽपि कृत विशेष दृष्ट्वा पुनराह 'ह ह हा व्युत्क्रम' इति। तत्र प्रथमे दैन्य स्पष्टम्, द्वितीये तु विवाहात् परमेव ईदृशस्यालम्बनस्य युक्ततया प्रागेव तत्करणे क्रमोल्लङ्घनमिति विबोध। अनौचित्याशङ्कया हस्तं परित्यज्यैवापसरति तस्मिन्नाह कासि यासीति। अत्रौत्सुक्यं स्पष्टम्। कुमारीणामीदृशो भावस्वभावता कालिदासेनापि वर्णित। यथाह शाकुन्तले—

अभ्यौत्सुक्ये महति दयितप्रार्थनासु प्रतीपा
काङ्क्षन्त्योऽपि व्यतिकरसुखं कातरा स्वाङ्गदाने।
आबाध्यन्ते न खलु मदनेनैव लब्धान्तरत्वा-
दाबाधन्ते मनसिजमपि क्षिप्तकाला कुमार्य॥ इति। शेषार्द्धमस्य सुगमम्।

(B) भक्षणार्थमिति भक्षणार्थमित्यर्थ। किसलयानां प्रायशो उपयोग इति बोध्यम्।

इत्थं पृथ्वीपरिवृढ भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाऽभिधत्ते ॥ १२३ ॥

अत्र शङ्काऽसूया-धृति-स्मृति-श्रम-दैन्य-(A)विबोधौत्सुक्यानां सबलता।

एते च रसवदाद्यलङ्काराः। यद्यपि भावोदय-भावसन्धि-भावसबलत्वानि नालङ्कारतया उक्तानि, तथाऽपि कश्चिद् ब्रूयादित्येवमुक्तम्।

यद्यपि स नास्ति कश्चिद्विषयः, यत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः स्वप्रभेदादिभिः सह सङ्करः संसृष्टिर्वा नास्ति तथाऽपि [1]"प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती"ति क्वचित्केनचिद् व्यवहारः।

कञ्चिदित्यम् अभिधत्ते, कन्या च तत्रैव जातमाया बोध्या। किमभिधत्ते इत्याह—पश्येदिति। तत्र पश्येदित्यत्र शङ्का व्यङ्ग्या, चल चपल रे इत्यत्र असूया, का त्वरा इत्यत्र धृति, अद्य कुमारीत्यत्र कौमार्यस्मरणरूपा स्मृति, हस्तालम्बमित्यत्र श्रम, ह ह हा इत्यत्र दैन्यम्, व्युत्क्रम इत्यत्र पश्चाद्गोक्तिर्भ्रमानुवृत्ता इत्येवरूपा मतिरत्र विबोध। क्वासि यासीत्यत्र औत्सुक्यं व्यङ्ग्यम्। तत्र च श्रमापेक्षया दैन्यं विहाय सर्वमुत्तरोत्तरं बलवत्। त्वामित्यर्थे असीति अव्ययम्। [2]"एषां सबलता च राज"-प्रयोज्यत्वाद् राजविषयभावप्रकर्षकाङ्गम्। एते चेति, ते च गुणीभूतव्यङ्ग्याभिधाने उदाहरिष्यन्त इति यत् (पृ ६५) प्रागुक्तम् तदिदं दर्शितम्।

ननु सर्वत्रैव अपराङ्गेऽङ्गिन रसादिकमादाय कथं न ध्वनिव्यवहार इत्यत आह—यद्यपीति। प्रायश स नास्तीत्यर्थ, शुद्धध्वनौ सङ्करसद्भावाभावात्। 'स्वप्रभेदादिभि'रित्यादिपदात् स्वप्रभेदद्वयस्येव ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यद्वयरूपपरप्रभेदयोरपि सङ्करो बोध्य। समाधत्ते—तथाऽपीति। 'प्रधानेन' [3]'चमत्काराधिक्यरूप'-प्राधान्यवता, न तु निराकाङ्क्षत्वापरपर्याङ्गत्वतया प्रधानेनेत्यर्थ, तदा अपराङ्गेऽपि अङ्गिनस्तथात्वात् ध्वनिव्यवहारापत्ते। एवञ्च द्वयोस्तुल्यचमत्कारित्वे निराकाङ्क्ष-

---

(A) विबोध इति। अत्र विबोध 'नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मति'रित्युक्तलक्षणमतिरूप, 'निद्राऽपगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागम' इत्युक्तलक्षणविबोधस्तु अनिद्रिताया कन्याया न सम्भवतीति विभावनीयम्।

---

1 'प्राधान्येन' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठ। 2. 'एषां व्यभावानां मध्ये स्थापितमनुकराज-' ख। 3 'चमत्कारकलाधीन-' क।

जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्वितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम् ।
कृतालङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाऽऽप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता(A) ॥ १२४ ॥

वाच्यव्यङ्ग्ययोर्वा अङ्गाङ्गिभावसत्त्वे तत्सङ्करस्तदसत्त्वे संसृष्टिः, अङ्गिमात्रस्य चमत्कारित्वे तु शुद्धध्वनिः,[1] अङ्गमात्रस्य चमत्कारित्वे तु अपराङ्गमिति विषयविभागः ।

इत्थं रसाद्यङ्गं रसादिकमुदाहृत्य वाक्यार्थस्याङ्गेऽनुरणनरूपे उदाहर्त्तव्ये वाच्यालङ्कारस्याङ्गं शब्दशक्तिमूलमनुरणनरूपमलङ्कारमाह—**जनस्थान** इति । दरिद्रस्योक्तिरियम् । तुल्यशब्दवाच्यतारूपसाधर्म्यात् मया रामस्य भ्रान्त राम इवाहं जात इत्यर्थः । तुल्यशब्दवाच्यत्वरूपं साधर्म्यमाह—जनस्थान इति । कनकमयमृगस्य तृष्णया प्राप्तीच्छया अन्वितधिया रामेण जनस्थाननाम्नि दण्डकारण्यैकदेशे भ्रान्तं मया तु जनानां स्थाने कनकरूपया मृगतृष्णया मरीचिकया अन्वितधिया भ्रान्तम्, (B)कनके मृगतृष्णात्वरूपाङ्ग

(A) जनेति । व्याख्यातमिदमुद्द्योतकारैः—कस्यचित् राजसेवानिर्विण्णस्य कवेरुक्तिः । मया रामत्वं रामधर्मः, तत् प्राप्तम्, कुशलं परिणामसुन्दरम् उद्वेगनिरासनिपुणं वा वसु धनं यस्य तद्भावः कुशलवसुता सैव कुशलवौ सुतौ यस्या इति व्युत्पत्त्या सीता सा तु नाधिगता । रामत्वं कथं प्राप्तं तदाह—कनकस्य मृगो मार्गणं प्रार्थना वा तत्र या तृष्णा कनके वा या मृगतृष्णा निष्फलाऽऽशा सैव कनकमृगो मारीचे तृष्णा तया अन्विता धीर्यस्य तादृशेन मयेत्यर्थः । यद्वा अन्वितधिया कारण-(भूत)या जनानां स्थाने ग्रामनगरादौ भ्रमणमेव दण्डकारण्ये भ्रमणम्, तत् कृतम् । वै निश्चयेन देहीति वचनमेव वैदेहीति सीतासम्बोधनवचनम्, तत् प्रतिपदं प्रतिस्थानम् उद्गतमश्रु यत्र तद् यथा भवति तथा प्रलपितम् । भर्तुः भरणकर्तुर्धनिकस्य परिपाटीषु सेवावसरेषु अलमत्यर्थं का घटना न कृता वद । अथवा कामर्तुं कुत्सितभर्तुं वदनपरिपाटीषु मिथ्याभाषणप्रकारेषु घटना उपपत्तिः, वदनपरिपाटीषु मुखविकासनादिषु तदाशयानुसरणार्थं घटना उपायो वा, स एव लङ्कायाः राक्षसस्य वदनपरिपाट्याः (मुख)पङ्क्त्यामिषुघटना अलमत्यर्थं कृतेति श्लेषोपस्थापितानामभेदारोपाद् रामत्वोपपत्तिरिति ।

(B) रामतर्कवागीशास्तु—'केचित्तु' इत्यनेन कनकइत्यादिसाधर्म्यादित्यन्तं ग्रन्थमुद्धृत्य तत्र 'तन्न, स्वरूपमतः कनकस्य बुद्धिन्धीकरणासम्भवात् तत्प्राप्तीच्छाया लक्षणाऽवश्यमङ्गीकार्या,

---

1 अत्र पर ह पुस्तके 'चमत्कारित्वे तु तत्र सङ्कीर्णव्यभिचारिभावरूपतया वर्त्तमानत्वमात्रम्' इत्यंशोऽधिको दृश्यते ।

अत्र 'शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो रामेण सहोपमानोपमेयभावो वाच्याङ्गतां नीतः ।

दुष्प्राप[1]जलार्थिनो मृगतृष्णायामिव दुष्प्रापे कनकेऽपि प्रवृत्तेर्मन्दादृष्टप्रवृत्तिविषयत्व-साधर्म्यात्[2]* । रामेण प्रतिपद् पदे पदे[3] उदश्रु यथा स्यात् तथा वैदेहीति यत् प्रलपितम् , मया तु वै इत्यनेन सम्बोध्य कातर्यादुदश्रु यथा स्यात् तथा देहीति यत् प्रतिपदं प्रतिस्थाने प्रलपितम् । रामेण लङ्काभर्तुं रावणस्य वदनानां मुखानां परिपाट्यां पङ्क्तौ परिपातननिमित्तं या इषुघटना(A) कृता, मया तु भर्तुः प्रभोः परिपाटीषु परिचर्यानिमित्त का घटना अल्पम् अन्यथं न कृता तत्तु यत् ; कुमालं वारिद्याप-नायक [illegible] धन यस्य तथाता मया तु नाधिगता, रामेण तु कुशलवौ सुतौ यस्याः सा सीता प्राप्तैव इति तु शब्दलभ्योऽर्थः । अत्रेति । 'उपमानोपमेयभाव' उपमा, रामत्व-प्राप्तिव्यङ्ग्या , 'वाच्याङ्गता' 'वाच्यस्य व्यतिरेकालङ्कारस्य'[4]* (B)अङ्गतां प्रकर्षकताम् कविना नीत इत्यर्थः । व्यतिरेकालङ्कारोऽत्र अप्राप्तकुशलवसुताकस्य उपमेयस्य दरिद्रस्य प्राप्तकुशलवसुताकात् रामादुपमानाद् आधिक्यरूपो यथा वाच्य', आधिक्यञ्च प्रतिपाद्यस्य विपादस्याधिक्यात(C) । उपमानोपमेयभाव इत्युपलक्षणम्, रामरूपकमपि

पृथक् तत्र निरुक्तसाधर्म्यासम्भवाद् रूपकासङ्गते'रिति दूषणमाह । अत्र तत्सम्मत व्याख्यानन्तु—'कनकस्य मृगतृष्णास्थामन्वेषणप्रातीच्छाम्यामन्वितधिये'ति ।

(A) लङ्काभर्तुं रावणस्य वदनपरिपाटिनी कण्ठच्छेदिनी इषुघटना इति कर्मधारयोऽपि सम्भवतीति बोध्यम् ।

(B) अत्र दर्पणकारा —'अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्त्यैव रामत्वमवगम्यते, वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता व्यङ्ग्यगोपनमपाकृतम् ; तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतया अङ्गतां नीत'मिति वदन्ति ।

प्रदीपकारास्तु—वाच्याङ्गमात्रेण शब्दशक्तिमूलस्य लक्ष्यक्रमस्य गुणीभावे श्लोकमिममुदाहृत्य 'अत्र पादत्रयद्योत्याऽपि रामेण सहोपमा 'मयाऽऽप्तं रामत्व'मित्यनेन वाच्यतां नीता, तदङ्गं च शब्दशक्तिमूलानुरणनरूपो द्वितीयोऽर्थः ' इत्युपपादयन्ति ।

(C) विपादस्याधिक्यादिति । 'उपमानाद् यतोऽन्यस्ये'त्युक्तवता दर्पणकृतां मते तु अत्र उपमेयस्य दरिद्रस्य प्राप्तकुशलवसुताकाद् रामादप्राप्तकुशलवसुताकत्वरूपन्यूनत्वोक्त्या द्वितीयो व्यतिरेकभेदः सातु सङ्गच्छते इति बोध्यम् ।

---

1 'शब्दशक्तिमूलोऽनु-' इति पाठान्तरम् । 2 '-र्थिनं कनके च मृगतृष्णिकामलविषयत्व-रूपसादृश्यात्' ख । 3 पंत पर ख-पुस्तके 'स्थाने स्थाने' इत्यधिक दृश्यते । 4 'वाच्यस्य कुशलवसुताऽप्राप्तानां प्राप्ततत्कात् रामाद्व्यतिरेकरूपालङ्कारस्य' क ।

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः ।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्ररश्मिः(A) ॥ १२९ ॥

अत्र नायकवृत्तान्तोऽर्थशक्तिमूलो वस्तुरूपो निरपेक्षरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेणैव स्थितः ।

तादृशं वाच्यम् । यद्यपि उपमानोपमेयभावो व्यतिरेकालङ्कारद्वारेण निर्वाहक एव तथाऽपि बहुविशेषणनिर्वाहेण सति वैचित्र्याधिक्यात् प्रकारकाऽपीन्यथा ध्येयम् ।

[1]अर्थशक्त्युद्भवमनुरणनरूपमलङ्कारमपि वाच्याङ्गमाह[1]*—आगत्येति । प्रातः मानिनीं प्रति नायकस्योक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि, सहस्ररश्मिः सूर्यः सम्प्रति आगत्य एतामम्भोजिनीं पादेन रश्मिना पतनेन प्रभाते शनैः प्रसादयति एतत् पश्य । कीदृशः ? क्वचिदपि द्वीपान्तरे क्षपितरात्रिकः । अम्भोजिनीं कीदृशीम् ? सूर्यवियोगेन विसंष्ठुलाङ्गीं व्याकुलाङ्गीम्, अद्भुतमेतत् पश्यमेव । (B)अत्रेति, नायकेऽन्यत्र प्रकृतेऽर नायिकानायकवृत्तान्त इत्यर्थः । स च क्वचिदपि नायिकागृहे क्षपितरात्रिका नायकः प्रातरागत्य वियोगविसंष्ठुलाङ्गीं नायिकां पादपतनेन शनैः प्रसादयतीत्येवंरूपः । वस्तुरूप इति । [2]समासोक्तिरूपस्यास्य वस्तुत्वानपायादित्युक्तम्,

---

(A) आगत्येति । अत्रोक्तं बालबोधिन्याम्—'विनैवानुनयमपगतमाना नायिका सख्या उपालभ्यते । तथाहि—सहस्ररश्मिरित्यनेन बहुनायिकावत्त्वं ध्वन्यते । अम्भोजिनीमित्यनेन वर्ण्यायाः पद्मिनीत्वम्, क्वचिदपि इत्यनेन उपनायिकागृहे एतेन निशायापनं, तत्रापि यामत्रयमेव न त्वधिकमिति । एवञ्च ईदृशोऽपि ईदृशीं स्वयमेवागत्य पादपतनेनानुनयति, ईदृशो हि कामिनो व्यवहारः, त्वं पुनर्बहुतरकालं परनायिकासङ्गे धूर्त विनैवानुनयं मानं त्यक्त्वा प्रसन्नाऽसीत्युपालम्भः । एवञ्च नायकनायिकावृत्तान्तकथनमेवाभिप्रेतम् । स च वृत्तान्तो व्यङ्ग्यमानो वाच्यं रविकमलिनीवृत्तान्तेऽभिन्नतया आरोप्यमाणस्तस्य प्रकृतार्थतां सम्पादयन् तदुत्कर्षमाधत्त इत्यङ्गतयैवास्ते । अयमेव समासोक्त्यलङ्कार इत्युद्द्योतादौ स्पष्टम्' इति ।

(B) अत्र प्रदीपकाराणामुपरान्तप्रकारस्तु—'अत्रार्थशक्तिमूलो नायकनायिकावृत्तान्तो

---

1 अर्थशक्तिमूलाद्ध्वनेरुदाहरणं व्यङ्ग्यमप्रस्तुतप्रशंसालङ्कारे वाक्यार्थीभूतवस्तुनोऽङ्गमाह च । 2 एव वस्त्वलङ्कारयोर्भेदकथनानुपपत्तेरलङ्कारस्यापि वस्तुत्वानपायात् समासोक्त्यलङ्काररूपं इत्यादि अप्रकृतकथनेन प्रकृतस्य व्यञ्जनात् समासोक्तित्वात् च ।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं यथा—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणञ्च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥१२६॥

अत्र हालाहलं व्यङ्ग्यं भुजगरूपस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत् ।

अवस्तुरूप इत्येवम् अकारप्रश्लेषो वा'*। निरपेक्षेति नायकवृत्तान्तरूपव्यङ्ग्यनिरपेक्ष इत्यर्थः, तद्व्यय विनैव वाच्य-रविकमलिनीवृत्तान्तप्रतीते । अनेन व्यङ्ग्यप्रतीतिसापेक्ष-वाच्यप्रतीतेर्वक्ष्यमाणवाच्यसिद्ध्यङ्गाद्व्यवच्छेदः कृत । अध्यारोपेणेति रवि-कमलिनीवृत्तान्त एव नायक इत्येवमध्यारोपेण स्थित इत्यर्थः । रविकमलिनीवृत्ता-न्तस्य मानिन्यां प्रदर्शनानुपयोगेन नायकवृत्तान्तारोपेणैव तदुपयुक्तारूप प्रकर्ष इत्यतोऽङ्गमित्यर्थः । अगूढे वाच्यतुल्यचमत्कारित्वेन अपराङ्गे तु स्वचमत्कारस्य परार्थतया वाच्यादनतिशयो बोध्यः।

(१) वाच्यसिद्ध्यङ्गमाह—वाच्यसिद्धीति । 'आपाततः प्रतीतस्य वाच्यार्थस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिनिरासकं व्यङ्ग्यं वाच्यसिद्ध्यङ्गम्'[1]*। भ्रमिमिति । भ्र-कारकत्वेन श्यामत्वेन च जलद एव भुजग, तज्जन्य प्राकरणिक जलमेव विषम्, 'विषमप्सु च' इत्यमरकोषात् । तच्च जलं वियोगिनीनां भ्रम्यादिकं करोतीत्यर्थः वृष्टिजलस्य वियोगोद्दीपकत्वात् । प्रलय नष्टचेष्टताम् । तम' चक्षुषि तिमिरम् । अत्रेति(A), अनेकार्थस्य विषशब्दस्य प्रकरणेन जले वाचकत्वे नियमनात् हालाहल

वाच्यरविकमलिनीवृत्तान्ताध्यारोपेण तदङ्गतयैव स्थित , समासोक्तौ 'उपोढरागेण विलोल' इत्यादौ सर्वत्र प्रतीयमानार्थोपस्कृतवाच्यस्यैव प्राधान्यात् । अयं च पदद्वयनेनेति श्लिष्टशब्द-सद्भावेऽपि न 'शब्दशक्तिमूलत्वेन व्यपदेश किन्त्वर्थशक्तिमूलत्वेन, प्राधान्येन व्यपदेशा इति न्यायात् । तद्व्यतिरेकेणापि नायकनायिकावृत्तान्तस्याभिव्यक्तिसम्भवात् । न चोपमाऽत्र व्यङ्ग्या 'उद्दाल्य काल-' इत्यादिवत् श्लेषाभावात् । न च वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वम्, रविकमलिनीवृत्तान्तस्यै-तन्नैरपेक्ष्येणैव सिद्धे ' इति ।

(A) अत्र प्रदीपकाराणां वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वोपपादनप्रकारस्तु—अत्र हालाहलरूपो विषशब्दार्थो व्यङ्ग्य , जलेऽभिधानियमनात् , स च जलदभुजगोऽति रूपणस्य वाच्यस्य सिद्धिं करोति, अन्यथो-पमासन्देहसम्भवात्' इति । तथा चन्द्रिकाकारा अपि—अत्र अप्रकृतत्वेन व्यङ्ग्यं हालाहलं जलद-भुजगेति रूपकस्य वाच्यस्य सिद्धिकृत्, अन्यथा जलदस्य भुजगत्वायोगेन भुजग इव जलद

---

1. 'प्रथम अनिवार्यत्वबोधस्य वाक्यस्यार्थे पश्चादनुपपद्यमानतायां वाच्यानुपपत्तिनिरासक यत्तदेव व्यङ्ग्य तद् वाच्यसिद्ध्यङ्गम्, वाच्यमप्रधानं वाच्यमपि तत्र्यमकम्' च।

यथा वा—

गच्छाम्यच्युत दर्शनेन भवतः किं तृप्तिरुत्पद्यते
किं त्वेवं विजनस्थयोर्हतजनः संभावयत्यन्यथा ।

व्यङ्ग्यमेव, तत्र आपाततः प्रतीयमानस्यापि जलदे भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिनिरासकत्वात्। तथाहि '¹प्राकरणिकतया विषशब्दवाच्यजले भुजगजन्यत्वबाधेन भुजगरूपणस्य वाच्यस्य प्रतिसन्धीयमानानुपपत्तिः, जले हालाहलरूपणेन व्यङ्ग्येन तु तदनुपपत्तिनिरसनात् तत्सिद्धि (A), हालाहलस्य भुजगजन्यत्वेनानुपपत्त्यभावात्। न च 'विद्वन्मानसहंसे'त्यत्र यथा मनसि मानससरोवररूपणं राज्ञि हंसरूपणसिद्धिकृत्त्वेन परम्परितरूपकं तद्वत्रापि जले हालाहलरूपणस्य भुजगरूपणसिद्धिकारित्वेन परम्परितरूपकत्वं स्यादिति वाच्यं तत्रोपायभूतरूपकस्यापि प्राकरणिकत्वेन वाच्यत्वम्, अत्र तु अप्राकरणिकत्वात् व्यङ्ग्यत्वमिति भेदात्'*।

उदाहरणान्तरप्रदर्शनबीजं स्वयमेव प्रदर्शयिष्यन्नाह—यथा वेति। गच्छामीति।

इति पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासाश्रयणेनोपमालङ्कारपक्षे, व्यङ्ग्याभिन्नत्वेनाध्यवसिते तु जले भुजगत्वोपपत्तेरुत्तरपदार्थप्रधानरूपकसिद्धि' इति वदन्ति।

(A) तत्सिद्धिरिति वाच्यसिद्ध्यङ्गत्वसिद्धिरित्यर्थः।

---

1 'जले व्यञ्जनया [illegible] हालाहल [illegible] भुजगजन्यत्वबाधेन जलदे भुजगरूपण एव प्रतिसन्धीयमानाया अनुपपत्तेर्व्यञ्जनया हालाहलरूपणेनैव निरासात्, हालाहलस्यैव भुजगजन्यत्वेनानुपपत्तिनिरासात्। [illegible] विषशब्दस्य हालाहले प्रसिद्धत्वाद् [illegible] एव [illegible], अत एव न [illegible] इति चेत्, [illegible] तत्र [illegible] एव [illegible] वाच्यत्वे [illegible]। [illegible] वाच्यरूपकसिद्धिकृत् रूपकमपि वाच्यम्, तत्र [illegible] परम्परितरूपकमेव, विद्वन्मानसेत्यत्र राज्ञि हंसरूपणस्य वाच्यस्य वाच्यम्(?) सिद्धिकृत् मनसि मानससरोवररूपक वाच्यमेव [illegible] प्रथममेव [illegible] [illegible], [illegible] मनसि [illegible] प्रतीयमानत्वाभावात्' इत्यादि। न [illegible]। '[illegible] (न च [illegible]।) भुजगजन्यत्वाभावेऽपि जलदे [illegible], [illegible] इति वाच्यम्, [illegible] [illegible] [illegible]। अत एव '[illegible] वितरीतु [illegible] [illegible]' इत्यत्र [illegible] रूपकसंस्थानादुपमासमासमेव [illegible]। ननु विद्वन्मानसहंसेत्यादौ तु [illegible] परम्परितरूपकत्वं वर्तते तत् [illegible] हालाहलरूपणस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति, चेत्, [illegible] हालाहलरूपणस्यापि [illegible]। अत्र (तत्र?) तु [illegible] च।

इत्यामन्त्रणभङ्गिसूचितवृथावस्थानखेदालसाम्
आश्लिष्यन् पुलकोत्कराञ्चिततनुर्गोपीं हरिः पातु वः ॥ १२७ ॥

अत्राऽच्युतादिपदव्यङ्ग्यमामन्त्रणेत्यादिवाच्यस्य। एतच्चैकत्र एकवक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्नवक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेदः।

अस्फुटं यथा—

अदृष्टे दर्शनोत्कण्ठा दृष्टे विच्छेदभीरुता
नादृष्टेन न दृष्टेन (A)भवता लभ्यते सुखम् ॥ १२८ ॥

इत्यामन्त्रणशब्दस्य पूर्वार्द्धरूपस्य भङ्ग्या व्यङ्ग्यार्थेन सूचितो यो वृथाऽवस्थानखेदः तेन अलसां गोपीमाश्लिष्यन् अत एव पुलकोत्कराञ्चिततनुः हरिः वः पातु। पूर्वार्द्धस्य वाच्यार्थस्तु हे अच्युतनामक अहं गच्छामि, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते? नैव, अपि तु स्वगार्हस्थ्योचितचेष्टयैव, प्रत्युत निर्जनस्थयोरावयोः अन्यथैव हतजनो दुर्जनः सम्भावयतीत्येवंरूपः। अत्र च यावत् व्यङ्ग्यार्थो न प्रतिसन्धीयते तावत् इत्यामन्त्रणेत्यादिवाच्यार्थः प्रतीयमानोऽपि प्रतिसन्धानम् अनुपपद्यमानतयैव भासते, व्यङ्ग्यार्थरूपा भङ्गिस्तु प्रतीता तदनुपपत्तिनिरासकृत्। स च व्यङ्ग्यार्थो यथा—हे अच्युत मद्विधनायिकादर्शनेऽपि धैर्यच्युतिरहित, भवतो दर्शनेन किं तृप्तिरुत्पद्यते? नैव, अपि तु उपभोगेनैव; उपभोगे सति तु दुर्जनानामन्यथा सम्भावनाऽपि न दुःखाय, विदग्धजनस्य सम्भावना तु सुखायेत्येवंरूपः। उदाहरणान्तरप्रदर्शनबीजमाह—एतच्चेति। 'एकत्र' प्रमिमरतिमित्यत्र, तत्र हि वाच्यव्यङ्ग्ययोरेकः कविर्वक्ता, 'तद्गतत्वेन' तत्सम्बन्धित्वेन, 'अपरत्र' गच्छामीत्यत्र, तत्र हि वाच्यार्थस्य वक्ता कविः, व्यङ्ग्यार्थस्य तु वक्त्री गोपीति [1]वाच्यसिद्धयङ्गे वाच्यसाधकत्वेन परार्थतया वाच्यादनतिशयो बोध्यः[1]।

(४) अस्फुटमिति विदग्धैरपि क्लेशगम्यत्वं तत्त्वम्। अदृष्ट इति। अत्र भवता सुखमेव न लभ्यते इत्येवं व्यङ्ग्यमक्लेशगम्यम्, दर्शिते तु विवक्षितं व्यङ्ग्यं विदग्धैरपि क्लेशगम्यमेव। क्लिष्टं क्लिष्टमिति पुस्तकभेदेन पाठविकल्पः, क्लेशगम्यमित्येव तु सर्व-

---

(A) भवता इति हेतौ तृतीयेति उदाहरणचन्द्रिकाकाराः।

---

1 'वाच्यसिद्धयङ्गस्य वाच्यार्थसिद्धिकत्वेन भावनाऽभावात्, परमुखनिरीक्षकत्वेन वाच्यादनतिशयित्वम्' ख।

अत्राऽदृष्टो यथा न भवसि वियोगभयं च यथा नोत्पद्यते तथा कुर्या इति क्लिष्टम्।

सन्दिग्धप्राधान्यं यथा—

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥१२९॥

अत्र परिचुम्बितुमैच्छदिति किं प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः ।

त्यार्थे । [1]चित्रकाव्यस्यास्फुटस्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च अस्फुटव्यङ्ग्यकत्वाविशेषेऽपि चित्रे स्फुटालङ्कारवत्त्वम्, अस्फुटे तु गुणीभूतव्यङ्ग्ये न तथेति भेदः । न च तर्हि चित्रं कथं गुणीभूतव्यङ्ग्यादितोऽधमं प्रागुक्तं सङ्गच्छते इति वाच्यम्, अत्रास्फुटस्यापि व्यङ्ग्यस्य चमत्काराधिक्यम्, चित्रे तु स्फुटालङ्कारवशादेव व्यङ्ग्यस्य चमत्कारतिरोधानात्तदधमत्वमित्यभिप्रायात्[1]* क्लेशगम्यत्वादेवात्र वाच्यादनतिशयो बोध्यः ।

(५) सन्दिग्धेति । प्राधान्यमत्र रसादिव्यञ्जकत्वेन । तथाच प्रतीतस्य रसादेर्व्यञ्जकं किं वाच्यं व्यङ्ग्यं वेति औत्तरकालिकसन्देहविषयत्वं तत्त्वम् । हरस्त्विति । कुमारसम्भवे आकालिके वसन्ते जाते सर्वेषामेव कामभावोद्गमे हरस्यापि किञ्चित् [2]तथात्ववर्णनमिदम् । चन्द्रोदयस्य आरम्भे उत्पत्तिदशायाम् । अत्रेति, महेशशृङ्गारव्यञ्जकत्वात् प्रधानम् । न च द्वयमेव तद्व्यञ्जकत्वात् प्रधानमित्यतस्तुल्यप्राधान्यमेव अस्त्विति वाच्यम्, धैर्यपरिवृत्ते किञ्चित्त्वेन चुम्बनेच्छापर्यन्तायास्तस्या निश्चेतुमशक्यत्वात्, दर्शनादेव विरतिसम्भवात्[2]* । तथाच व्यङ्ग्यसंशयाधीन एव तत्प्राधान्यसंशय इति बोध्यम् । अत्र वाच्यव्यङ्ग्ययोर्द्वयोरपि प्राधान्यस्य संशयितत्वाद् वाच्यादनतिशयः[3] ।

---

1 'स्फुटालङ्कारविरहिते चित्रे तु स्फुटालङ्कारसत्त्वादिति भेदः । तर्हि कथमितोऽधमत्वमिति चेत् अत्र गत्वेनापि व्यङ्ग्यस्य चमत्कारत्वं तु न, स्फुटालङ्कारतिरोहितत्वादतोऽधमत्वम्' क । 2 चिह्नमध्यस्थ ख-पुस्तके नास्ति । ग-पुस्तकन्तु पत्र खण्डितम् । 3 अत परं क-पुस्तके 'वाच्यस्य निश्चितत्वेऽपि तत्प्राधान्यस्य संशयितत्वादेव' इत्यधिको दृश्यते ।

तुल्यप्राधान्यं यथा—

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये
'जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥ १३० ॥

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्त्रियाणामिव रक्षसां क्षणात् क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

काक्वाक्षिप्तं यथा—

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।

---

(६) तुल्यप्राधान्यमिति । अत्रापि रसादिव्यञ्जकतयैव प्राधान्यम् । ब्राह्मणेत्यादि । दिग्विजये परशुरामं जिगीषुं रावणं प्रति तत्त्रासजनकं मन्त्रिवाक्यमिदम्(A) । भवतामेव भूतये, न तु स्वार्थं प्रतीमील्यर्थः । तथेति ब्राह्मण इत्यर्थः । मित्रमिति चार्थोऽत्र बोध्यः । अन्यथेति अतिक्रम इत्यर्थः । दुर्मनायते इति भविष्यत्सामीप्ये वर्तमाना । अत्रेति, '²वाच्यस्य' मित्रब्राह्मणदौर्मनस्यस्य । समं प्राधान्यमिति द्वयोरपि भर्त्सयितत्वेन त्रासरूपव्यभिचारिमात्रव्यञ्जने द्वयोः साम्यात्, शापपापोत्पादकत्वेन हि वाच्यात् त्रासः, दर्शितव्यङ्ग्यात्तु साक्षात् त्रासः ; 'स च व्यञ्जनया सामाजिकबोध्य'³ । अत्र प्राधान्यसाम्यादेव वाच्यादनतिशयः ।

(७) काक्वेति । आक्षिप्तत्वं ⁴सहसा बोधत्वम् । तथाच शाब्दबोधतः प्रागेव पदार्थविषया ⁵उपस्थितिः । मथ्नामीति । सहदेवं प्रति सन्धिकरणासहिष्णो-

---

(A) ब्राह्मणेति । महावीरचरिते द्वितीयेऽङ्के रावणमुद्दिश्य परशुरामप्रेषितपत्रान्यतया पद्यमिदमुपलभ्यते, अतो दिग्विजय इत्यादिकं टीकाकृद्वाक्यं साहित्यदर्पणटीकायामप्येतन्मतानार्थकं रामचरणतर्कवागीशवाक्यञ्च सन्दिग्धप्रामाण्यकमिति मन्तव्यम् । अत्र श्लोके 'भवतामेव न तु ब्राह्मणानाम्, जामदग्न्ये जीवति तेषामनिष्टस्यासम्भवादिति भावः । भवतामेवेति बहुवचनेन सकलसभ्याऽऽक्षेपः । अन्यथा ब्राह्मणातिक्रमस्यात्यागे तथा सादृशः अन्मन प्रभृति सकलरहस्यवेदीत्यर्थः (एतेन सत्यामपकारेच्छायां तत्साधने प्रयासापेक्षा नास्तीति सूच्यते) इत्युदाहरणचन्द्रिकायां विशेषः । 'दुर्मनायते इति गम्भीरोक्त्या चमत्कारित्वात् विपक्षवत् सन्धेरपि विवक्षितत्वाच्च' इति प्रदीपः ।

---

1. 'जामदग्न्य च' इति पाठान्तरम् । 2 'अत्र जामदग्न्यः क्षत्रियाणामिव रक्षसामपि क्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य मित्रब्राह्मणदौर्मनस्यरूपवाच्यस्य च समं प्राधान्यम्' इत्यत्र 'वाच्यस्य' इत्यस्य निरूपणीयमिति हि भौति, त्रासजनकत्वेनैवात्र चमत्कारः, त्रासजनकत्वेनैव मित्रब्राह्मणातिक्रमस्यापीति प्राधान्यसाम्यम्' च । 3. अयमंशः ख-पुस्तके नास्ति । 4 'सह बोधत्वम्' ख । 5 'उपस्थापकत्वे तात्पर्यं' ख ।

संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥ १३१ ॥

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादि व्यङ्ग्यं वाच्यनिषेधसहभावेन स्थितम्।

असुन्दरं यथा—

वाणीरकुडंगुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए।
घरकम्मवावडाए वहुए सीअन्ति अंगाइं ॥ १३२ ॥

अत्र दत्तसङ्केतः कश्चिल्लतागहनं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् सीदन्त्यङ्गानीति वाच्यं सचमत्कारम्।

भीमस्योक्तिरियम्। मथ्नामीत्यादौ सर्वत्र भविष्यत्सामीप्ये वर्तमाना, मथिष्यामीत्याद्यर्थोऽर्थः। उरस्तः इत्यादि। सुयोधन इति दुर्योधनस्य अपरं नाम। भवतां नृपतिरित्यनेन स्वानभीप्सन्धिकरणात् स्वनृपतित्वाभावसूचनम्। अत्र कृतकौरव शतवधप्रतिज्ञस्य भीमस्य न मथिष्यामीत्युक्तिर्बाधितार्था, अतोऽत्र शिरश्चालन सहकृता काकुः प्रतीयते, तया च 'न न मथिष्यामी'त्यादिरीत्या अपरनञर्थं आक्षिप्यते। तथाच नञर्थद्वयेन प्रकृतार्थे पर्यवस्यतीत्याह—अत्रेति। मथ्नाम्येवेत्यादीति मथ्नाम्येवेत्यादेरेकदेशः प्रकृतनञर्थ एव व्यङ्ग्यो वाच्य', प्रकृतनञर्थस्य वाच्यत्वेन नञ्द्वयार्थस्मरणस्य प्रकृतार्थपर्यवसायकत्वेन व्यङ्ग्यत्वाभावात्। अत्र 'व्यङ्ग्यस्यापि नञर्थस्य वाच्यनञर्थसहभावेनैव उपस्थित्या'* शाब्दबोधजननाद् वाच्यतुल्यत्वेन वाच्यानतिशयो बोध्यः।

(८) असुन्दरमिति। रसादिबोधजनने 'वाच्यसापेक्षं व्यङ्ग्यत्वं तदरम्। अत एवास्य वाच्यमुखनिरीक्षकत्वेन वाच्यानतिशयो बोध्यः'। एतदुदाहरणं मामतरुण मित्यादेव दर्शितम्। सौलभ्यात्तु तत्तुल्यमन्यदाह—वाणीरेति।

वाणीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्या।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति संस्कृतम्।

अत्रेति। इति व्यङ्ग्यादित्यत्र इत्यादिव्यङ्ग्यादित्यर्थः। तथाच 'वधूश्च तत्र न गता' इत्येतत्पर्यन्ताद् व्यङ्ग्यादित्यर्थः। अयं भावः—वध्वा अगमनमात्रं न

---

१ 'वाच्येन नञर्थेन साधनञ्ज्ञानपर्यन्तमपि शाब्दबोधं प्रत्युपस्थित्या' इति ख। * 'वाच्यसहभावेनैव' ख

(६७) एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत् ॥ ४६ ॥

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदाऽलङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्(A) ॥

(ध्वन्यालोक, उद्योत २, श्लोक ३०,)

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ।

तदीयविप्रलम्भव्यञ्जकम् आगमनस्य तस्या अकार्यान्तरत्यागेन गृहकर्मसमापनानन्तरं जिगमिषयाऽपि वा सम्भवात्, किन्तु शकुनिकोलाहलश्रवणेन सीदद्गृहा तस्या अगमनमेव तद्व्यञ्जकमिति वाच्याङ्गावसादमहकारेणैव रसं व्यनक्ति वाच्यमुखनिरीक्षकत्वात् अस्यातन्त्र्येण वाच्यन्यूनचमत्कारीति । वाच्य उक्तहेतुकोऽङ्गावसादस्तु उक्तव्यङ्ग्यनिरपेक्ष एव रसव्यञ्जक इति सोऽधिकचमत्कारी, शकुनिकोलाहलस्योद्दीपकत्वेन तदधीनाङ्गावसादस्यैव व्यङ्ग्यनिरपेक्षस्य यथोक्तव्यङ्ग्य विनाऽपि विप्रलम्भव्यञ्जकत्वात् ।

एषामिति उक्ताष्टविधव्यङ्ग्यानामित्यर्थः । 'भेदा' प्रभेदाः । पूर्ववदिति, ध्वनेर्यथा लक्षणादिमूलकत्वादिभेदेन एकपञ्चाशद्विधत्वम्, तथा एषामपि प्रत्येकमेकपञ्चाशद्विधत्वेन अष्टाधिकचतुःशतसङ्ख्यत्वमित्यर्थः । तत्रैव कश्चिद् भेदो गुणीभूतो न सम्भवतीत्याह—यथायोगमिति, यथासम्भवमित्यर्थः । असम्भवस्थलं दर्शयति—व्यज्यन्त इति । 'ध्वन्यङ्गता' काव्यस्य ध्वनित्वनिर्वाहकता । 'काव्यवृत्ते' तादृशकाव्यप्रवृत्ते । 'तदाश्रयात्' ध्वनित्वाश्रयणात् । ननु किमत्र बीजमिति चेत् काव्यस्य चमत्कारस्तावत् व्यङ्ग्यस्य व्यङ्ग्यत्वेन अलङ्कृतित्वेन च, तत्र व्यङ्ग्यत्वेन चमत्कारस्य अगूढत्वादिना गुणीभावेऽपि अलङ्कृतित्वेन चमत्कारस्य अगुणीभाव एवेति बीजम्(B) । न चैवं शब्दशक्त्या अलङ्कारेण वा

(A) 'काव्यस्य कविव्यापारस्य वृत्तिस्तदाश्रया अलङ्कारप्रथना' इत्यभिनवगुप्ताचार्याः ।

(B) अत्र प्रदीपकाराः—ननु वस्त्वलङ्कारापेक्षया वस्तुमात्रस्य चारुतायानियमस्तदा कथमलङ्कारेण वस्तुमात्रव्यङ्ग्ये ध्वनित्वमिति चेदुच्यते—स एवार्थो वाच्य सन् न तथा चमत्करोति यथा व्यङ्ग्यतामापन्न इत्यनुभवसिद्धम्, अतो वाच्यता अपकर्षहेतुर्व्यङ्ग्यता चोत्कर्षायेति स्थितम् । एवं चालङ्कारेण वस्तुमात्रं व्यङ्ग्यं तत्रालङ्कारस्य वाच्यत्वेन किञ्चिदपकर्षाद् वस्तुमात्रस्य च व्यङ्ग्यत्वेन किञ्चिदुत्कर्षात् युक्त एव ध्वनित्वम्, यत्र तु वस्तुनाऽलङ्कारो व्यज्यते [illegible] वस्त्व-

(६८) (A)सालङ्कारैर्ध्वनेस्तैश्च योगः संसृष्टिसङ्करैः।

सालङ्कारैरिति तैरेवालङ्कारैः अलङ्कारयुक्तैश्च तैः। तदुक्तं ध्वनिकृता—

स गुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्द्योतते बहुधा॥ इति

(ध्वन्यालोक उद्द्योत ३ श्लोक ४४)

व्यङ्ग्यस्यालङ्कारस्यापि तथात्वेन वस्तुमात्रेणेति मात्रपदेन कथ 'व्यञ्जका लङ्कारव्यवच्छेद कृत इति'[1] वाच्य तत्र व्यञ्जकेन शब्दश्लेषालङ्कारेण वाच्यार्था लङ्कारेण च काव्यस्य चमत्कृतत्वात् 'व्यङ्ग्यालङ्कारस्य वाच्यतुल्यचमत्कृतिप्रयोजक त्वेन 'वाच्याद्नतिशयाद् गुणीभावात्'[3]।

सालङ्कारैरिति 'तैः' 'गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रभेदैः, 'सालङ्कारैः' चकारात् निरलङ्कारैश्च 'ध्वनेः' सङ्करादिचतुर्विधे 'योग' इत्यर्थः। तेषां सालङ्कारणापि प्रभेदवैचित्र्यदर्शनार्थं सालङ्कारैरित्युक्तम्। सालङ्कारता च स्फुटालङ्कारवत्ता, तेन निरलङ्कारताऽस्फुटालङ्कारवत्तैव, अलङ्कारमात्राभावे सालङ्कारत्वघटितकाव्य लक्षणानुपपत्तेः। स्फुटालङ्कारवत्त्वमपि अस्फुटस्य (गाह्य ?) प्रभेद विहायैव बोध्यम् तस्य स्फुटालङ्कारवत्त्वे चित्रकाव्यत्वापत्तेः। अयमेव हि चित्रास्फुटयोर्भेदः प्राग् दर्शित'[4]। अलङ्कारयुक्तैरिति, इयं 'सालङ्कारै'रित्यस्य व्याख्या। अलङ्कारैरिति तु अर्थवशलभ्य व्याख्यातम्, अपराङ्गस्य रसवदाद्यल ङ्कारूपत्वात्, स गुणीति। स ध्वनिः स्वैः प्रभेदैः गुणीभूतव्यङ्ग्यैश्च सहेत्यर्थः।

लङ्कारयोर्वाच्यत्वव्यङ्ग्यत्वाभ्यामतिशयेनैवोत्कर्षापकर्षाविति कुतो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वावकाशः। इदन्तु चिन्त्यम्, एवं चारुत्वाभावनिबन्धनं गुणीभूतत्वं मा भूत्, अगूढत्वादिनिबन्धनं तु तस्मिन् को वारयितेति।

(A) अन्ये प्रदीपकारकृतं व्याख्यानन्तु 'सालङ्कारै'रिति विभिन्नार्थकल्पनानाशब्दैक शेष एकत्रालङ्कारपदस्य भावप्रधानत्वात्। (अयम्भाव एकशेषे अलङ्कारपदमलङ्कारत्वपर सन्निहित अलङ्कार एवेति सालङ्कारपदमेव अलङ्कारं बाधयति इत्येकत्र, अन्यत्र सालङ्कार पदम् अलङ्कारसहितार्थकमिति सरूपाणामिति सूत्रेण एकशेष इति) तथाच तैः सालङ्कारैरलङ्कार

1 'तेनाव्यवच्छेद'मिति क व्यञ्जकानितशालङ्कृतिस्स वा क। 3 गुणीभूतत्वमिताभिप्रायात क 4. 'गुणीभूतव्यङ्ग्यैः' सालङ्कारैश्चतात। तेन निरलङ्कारत्वमन्यथैवाद यथा प्रभेदवैचित्र्या सालङ्कारैरपि न प्रभेदान्तरविरहितं दर्शितम् क।

(६६) अन्योन्ययोगादेवं स्याद्भेदसंख्याऽतिभूयसी ॥४७॥

एवम् अनेन प्रकारेण अवान्तरभेदगणनेऽतिप्रभूततरा गणना, तथा हि—शृङ्गारस्यैव भेदप्रभेदगणनायामानन्त्यम्, का गणना तु सर्वेषाम्।

सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदाः व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि—किञ्चि[1]द्वाच्यतासहं किञ्चित्त्वन्यथा,(A) तत्र वाच्यतासहमविचित्रं विचित्रं चेति। अविचित्रं वस्तुमात्रं विचित्रं त्वलङ्काररूपम्। यद्यपि प्राधान्येन तदलङ्कार्यम्, तथाऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायेन तथोच्यते। रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देन वाऽभिधीयेन। न चाभिधीयते, तत्प्रयोगेऽपि विभावाद्यप्रयोगे(B) तस्याप्रतिपत्तेः, तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां

सङ्कलनेन पुनरिति। गुणीभूतव्यङ्ग्यमपि न पृथक्, किन्तु व्यङ्ग्यवत्काव्यमेव ध्वनिरिति सङ्कलनम्। त्रिरूपत्वादिति वाच्यतासहस्य वस्त्वलङ्काररूपत्वाद् द्वैविध्यं वाच्यताऽसहन्त्वेकमिति त्रिरूपत्वम्। वाच्यतासहमिति, व्यङ्ग्ययोर्वस्त्वलङ्कारयोर्वाचकेन शब्देनापि तत्रैव काव्ये वक्तुं शक्यत्वात्। किञ्चित्तु अन्यथेति रसादिलक्षणस्यार्थस्य तत्काव्यस्थशब्दैरोक्तौ तु रसादित्वमेव न तस्य सम्भवतीति स्वयमेव व्याख्यास्यति। यद्यपीत्यादेरर्थः प्रागेव व्याख्यातः। स हीति, 'रसादिशब्देने'त्यत्र तत्काव्यस्थेनेति शेषः। 'तत्प्रयोगे' तत्काव्यमध्ये तत्प्रयोगे।

सहितैश्च तैरित्यर्थः। तेन ध्वनिना गुणीभूतव्यङ्ग्येन वाच्यालङ्कारेण च ध्वनेर्योगः इति पूर्वापराभ्यामुक्तं भवति' इति।

(A) अन्यथेति वाच्यताऽसहमित्यर्थः।

(B) तस्याप्रतिपत्तेरिति। रसादिपदप्रयोगे स्वशब्दवाच्यतादोषोऽप्युद्घोषकारैरुक्तः। तथाहि "अभिधानस्य च तादृशे विषये दोषता वक्ष्यतीत्यपि बोध्यम्। एवं विभावादिभिर्व्यञ्जितस्य रसस्य क्वचित् रसादिपदेनानुवादे तु न दोषः; यथा—शृङ्गारस्योपनतमधुना राज्यमेकातपत्रमित्यादौ। यद्यपि वस्त्वलङ्कारयोरपि वस्त्वलङ्कारपदाभ्यामभिधानेऽपि न

1 '-द्वाच्यतां सहते' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः।

विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयत इति निश्चीयते, तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव, (A)मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः ।

अर्थान्तरसंक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूपं व्यङ्ग्यं विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम् । शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं व्यङ्ग्यत्वम् ।

तेनासौ व्यङ्ग्य एवेति, अनेन वाच्यतामात्रनिरासः साक्षात्कार्यत्वन्तु सिद्धान्तितमेवेति बोध्यम् । नन्वेवं रसादिरूपविषयनियन्त्रितैव व्यञ्जनावृत्तिरस्तु नान्यविषयेत्यत आह—अर्थान्तरेति । प्राक् प्रतिपादितमिति, यस्य प्रतीतिमाधातुमित्यादिना नाभिधा समयाभावादित्यादिना एवमप्यनवस्था स्यादित्यादिना चेत्यर्थः । ननु तथाऽपि शब्दशक्तिमूला व्यञ्जना नाद्रियतामित्यत आह—शब्दशक्तिमूले त्विति । अनभिधेयस्येति अभिधामात्रेण प्रतिपादयितुमशक्यस्येत्यर्थः, केवलाया अभिधाया प्रकरणादि[1]कुण्ठितत्वादिति भावः । व्यञ्जनासहकारेणाभिधायास्तु तद्बोधकत्वमस्त्येवेति बोध्यम् । "तेन महेत्युपमाध्वनी बोध्यम्[2]" । निर्विवादमिति "शक्तिमात्रजन्यबोधादस्य बोधस्य वैलक्षण्यानुभवेन निर्विवादमित्यर्थः[3]" । ननु

चमत्कारस्तथाऽपि पदमन्वयबलेन प्रतीतानां चमत्कारित्वमस्त्येव । रसादीनां तु नैवम्, विभावादिमुखेन प्रतीतानामेव चमत्कारित्वादिति भावः" इति ।

(A) मुख्यार्थबाधाद्यभावादिति । अयमर्थः—आक्षेपसमाधानाभ्यामुपपादित उद्योतकारैः । तथाहि "ननु यदी प्रतीयमानत्वाद्धानिव तात्पर्यविषयानुपपत्त्या लक्षणाऽस्त्वित्यत आह—आदीति । अतात्पर्यविषयस्यापि रसस्य प्रत्ययात्, रसस्य स्वप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिरूपत्वेन तस्मिन् लक्ष्ये प्रयोजनान्तरासम्भवात्, विभावादिवाचकेषु पदेषु कुशलादिपदवत् प्रसिद्ध्यभावेन रूढ्यसम्भवेन च न लक्षणेति भावः । प्रयोजनादिकं विना तु न लक्षणा, अन्यथा हेतुत्रयसापेक्षत्वनियमात् । तदन्तरेण भवन्ती वृत्तिस्तु व्यञ्जनैव, सादृश्यमात्रात्तु लक्षणेत्युच्यते इति दिक्" इति ।

---

1 'प्रतिबद्धत्वादिति' ख । 2, चयमंश ख-पुस्तके नास्ति, न पुस्तकन्तु पत्र खण्डितम् । 3 'यद्यपि प्रथमार्थप्रतीतस्योत्तरकालस्वीकारो द्वितीयार्थस्य व्यञ्जनं निषिद्धस्तौ विवादोऽस्त्येव, तथापि प्रतिरोध्यबोधजनकस्य प्रतिबन्धकाविघटकस्य वा मानसोत्तेजकत्वाद्यभावेन निष्पन्नप्रतीतिजनकादभिधामात्रजन्यबोधादस्य वैलक्षण्यानुभवेन विलक्षणकार्यसाधन विलक्षणकारणजन्यत्वेन च व्यञ्जनाव्यापारसिद्धिरिति माणिक्यचन्द्रेति भाव' ख ।

अर्थशक्तिमूले 'तु विशेषे सङ्केतः कर्तुं न युज्यत इति सामान्यरूपाणां पदार्थानामाकांक्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् परस्परसंसर्गो यत्रापदार्थोऽपि [1]विशेषवपुर्वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे (A)का वार्त्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्। येऽप्याहुः—

तथाऽपि अर्थशक्तिमूला व्यञ्जना माद्रियतां तदन्तिकमेव रन्तुमित्यादिबोधस्तु शक्त्यैवास्ताम्[4], न तु मानसस्तद्बोध शब्दान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन शाब्दत्वात्, नापि लक्षणया तद्बोध, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। [5]न च श्रुतशब्दस्य तत्र शक्तिग्रहकाराभावात् कथं तत्र शक्तिग्रह इति वाच्यम्, अगृहीतयैव शक्त्या तद्बोधस्य स्वीकार्यत्वात्[5]*। न च तर्हि तत्र तादृशशब्दस्य शक्तौ किं प्रमाणमिति वाच्यम्, लक्षणया अजन्य शाब्दबोध शक्तिजन्य एवेति व्याप्तेरेव तत्र प्रमाणत्वादित्यतस्तस्या व्याप्तेर्व्यभिचारमाह नैयायिकमते[6] दर्शयति—**अर्थशक्तिमूले त्विति।** ननु शक्तिग्रहकालदृष्टव्यक्तिविशेष एव शक्तिग्रह, तथाच शाब्दबोधविषये तद्भिन्नव्यक्त्यन्तर एव व्यभिचारो दर्श्यताम्, किं संसर्गे व्यभिचारप्रदर्शनेनेत्यतस्तत्रापि शक्तिर्गृहीत एवेत्यतो न व्यभिचार, किन्तु तदीयसंसर्ग एव व्यभिचार इति दर्शयति—**विशेषे सङ्केत इति।** 'विशेषे' शक्तिग्रहकालदृष्टमात्रव्यक्तिविशेषे। **न युज्यते** इति आनन्त्यव्यभिचाराभ्यामिति भाव। 'सामान्यरूपाणां' सामान्यधर्मावच्छिन्नानाम्, तथाच सामान्यलक्षणयैव समस्तव्यक्तिषु शक्तिग्रह इत्यभिप्राय। [7]"परस्परसंसर्गो" इत्यत्र भासमानतया तैरभ्युपगत इति शेष[7]*। 'यत्र' नैयायिकमते, 'अपदार्थ'" पदाशक्य, 'विशेषवपु' संसर्गरूप, 'वाक्यार्थ' वाक्येनैव प्रतिपाद्य। तथाच अशक्ये तत्रैव तद्व्याप्तेर्व्यभिचारोऽनेन दर्शित। 'का वार्त्ता' क प्रसङ्ग।

(A) का वार्त्तेति। विस्तारितोऽयमर्थः प्रदीपकारैः। तथाहि "अर्थशक्तिमूलेऽप्येवमङ्गीकर्त्तव्यम्, यत पदेभ्य प्रथम पदार्थस्मृति, अथ पदार्थविशेषाणामन्वयविशेषरूपस्य वाक्यार्थस्य प्रत्यय, ततो व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति तृतीयकक्षाया कुतोऽभिधाया प्रसरणम्, द्वितीयकक्षायामेव तदनपेक्षणात्। यतोऽभिहितान्वयवादेऽप्यन्वय पदार्थान्तर आकाङ्क्षादिवशेन प्रतीयते, शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभाव इति च सर्वमिदम्" इति। व्याख्यात चैतदुद्द्योते—"विशेषरूपस्य

(१) शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥(A)

इत्थं नैयायिकमते तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयित्वा संसृष्टपदार्थशक्तिवादिनां मीमां-

गवान्वितकर्मत्वान्विरूपस्य । तदनपेक्षणादिति वाक्यार्थस्यापदार्थसंसर्गरूपस्य अपूर्वत्वेन अनभिधेयत्वं कथं व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमिति भावः । तदेवोपपादयति—यतोऽभिहितेति । एवं च अपूर्वत्वाद्वाक्यार्थ इव व्यङ्ग्यार्थेऽपि सङ्केतग्रहो न सम्भवतीति भावः । परमार्थस्तु "अयं भाव —यन्मते वाक्यार्थबोधविषयीकृतमपि सम्पर्ण शब्दोपस्थापनपरिक्षीणशक्तिरभिधा नाव भासयतीति तदर्थं तात्पर्यवृत्तिरभ्युपगम्यते, तन्मते वाक्यार्थबोधोत्तरकालिकस्य व्यङ्ग्यस्योपस्थितौ नैवाभिधाप्रभाव इति किमु वक्तव्यम्' इति बालबोधिन्याम् ।

(A) शब्दवृद्धेति । कारिकाद्वयस्य आकरो नावाप्युपलब्धः, सुगमतया व्याख्यान्तराणि दूषितम् । तत्र 'अत्र कारिकाद्वये प्रतिपाद्यं वाच्य' इत्यध्याहार्यम् । प्रत्यक्षमत्र करण परम् । तथा च बालः 'शब्दवृद्धाभिधेयान्' शब्दं श्रूयमाणं 'देवदत्त गामानय' इत्यादिवाक्य रूपं, वृद्धौ प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धौ अभिधेयोऽर्थं गवानयनादिरूपं, एतान् 'प्रत्यक्षेण' प्रत्यक्ष- हेतुना श्रोत्रादिना 'अत्र' व्युत्पत्तिकाले 'पश्यति' साक्षात् करोतीत्यर्थः । तत्र श्रोत्रेण शब्दं चक्षुषा च वृद्धाभिधेयान् साक्षात् करोतीति भावः । एतेन प्रयोजकवृद्धप्रयोज्यवृद्धप्रयुज्यमान शब्दगवानयनादिक्रियाणां प्रत्यक्षविषयत्वमुक्तम् । श्रोतुश्चेति, चकारः प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं योज्यः । अनुमानपदमत्र करणव्युत्पन्नम् । श्रोतुः' प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्वं वाक्यार्थाभि ज्ञत्वं च (कर्म) अनुमानेन अनुमितिकरणभूतया 'चेष्टया गवानयनादिचेष्टारूपेण हेतुना पश्यतीति सम्बन्धः । 'पश्यति' जानाति अनुमिनातीत्यर्थः । 'अयम् एतच्छब्दजन्यैतदर्थ गोचरज्ञानवान् एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वात्' इत्यनुमानाकारः । पश्यतीत्यत्रापि श्रोतुरित्यस्यान्वयो बोध्यः । अन्यथाऽनुपपत्त्येति अन्यथाऽनुपपत्त्या अर्थापत्त्या इत्यर्थेनान्वयः । अनन्तरं 'द्व्यात्मिकां वाचकत्वं वाच्यत्वं चेति द्विविधां शक्तिं सङ्केतापरनामकं वाच्यवाचकयोः सम्बन्धम् अन्यथाऽनुपपत्त्या 'गामानयेत्यादिवाक्यश्रवणात् गवानयनादिज्ञानम् एतद्वाक्य तै द्वयोरस्य वाच्यवाचकभावसम्बन्धं विना अनुपपन्नम्' इत्यनुपपत्त्या (इत्यनुपपत्तिरूपया) अर्थापत्त्या अर्थापत्त्याख्यप्रमाणेन (हेतुना) बोधन् जानीयादित्यर्थः । अन्ये तु— द्व्यात्मिकाम् आश्रयभूतस्य वाक्यस्य वाचकत्वम् विषयभूतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव द्वयम् आत्मा स्वरूपं यस्याः स्तां गम्भूतामिति वाच्यवाचकरूपं द्वयम् आत्मा आत्मीयं प्रतियोग्यनुयोगिभूतं यस्यास्तादृशीमिति च व्याचख्युः । अनन्तरं च त्रिप्रमाणकम्' उक्तरीत्या प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयाधिगतं 'सम्बन्धं' सङ्केतम् अवबोधेन (आवापोद्वापाभ्यां शब्दस्य गौरवार्थ अयं विभक्ते कर्मत्वमिति रीत्या विशेषेण पदपदार्थनिष्ठतया) अवधारयेदिति कारिकाद्वयार्थ इति बालबोधिनीकाराः ।

(२) अन्यथाऽनुपपत्त्या तु ¹बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्याऽवबुध्यन्ते संबन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥

सकलानामपि मते तद्व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयितु(A) शक्तिग्रहप्रकारप्रदर्शिकां परकीय·

शाब्दवृद्धेति। प्रत्यक्षपदं करणपरम्। तत्र श्रोत्रेण शब्दं पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः। तथा चक्षुषा वृद्धैरभिधेयान् गवानयनादींश्च साक्षात्करोतीत्यर्थः। श्रोतुः प्रयोज्यवृद्धस्य प्रतिपन्नत्वं कार्यताज्ञानवत्त्वं चेष्टादिकरूपेणानुमानेन अवबुध्यन्तेत्यपेतनेनान्वय। अन्यथाऽनुपपत्त्या कारणं विना कार्यानुपपत्त्या, द्वयात्मिकां कार्यकारणत्वरूपां शक्तिं बोधेन् जानीयादित्यर्थः। अर्थापत्त्या तदर्थसम्बन्धं विना वाक्यस्य तज्ज्ञानजनकत्वानुपपत्त्या सम्बन्धं वाच्यवाचकभावरूपम् अवबुध्येतेत्यर्थः सम्बन्धाभावे हि अज्ञातकपदर्थोऽन्यतमस्यापि बोधः स्यादित्यतिप्रसङ्ग इति भावः। त्रिप्रमाणकमिति, प्रत्यक्षानुमानार्थापत्तिरूपप्रमाणत्रयमूलकमित्यर्थः" इति प्रभा।

"प्रतिपन्नत्वं प्रतिपत्तिर्ज्ञानमिति यावत्। अवबु-वेतेत्यपिसेनान्वय। 'अनुमानेन चेष्टये'ति चेष्टारूपानुमितिजनकज्ञानविषयहेतुनेत्यर्थः। 'अन्यथाऽनुपपत्त्या' कारणं विना कार्यानुपपत्त्येत्यर्थः। 'बोधे' बोधनिष्ठकार्यतानिरूपिताम्, 'द्वयात्मिका' इयं कार्यं कारणं च आत्मा प्रतियोगी यस्यास्ता कारणत्वरूपां शक्तिं बुध्येतेत्यपिशेषेणान्वयः। बोधेरिति पाठे ज्ञाननिरूपितामिति शेषो बोध्यः। 'सम्बन्धं' वाच्यवाचकभावरूपम्। एवं शक्तिग्रहे त्रिप्रमाणकमाहुरित्यर्थः। अनुपपत्तिरर्थापत्तिरेव" इत्युद्योतः।

"शब्द गामानय इत्यादि वाक्यम्, वृद्धौ प्रयोज्यप्रयोजकौ, अभिधेयं गवानयनादिरूपं संसर्गं। प्रत्यक्षेण तद्धेतुना चक्षुषा श्रवणेन च। अत्र व्युत्पत्तिकाङ्क्षं। पश्यति जानाति। श्रोतुः प्रतिपन्नत्वं ज्ञानवत्त्वम्। चेष्टया अङ्गक्रियया अनुमानेन अनुमितिकरणेन चेष्टया (चेष्टया ?) हेतोरित्यर्थः। अयम् एतच्छब्दजन्यैतदर्थगोचरज्ञानवान् एतच्छब्दश्रवणानन्तरमेतदर्थगोचरचेष्टावत्त्वादित्यनुमानाकारः। चकारः प्रतिपन्नत्वमित्यनन्तरं योज्यः। श्रोतुः प्रतिपन्नत्वमपि जानातीत्यर्थः। अन्यथेत्यादि, द्वयोः वाच्यवाचकयोरर्थयोः आत्मा स्वरूपं यस्या (इति) शक्तिविशेषणम् आश्रयत्वेन शब्देषु विषयत्वेन च अर्थेषु वृत्ते। अनुपपत्तिश्च शब्दार्थज्ञानं वृत्तिं विना अनुपपन्नम्, अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्। सा च शक्तिः स्वाभाविकसम्बन्धरूपा- (ईश्वर) प्रकारा। अर्थापत्त्या आवापोद्वापदर्शनसहकृतया, सा च आनयनाद्यन्विते गवि गोपदशक्तिस्तदितराप्रतिपादकत्वे सति प्रतिपादकत्वरूपा। त्रिप्रमाणकं प्रत्यक्षमनुमानमर्थापत्तिश्चेति प्रमाणत्रयम्, अनुपपत्तेरपि अर्थापत्तिमेकत्वात्। सिद्धमतस्यानुवादोऽयम्। तदनुपपत्तिस्तत्समर्थनं च अप्रकृतत्वात्नोद्भावित"मिति चक्रवर्ती। बालबोधिन्याम् उद्धृतमिदम्।

(A) अत्र च कल्पतरोः 'शक्तिग्रहप्रकारप्रदर्शिकां परकीयां कारिकां' इत्यत्रापि शक्ति-

1.

इति प्रतिपादितदिशा—

'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगाद् देशाद्देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यमवृद्धे नयति सति 'अनेनास्माद् वाक्यादेवंविधोऽर्थः प्रतिपन्नः' इति तच्चेष्टयाऽनुमाय तयोरखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते ।

कारिकामाह—येऽप्याहुः शब्दवृद्धेति(A)। येऽपि अन्विताभिधानवादिन आहुरिति दूरे अन्वयः। शब्दवृद्धेति। गामानय इत्यादि शब्द, गवाद्यानेता व्युत्पन्नो वृद्ध, गवाद्यानयनरूपोऽर्थोऽभिधेय, 'प्रत्यक्षेण' इन्द्रियेण, 'पश्यति' जानाति, शब्दस्य चाक्षुषत्वात्। चेष्टया अनुमानेन इत्यन्वय, ज्ञायमानलिङ्गकरणत्वस्य तत्सिद्धान्तत्वात्। अन्यथेति, अस्मात् शब्दात् अस्मिन्नर्थे अस्य प्रतिपन्नत्वम् अनयोरर्थशब्दयो सम्बन्धं विना अनुपपन्नमित्येवंरूपा अर्थापत्तिरेव अन्यथाऽनुपपत्ति। द्वयात्मिकामिति विषयतासम्बन्धेन द्वयोरर्थशब्दयो आत्मा स्वरूप यस्या इति विग्रहेण तदुभयविषयामित्यर्थ, इच्छारूपाया अतिरिक्ताया वा शक्तेरुभयविषयत्वात्। अनेन अखण्डवाक्यतदर्थयो प्रथम शक्तिग्रह दर्शयित्वा पश्चात् पदपदार्थयो शक्तिग्रहं दर्शयति—अर्थापत्त्येति। अर्थापत्तिरत्र आवापोद्वापरूपा। बोधेरित्यत्र बालक कर्त्ता, बुधिर्भौवादिक। अवबुध्यन्ते इत्यत्र बालका कर्त्तार, बुधिर्दैवादिक आत्मनेपदी। ईदृशव्याख्यानुसारिणी वृत्तिर्बोध्या। 'अखण्डवाक्यवाक्यार्थयो शक्तिग्रहानन्तरं पदपदार्थयोरन्य(B) शक्तिग्रह आवापोद्वापेनेति कारिकार्थं व्याचष्टे'[1]

ग्रहो न तु व्यक्त्यन्तरे इति तन्मतेऽपि व्यक्त्यन्तरे तदीयमर्शो च तद्व्याप्तेर्व्यभिचार इति दर्शयिष्यन्' इत्यश, तथा—

(A) अत्र पर स्वपुस्तके 'एतत्प्रदर्शनेन शक्तिग्रहकाले दृष्टव्यक्तिविशेष एव शक्तिग्रहो न तु व्यक्त्यन्तरे, तथाच तत्तद्व्यक्तिषु तदीयमर्शो च व्यभिचार इति दर्शयितुमेवाचार्य प्रवृत्त' इत्यशो दृश्यमानोऽपि 'मीमांसकानामपि तद्व्याप्तेर्व्यभिचार दर्शयितुम्' इति टीकाभागस्य व्याख्यानरूपा केनचित् कृता टिप्पणी लेखकप्रमादेन टीकायामन्तर्भावितेति बुद्ध्या परित्यक्त ।

(B) एवकार शक्तिग्रहानन्तरमित्यनन्तरं योजनीय ।

---

1 'अखण्डवाक्यवाक्यार्थयोरावापोद्वापेन शक्तिग्रह इति व्याचष्टे' ख।

(A)परतः 'चैत्र गामानय देवदत्त अश्वमानय देवदत्त गां नय' इत्यादिवाक्यप्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तं तमर्थमवधारयन्तीति अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते(B) इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः, न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्।

यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः

परत इति, (C)अथ तत्तत्पदपरिवृत्तिरूप आवापोद्वाप। 'अन्वितै' परस्पराऽन्वितैः। 'अन्वितानां' [1]ताद्रूप्यं सम्बद्धानाम्[1]*, आसत्तिमतां वा पदानाम्। 'वाक्यार्थ' वाक्यप्रतिपाद्य। 'न तु' इत्यनेन नैयायिकमतनिषेध। इत्थ मीमांसकमत दर्शयित्वा तत्रैव (D)अनुपपत्तिद्वयमुद्भाव्य तत्रैकानुपपत्ते शक्यपरिहारत्वेऽपि '[2]अन्यानुपपत्तिरशक्यपरीहारेत्याह—यद्यपीत्यादिना गोचर इत्यन्तेन। '[3]गृहीतशक्तिपदान् वाक्यादभिन्नमेव (E)तादृशवाक्यान्तरमित्यत्र प्रथमानुपपत्युद्धार। निश्चीयन्ते इत्यनन्तर (अत) वाक्यभेदनिबन्धनो न दोष इति पूरणीयम्। द्वितीयानुपपत्तिमुद्भावयति—पदार्थान्तरमात्रेणेति शक्तिग्रहकालदृष्टगवादिनैरपेक्ष्येण्यर्थ, तथाच '[4]गवान्तरा-

(A) परत इत्यादिसन्दर्भस्यास्यार्थं प्रदीपे स्फुटतररूपेण प्रतिपादित', तत्सर्वमत्र विस्तृतिभयात् नोद्ध्रियते।

(B) गृह्यत इति। एतादृशानां पदानां गोकर्मकानयनादिरूपेणार्थेन सह सङ्केतरूप सम्बन्धो गृह्यते इति निर्गलितार्थ।

(C) अथमिति, चैत्र गामानयेत्यादिवाक्यसमुदाय आवापोद्वापप्रदर्शनमन्यलमित्यर्थ। आवाप अन्वय। उद्वाप व्यतिरेक।

(D) अत्र शक्तिग्रहकालीनवाक्यघटकगवादिव्यक्तितुल्याद् वाक्यान्तरघटकगवादिशब्दार्थोपस्थित्यनुपपत्ति प्रथमा, गृहीतशक्तिकगवादिव्यक्तिभिन्नगवाद्युपस्थित्यनुपपत्तिर्द्वितीयेति अनुपपत्तिद्वय बोध्यम्।

(E) वाक्यान्तरमिति स्थलविशेषाभिप्रायेण, पदानीति मूलोक्तमेव यथाश्रुतं सम्यक्, वाक्यभेदेऽपि पदाभेदस्वीकारेणैव तद्दोषोद्धारस्यावश्यकत्वात्।

1 'तादृशार्थं सम्बद्धानां' ख, 'तादृशार्थ सम्बद्धानाम्' ग। 2 'द्वितीयानुप' ग घ। 3 'गृहीत शक्तिकपदकान्' ग। 4 'गवान्तरोपस्थानयत्नानुपपत्तिरिति' क।

सङ्केतगोचरः, तथाऽपि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासो प्रतिपद्यते व्यतिपक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वाद् इत्यन्विताभिधानवादिनः, तेषामपि मते [1]सामान्यविशेषः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो [2]वाक्यान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव(A)। (B)यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा।

न्वयबाधानुपपत्तिरिति दर्शितम्। समाधत्ते—तथाऽपीति। विशेषव्यक्तावपि सामान्येन रूपेण शक्तिग्रह। तथाच सामान्यव्यतिषक्तव्यक्त्यन्तराणामन्वयबाध इत्याह—सामान्यावच्छादित इति। असाविति शक्तिग्रहकालेऽपलब्धव्यक्तिरित्यर्थ। 'व्यतिषक्तानां' सामान्यावच्छिन्नशक्त्यन्तराणाम्। 'तथाभूतत्वात्' शाब्दबोधविषयत्वात्। अत्र अशेष इति साध्य पूरणीयम्। इत्थं मीमांसकमतं दर्शयित्वा तन्मतेऽपि व्याप्तेर्व्यभिचारं दर्शयति—तेषामपीति। सामान्यविशेष' [3](C)शक्तिग्रहकालदृष्टगवादिव्यक्तिरूप। 'अतिविशेष' द्वितीयावगता गवादि। अविशेष इति क्वचित् सम्यगेव पाठ। वाक्यान्तर्गत इति वाक्यान्तरान्तर्गत इत्यर्थ। वाक्यार्थान्तर्गता वाक्यार्थान्तरान्तर्गता वाक्यान्तरगत इति तु (धा१) क्वचित् सम्यगेव पाठ। 'यत्र' मते 'अर्थान्तरभूतस्य' प्रथमप्रतिपन्नव्यक्तिता भिन्नस्य, 'विध्यादे'

(A) अवाच्य एवेति। तथाच उक्तनियमस्य व्यभिचार इति भाव।

(B) ननु उक्तनियम साजात्यघटितो वाच्य, तथाच वाक्यान्तरप्रतिपाद्य कालान्तरवर्तिशाब्दबोधान्तरविषयो गवादि सङ्केतग्रहाविषयोऽपि सङ्केतग्रहविषयगवादिसजातीय एव, अतो न व्यभिचार इत्यत आह—यत्रेति। अत्र पदार्थ इति सावधारणम्, अर्थान्तरभूतस्य वाच्यार्थाद्विपरीतस्येत्यर्थ, तथाच सङ्केतग्रहविषयस्य गवादेस्तत्सजातीयतया च गवादिव्यक्त्यन्तरस्य शाब्दबोधविषयतया व्यभिचारासम्भवेऽपि निःशेषच्युतादौ व्यङ्ग्य तदन्तिकगमने वाच्यस्य तदन्तिकगमननिषेधस्य साजात्याभावेन व्यभिचारो दुर्वार इति भाव।

(C) शक्तिग्रहेति, अत्र सामान्यत्व गोत्वादिना, विशेषत्व च तत्कालदृष्टत्वादिनेत्यभिप्रायो बोध्य।

---

1 'सामान्यविशेषरूप' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठ। 2 वाक्यार्थान्तरगत इति मुद्रितपुस्तके पाठ।

3 'प्रथमदृष्ट'०ख।

(A)अनन्वितोऽर्थोऽभिहितान्वये, पदार्थान्तरमात्रेणान्वितस्त्वन्विताभिधाने, अन्वितविशेषस्त्ववाच्य एव इत्युभयनयेऽप्यपदार्थ एव वाक्यार्थः।

यदप्युच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते'

निषेधप्रतियोगिनस्तद्वृत्तिकपमनपेक्ष्यादि। उभयमतेऽपि (B)[1]द्वितीयप्रतिपन्नव्यक्तिसंसर्ग एव[1]॰ व्यभिचारं दर्शयति—अनन्वित इति।

बोधकत्वेन शब्दो निमित्तम्, नैमित्तिकन्तु ज्ञानम्, तद्विषयतया अर्थोऽपि नैमित्तिकः। ईदृशनिमित्तनैमित्तिकभावादेव निमित्तस्य शब्दस्य नैमित्तिकव्यङ्ग्यार्थवाचकत्वसिद्धिरिति भट्टलुटादीनां मतमाह—यदपीति। 'निमित्तानि' शब्दा इत्यर्थः।

(A) उपसंहरति—अनन्वित इत्यादि। अभिहितान्वयवादिमते अनन्वितो गवादि 'अर्थ' पदादिप्रतिपाद्य, अन्विताभिधानवादिमते पदार्थान्तरमात्रेण क्रियात्वादिसामान्यरूपेण उपस्थितेनानयनादिभि अन्वितः सम्बन्धत्वादिना सामान्यरूपेण उपस्थितकर्मत्वादिविशिष्टगवादि, अर्थ इति लक्ष्यते। अन्वितविशेषस्त्विति, अन्वित सम्बन्धयुक्त, एतदभिप्रायेण अभिहितान्वयमतेऽवाच्यत्वम्, विशेष तत्तद्गवादिरूप, एतदभिप्रायेण अन्विताभिधानमतेऽवाच्यत्वम्, सामान्यरूपेण सङ्केतग्रहस्य तत्सिद्धान्तत्वात्। अन्वयविशेषसहितव्यक्तिविशेष इत्यर्थकत्वे तु तद्विशेषानुसरणापेक्षाऽपि नास्तीति बोध्यम्, अवाच्य सङ्केतग्रहाविषय इत्यर्थः। तथाच कर्मत्वाद्यभिहित सङ्केतग्रहकालादृष्टो गवादि उभयमते नाभिधाया विषय इति हेतो॰ वाक्यार्थ॰ वाक्यप्रतिपाद्योऽन्वितगवादि अपदार्थ पदाप्रतिपाद्य एवेति लक्षणाऽप्रयोज्या शाब्दबोधविषयता अभिधाप्रयोज्यैवेति नियमे व्यभिचार स्फुट इति भाव।

(B) द्वितीयेति, शक्तिग्रहात् परं आसत्तिसहकारिकालवर्तिशाब्दबोधविषयीभूतगवादिव्यक्त्यन्तरे तत्संसर्गे चेत्यर्थः। तथाच तादृशबोधे शक्तिजन्यत्वरूपं साध्यं नास्ति लक्षणाऽजन्यशाब्दबोधत्वरूपोहेतुस्तु वर्तत इति व्यभिचार इति भाव। रसादिविषय अभिधाप्रयोज्यविषयताश्रय लक्षणाऽप्रयोज्यशाब्दबोधीयविषयतावत्त्वादिति प्रयोगे तु गवादिव्यक्त्यन्तरे तत्संसर्गे वा अभिधाप्रयोज्यविषयताख्यं साध्यं नास्ति हेतुस्तु वर्तत इति यथाश्रुतमेव सम्यगिति बोध्यम्।

---

1. 'द्वितीयप्रतिपन्नव्यक्तीनां संसर्गे' ख, 'द्वितीयव्यक्तिसंसर्ग एव' ग।

(४)इति, तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा ? शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्वम्, ज्ञापकत्वं तु अज्ञातस्य कथम् ? ज्ञातत्वं च सङ्केतेनैव

प्रकाशकत्वादिति, न च स्वजन्यज्ञानस्य जनके प्रकाशके च शब्द इति शब्दे व्यभिचारः, प्रकाशकमात्रत्वादिति करणे तु मध्यपदेन कारकत्वव्यवच्छेदे साध्याविशेष इति वाच्यम्, प्रकाश[illegible]व्यतिरेकव्याप्तिमत्त्वादिति तदर्थः। अज्ञातस्येति, न च ज्ञातस्यैव शब्दस्य निमित्तस्य तेषामुक्तत्व इति तत्र कथमिदमुक्तमिति वाच्यम्, 'शक्तिज्ञानसम्बन्धेन तदर्थे सम्बन्धितयाऽज्ञातस्येत्यर्थात्'[१]। सङ्केतेनैवेति इत्यादिकः

---

(४) निमित्तानि कल्प्यन्ते इति। अत्रोक्तं प्रदीप उद्योतकृता—"यदपि नैमित्तिकाद्ये शब्द[illegible] यथार्थं प्रतीयते तत्र सर्वत्रापि शब्द एव निमित्तम्, अतो नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि कल्प्यन्ते इति, तदयुक्तम्, शब्दस्य हेतौ निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा। न प्रथमम्, शब्दस्य[illegible]त्वात्। अत्र द्वितीयमुच्यते, तत्र तु सङ्केतस्य [illegible] ज्ञातस्य वा ज्ञापकत्वेऽभिमतत्वात्। न चान्यविशेष सङ्केतग्रहः। अपि तु विशेष एव सङ्केतग्रह इति चेत् [illegible] सङ्केतोप-स्थितिर्वाच्या। तत्र च यत्र सङ्केतग्रहे सम्बन्धस्थितिः, अन्यत्र तदुपस्थितौ सङ्केतग्रह इत्यन्योन्याश्रयात्। तस्मान्नैमित्तिकानुरोधेन निमित्तानि [illegible] इत्यभिप्रायेणाभिधानम्"। व्याख्यातमिदमुद्द्योते "[illegible]नेति, इत्यवयवसहकृतेनैव अनुमानेन [illegible]-[illegible]के इत्यर्थः। [illegible] सत्त्वा एवाकाङ्क्षा[illegible]मिह, अतिप्रसङ्गस्तु [illegible]रिति भावः" इति।

अत्र नैमित्तिकानुसारेण [illegible]ानुसारेण निमित्तानि कल्प्यानि कल्प्यन्ते इत्यर्थः, तथाच विशेष[illegible] [illegible] बुद्धौ [illegible] [illegible], तत्र [illegible] [illegible] तत्र एव [illegible]। न [illegible] [illegible] [illegible] इति वाच्यम्, [illegible] प्रतीयते [illegible] तेषां [illegible]। विशेषतो [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-[illegible]। [illegible] 'शब्द इति चेत्तत' [illegible] [illegible] प्रतिपादितमेव। [illegible] च [illegible] चेत्, अस्तु नाम [illegible] [illegible],

---

१ '[illegible] [illegible]'[illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] 'अनु देव (अनुदेवि तु 'अनुदेव') [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

स चान्वितमात्रे, एवं च 'निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं'[1] यावन्न निश्चितं तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम् (A)।

ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः

'कार्यादिने'वेत्यर्थः। स चेति 'स' (B)सङ्केतग्राहकः। 'अन्वितमात्रे', प्रथमप्रतीतान्वितमात्रे, न तु द्वितीयप्रतीते तदन्वितकमेव स्तुमित्याद्रिके। एवञ्चेति। नियतनिमित्तत्वम्, शक्तिरूपसम्बन्धेन नियतार्थं प्रति यथोक्तनिमित्तत्वमित्यर्थः।

व्यङ्ग्यार्थेऽप्यभिधेयार्थबोधिकामभिधामेव व्यापारं दृष्टान्तेन साधयतां मतमाह—ये त्विति। अत्र मते एकलक्ष्यभेदनार्थं प्रतिसंहितेषुवेगो यथा तल्लक्ष्यं भित्वा लक्ष्यान्तरभेदनार्थमप्रतिसंहितोऽपि सन् दीर्घतरीभूय लक्ष्यान्तरमपि भिनत्ति तथा एकैव अभिधा जाता सती वाच्यार्थं बोधयित्वा व्यङ्ग्यार्थं प्रति क्रमादीर्घ दीर्घतरीभूता तमर्थं बोधयन्त्यतो न शक्तिग्राहककोशाद्यपेक्षेत्यतो न पूर्वोक्तदोषावकाश इति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' इत्यस्यार्थः।

रसादिप्रतीतौ तत्कल्पना तु नानुमन्यते, तत्र अभिधाव्यञ्जनयोर्वैलक्षण्यमलङ्कारादावपव्यस्य [illegible]पञ्चदर्शेन कार्यवैलक्षण्येन विलक्षणकारणत्वस्य व्यञ्जनाया स्वीकारसम्भवादिति युक्तमुत्पश्याम।

(A) एतत्सम्बन्धे निर्गलितोऽर्थो विवरणकारैरुक्तः—'अस्मत्सिद्धान्तानुसारं व्यङ्ग्योपस्थितौ शब्दस्य ज्ञापकत्वरूपं निमित्तत्वमस्माकमपि सम्मतम्। तत्र नास्माकं विवादः। परं [illegible] व्यञ्जनाया अस्वीकारे तन्न सम्भवति; शब्दस्यार्थनिमित्तत्वं हि व्यापारसापेक्षमेव नियतम्; यथा वाच्यार्थलक्ष्यार्थयोरभिधालक्षणे व्यापारौ, तथा इहापि कोऽपि व्यापारोऽवश्यमङ्गीकार्यः, अन्यथा हि शब्दस्य निमित्तत्वानिश्चयेन नैमित्तिको व्यङ्ग्यार्थ इत्येव भवदभिमतोऽपि न सिध्यति, यदि तु व्यापारं विनाऽपि शब्दस्य निमित्तत्वं स्यात्, तदा अभिधालक्षणे अपि व्यर्थलाङ्गूली स्यातामित्यस्माभिरुच्यते, इत्यभिप्रायमबुद्ध्वाऽभिधानमविचारितरम्यमेव' इति।

(B) अज्ञातस्य अर्थात् अश्रुतस्य श्रुतस्यापि योऽयं गौरिति शक्तिमित्यादिरूपेण तत्तदर्थशक्तिमत्तया अज्ञातस्य गवादिशब्दस्य साधारणमदृष्टादिवज्ज्ञापकत्वम् अतिप्रसङ्गान्न सम्भवति, अत तत्तदर्थशक्तिमत्तया ज्ञातस्यैव शब्दस्य ज्ञापकत्वं वाच्यम्, शब्दस्य शक्तिमत्त्वज्ञानन्तु न

---

1. 'निमित्तस्य नियतत्वं' इति क्वचित् पुस्तके पाठः। 2 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति साहित्यदर्पणे विशेषः। 3 'कोषादिव्यापारैर्वा' क, 'कोषकारादिव्यापारैर्वा' ख।

इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति च विधिरेवात्र वाच्य (A)इति,

---

ननु व्यङ्ग्यस्य तादृगभिधावाच्यत्वे किं प्रमाणमित्यत आह यत्पर इति। 'यत्परः' यत्तात्पर्यकः शब्दः, स तच्छब्दस्य वाच्यार्थ एव इत्येतदर्थकम् इदमभियुक्तवाक्यमेव प्रमाणमित्यर्थः। निःशेष इत्यादौ तदन्तिकगमनविधौ तात्पर्यात् स एवार्थो वाच्य

प्रत्यक्षरूपं शक्तेरतीन्द्रियत्वादत्र सङ्केतस्य तत्र हेतुत्वं नास्तीत्यत्र सङ्केतस्यैवेति मूलोक्तं तद्ग्राहकपरतया व्याचष्टे—सङ्केतग्राहक इति, व्यवहार इति स्पष्टबलप्रत्ययम्। तदुक्तम्—"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥" इति।

(A) भट्टमतोपजीविनां भट्टलोल्लटादीनामभिमतोऽयं पक्षः। तेषामभिप्रायः प्रदीपे स्फुटः। *तथा हि—अत्र सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति यत्परः शब्दः स शब्दार्थ* इति च 'निःशेष' इत्यादौ विधिरेव वाच्य, इति भट्टमतोपजीविनः। अस्यार्थः—यथा बलवता प्रेरित इषुरेकेनैव वेगाख्येन व्यापारेण वर्मच्छेदम् उरोभेदं प्राणहरणं च रिपोर्विधत्ते, तथैक एव शब्द एकेनैवाभिधाख्यव्यापारेण पदार्थस्मृतिं वाक्यार्थानुभवं व्यङ्ग्यप्रतीतिं च विधत्ते। अतो व्यङ्ग्यस्याभिमतस्यार्थस्य वाच्यत्वमेव। किञ्च यत्र शब्दस्य तात्पर्यं स शब्दार्थ इति 'निःशेष' इत्यादौ तात्पर्यविषयतया विधिर्वाच्य एवेति। ते तात्पर्यवादोक्तमतात्पर्यमजानन्तः पराः। यद्वा तत्पदार्थविन्यासोपस्थापित एव हि तात्पर्यमुच्यते न प्रतीतिमात्रे। तथा हि—भूतभव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यत इति सिद्धान्तः।

अस्यार्थः—भूतं सिद्धम्। भव्यं साध्यम्। तयोः समभिव्याहारे भूतं सिद्धं भव्याय साध्यायोपदिश्यत इति। कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः सिद्धा अपि प्रधानक्रियानुकूलया सामग्रीभूतया स्वक्रियया योगात् साध्यायमानतामाप्नुवन्ति स्वरूपेण सिद्धा अपि साध्यक्रियाविशिष्टतया साध्या इव भवन्ति। ततश्च यथा दध्नेत्यादावपरत्र दध्यते न तु दधमपि तथा यावदेवाप्राप्तं तावदेव शब्देन विधीयते न तु प्राप्तमपि। यथा ऋत्विक्प्रचरणेऽन्यतः प्राप्ते 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यनेन लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधीयते, न तु ऋत्विक्प्रचरणम्, उष्णीषस्यापि प्राप्तौ तु लौहित्यमात्रम्, एवमन्यत्रान्यतः सिद्धौ च 'दध्ना जुहोति' इत्यनेन दध्नः करणत्वं न ॥ दधि हवनं वा। एवं 'रक्तं पटं वय' इत्यादौ रक्तत्वपटवयनानां मध्ये एकस्य द्वयोस्त्रयाणां वाऽसिद्धावेकविधि-द्विविधि-त्रिविधयः। ततश्च यावदेव विधेयं तावत्येव तात्पर्यम्। विधेयं च शब्दोपात्तमेवेति सूक्तं 'शब्दोपात्त एव तात्पर्यम्' इति। यदि च प्रतीतिमात्रे तात्पर्यं तदा 'पूर्वो धावति' इत्यादौ पूर्वाभिधान-संनिहितविषयतया प्रतीतेऽपरार्थेऽपि कदाचित् तात्पर्यं स्यात्। ननु तदा स्वार्थविपर्यासोपस्थापित एव तात्पर्यमिति न व्याप्तिः। विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः इत्यत्र विषं भुङ्क्ष्वेति वाक्यस्य मा चेत्यादि वाक्यार्थे तात्पर्यादिति। नैवम्। यत एतदेकमेव वाक्यम्।

तेन तात्पर्यज्ञाः (A)तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रियाः। तथा हि (B)भूत-

---

एवेत्यर्थः। ते न तात्पर्यज्ञा इति समीचीन एव पाठः। अतात्पर्यज्ञा इति क्वचित् पाठे तु तदित्यव्ययं, ते इत्यर्थकम्। 'तात्पर्यवाच' यत्परः इत्यादितात्पर्यवाक्यस्य या युक्तिः विषयविभागः, तद्विषयतात्पर्यस्यानभिज्ञा इत्यर्थः। 'देवानांप्रियाः' (C)पशवः। एव्यर्थकमिदम्(D) अलुक्समस्तं पदम्। यत्परः इत्यादिवाक्यस्य 'अन्य एव विषय-विभाग इति'[1] दर्शयति—तथा हीति। (E)गामानयेति वाक्ये प्रमाणान्तरप्राप्तो यो

पदार्थस्तैकवाक्यतासूचकत्वात्, अन्यथा तद्वैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न चाऽऽकाङ्क्षावाच्यक्रियो। सामान्यतः सम्भवति, 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात् स्यात्' इति न्यायात्। अप्राप्तं चैतत्, अतो नवीनमप्यतात्पर्यमेव। अतो विषभक्षणवाक्यस्येदद्गृहभोजनमविरोधत्वात् सर्वथा मास्य गृहेऽभुङ्क्था (माऽस्य गृहे भुङ्क्था !) इति वाक्यार्थः। तथा च प्रकरणस्य यतोऽप्राप्तिर एव तात्पर्यमिति सिद्धम्। तस्मात् 'यत्परः शब्दः' इत्यादि यदुक्तं तत् तात्पर्यज्ञाभावात्।

यदपि 'सोऽयमिषोरिव' इति तदप्ययुक्तम्। यत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यावानर्थः प्रतीयते तावति सर्वत्र यदि शब्दस्याभिधैव स्यात् तदा 'पुत्रस्ते जातः' कुमारी ते गर्भिणी' इत्यादि-वाक्यानन्तरं हर्षविषादयोः प्रतीतेस्तयोरपि तद्वाक्यस्याभिधा स्यात्। अथ शब्दस्यप्रतिपाद्ये सर्वत्राभिधा, हर्षादयस्तु न शब्दस्याप्या इत्युच्यते तर्हि व्यञ्जकोऽप्यभिधैव स्यादिति व्यञ्जको-ऽक्तेः। किमिति च 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थ-विप्रकर्षात्' इति सूत्रेण भगवान् जैमिनिः श्रुत्यादिषु पूर्वबलीयस्त्वं प्रतिपादयामास। सर्वत्रैवा-भिधाप्रसङ्गे तयास्य दौर्बल्ये बीजाभावात्' इति।

(A) तात्पर्येति, तात्पर्यविषयिणी या वाचोयुक्तिः युक्तियुक्ता वागित्यर्थः तस्यास्तात्-पर्यानभिज्ञा इत्यर्थः। वाचोयुक्तिरित्यत्र समस्तपदे 'वाग्दिक्पश्यद्भ्यो युक्तिदण्डहरेषु' इत्यनेन षष्ठ्या अलुक्।

(B) भूतभव्येति। भूतभव्ययोः सिद्धसाध्ययोः समुच्चारणे समभिव्याहारे भूतं सिद्धं वस्तु भव्याय भावप्रधाननिर्देशात् साध्यत्वाय उपदिश्यते अन्यते, साध्यपरं हि विधेयाश्रये परमिति प्राचीनैः प्रयुक्तम्, तथा च सिद्धस्यैव साध्यतां बोध्यमिति भावः।

(C) पशव इति। तथा च त्रिकाण्डशेषे "वर्करस्तु कम्बकर्मठजागो वत्स शिवाप्रियः। अल्पायुर्लम्बुकश्चापि मेनादः पशमोजकः॥ परिक्रमसहो मूर्खो देवानांप्रिय इत्यपि॥" इति तथा तत्रैव "स्याद्देवानांप्रियः छागे हलको मन्दबुद्धवत्" इति।

(D) अलुगिति, 'क्वचिदन्यत्रापि' इति अलुक्सूत्रम्। 'देवानांप्रिय इति च मूर्खे' इति वार्तिकसूत्रम्।

(E) भूतभव्येत्यादिकमुदाहरणमुखेन व्याचष्टे—गामानयेति।

---

1. 'तैयात्पर्यज्ञाः' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. 'यत्परः' इत्यादौ यत्राप्य अभिधेयतात्पर्यं न तद् प्रमाणमिति' च।

भव्यसमुच्चारणे भूतं भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्थाः क्रियापदार्थेनान्वीयमानाः प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानतां प्राप्नुवन्ति। ततश्चाऽदग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्तं तावद्विधीयते, यथा—ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात् सिद्धे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति' इत्यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्रं विधेयम्, हवनस्यान्यतः सिद्धेः 'दध्ना जुहोति' इत्यादौ दध्यादेः करणत्वमात्रं विधेयम्। क्वचिदुभयविधिः।

क्वचित् त्रिविधिरपि, यथा—'रक्तं पटं वय' इत्यादौ (A)एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविधिर्वा; ततश्च 'यदेव विधेयं तत्रैव तात्पर्यम्'

'भूतं' सिद्धम्, तदीयमानयनन्तु असिद्धत्वेन 'भव्यं' साध्यम्, तदर्थं भूतो गौः 'उपदिश्यते' उच्चार्यते इत्यर्थः। नन्वेवं कथं गोरपि साध्यत्वानुभव इत्यत आह—कारकेति। 'प्रधानक्रिया' आनयनम्, तन्निष्पादिका 'स्वक्रिया' गोश्चलनम्, तत्सम्बन्धादित्यर्थः। ततश्चेति, तृणमिश्रिते भस्मराशावग्निर्यथाऽदग्धं तृणमेव दहति न भस्म, तथा सिद्धांशमपहाय असिद्धांश एव वाक्येन विधीयते इत्यर्थः। तथाच विधेयांश एव शब्दस्य [1]प्रामाण्यनियामकोऽयं इत्येतमेव यत्परः इत्यादेरर्थः[1]*, न तु व्यङ्ग्यरूपोऽर्थः शब्दस्य वाच्यार्थ इति तदर्थ इति भावः। यावदप्राप्तमिति सामान्यनिर्देशात् क्वचित् क्रिया प्राप्ता कारकमप्राप्तं तदेव विधीयते इत्युक्तम्। तदेव च उदाहरति—यथा ऋत्विगिति। यज्ञे ऋत्विजां प्रचरणं वाक्यान्तरात् प्राप्तम्, यज्ञविशेषे तु ऋत्विजां लोहितोष्णीषत्वं विधीयते इत्याह—लोहितेति। उष्णीषं शिरोवेष्टनम्, लोहितत्वमत्र कर्तृकारकविशेषणं विधेयम्। क्वचित् करणकारकस्यापि विधेयत्वमाह—हवनस्येति। द्विविधेरुदाहरणम्—पयसौदनं भोजयेदित्यूह्यम्।

त्रिविधिमाह—रक्तं पटमिति। अत्र [2]'रक्तत्वपटत्ववयनानां त्रयाणामपि विधिः'। उक्तमेवोपसंहरन्नाह—एकेति। प्रकृते यत्परः इत्यत्र तदेव योजयति—ततश्चेति। '[3]तात्पर्यं' (B)शब्दप्रामाण्यप्रयोजकमिति शेषः, न त्वनेन व्यङ्ग्यार्थे तात्पर्याभावो वर्णितः।

(A) एकविधिरिति। अत्र विधिविकल्पानामुदाहरणं रक्तं पटं वय इत्येव, तत्र रक्तपटप्राप्तौ वयनमात्रे, पटमात्रप्राप्तौ रक्तत्ववयनयोः, पटस्याप्यप्राप्तौ रक्तत्वपटवयनेषु त्रिष्वपि विधिरिति भावः।

(B) शब्दप्रामाण्यमिति। अत्रोक्तरीत्या विधेयांश एव शब्दानां तात्पर्यमिति 'न विधौ

---

1 'प्रामाण्यनियामकोऽयं इत्येव बोधितं यत्परः इत्यादिवाक्यम्' ख। 2 'रक्तपटत्वपटवयनानां' ग।
3 पयसा न पुस्तके नास्ति।

काव्यप्र—३२

इत्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यम्, न तु प्रतीतमात्रे, एवं हि 'पूर्वो धावति' इत्यादावपरार्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्।

यत्तु 'विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यम्' इत्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ इति उच्यते, तत्र चकार एकवाक्यतासूचनार्थः, न चाऽऽख्यातवाक्ययोर्द्वयोरङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणवाक्यस्य सुहृद्वाक्यत्वेनाङ्गता कल्पनीयेति

उपात्तस्यैवेति उपात्तस्य शब्दस्यार्थे यवेऽन्वय, अर्थश्च गृहीतशक्तिक एव [1]बोध्य। तात्पर्यमित्यत्र च शब्दप्रामाण्यनियामकं बोध्यम्। तादृशं[1]* तात्पर्यं व्यङ्ग्यार्थे नास्तीत्याह—न त्विति। एवमिति पूर्वत्वप्रतीतेरबाधितत्वेन [2]अपरत्वविषयकत्वात्। अत्रापि 'तात्पर्यं' शब्दप्रामाण्यनियामकम् बोध्यम्।

ननु यावता उपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिक एवार्थे[1]* प्रामाण्यनियामकं तात्पर्यं नाऽगृहीतशक्तिक इत्युक्तम्, [3]तच्च व्यभिचारि, क्वचिदुपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्[3]* इत्याशङ्क्ते—यत्तु विषमिति, अत्र यदर्थमित्यपि बोध्यम्। तथाच यत्र विषम् भुङ्क्ष्व मा चाऽस्य गृहे भुङ्क्था इति [4]वाक्ये विषभक्षणमेव गृहीतशक्तिकम्, तत्र च न तादृशं तात्पर्यम्, किन्त्वगृहीततच्छब्दशक्तिके एतद्गृहभोजनाभाव एवेत्याह—एतद्गृह इत्यादि। समाधत्ते—तत्रेति। अङ्गता कल्पनीयेति, भुङ्क्ष्व इत्यत्र भुङ्क्था इत्यत्र च आख्यातद्वयार्थत्यागेनेति भाव। तथाच वाक्यार्थ

पर शब्दार्थ' इति न्यायेन तत्राभिधैव स्वीकार्या। एतेन विधेयांशे व्यञ्जनास्वीकारेण तत्र लक्षणाहेतुन्तात्पर्यानुपपत्तिमुख्यार्थबाधादिर्नास्तीति प्रतिपादितम्। ईदृशस्थले च शक्तिग्रहप्रमात्वस्य शाब्दबोधप्रमात्वप्रयोजकत्वाभ्युपगमे प्रमात्मकशाब्दबोधकत्वतया शब्दे प्रामाण्यं निर्बाधम्। एवञ्च सर्वत्रैव तात्पर्यविषयस्याभिधेयत्वमेवेति पूर्वपक्षिणामाशये सति 'अपरार्थेऽपि क्वचित् तात्पर्यं स्यादिति वृत्तिमन्थेन तात्पर्यनियतस्याभिधेयत्वस्य फलत आपत्तिरुत्तरपक्षिभि कृता बोध्या, तथाच न प्रकृतानुपयोगित्वमिति विभावनीयम्।

1. चयमश ख-पुस्तके न दृश्यते। 2 'अपरत्वप्रत्यायाधीनत्वात्' ग। 3 'तच्च न नियत क्वचिदुपात्तशब्दस्य गृहीतशक्तिकेऽर्थेऽपि तात्पर्याभावाद् गृहीतपक्षदशक्तिक एवार्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्' ख, 'क्वचित् तदेव नास्ति, उपात्तशब्दस्य अगृहीतशक्तिकेऽप्यर्थे तादृशतात्पर्यदर्शनात्' ग। 4. 'वाक्यस्य' ख।

'विषभक्षणादपि दुष्टमेतद्गृहे भोजनमिति सर्वथा माऽस्य गृहे भुङ्क्थाः' इत्युपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यम्।

यदि च शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः, ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्; कस्माच्च लक्षणा? लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः; किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्

---

[1]रचयति—विषभक्षणादपीति। आख्यातद्वयार्थत्यागेन विषभक्षणमेतद्गृहभोजनञ्च धात्वर्थं, भव्यर्थश्च भाविस'घर'शब्दलभ्यं पञ्चम्यर्थस्तु संसर्ग, दुष्टमिति तु 'मा' शब्दार्थः, तथाच ईदृशवाक्यार्थे यत्तात्पर्यं तत् गृहीततच्छब्दशक्तिकेऽर्थ एवेति भोक्तव्य इति भावः। तादृशार्थलभ्यं पर्याप्तमर्थमाह—सर्वथेति। इत्युपात्तशब्दार्थ एवेति, उपात्तो यो विषं भुङ्क्ष्वेति शब्दस्तस्यार्थे गृहीतशक्तिके विषकर्मकभक्षणरूप एव प्रमाणनियामकं तात्पर्यम्, न त्वगृहीततच्छब्दशक्तिक इत्यतो मानियम इति भावः। यद्यपि विषभक्षणं दुष्टावधित्वेनो'पात्तमुद्देश्यमेव न तु विधेयम्'[2]। तथाऽपि साध्यान्वयित्वेन साध्यायमानत्वम् तत्रापि तादृशतात्पर्यविषयत्वमभ्युपगम्योक्तम् व्यङ्ग्यार्थे तादृशतात्पर्याभावस्यैव प्रतिपादनीयत्वात्।

अन्वेवरीत्या व्यङ्ग्यार्थोऽपि तादृशतात्पर्यविषयोऽस्तु परं गृहीततच्छब्दशक्तिकत्वं न प्रवेश्यताम्, तथाच तस्यापि यत्पर इत्यादिनोक्त शब्दवाच्यत्वमेवेत्यत आह—यदि चेति। 'कन्या ते' इत्यत्र कन्या अन्यथा '[3]यदा श्रुतगर्भा कन्या कार्षिणीति नष्टसम्पत्'। वाच्यत्वमिति, एतद्वाक्यतो हि सम्बोध्यब्राह्मणेनैव तत्तद्विहितवृत्तान्तरेणापि श्रुत', ततश्च तेन पुरुषेण तदीयहर्षशोकयोः प्रतीतत्वात् कथं न वाच्यत्वमित्यर्थः। ननु यावानर्थ '[4](A)श्रुतशब्दात् प्रतीयते इति विवक्षितम्, अत्र उदासीनजनेन तदीयहर्षशोकानुमापकलिङ्गाभ्यामेव तावनुमितावित्यत आह—कस्माच्चेति। अन्यत्र द्यापत्तिरेवेत्याह—किमिति चेति।

(A) श्रुतशब्दात् प्रतीयते इत्यस्य वाच्यतोपस्थितिविषयीक्रियते इत्यर्थः, तेनोत्तरत्र अनुमितयोः शोकहर्षयोर्न वाच्यत्वापत्तिरिति बोध्यम्।

---

1 'दमयति' ख। 2 'भोजन विष एव' क। 3 ... कपुस्तके नास्ति। 4 'श्रुते'ति क-ख पुस्तकयोर्नास्ति।

इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि (A)सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् ।

(B)'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति । (जैमिनिसूत्रम् अ० ३, पा० ३, सू० १४)

तत्र च—

श्रुतिर्द्वितीया क्षमता च लिङ्गं वाक्यं पदान्येव तु संहतानि ।
सा प्रक्रिया या कथमित्यपेक्षा स्थानं क्रमो योगबलं समाख्या ॥

इति श्रुत्यादिपदार्थविवरणम् । अत्र च द्वितीया द्वितीयान्तं पदम् । सूत्रे समवाय इत्यत्र विरोध इत्यर्थः, पारदौर्बल्यमित्यत्र च परं परं दुर्बलमित्यर्थः । अत्र हेतुमाह—अर्थविप्रकर्षादिति । पूर्वपूर्वापेक्षया विलम्बेनार्थोपस्थापकत्वादित्यर्थः । शीघ्रोपस्थापकं पूर्वपूर्वमेव बलीय इत्यर्थः । (C)तदेव किमितीत्यर्थः । तथाच "ऐन्द्र्या ऋचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते"ति श्रुतौ द्वितीयान्तं गार्हपत्यपदं शक्त्या वह्निरूपस्थापकम्, ऐन्द्र्या ऋच (D)क्षमता च गार्हपत्यपदे इन्द्रलक्षणया इन्द्रोपस्थापिकेति किमिन्द्रमग्निं वा उपतिष्ठेतेति विरोधे द्वितीयान्तं गार्हपत्यपदं शक्त्या वह्नेः शीघ्रोपस्थापकं बलवत्, [1]न तु लक्षणया मुख्यार्थबाधाद्युपस्थितिविलम्बेन इन्द्रोपस्थापिका

(A) सिद्धं व्यङ्ग्यत्वमिति । तथाच श्रुतिलिङ्गेत्यादियुक्त्या सोमेन यजेत इत्यादिवत् कश्चिद्भ्रमाया अवश्यमङ्गीकरणीयत्वेन दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारकल्पनस्य युक्तितिरस्कृतत्वाद् व्यङ्ग्यार्थानां सङ्केतितत्वमनादीनां रसादीनाञ्च अनुभवसिद्धाया प्रतीतेरन्यथोपपादयितुमशक्यत्वाद् व्यञ्जनावृत्तिरवश्यमङ्गीकार्येति निष्कर्षः ।

(B) प्रदीपकारास्तु "सूत्रं तु प्रकृतार्थविच्छेदकत्वेऽपि बहूपकारकत्वादुपयुक्तत्वाच्च व्याक्रियते । श्रुतिलिङ्गादय षडिह विनियोजकाः । तत्र विरुद्धयोरेकत्रोपनिपाते समुच्चयो न सम्भवतीत्येकेनापरस्य बाधो वक्तव्यः । [illegible] च बलवता दुर्बलस्येति स्थिते दौर्बल्यप्रतिपादकं सूत्रं श्रुतिलिङ्गेत्यादि । अस्यार्थः श्रुत्यादीनां समवाये एकत्रोपनिपाते तेषां मध्ये यदपेक्षया यत् परं तदपेक्षया तद्दुर्बलम् । कुतः ? अर्थविप्रकर्षात् पूर्वापेक्षया विलम्बेनार्थप्रत्यायकत्वादि'ति सूत्रं व्याख्याय श्रुत्यादिशब्दानामर्थान् तद्विरोधोदाहरणान्यपि च प्रदर्शितवन्तः । बाहुल्यभयात्तु तदुपन्यासो नोद्भाव्यते अनुसन्धित्सुभिस्तत्रैव द्रष्टव्यम् इति ।

(C) तदेवेति । वृत्तिस्थ 'किमिति' इत्यंशोऽत्र योजित इति बोध्यम् ।

(D) क्षमता लिङ्गं तच्च इन्द्रप्रकाशनसामर्थ्यरूपमिति प्रदीपे स्पष्टम् ।

---

1. 'लक्षणया विलम्बेन इन्द्रोपस्थापिकाया ऋचः क्षमता तु दुर्बला' क, 'न तु लक्षणया विलम्बोपस्थापिका क्षमता' ख ।

किञ्च 'कुरु रुचिम्' इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथं दुष्टत्वम् ? न ह्यत्रासभ्योऽर्थः पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि अपरित्याज्यं स्यात्।

यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्, न चानुपपन्नम्, सर्वस्यैव विभक्त

समता[1]' इत्युक्तम्। इत्थमङ्गीकारे तु इन्द्रस्यापि 'गवत्वादिहिरम्बेन उपस्थितय भावात्[1]' किमिति द्वितीयान्तस्य पूर्वान्तस्य बलीयस्त्वमित्यर्थः। विधेरपीति यदन्विकगमनविरहपीत्यर्थ।

ननु अभिधाया एव दीपनस्य दीपनत्वश्चेति हैविध्यम्, तथाच ...तरीभावनैव [2]'लक्ष्यार्थोपस्थापनात् किमन्य एव यत आह—किञ्चेति। वपरीत्ये रुचिकुर्विन्येव प्रयोगे। कथं दुष्टत्वमिति पदद्वयोच्चारणदशायां चिद्रु शब्दश्रुतौ तस्य स्वानुभवात् व्यञ्जकत्वेनैव हि दुष्टत्वम् व्यञ्जनाभावे तु कथं तद् दुष्टं स्यादित्यर्थः। ननु दीपितरीभूताभिधया तदुपस्थापनादष्टत्वं स्यादित्यत आह—न ह्यत्रेति। (A)असभ्य चिद्रुशब्दार्थ, शब्दलक्ष्यार्थयोरर्थान्तरपदार्थान्तरान्वितत्वनियमादिति भावः। 'अपरित्याज्यं (B)दुष्टत्वेन अहेयम्।

ननु दीपितरीभूताभिधायस्थापिनायस्य [3]'पदार्थान्तरान्वितत्वनियमो न घान्य इत्यत आह—यदि चेति। नित्यत्वमत्र सार्वत्रिकत्वम्, अनित्यत्वं कादाचित्कत्वम्। अनुपपन्नं स्यादिति श्रुतिकटुत्वादीनां हि श्रोतृगुणव्यञ्जनया अनाश्रयिनि शृङ्गारादौ दुष्टत्वम् आश्रयिनि वीरादौ तु अदुष्टत्वम्, व्यञ्जनाभावे तदनुपपन्नं स्यादित्यर्थः। न च दीपितयाभिधयैव तदुपस्थापनादुपपत्तिरिति वाच्यं निरुक्तरूपस्य

(A) असभ्य इत्यत्र ग-पुस्तके 'अशक्य' इति पाठः दृश्यते स च वृत्तावपि 'असभ्य' इत्यत्र 'अशक्य' इति पाठान्तरं सूचयति। तस्य च शक्याऽनुपस्थाप्य इत्यर्थः अपभ्रंशादेरन्वयादिस्वमङ्गेऽनङ्गीकारादित्यभिप्रायः। असभ्य इत्यस्य च समार्थगमनात्, दुष्ट अश्लील इत्यर्थः। चिद्रुशब्दार्थ इति विवरणं च असभ्यार्थ इति समुचितमेवेति बोध्यम्।

(B) दुष्टत्वेनेति इदं हेयमित्यस्यार्थे हेतुत्वेनान्वितम्, तथाच दुष्टत्वेन हेयं न स्यादित्यर्थः।

1 'भवत्र योषोपस्थितौ' ख। 2 'लक्ष्यार्थोपस्थापनात्' क-ग। 3 'पदार्थनियम' क-ग।

तया प्रतिभासाद् वाच्यवाचकभावव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकताश्रयणे तु व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था ।

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः' इत्यादौ पिनाक्यादिपदवैलक्षण्येन किमिति कपाल्यादिपदानां काव्यानुगुणत्वम् ?

अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ । न हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ वाच्योऽर्थः क्वचिदन्यथा भवति । प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरण वक्तृ-प्रतिपत्त्रादि-

---

धोजेरुभस्य वीरादौ प्रतीतेरानुभविकत्वेन अभिधायास्तादृशोपस्थापकत्वाभावात् । अन्येव व्यञ्जनाया अपि कथं तादृशोपस्थापकत्वमित्यत आह—वाच्यवाचकेति । बहुविधत्वादिति, क्वचित् सधर्मक एव व्यङ्ग्यार्थ उपतिष्ठते क्वचिन्निर्धर्मक इत्येवंविधबाहुल्यादित्यर्थः । ननु आतिशयिकत्वाद इव पदान्तरापि निर्विकल्पकोपस्थितिर्मेया वाच्येत्यत आह—द्वयमिति ।

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी(A) ॥

इति पार्वत्यां महेशानिन्दाश्लोके कपालधारित्वेन महेशनिन्दा व्यज्यते, अतस्तत्र कपालिपदस्यानुगुण्यम्, व्यञ्जनाभावे तु किमिति तस्यानुगुण्यमित्यर्थः ।

ननु न दूषणमेतत्, व्यञ्जनास्थानीयत्वादेव दीर्घतरीभूताभिधाया इत्यत आह—अपि चेति । तत्तत्प्रकरणवक्त्रिति, तथा च सर्वप्रतिपत्तृष्वेकविधार्थबोधकत्वमभिधायाः, व्यञ्जनायास्तु नानाप्रतिपत्तृषु नानाविधार्थबोधकत्वमिति वैलक्षण्यमेव भेदक-

---

(A) पद्यमिदं क-पुस्तके उद्धृतं न दृश्यते । वृत्तौ पद्यस्य पूर्वार्धस्य द्वितीयार्धयोजनया टीकाकृता अन्येन वा सम्पूर्णता व्यधायीति निश्चेतुमसमर्थैरस्माभिः ख-ग-पुस्तकानुसारेण मुद्रितम् ।

विशेषसहायतया नानात्वं भजते। [1]तथा हि 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यतः सपत्नं प्रत्यवस्कन्दनावसर इति, अभिसरणमुपक्रम्यतामिति, प्राप्त-प्रायस्ते प्रेयानिति, कर्मकरणान्निवर्तामहे इति, सान्ध्यो विधिरुप-क्रम्यतामिति, दूरं मा गा इति, सुरभयो गृहं प्रवेश्यन्तामिति, संतापोऽधुना न भवतीति, विक्रेयवस्तूनि संह्रियन्तामिति, नागतो ऽद्यापि प्रेयानित्यादिरनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थः तत्र तत्र प्रतिभाति।

वाच्यव्यङ्ग्ययोः निःशेषेत्यादौ निषेधविध्यात्मना,
मात्सर्यमुत्सार्य विचार्य कार्यमार्याः समर्यादमुदाहरन्तु।
सेव्या नितम्बाः किमु भूधराणामुत स्मरस्मेरविलासिनीनाम् ॥१३३॥

इत्यादौ संशय-शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयरूपेण

मित्यर्थः। प्रकरणादिभेदात्तु तत्तत्प्रतिपत्तॄणां नानाविधार्थान् दर्शयति—तथा हीति। सपत्नं प्रतीति। 'अवस्कन्दनम्' आक्रमणम्, अत्र कूटयोधी प्रतिपत्ता। अभिसरणमित्यत्र अभिसारिका, प्राप्तप्राय इत्यत्र विरहोत्कण्ठिता, कर्मकरणादित्यत्र भृतका, सान्ध्य इत्यत्र ब्राह्मणा, दूरमित्यत्र पथिका, सुरभय इत्यत्र गोरक्षका, सन्ताप इत्यत्रातपक्लान्ता, विक्रेयेत्यत्र विक्रेतारः, नागत इत्यत्र प्रोषितभर्तृकाश्च प्रतिपत्तारः। अत्राभिधयैव गृहीतया बोध्यते सर्वप्रतिपत्तृषु एकार्थो बोध्यते तथैव अगृहीतया दीर्घतरीभूतया बोधने तु तत्तत्प्रकरणादिमाहात्म्येन तत्र तत्र तथाविधा अर्था बोध्यन्त इत्यत आह—वाच्यव्यङ्ग्ययोरिति। निःशेषेत्यादौ वाच्यव्यङ्ग्ययोर्निषेधविध्यात्मना स्वरूपस्य भेदेऽपि यथैकत्वमिति दूरतरेणान्वयः। तदन्तिकगमनागमने निषेधविधी वाच्यव्यङ्ग्यौ विरोधिस्वरूपौ[2]। मात्सर्यमित्यादि। समर्यादमित्यनेन मर्यादया उक्तिक्रमो नापेक्षणीय इति सूचितम्। इत्यादौ संशयेति, संशयश्च शान्तशृङ्गार्यन्यतरगतनिश्चयश्चेति द्वन्द्वः, तद्रूपेण वाच्यव्यङ्ग्ययोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। अत्र 'किम्' पदार्थः संशयो वाच्यः, भूधरनितम्बा एव सेव्याः स्त्रीनितम्बा सेव्या इति वा शान्तशृङ्गारिविकल्पभेदेन तदीयनिश्चयश्च व्यङ्ग्य इति एतावपि विरोधिस्वरूपौ

---

1. 'तथाच' इति मुद्रितपुस्तकेषु पाठः। 2. अत एव क-पुस्तके 'विरुद्धत्वबोधकत्वादभिधाव्यञ्जनयोर्भेदोऽपीतरथं' इत्यधिकं दृश्यते।

"कथमवनिप दर्पो यन्निशातासिधारा-
दलनगलितमूर्ध्नां विद्विषां स्वीकृता श्रीः ।
ननु तव निहतारेरप्यसौ किं न नीता
त्रिदिवमपगताङ्गैर्वल्लभा कीर्तिरेभिः ॥ १३४ ॥

इत्यादौ निन्दास्तुतिवपुषा स्वरूपस्य, पूर्वपश्चाद्भावेन प्रतीतेः कालस्य, शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन च आश्रयस्य, शब्दानुशासनज्ञानेन प्रकरणादिसहायप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन चावगम इति निमित्तस्य, बोद्धृमात्रविदग्ध(A)व्यप-

भेदकौ। अत्र च संशये सशयेनेति च पाठौ प्रामादिकौ। कथमवनिपेति। हे अवनिप निशातेत्यादयुक्तानां विद्विषां श्रीस्त्वया स्वीकृता इत्यत्र कथं दर्पः ? दर्पाभावे हेतुमाह—नन्विति। साङ्गस्य विहतारेरपि तव वल्लभा कीर्ति अपगताङ्गैरपि तैः त्रिदिवं किं नीता न? अपि तु नीतैव इत्यतस्तुल्यधिनिमये कथं दर्प इत्यर्थः। निशातया असिधारया यद् दलनं छेदनं तेन गलितमूर्ध्नामिति विग्रहः। इत्यादौ निन्दास्तुतीति, अत्र निन्दास्तुतिपदद्वयं निन्द्यतास्तुत्यताप्रयोजककार्यपरम्, निन्दाया अत्रावाच्यत्वात्, शब्दादिमिकाया 'स्तुतेरव्यङ्ग्यत्वात्। तथाच अयुक्तत्या-दर्पप्रश्नो वाच्यो निन्दाप्रयोजकः, स्वर्गपर्यन्तगामिनी ते कीर्तिरिति व्यङ्ग्यार्थश्च स्तुत्यताप्रयोजकः। एतावन्यर्थौ स्वप्रयोज्ययोर्विरुद्धयोर्निन्दास्तुत्योः सम्बन्धा-द्विरुद्धौ, तयोः स्वरूपस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। पूर्वपश्चादिति पूर्वं वाच्यार्थप्रतीतिः पश्चाच्च व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिरिति स्वजन्यप्रतीतेः कालस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्देति, अभिधा शब्दमात्रवृत्तिः व्यञ्जना तु शब्दतदेकदेशप्रकृत्यादिवृत्तिरित्याश्रयस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्दानुशासनेति, अभिधेयस्य शब्दानुशासनज्ञानेनावगमः, व्यङ्ग्यस्य प्रकरणादिसहितप्रतिभानैर्मल्यसहितेन तेन शब्दानुशासनज्ञानेनावगम इति स्वजन्यप्रतीतिनिमित्तस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। शब्दानुशासनस्य व्यञ्जकवाच्यार्थ-

(A) व्यपदेश्ययोरित्यत्र व्यपदेशयोरिति पाठे वाच्येनार्थेन प्रतिपत्ता बोद्धा इति व्यपदेशो व्यवहारस्तन्मात्रं भवति व्यङ्ग्येन तु विदग्धः सहृदयः रसिक इति व्यपदेश इति कार्यभेद इत्यर्थो बोध्यः।

१. क-पुस्तके 'दर्पेऽनया' पर 'श्रीमत्यात्वेन' स्थापित हुआ।

देश्ययोः प्रतीतिमात्रचमत्कृत्योश्च करणात् कार्यस्य, गतोऽस्तमर्क इत्यादौ प्रदर्शितनयेन संख्यायाः,—

"कस्स व ण होइ रोसो दट्ठूण पियाइ सव्वणं अहरं।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एण्हि(A) ॥ १३५ ॥

बोधकत्वात् व्यङ्ग्यबोधे तदपेक्षा। बोद्धृमात्रेति, अभिधया (B)सर्वबोद्धॄणामेव प्रतीतिमात्रम्, व्यञ्जनया तु विदग्धव्यपदेश्यचमत्कृतिरप्यधिका जन्यते इति स्वकार्यस्य भेदेऽपीत्यन्वयः। इत्यपदेश्यत्वपर्यन्तानुधावनम् उत्कृष्टतल्लाभाय तस्यैव चमत्कृते। संख्याया इति, स्वबोध्यसख्याया इत्यर्थः। न चेद् पुनरुक्तमिति वाच्यं प्रतिपत्तृभेदेन विभिन्नार्थबोधकत्वस्यैव प्रागुक्तत्वात् तत्र स्वबोध्यसख्यानभिधानात्। कस्स ण वेति

कस्य न वा भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि (C)वारितवामे सहस्वेदानीम्॥ इति संस्कृतम्

(A) कस्स वेति। यद्यपि मधुमतीकारेण 'कस्स ण व' इति पाठो ग्रहीतुमुचितस्तथाऽपि प्रामाणिकत्वबोधेन ध्वन्यालोकस्थ एव गृहीतः। अस्याभिनवगुप्ताचार्यकृत व्याख्यानम्— कस्य वेति, अमीर्ष्यालोरपि। सभ्रमरपद्माघ्रायिणि, शील हि कथंचिदपि वारयितुं न शक्यम्। सहस्वेदानीम् उपालम्भपरम्परामित्यर्थः। अत्राय भाव —काचिदविनीता कुतश्चित् खण्डिताधरा तन्निमित्तमविधाने भर्तरि तमनवलोकयमानयेव कयाचिद्विदग्धसख्या तद्वाच्यतापरिहारायैवमुच्यते। सहस्वेदानीमिति वाच्यमविनयवतीविषयम्। भर्तृविषयं तु अपराधो नास्तीत्यावेद्यमानं व्यङ्ग्यम्। तस्या च प्रियतमेन गाढमुपालभ्यमानायाः तद्व्यलीकशङ्कितप्रातिवेश्मिकलोकविषयं चाविनयप्रच्छादनेन प्रत्यायनं व्यङ्ग्यम्। तत्सपत्न्या च तदुपालम्भतदविनयप्रहृष्टायाः सौभाग्यातिशयख्यापनं 'प्रियायाः' इति शब्दबलादिति सपत्नीविषयं व्यङ्ग्यम्। सपत्नीमध्ये इयत् खलीकृताऽस्मीति लाघवमात्मनि ग्रहीतुं न युक्तम्, प्रत्युतायं बहुमानः, सहस्व शोभमेदानीमिति सखीविषयं सौभाग्यप्रख्यापनं व्यङ्ग्यम्। अद्येयं तव प्रच्छन्नानुरागिणी हृदयवल्लभेत्थं रक्षिता पुनः प्रकटदन्तदंशनविधिर्न विधेय इति तच्चौर्यकामुकविषयसंबोधनं व्यङ्ग्यम्। इत्थं मयैतदपह्नुतमिति स्ववैदग्ध्यख्यापनं तटस्थविदग्धलोकविषयं व्यङ्ग्यमिति।

(B) तथाच, वृत्तौ बोद्धृमात्रेत्यत्र मात्रपदं साकल्यार्थकम्, प्रतीतिमात्रेत्यत्र तु अवधारणार्थकमित्यभिप्रायः।

(C) 'वारिताऽपि सभ्रमरपद्माघ्राणे निषिद्धाऽपि वामा प्रतिकूला' इत्युदाहरणचन्द्रिकाकारः।

व्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थः (A)स्वशब्दानभिधेयः प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति ।

ननु 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' इति

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम्'

इति (B),

'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं पराम्'

इत्यादौ, (C)लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्वं भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च

व्यापारस्य गम्यः स्यादित्यर्थः । 'स्वरूपे' वाच्यतास्वरूपे । 'विश्राम्यति' तिष्ठति, पुनरपि वाच्य एव स्यादित्यर्थः । 'अतात्पर्यभूतः' शक्तिग्राहकपुरुषतात्पर्याविषयीभूतः । न च तत्र वाच्यस्याभिधया पुनर्बोधः, किन्तु स्मरणमेवेति वाच्यम्, एवं सति वाच्यार्थस्मरणकाले अभिधाविरामे नाभिधा रसबोधिका, तथाच रसबोधनार्थं व्यञ्जनास्वीकारध्रौव्ये इषुव्यापारदृष्टान्तेनाभिधाया दीर्घतरत्ववाद पराहत एवेति भावः ।

व्यङ्ग्यार्थे लक्ष्यार्थसाधर्म्यात् लक्षणीयत्वमल्पबुद्धिराशङ्कते—नन्विति । 'रामोऽस्मी'त्यत्र दुःखसहिष्णुरूपो लक्ष्यार्थः, 'रामेणे'त्यत्र निःस्नेहरूपः, 'रामोऽसौ भुवनेष्वि'त्यत्र तु तन्नाम्ना ख्यातरूपः । विशेषव्यपदेशेति, काव्यस्य गम्भ-

---

(A) स्वशब्दानभिधेय इति । रसादिपदस्याभिधायकस्य सत्त्वेऽपि व्यञ्जनया प्रतीतिदशायामेव चमत्कारानुभवात्, अभिधया बोधने प्रत्युत वैरस्यापातेन तत्र दोष एवेति वक्ष्यमाणत्वाच्च अत्र स्वशब्दानभिधेयत्वमुक्तमिति बोध्यम् ।

(B) रामेणेति ।

प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥

इति सम्पूर्णः श्लोकः ।

(C) अत्र रामोऽस्मि सर्वं सहे इत्यत्र सर्वदुःखभाजनत्वम्, रामेण प्रियजीवितेनेत्यत्र कातरत्वम्, रामोऽसौ भुवनेष्वित्यत्र [illegible] च लक्ष्यते इति प्रदीपकाराणामाशङ्काग्रन्थः ।

भवति; तदवगमश्च शब्दार्थायत्तः प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽयं नूतनः प्रतीयमानो नाम ?

उच्यते—मुख्यगौणलक्ष्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव। न खलु मुख्येनार्थेन (A)अनियतसम्बन्धो लक्षयितुं शक्यते; (B)प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशेन नियतसम्बन्धः अनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते।

न च—

"अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअहए पलोएहि।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि॥(C)॥१३६॥

शक्युत्थार्थशक्युत्थत्वादिव्यपदेशहेतुर्यथा अगूढार्थस्तथा अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यलक्षणामूलत्वादिविशेषव्यपदेशहेतुर्लक्ष्यार्थोऽपीत्यर्थः[1]। अनेकार्थशब्देति, तस्य यथा शक्यकारणगणितनियतत्वं तथा लक्ष्यार्थस्यापि उपस्थितशक्यार्थसम्बन्धिरूपं नियतत्वमित्यर्थः। न खल्विति, 'अनियतसम्बन्धः' अनियतोपस्थितशक्यसम्बन्धः। प्रतीयमानस्त्विति। 'नियतसम्बन्धः' नियतोपस्थितशक्यसम्बन्धः। 'अनियतसम्बन्धः' अनियतोपस्थितशक्यसम्बन्धः। व्यङ्ग्यार्थबोधने लक्षणाहेतुर्मुख्यार्थबाधोऽपि

(A) अनियत इति अनियत सामीप्यसादृश्यवैपरीत्यादिप्रसिद्धसम्बन्धभिन्नतया कदाचित् कस्यचित् कुत्रचित् सम्बन्धो यस्य तादृशोऽर्थः न खलु लक्षयितुं शक्यते अप्रसिद्धसम्बन्ध यदि लक्षणया नेयार्थत्वदोषोऽभ्युपगमादिति भावः। एवम् उत्तरत्र नियतसम्बन्ध इत्यादौ सर्वत्र बहुव्रीहिर्बोध्यः।

(B) प्रतीयमान इति अर्थस्वरूपकथनम्, अन्यथा द्योत्यते इति विधेयैक्यात् शाब्दबोधानुपपत्तिः। यद्वा प्रतीयमानो न लक्ष्यैवम्, तथाच सः इत्यध्याहारेण प्रकरणादिवशेन नियतसम्बन्ध इत्यन्वयः।

(C) अत्तेति। पद्येऽस्मिन् 'दिअहए' इत्यत्र 'दिअसअं' इति 'मह णिमज्जहिसि' इत्यत्र च 'मइँ णमिज्जिहिसि' इति पाठो ध्वन्यालोके मुद्रितः। अभिनवगुप्ताचार्यैः—

श्वश्रूरत्र शेते (अथवा निमज्जति) अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोर्मास्त्सी॥

1 अत्र परः ङ चिह्नितपुस्तके 'शाब्दार्थान्तरमाह—तदवगमः इति, शब्दबोधार्थावगमयत्वार्थं। (प्रदीपम) प्रकरणाधीनः, प्रकरणविशेषवक्तृवाक्यवाच्यसम्बन्धस्य एतत्सिद्धे शब्दार्थायत्ततात् प्रकरणादिसापेक्षत्वात् अतिशय शब्दार्थाधीनत्वात् प्रत्यर्थेन शब्देन वाचकेन भवे तस्य अपि तदोपयोगितादिति व्यञ्जित दृश्यते।

इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाधः ; तत्कथमत्र लक्षणा ? (A)लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम् ।(B)यथा च समयसव्यपेक्षा अभिधा तथा मुख्यार्थबाधादित्रय-

---

नास्तीत्याह—अत्ता एत्थेति ।

श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवस एव प्रलोकय ।
मा पथिक रात्र्यन्धक शय्यायामावयोर्निमङ्क्ष्यसि ॥ इति संस्कृतम् ।

रात्र्यन्धत्वेन कथितात्मानं कृतावासं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । अत्ता श्वश्र्वां देशी । निमज्जति शय्यानिमग्ना मृतप्राया तिष्ठतीत्यर्थः । अत्राहमिति निष्क्रियनिर्देशात् आत्मनोऽतथाभूतत्वं सूचितम् । [1]अत्र निषेधस्य मुख्यार्थस्य बाधो नास्ति । न च स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यान्निषेधस्य बाध एवेति वाच्यम्, उभयशय्याप्रवेशनिषेधस्यैव वाच्यत्वेन तस्याबाधादेव'* । प्रतिपादितमिति, 'यस्य प्रतीतिमाधातु'मित्यादिनेत्यर्थः । लक्षणाव्यञ्जनयोरन्यदपि (C)वैधर्म्यमाह—यथा चेति । लक्षणायाः शक्तिरूपसमयविशेषसापेक्षत्वं बाधप्रतियोगितया मुख्यार्थोपस्थित्यर्थम् ।

अत्र 'शपित्र' वा इत्यत्र, "मईत्र" इति निपातोऽनेकार्थवृत्ति, अत्र 'आवयो'रित्यर्थं न तु ममेति, एवं हि विशेषवचनमेव शङ्काकारि भवेदिति प्रच्छन्नाभ्युपगमो न स्यात् । काचित् प्रोषितपतिकां तरुणीमवलोक्य प्रवृद्धमदनाङ्कुरः सम्पन्नः पान्थोऽनेन निषेधद्वारेण तयाऽभ्युपगत इति निषेधाभावोऽत्र विधिः, न तु निमन्त्रणरूपोऽप्रकृतप्रवर्तनाय सौभाग्याभिमानखण्डनाप्रसङ्गात् । अत एव रात्र्यन्धेति, मनुचितसमयसम्भाव्यमानविकाराकुलितत्व ध्वनितम्" इति व्याचक्षते । एतेन 'निपदो णुमज' इति क्रमदीश्वरसूत्रानुसारेण 'णुमज्जिहिसि' इति पर्यन्ते पठित्वा 'निपत्स्यसि' इति 'निमज्जइ' इत्यत्र 'निषीदति' इति च महेशचन्द्रन्यायरत्नानामनुवादो भोपादेयः प्राचीनमतविरुद्धत्वात्, निपूर्वमस्जिना व्यङ्ग्यस्यार्थस्य विपूर्वसदिनालाभात् 'निमज्जइ' इत्यत्र तत्सूत्रानुसाराभावाच्च । अत्र अत्ताशब्दः अक्काज्जुआदिवत् मातृवाचक एव इदानीन्तनव्यवहारवत् प्राचीनेऽपि काले श्वशुरपक्षे व्याहृत इति अत्ता इत्यस्य श्वश्रूरित्यनुवादे बीजं न वेति भाषातत्त्वविदा विचार्यम् ।

(A) ननु कलिन्दे गच्छन्तीत्यादावनुरोधात् तात्पर्यबाध एव मुख्यार्थबाध इत्यनेन विवक्षणीयः, तथा च प्रकृते स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वादस्त्येव मुख्यार्थबाध इत्यत आह—लक्षणायामपीति ।

(B) व्यङ्ग्यार्थबोधे अभिधाया व्यापारत्वनिरसनन्याय लक्षणापक्षनिरासेऽपि योजयति यथा चेति ।

(C) तथा च मुख्यार्थबाधादित्रय-समयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा व्यञ्जना तु नैवमिति स्फुटं वैधर्म्यमिति भावः ।

---

1 'अत्र मुख्यार्थस्य शय्याप्रवेशनिषेधस्य न बाधः स्वशय्याप्रवेशे तात्पर्यसत्त्वात् निषेधस्य ऽप्युभयशय्याप्रवेशनिषेधस्याबाधादेव' च ।

समयविशेषसव्यपेक्षा लक्षणा। अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहुः।

न च लक्षणात्मकमेव ध्वननं तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। (A न च तदनुगतमेव, अभिधावलम्बनेनापि तस्य भावात्; न चोभयानुसार्येव, अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टेः; न च शब्दानुसार्येव, अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धेरिति अभिधा-तात्पर्य लक्षणात्मकव्यापारत्रयातिवर्ती ध्वननादिपर्यायो व्यापारोऽनपह्नवनीय एव।

(Bतत्र 'अत्ता एत्थ' इत्यादौ नियतसम्बन्धः, 'कस्स ण व होइ रोसो' इत्यादौ अनियतसम्बन्धः;

'तदनुगमेन' लक्षणापश्चाद्भावेन, 'तस्य' ध्वननस्य। ननु लक्षणैव शीघ्रतरीभूता ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च तदन्विति। ननु तत्रापि शीघ्रतरीभूता अभिधैव ध्वननमस्त्वित्यत आह—न च उभयेति। ननु वर्णघटितपदाभिधैव तत्राप्यस्त्वित्यत आह—न च शब्देति। 'नियतसम्बन्धादिकं यदुक्तं तद्विषयं'* दर्शयति—तत्र अत्तेति। शय्याप्रवेशाप्रवेशयोर्व्यङ्ग्यवाच्ययोर्भावाभावरूपत्वेन प्रतियोग्यनुयोगिभावरूपसम्बन्धोपस्थितिनियमादिति भावः। कस्स ण वेत्यादाविति प्रतारणं व्यङ्ग्यार्थः, सभ्रमरपद्माघ्राणञ्च वाच्यार्थः, तत्कथनजन्यत्वञ्च प्रतारणे तत्सम्बन्धः,

---

(A) न चेति। न च ध्वननं तदनुगतं लक्षणानुगतमेवेत्यर्थः एवकारव्यवच्छेद्यमाह—अभिधेति। एतदुक्तं भवति व्यञ्जनाया कचिदभिधामूलतया सर्वत्र शीघ्रतरीभूतलक्षणात्मकता न सम्भवति तत्र लक्षणाया अभावात्। तथा च अवाङ्मङ्गस्थाने 'ङ'काराणां केवलानामवाचकत्वेऽपि अस्ति गुणव्यञ्जकत्वम्, नात्राभिधाया लक्षणाया वा सम्बन्धोऽपीति स्वीकार्यैवातिरिक्ता व्यञ्जनेति भावः। टीकाया व्याख्यानमेतत्।

(B) यदुक्तं प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविशेषवशात् नियतसम्बन्धोऽनियतसम्बन्धः सम्बद्धसम्बन्धश्चेति तदुदाहरणमाह—तत्रेति। नियतसम्बन्धः 'अत्ता एत्थ' इत्यत्र स्पष्टः। अनियतसम्बन्धः 'कस्स ण व' इत्यत्र। तथाहि—अत्र वाच्यार्थः अधरव्रणं, पतिबोध्यव्यङ्ग्यार्थश्च नेयं व्यभिचारिणीत्येवंरूपः, तत्र स्वज्ञानाधीनासूयाविषयप्रतियोगिकत्वं वाच्यार्थस्य सम्बन्धः व्यभिचारित्वाभावरूपव्यङ्ग्यार्थप्रतियोगिनि व्यभिचारे अधरव्रणज्ञानाधीनासूयाविषयत्वमरवात्, एवं मा पुनरेवं दाहशी रिति निवृत्तिविषयक उपनायकबोध्यो व्यङ्ग्यार्थः, तत्र च स्वज्ञानप्रयोज्यभ्रमोत्पादाधीनरक्षाविषयवृत्तित्वज्ञानोत्पादकक्रियावधिकत्वं सभ्रमरपद्मा

---

१ 'नियतसम्बन्धादिकस्य विषयं' क ख।

विपरीअरए लच्छी बम्हं दट्ठूण णाहिकमलट्ठं ।
हरिणो दाहिणणअणं रसाउला झत्ति ढक्केइ ॥ १३७ ॥

तस्य च न नियमत उपस्थितिः तत्कथनजन्यत्वानुपस्थितावपीयं प्रतारयतीति बोधोदयात् (A)। चक्रवर्ती तु अनियतसम्बन्धं विभिन्नबोद्धृकत्वम्, व्यङ्ग्यवाच्ययोर्बोद्धो (B)कान्ताकान्तयोर्विभिन्नत्वात्; लक्ष्यार्थे तु तन्नास्ति [1]तद्बोद्धुरेव वाच्यबोद्धृत्वादिति व्याचष्टे, तन्न, विभिन्नबोद्धृकत्वं यदि वाच्यार्थाबोद्धृबोध्यत्वं तदा प्रकृतेऽपि तन्नास्ति कान्ताया उभयबोद्धृत्वात्[2]। [3]न च वाच्यार्थबोधः शाब्दो विवक्षितः कान्तायास्तु बाधावतारात् न शाब्दो वाच्यार्थबोध इति वाच्यं लक्ष्यार्थबोद्धुरपि बाधात् शाब्दवाच्यार्थबोधाभावेन तुल्यत्वात्[3]*। यदि तु स्वाबोद्धृबोध्यवाच्यकत्वं [4]तत्, तदा लक्ष्यार्थेऽपि तदस्ति[4]* अनवतीर्णबाधेन पुरुषेण वाच्यार्थस्यैव बुद्धत्वादित्यतस्ततो वैलक्षण्याभावात्[4]*। विपरीअ इति—

प्रागरूपस्य वा वाच्यार्थस्य सम्बन्धः, सम्भ्रमरूपप्राप्तज्ञानेन हि व्यभिचारशङ्काभिभूता नायिका परित्राता, तद्वृत्ति ढक्कोत्पादकक्रिया प्रकटनकारकर्तृत्वादि सम्बन्धिका नियतिश्च व्यापारोपविष्टा। एवं प्रतिपाद्यभेदेन अन्येष्वपि प्रदर्शितेषु व्यङ्ग्यार्थेषु यथास्वं वाच्यार्थसम्बन्धा ऊहनीयाः। तथा च लक्षणास्थले लक्ष्यार्थे वाच्यार्थस्य सम्बन्ध एकविध एव, सोऽपि प्रसिद्धः, व्यञ्जनास्थले च प्रतिपाद्यादिभेदेन भिन्ने व्यङ्ग्यार्थे वाच्यार्थसम्बन्धः प्रत्येकं दूरविभिन्नः अतिपरम्परात्वेनाप्रसिद्धश्च तथाऽपि न नेयार्थलक्षणवद् वैरस्यमावहति प्रत्युत सकलसहृदयानन्दपरम्परामुत्पादयतीति सम्बन्धस्य पृथग्विधत्वादुक्त्यमेव अनियतत्वमिति अत्र अनियतसम्बन्धः। एवं च दुरपह्नवं लक्ष्यव्यङ्ग्ययोर्मिथो वैलक्षण्यम्। तद्वैलक्षण्याच्च तद्बोधकयोर्लक्षणाव्यञ्जनयोरपि भेदो दुर्वारः। सम्बद्धसम्बन्ध इति, बहुव्रीहिणा सम्बद्धसम्बन्धाश्रय इत्यर्थः, तथाच वाच्यस्य हरिपदार्थस्य सूर्ये व्यङ्ग्ये स्वावयवाभेदः सम्बन्धः, एवं वाच्यसम्बद्धस्य सूर्यस्य स्वादर्शनव्याप्यत्वम् अस्तमयात्मकसन्ध्याकाले व्यङ्ग्ये सम्बन्धः, तत्काल वाच्यार्थसम्बद्धसम्बद्धः। एवमुत्तरोत्तरं बोध्यम्। अनियतसम्बन्धपदस्य व्याख्यान्तराणि तद्दूषणानि च प्रदीपे द्रष्टव्यानि।

(A) अत्र प्रतारणरूपो व्यङ्ग्यार्थः उपनायकदृष्टापरतन्नायिकाबोध्य इति बोध्यम्।
(B) अत्रैकशेषाभावश्चिन्त्यः ।

1 'यत्र यत्र(त्र ?)वाच्यार्थबोद्धृकत्वादित्यादि—तत्र वाच्यार्थबोद्धृबोध्यत्वरूपस्य विभिन्नबोद्धृकत्वस्य प्रकृतेऽप्यभावात् कान्ताया उभयबोद्धृत्वात्, स्वाबोद्धृबोध्यवाच(च्य ?)कत्वस्य तु लक्ष्यार्थेऽपि सत्त्वेन ततो वैलक्षण्याभावात् च इ(यत्र ?)नीर्णबाधस्य पुंसो वाच्यार्थमात्रबोधात्' क। 2 'यत' पर ख-पुस्तके 'वाच्यार्थानवगतबाधबोधादेव तस्य (तस्या ?) व्यङ्ग्यबोधात्' इति अधिकं दृश्यते। 3 पद्यमिदं ख पुस्तके नास्ति। 4 'प्रकृते च तदबोद्धृवाच्यबोध्यवाच(च्य ?)कत्वादिति यदा लक्ष्यार्थेऽपि तदस्ति' ख।

इत्यादौ सम्बद्धसम्बन्धः। अत्र हि हरिपदेन दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकता व्यज्यते, तन्निमीलनेन सूर्यास्तमयः, तेन पद्मस्य सङ्कोचः, ततो ब्रह्मणः स्थगनम्, तत्र सति गोप्याङ्गस्यादर्शनेन अनिर्यन्त्रणं निधुवनविलसितमिति।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च

विपरीतरते लक्ष्मीर्ब्रह्माणं दृष्ट्वा नाभिकमलस्थम्।
हरेर्दक्षिणनयनं रसाकुला झटिति ढौकते॥ इति संस्कृतम्।

ढौकते (A) आच्छादयति। प्रकृतरते हरेर्भुजत्वेन नाभिकमले ब्रह्मणः स्थित्यसम्भवाद्विपरीतेत्युक्तम्। रसाकुलत्वेन व्रीडयाऽपि न रतित्याग इति सूचितम्। दक्षिणनयनढौकनबीजं स्वयमेव व्याचष्टे—अत्र हि हरिपदेनेति। सूर्यात्मकता च पुराणसिद्धा(B)। तन्निमीलनेनेति, अत्र निमीलनअन्यस्य सम्बन्धः, एवमुत्तरोत्तरमपि बोध्यम्।

ननु शब्दाधीनप्रतीतिको योऽर्थः स शक्यलक्ष्यान्यतर एवेति व्याप्तेः [1]संसर्गे व्यभिचारस्य नैयायिकमीमांसकमतयोः सम्भवेऽपि वैदान्तिकमते तदसम्भव इत्याशङ्क्ते[2]—अखण्डेति। अत्र अथाखण्डेति क्वचित् पाठः प्रामादिक एव समाधाने प्रश्नोत्तरभावाभावात्। (C)'अखण्डबुद्धिः' 'प्रकारीभूतपृथक्सकलपदार्थ'[3]विषयिका बुद्धिः।

(A) यद्यपि ढौकिर्गमनार्थे पठितस्तथाऽपि धातूनामनेकार्थत्वादाच्छादनेऽपि वर्तते। तथाच शाकुन्तले तृतीयेऽङ्के 'असन्दीसे उण किं कोदि' इति शकुन्तलायोक्ते 'ढुक्क' इति राज्ञ उत्तरात् पर 'इति व्यवसित। शकु—चक्खू ढौकते' इति बहुदेशीयमुद्रितपुस्तकेषु दृश्यते। टीकाकारास्तु 'ढक्कइ' इत्यस्य 'स्थगयति' इत्यनुवाद चकु।

(B) 'चन्द्रसूर्यात्मके विष्णोः चक्षुषी वामदक्षिणे' इति विष्णुधर्मे पुराणवचनम्।

(C) अखण्डबुद्धिरिति। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानाऽस्ति किंचन' इत्यादि वाक्यमनुत्था बुद्धिरखण्डबुद्धिः। तथाच—

अविनिष्टपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्।
एकं वेदान्तनिष्णातास्त्वखण्डं प्रपेदिरे॥

इति सुधासागरकारादीनां व्याख्यानम्। प्रकारसंसर्गावगाहिनी ब्रह्मविषयिणी बुद्धि-

---

1 'नैयायिकमीमांसकमतयोः संसर्गे व्यभिचारः सम्भवन्नपि न वैदान्तिकमते' तन्मते ब्रह्माभिन्नानां समस्तपदार्थानामखण्डवाक्येन शब्देन बोधनात् संसर्गस्यापि अखण्डत्वादिनाश ...। 2 क ख ग पुस्तकेषु 'आशङ्क्ते'ति न दृश्यते। 3 'विषयिका' क।

वाचकम्(A) इति येऽप्याहुः, तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना

(A)वाक्यार्थ एवार्थ इति, तथाच वाक्यार्थान्तर्गतः संसर्गोऽपि वाच्य एवेति न तत्र व्यभिचार इति भावः*। समाधत्ते—तैरपीति, ब्रह्माद्वैतग्राहिणामेव तादृशी बुद्धिः,

---

*खण्डबुद्धिरिति च वयोऽपि ब्रुवन्ति। यद्यपि एतदनुसारेण 'ब्रह्माभिन्नसमस्तकल्पदार्थविषयैका बुद्धिः' इति टीकाकृताम् अखण्डबुद्धिपदव्याख्यानं प्रथमतो विपरीतमिव प्रतिभाति तथाऽपि 'एवं घटमानयेत्यादौ घटकर्मत्वादेः पृथगुपस्थितस्य वैशिष्ट्यविषया बुद्धिः सखण्डा, अपृथगुपस्थितयोर्वैशिष्ट्यविषया भखण्डा बुद्धिः' इत्युदाहृतग्रन्थदर्शनेन तत्र प्रमेयमित्याद्याकारेण प्रपञ्चविषयिणी बुद्धिरपि अखण्डबुद्धिपदवाच्या भवतीति मात्र दोषावसर। एतेन 'अखण्डबुद्धि-' व्याख्यानार्थं प्रथमतो ब्रह्माभिन्नेत्यादिरूपेण सखण्डबुद्धिरेव व्याख्याता, ततश्च तद्भिन्नलक्षणा बुद्धिरखण्डबुद्धिरिति टीकाकृतामभिप्राय, टीकायां 'अखण्डबुद्धि' इति तु 'सखण्डबुद्धि' इति लिखितव्ये लिपिकरप्रमादादागतमिति केचाञ्चिन् कल्पना चिन्त्या।

(A) अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यो वाक्यमेव च वाचकमिति। ग्रन्थोऽयं दुर्बोध, टीकाऽपि क्वचिद्विपरीतेव प्रतिभातीति मतमस्यास्य सुखबोधार्थं प्रमाणहित प्रदीप उद्धियते—

'वेदान्तिनस्तु—क्रियाकारकादिपुरस्कारेण शब्दानां प्रवृत्तिर्धर्मधर्मिभावमपुरस्कृत्य न सम्भवति। धर्मधर्मिभावश्च प्रपञ्चगोचरो वा स्यात् ब्रह्मगोचरो वा। नाऽऽद्य, प्रपञ्चस्य बाध्यत्वात्। नान्त्य, ब्रह्मणो धर्मशून्यत्वात्। अत पदपदार्थविभागमन्तरेणैव 'सत्यं विज्ञानम्' इत्यादि वाक्यमखण्डब्रह्मवाचकमित्याचक्षते। अतस्तन्मतानुसारेण प्रतीयमानेऽपि वाक्यस्य शक्तिरेवेत्यपि न वाच्यम्, यतो व्यवहारमार्गे तैरपि पदपदार्थकल्पनाऽवश्यमङ्गीकर्त्तव्या। व्यवहारे तेषां भट्टनयस्वीकारात्। यदि च पदपदार्थकल्पनाऽविद्याऽवस्थायामपि नाङ्गीक्रियते कुतस्तर्हि व्युत्पन्नाव्युत्पन्नविभाग ? वाक्यार्थ एव वाक्यस्य सर्वेसमहमाभिन्नयोरिति चेत्—न, वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेनाऽऽनन्त्याच्च तत्र सङ्केतग्रहस्याशक्यत्वात्, अविद्यामार्गातिरस्कारे च कथमखण्डयोरपि वाच्यवाचकभाव पारमार्थिकभेदाभावात्। तस्मात् तन्मतेऽपि मिथ्याविद्यैवंरूप एव'।

अस्याक्षरार्थस्तमिदं प्रभाकरः—क्रियाकारकादीति, आदिना तद्विशेषणानां संग्रह। पुरस्कारेण सद्योगद्वारेण, प्रवृत्ति वाक्यार्थबोधकता। धर्मेति, अपुरस्कृत्य अनादृत्य। कारकाणां क्रियाधर्मत्वस्य विशेषणानां भेत्यादीनां च कारकविशेषणत्वस्यावश्यकत्वात्। बाध्यत्वादिति, तथाच सत्यादि वाक्यं बाधितार्थकं स्यादिति भाव। धर्मशून्यत्वादिति, अद्वितीयेन (अद्वि-

कर्तव्यवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव।

ससारितादशायां तु पदपदार्थविभागोऽस्तीति तन्मतेऽपि संसर्गे व्यभिचार एवेति भाव। 'उक्तोदाहरण' निशेषेत्यादि।

तीयत्वेन ।) सत्यत्वादिधर्मशून्यत्वादित्यर्थ । इयं च तन्मते वाक्यमखण्डार्थवाचकमिति भ्रान्तस्य शङ्केति ज्ञेयम्, तैर्लक्षणाया एव स्वीकारात्। वस्तुतस्तु 'येऽप्याहु'रित्यादिवृत्तिग्रन्थो वाक्यस्फोटाङ्गीकर्तृ-वैयाकरणमताभिप्राय एव समञ्जस ।

यथाहु —ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थका ॥ इति।

अविद्यापदेत्यस्य च प्रक्रियादशापन्नैरित्यर्थ । तदप्युक्तं तैरेव—'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते' इति।

असत्यतया प्रक्रिया अविद्यापदेनोक्ता। तत्पदश्रवणाच्च वेदान्तिमतमुक्तमित्यभिमान इति ज्ञेयम्। इति।

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्य इति पक्षस्य टीकायां च चिह्नितपुस्तके स्थितं पाठान्तरम्—एतत्प्रभा-व्याख्यामस्यांशात साहाय्यमावहतीति अत्रैव यथास्थित समुद्ध्रियते—"अन्वय शक्तिव्युत्पत्तिभेद विचार तत्शाक्यवाक्यज्ञाने सत्येव, सदेव तु नास्ति। तथाहि वाक्यस्यैव प्रयोगयोग्यत्वेनाखण्ड-पदार्थ एवाखण्डवाक्यार्थ, [illegible] च व्यङ्ग्यत्वाभिमतपदार्थोऽपि भवति। पदार्थस्तु क्वचिन्नास्ति। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थका ॥ इति।

अस्यार्थ —ब्राह्मणसम्बन्धिनि कम्बले प्रतीयमाने यथा ब्राह्मणरूपोऽर्थो नास्ति तत्सम्बन्धित्व-विशिष्टकम्बलस्याखण्डस्य प्रतीते, तथा देवदत्तो गच्छतीति वाक्ये देवदत्तसम्बन्धिगमनस्या-खण्डस्य प्रतीते खण्डभूता देवदत्तादयोऽनर्थकास्तदर्थभिन्ना एव स्युरित्येतद्वैयाकरणमत-माशङ्कते—अखण्डेति। समाधत्ते—तैरपीति, अन्यथा घटमानयेति वाक्ये एव व्युत्पन्नस्य आनय घटमिति वाक्यात्तदर्थबोधो न स्यादिति भाव। एवं च पदपदार्थकल्पनावशादेवापदार्थभूतस्य व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्यार्थात् पृथक्त्वे व्यञ्जनाऽपि पृथगिति भाव। एवं च पदार्थकल्पनाद्वैतदर्शिना तत्त्वज्ञानिनां नास्ति पदपदार्थयोरपि ब्रह्माभिन्नत्वेन तैरवगतत्वादित्याह अविद्यापदपतितैरिति। अविद्या द्वैतबुद्धिहेतु मिथ्या वासना" इति।

(A) वाक्यार्थ एवार्थ इति। इदं 'वाक्यार्थ एवार्थ' इति वृत्तिपाठाभिप्रायेण। अर्थ इत्यस्य वाच्यार्थ इति व्याख्या। ग पुस्तके तु 'वाक्यार्थ एवैकार्थ' इत्येवं वृत्तिग्रन्थो दृश्य ।

(A)ननु वाच्यादसम्बद्धं तावन्न प्रतीयते, यतः कुतश्चिद् यस्य-

'व्यङ्ग्यार्थोऽनुमितिगम्य एवेति नैयायिकमतमुत्थापयितुं वाच्यार्थे पक्षे व्यङ्ग्यार्थस्य साध्यस्य बाधनिरासिकां भूमिकामाह—वाच्यादसम्बद्धमिति। 'अप्रतिबन्धे'

इत्यस्माभिस्तु सुगमतया मुद्रितबहुपुस्तकानुसारी पाठो गृहीतः। क्वचित्तु 'वाच्य' इत्यत्र 'वाच्यार्थे' इति पाठान्तरमुपलभ्यते।

(A) पक्षोऽयं प्रदीपे स्फुटतरीकृतः तेन वृत्तिग्रन्थस्यापि क्वचित् दुर्बोधता सम्भाव्यते तदर्थं हेतोरसिद्धताप्रतिपादनपर्यन्तस्तद्ग्रन्थ उद्धृयते। 'महिमभट्टस्तु—न खल्वसम्बद्ध एव वाच्यात् प्रतीयते, सर्वस्मात् सर्वोपलब्धिप्रसङ्गात्। संबन्धश्च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो भवताभिमतस्तत्प्रतीतिप्रतिबद्धत्वादेव प्रतीत्युपेयम्। प्रतिबद्धोऽप्यर्थो न स्वाधिकरणत्वेनाज्ञातो व्यङ्ग्यं प्रतिपादयति, सर्वत्र तत्प्रतीतिप्रसङ्गात्। एवं च व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽनुमेयानुमापकभाव एव पर्यवसन्नः। यतो व्याप्तत्वेन पक्षधर्मत्वेन च सपक्षसत्त्व-विपक्षासत्त्व-पक्षसत्त्वलक्षणरूपत्रयवतो लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमेवानुमानम्। तदेतदुक्तमनुमानं यत्त्रिरूप इति तेनानुमानेनानुमित्या गम्यते न त्वतिरिक्तया व्यक्त्येति हि तत्त्वार्थः। एवमनुमानादेव व्यङ्ग्यप्रतीतिः। तथा हि—

भम धम्मिअ०।

सङ्केतनिकेतनीभूते गोदावरीतीरनिकुञ्जे पुष्पावचयादिहेतोः कदाचित् संचरतो धार्मिकस्य तन्निवारणायाभिनयवत्या इयमुक्तिः। तत्र निकुञ्जवासिसिंहकृतया श्वनिवृत्त्या गृहे भ्रमणविधिर्योग्य, स एव निकुञ्जभ्रमणायोग्यतानुमित्यै प्रभवति, यद्भयभीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्, निकुञ्जे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धौ पर्यवसानात् भ्रमणस्य व्यापिका भयकारणाभावोपलब्धिः प्रतीता, तद्विरुद्धं भयकारणं तदुपलम्भे, यथा नात्र तुषारस्पर्शो वह्नेः। अनुमानं च—इदं गोदावरीनिकुञ्जं भयभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वादिति।

अत्रोच्यते—भयभीरोः अभीरुस्वभावस्य भ्रमणायोग्यत्वमत्र साध्यं भीरुस्वभावस्य वा, विशेषौदासीन्येन सामान्यस्यैव वा? आद्ये व्यभिचारः, प्रभोर्गुरोर्वा निदेशेन प्रियानु-

कस्यचिदर्थस्य प्रतीतेः प्रसङ्गात् एवञ्च (A)सम्बन्धाद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽप्रतिबन्धेऽवश्यं न भवतीति (B)व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानं यत् तद्रूपः पर्यवस्यति। तथा हि—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण(C) ॥ १३८ ॥

असम्बन्धे, 'अशम्य' सर्वथा। व्याप्तत्वेनेति साध्याभाववद्वृत्तित्वेनेत्यर्थः। तेन विपक्षावृत्तित्वमेकं रूपं दर्शितम्। अन्यत् रूपद्वयमाह—नियतेति, साध्यवत्त्वेन नियतौ यौ धर्मिणौ पक्षसपक्षौ तन्निष्ठत्वेनेत्यर्थः। तथाच पक्षसपक्षवृत्तित्व विपक्षावृत्तित्वात्मकरूपत्रयवतो लिङ्गादित्यर्थः। "लिङ्गिनि' पक्षे, 'ज्ञान' साध्यस्य 'अनुमानम्' अनुमिति, 'तद्रूप' व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यन्वयः"²। "तदनतिरिक्त इत्यर्थः"³। तदेव उदाहरणेन दर्शयति—भम धम्मिअ इति।

शब्दा निश्चितासादिशङ्कया वा साक्षाद्व्याप्ति यत्र प्रमाणदर्शनात्। अत एव नान्योऽपि। मध्यमे तु विरोध, स्पर्शादिशङ्कयाऽपौरुषेयतया वा भवतो विप्लवोऽपि रागादिकृतदोषेन सिंहबोधे भीरुत्व प्रमाणात्। किञ्च, पक्षे सिंहसद्भावो न मानान्तरेणावधारित, किन्तु पुंश्चली वाक्यादवधारित, न च तद्वचनं विश्वासकम्, अर्थेन सार्धं सम्बन्धानियमात्, इत्यनिश्चय रूपाऽसिद्धि' इति।

(A) सम्बन्धादित्यनन्तर "भवति"ति पूरणीयम्। तेन सम्बन्धाद् भवन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव अप्रतिबन्धे व्याप्तिरूपसम्बन्धाभावे न भवतीत्यर्थः।

(B) व्याप्तत्वेनेति। साध्याभाववद्वृत्तित्वविशिष्टं साध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्ति, एतेन हेतो विपक्षासत्त्वसपक्षसत्त्वयोर्लाभ। नियतधर्मी इत्यधिकरणतया ज्ञातो धर्मी, तन्निष्ठत्वेन पक्षवृत्तित्वलाभ। तेन लिङ्गं रूपत्रयोपेतं भवतीति अनुमित्युपयोग इति भाव।

(C) भमेति।

भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरीनदीकूलकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥

इत्यनूद्य व्याख्यातमिदमाचार्याभिनवगुप्तपादै —कस्याश्चित् सङ्केतस्थानं जीवितसर्वस्वायमान

1 'सीअहो' इति पाठे विश्रब्ध व्याख्यात। 2 'लिङ्गिन साध्यस्य ज्ञान तदेव च अनुमानमनुमिति, तद्रूपो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव इत्यर्थः' इति कल्पतरौ पाठ। 3 'तथै वप वसीधि विवक्ष अनुमानस्वरूप इत्यर्थः' म।

अत्र गृहे श्वनिवृत्त्या भ्रमणं विहितं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धे-रभ्रमणमनुमापयति। यद् यद् भीरुभ्रमणं तत्तद्भयकारणनिवृत्त्युप-

---

भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स श्वा अद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन॥ इति संस्कृतम्।

अभ्रमणार्था कुलटाया गोदावरीसन्निहितकुञ्जरूपे सङ्केतस्थाने प्रतिदिनं पुष्पाव-चयेन सङ्केतभङ्गं कुर्वाणं स्वप्रेरितकुक्कुरोपद्रवेणाप्यनिवृत्तं धार्मिकं प्रति तस्या दिनान्तरे उक्तिरियम्। गोदावरीतीरे यो दिनान्तरे त्वामुद्वेजयति स श्वा अद्य सम्प्रति तेन प्रसिद्धेन गोदावरीसन्निहितकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन मारित इत्यन्वयः। (४)अभ्रमणमनुमापयतीति सिंहोपलब्धिरिति पाठे सैव कर्त्री। सिंहोपलब्धेरिति

धार्मिकनिवारणान्तरापदोषात् तदवलुन्यमानपल्लवकुसुमादिविच्छायीकरणाच्च परिभ्रमुमियमुक्तिः। तत्र स्वैरं निजमपि भ्रमणं (श्व)मरणेनापोहितमिति प्रतिप्रसवात्मको निषेधाभावस्य, न तु वि(नि?)योगमैत्रादिरूपोऽत्र विधिः। अतिसर्गप्राप्तकालयोश्चैव लोट्। . भ्रमेति। अनिषिद्धोऽपि(मि?) प्रास्तन्ते भ्रमणकाल। धार्मिकेति, कुसुमाद्युपकरणार्थं पुष्प ते भ्रमणम्। विस्रब्ध इति शङ्काकारणवैकल्यात्। स इति यस्ते भयप्रकम्पाम् अङ्गुलतिकामकृत। अद्येति, दिष्ट्या यद्येम इत्यर्थः। मारित इति, पुनरुत्थानानुत्थानम्। तेनेति, य पूर्वं कर्णोपकर्णिकया त्वयाऽप्याकर्णितो गोदावरीकच्छगहने प्रतिवसतीति। पूर्वमेव हि त्वदरक्षायै तत्त्वसंयोपभ्रावितोऽसौ, स चाधुना तु दृप्तत्वात्ततो गहनात् निःसरतीति प्रसिद्धगोदावरीतीरपरिसरानुसरणमपि तावत् कथाशेषीभूतं का कथा तल्लतागहनप्रवेशाशङ्काया इति भाव इति।

(४) इत आरभ्य (२७२) पृष्ठे हेतोरनन्यथावृत्तित्वादितिपर्यन्तं घ-पुस्तकपाठोऽत्यन्तं विभिन्नोऽपि विशेषार्थप्रतिपादक इति टिप्पण्यामेव उद्ध्रियते—

'इदञ्च वाक्यं सङ्केतस्थलस्य सिंहवत्त्वकथनात् तत्राभ्रमणव्यञ्जकम्, तच्चाभ्रमणमनुमानगम्य-मेवेत्याह—अत्रेति। विहितमित्यन्तं गोदावरीतीरदेशस्य पक्षस्य पक्षदर्शनपरम्। विहित-मित्यत्र कुलटयेति शेषः। सिंहोपलब्धेरिति हेतुप्रदर्शनम् अभ्रमणं भीरुधार्मिकस्य, सिंहोप-लब्धिरपि एतद्वाक्यजन्या तस्यैव, अनुमानं च एतद्वाक्यश्रोतृणां सामाजिकानाम्। अनुमापयती-त्यत्र सिंहोपलब्धिजनकमेतद्वाक्यमेव कर्त्तृ बोध्यम्। सिंहोपलब्धिरिति पाठे सिंहोपलब्धिरूप-हेतोरेव विवक्षावशात् कर्तृत्वं बोध्यम्। सिंहोपलब्धेश्च विषयतासम्बन्धेन पक्षवृत्तित्वं बोध्यम्। तथा चायं प्रयोगः—गोदावरीतीरदेशो भीरुधार्मिकेण अभ्रमणीयः तदीयसिंहोपलब्धेरिति। तेन अन्यदीयसिंहोपलब्धिसत्त्वे तद्भ्रमणसत्त्वेऽपि न व्यभिचारः। पक्षोऽत्र तदसिंहोपलब्धि-मत्त्वेन विशेषणीयः, तेन अन्यदा तद्भ्रमणसत्त्वेऽपि न बाधः, पक्षतावच्छेदकावच्छेदेन साध्यस्य

लब्धिपूर्वकम्, गोदावरीतीरे च सिंहोपलब्धिरिति व्यापकविरुद्धोपलब्धिः ।

पाठे कुलटाया वाक्यमेव कर्म् । अत्र च गोदावरीनदीनिकुञ्जः तद्भीरुभ्रमणीय तत्र तस्य सिंहोपलब्धेरिति सामाजिकानामनुमानम् । अभ्रमणञ्च उपलब्धिकाले बाध्यम्, तेन अन्यत्र भ्रमणेऽपि न बाधः । तत्र च एतादृशशब्दजन्योपलब्धिविशेष एव हेतुः स च विपक्षासम्बन्धेन पक्षमात्रवृत्तित्वाद् व्यतिरेकीत्यभिप्रायेण व्यतिरेकोदाहरणमाह—यद् यदिति । भीरोर्भ्रमण यत्रेति बहुव्रीहिणा 'भीरुभ्रमण' स्थानम्, तेन भीरोरभ्रमणरूपस्य साध्यस्य अभावेन भीरुभ्रमणेन विशिष्ट यद् यत् स्थानमित्यर्थः, तेन यद् यत् साध्याभाववदित्यर्थः । तद्भयकारणेति । भयकारणमत्र सिंहः तस्य निवृत्त्युपलब्धि उपलब्धिनिवृत्तिः राजदन्तादित्वमासात् । निवृत्तिरत्र अभाव एव, पूर्वकमित्यस्यापि विशिष्टमित्येवार्थः । तेन यद् यद् भीरुभ्रमणविशिष्ट स्थानं तत् सिंहोपलब्ध्यभावविशिष्टमित्युदाहरणार्थः । साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगिनं हेतुं पक्षे उपनयति—गोदावरीतीरे चेति । साध्याभावव्यापकाभावप्रतियोगित्व

बोधार्थः । सत्सिंहोपलब्धिरत्र शब्द(शब्द)जन्यैव सामाजिकैरवगतेति सैवात्र हेतुः । स च पक्षमात्रवृत्तित्वेन व्यतिरेकव्याप्तिमतो व्यतिरेकेणैवोदाहरणं प्रयुङ्क्ते यद् यदिति । भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरोर्भ्रमणं यत्रेति बहुव्रीहिणा भीरुभ्रमणवत्त्वोऽर्थः, तदभ्रमणस्य साध्यस्याभावानां भ्रमणानामधिकरणान्युक्तानि । तथा हेत्वभावाधिकरणत्वमाह—तदभ(इति) । भयकारणमत्र सिंह तस्य निवृत्त्युपलब्धिरुपलब्धिनिवृत्तिः, राजदन्तादित्व इव समासः पूर्वनिपातस्य व्याकरणानुशासितत्वात् । निवृत्तिरत्राभाव सिंहोपलब्धि अ(भ्य)भावो भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपदस्यार्थः विशिष्टयुक्तो विशेषस्य पूर्वनिपातस्तदनुसारात् पूर्वपदमत्र विशेषणार्थकम् बहुव्रीही च समासः । तथा च सिंहोपलब्ध्यभाववत्त्वं व्यापकमिति तदभावसिद्धिरनुमानम् । तथा च यत् यत् भीरुभ्रमणवत् तत् तत् सिंहोपलब्ध्यभाववदिति व्यतिरेकोदाहरणमुक्तम् । उपनयरूपमवयवं प्रयुङ्क्ते—गोदावरीतीरे चेति । सिंहोपलब्धेः साध्याभाव(व्यापकाभाव)प्रतियोगित्वं दर्शयति—व्यापकेति । व्यापकस्य साध्याभावव्यापकस्य अभावस्य विरोधी प्रतियोगिनी उपलब्धि सिंहोपलब्धिर्गोदावरीतीरे इत्यर्थः । सिंहोपलब्धेर्गोदावरीतीरवृत्तित्वमुक्त्वा तस्या व्यापकविरुद्धत्वं वाक्यान्तरेण कथितमिति न पौनरुक्त्यम् । भावगतेति । भीरुत्वाभिव्यक्तीत्यर्थः, अन्यभीरुभ्रमणस्य साध्याभावरूपत्वाभावात् । नियतानुरागेणेति सिद्धवद्गोदावरीतीरदेशप्रविष्टप्रियानुरागेणेत्यर्थः । अन्यत्र वर्तते सन्दिग्धव्यभिचारीत्यर्थः । अनैकान्तिक इति, पक्ष एव व्यभिचारीत्यर्थः ; क्वचिदपि शब्दे सिंहोपलब्धेरभावात्' इति ।

अत्रोच्यते। भीरुरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवंभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतुः। शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिंहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। गोदावरीतीरे सिंहसद्भावः प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चितः, अपि तु वचनात्; न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्य सिद्धश्च(A)। तत्कथमेवंविधाद्धेतोः साध्यसिद्धिः।

हेतोर्दर्शयति—व्यापकेति। व्यापकः साध्याभावस्य हेत्वभाव, तस्य विरुद्ध प्रतियोगिनी हेतुभूता उपलब्धि सिंहस्य पक्षेऽस्तीत्यर्थ। प्रियानुरागेणेति, सिंहयदेशप्रविष्टां प्रियामानेतुमित्यर्थ। 'अनैकान्तिक' व्यभिचारी, स च पक्ष एवेति बोध्यम्, हेतोरनन्यवृत्तित्वात्। विरुद्धोऽपीति, शुनो भीरुरपि यदि वीरस्तदा सिंहोपलब्धिमति गोदावरीतीरे अवश्यं भ्रमतीति साध्याभावस्य व्याप्य सिंहोपलब्धिरूपो हेतुर्विरुद्ध इत्यर्थं। अत्र चक्रवर्ती—'आम्यदेशे सिंहोपलब्धिरस्ति, न च भीरोस्तत्रभ्रमणमिति [1]साध्यसहचारी हेतुरयम्, न विरुद्ध, किन्तु व्यभिचारितो (व्यभिचरितो ?) व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको विरुद्ध इत्येवार्थं' इत्याह, तन्न, हेतोरस्य व्यतिरेकित्वे पक्षमात्रवृत्तित्वादन्यदेशे तदसम्भवात्, अन्यत्र तत्सत्त्वे व्यतिरेकित्वस्यैवासम्भवाच्च, व्यतिरेकिणो व्यभिचारित्वे विरुद्धत्वस्य सुतरां सिद्धत्वेन व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इत्यस्यार्थस्य अज्ञातकथनरूपत्वेन परिभाषितत्वाभावाच्च[1]। सन्दिग्धासिद्धिमपि दर्शयति—गोदावरीति। अपि तु वचना-

---

(A) 'अत्र गृहे' इत्यादे 'असिद्धश्च' इत्यन्तस्य ग्रन्थस्य यत्रभवन्ति प्राचीनै [illegible] व्याख्यानं न परितोषमुत्पादयन्, मदीयं तु प्राधान्येन इत्थम्। व्यङ्ग्यार्थबोधस्यानुमितित्वमस-

---

1 'चैनं। साध्यसहचारात् न विरुद्धत्वमितरथो व्यभिचारितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति पारिभाषिको विरुद्ध एवेत्याह, तन्न, [illegible] हेतुत्वेन तथाप्यदेशे [illegible] साध्यसहचार्येराभावात् अन्यथा व्यतिरेकित्वमेव तस्य न स्यात्, व्यभिचारस्य प्राग्दर्शितत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च। साध्यसहचाराद्विरुद्धत्वमितरथोऽव्यभिचरितो व्यतिरेकी विरुद्ध इति परिभाषितविरुद्ध एवेत्याह—तन्न, मम धम्मिय इत्यादि [illegible] हेतुत्वेन तस्य गोदावरीतीरमात्रवृत्ति(त्वे)रन्यदेशेऽभावात्, अन्यथात्र व्यतिरेकित्वस्यैवाभावेन परिभाषाविषयत्वाभावाद् व्यभिचारस्य प्राग्दर्शितत्वेन पौनरुक्त्यापत्तेश्च।

द्विति, भ्रमेत्यादिकुलटावचनादित्यर्थः । न च वचनस्येति, [1]'सन्दिग्धप्रामाण्यात् तद्वाक्याद् भीरो सिंहोपलब्धि पक्षे जाता न वेति अनुमातृसामाजिकानां सन्देहविषयो हेतुः सन्दिग्धासिद्ध इत्यर्थः'[1] । 'अप्रतिबन्धात्' असम्बन्धात् ।

खण्डनार्थं हि ग्रन्थकृतामयमुद्यम । तत्र भ्रमेत्यादिवाक्यात् प्रतिपाद्यपुरुषनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितिरूपत्वमनुपपाद्य पार्यन्तिकचमत्कारस्थानस्य सामाजिकनिष्ठस्य व्यङ्ग्यार्थबोधस्य अनुमितित्वोपपादनेऽपि प्रतिपाद्यपुरुषबोधो व्यञ्जनां विना न सम्भवतीति तदर्थं व्यञ्जनाया स्वीकार्यत्वेन पूर्वपक्षसमर्थनमनर्थकं स्यात्, एवं 'गृहे' इत्यादीनां केषाञ्चित् पदानां व्याख्यानमपि न सुघटतया प्रतिभातीति सद्ग्रन्थो यथामति अन्यथा व्याख्यायते । तथाहि—

भ्रम धार्मिकेतिवाक्यात् प्रतिपाद्यपुरुषस्य प्रथमम् 'अत्र भ्रमणमिष्टसाधनम्' इति वाच्यार्थज्ञानम्, ततः श्वनिवृत्तौ हेतुभूत यत् श्वमरणं तत्कारणानुसन्धानेन तत्र सिंहागमनज्ञानम्, ततः 'सिंहसञ्चरणस्थाने भ्रमणमनिष्टसाधन'मिति ज्ञानेन भ्रमणे इष्टोद्देश्यया नूनमयं मार्गतद्दुर्निवृत्तो भविष्यति, तथा च निष्प्रत्यूह आवयो समागम इत्याकूतवत्यानेतत्प्रतिपादिकाया 'शुनोऽपि भयमनुभवन्ती ससिंहेऽपि स्थाने भ्रमणोपदर्शनेन सिंहात् सम्भाव्यमानं गुरुतरमनिष्टं जानती अपरिहार्येयमिति क्रमपूर्वकं 'सर्वथा देवोऽद्य मम भ्रमणालयः' इति व्यङ्ग्यार्थबोध । तदनन्तरम् 'अहो गृहकुलटाया प्रतारणानैपुण्यं येनान्यथा असम्भावितवारणोऽपि वारित' इति व्यङ्ग्यार्थः सामाजिकैर्बोद्धव्य । वाक्यस्यास्यानां तु 'गृहे' इत्याद्यावृततया प्रच्छन्नत्वेन गृह्यमाणे सङ्केतस्थाने, 'श्वनिवृत्त्या' पुनः कदाऽपि पुनरागमनं न सम्भावितमिति ज्ञापनेन, 'विहित' कुसुमावचयनार्थमागमनं निष्प्रत्यूहमिति इष्टसाधनत्वेन बोधितं भ्रमणम् अप्रवृत्तमनुज्ञापयति' अस्मिन् स्थाने पुनरागमनं न अनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टसाधनताकम् इत्यनुमानं तद्धार्मिकस्य अनयतीत्यथ, पुनः आगमने सति भ्रमणे अनिष्टानुबन्धित्वज्ञानेन सविघृत्या भ्रमणे अनिष्टाननुबन्धित्वविशिष्टसाधनत्वज्ञानोत्पत्तौ बाधकाभावात् । भ्रमेति लोट्' प्राप्तोऽयमेवार्थं विहितमित्यनेन सूचित । एवञ्च एतद्देशो न भमानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणकः सिंहवत्तया ज्ञातत्वा दित्याकारकोऽत्र प्रयोग ।

अत्र साध्यहेत्वोर्व्याप्तिग्रहाभावेन तत्पुरुषस्य तथाऽनुमानमेव न सम्भवतीति व्यञ्जनावादिना मभिप्रायमाहुर् अनुमितिपक्षवादिनस्तदुपपादनपरो ग्रन्थो यद् यदित्यादि । यत्र यस्य भय कारणज्ञानं तत्र तस्य भ्रमणमनिष्टसाधनमिति प्रयोगे सिंहान्विते भयकारणज्ञानेऽपि वीराणां मृगयूणां तत्र भ्रमणस्येष्टसाधनत्वाद् व्यभिचार इति भीरुभ्रमणमित्यत्र भीरुपदं मृगयाशीलादि

[1] भीरुपदा तद्वाक्य प्रामाण्यस्य गृहीतत्वेन तस्य शाब्दी उपलब्धिर्जाता न वेति सन्देहात् पक्षे हेतु सन्दिग्धासिद्धिरिताय क भीरुपदा तत्प्रामाण्यानिश्चितत्वेन तस्योपलब्धिर्जाता न वेति सामाजिकानां सन्देहात् पक्षे हेतौ सन्दिग्धासिद्धिरिताय ग ।

तत्तद्व्यक्तिविरकम्। अतश्च एवंविधस्थले सामान्यव्याप्तेः प्रसिद्धत्वात् उदाहरणेन तामेव दर्शयति—यद् यदिति। अत्र सिंहज्ञानमात्रे भयकारणत्वज्ञानमौत्सर्गिकमित्यभिप्रायेण साध्यांशे भयकारणेति। तेन प्रकृतानुमितिहेतौ भयकारणत्वस्याघटकत्वेन तादृशोदाहरणमप्रासङ्गिकमित्याशङ्काया नावसर। एवञ्च यद् यत् स्थानं अवीरपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वेन सम्भावितभ्रमणकं तत्तद् भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यमिति स्थिते व्याप्तिशरीरे व्यापकस्य भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वस्य अभावेन व्याप्यस्य अवीरपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकसम्भावनाविषयभ्रमणकत्वस्य अभाव सिध्यति, व्यापकाभावेन व्याप्याभावसिद्धेः सर्वसम्मतत्वादित्यभिप्राय। तादृशव्यापकाभावस्य सिद्धिमेव दर्शयति—गोदावरीतीरे चेति। गोदावरीतीरकालिसिंहस्य अत्रोपलब्धिरिति तदर्थ। यथाश्रुते तु गोदावरीतीरं यदि सिंहोपलब्धिविशेष्य तदा एतत्स्थाने भ्रमणे न बाधकमिति बोध्यम्। एतद्देशस्यापि गोदावरीतीरत्वाभिप्राये तु यथाश्रुतमेव सम्यक्। व्यापकविरुद्धेति, भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्व व्यापकं तद्विरुद्ध भयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वमेव, तस्य उपलब्धे सद्धेतुस्थले तज्ज्ञानादित्यर्थ। ईदृशव्यापकविरुद्ध एव व्यापकाभावेन व्याप्याभावानुमाने व्यापकाभावत्वेन विवक्षित।

एतन्निरस्यति—अत्रोच्यत इति। गुरोरित्यादे अनैकान्तिको हेतुरित्यन्तस्य ग्रन्थस्य अयमभाव —यादृशे स्थाने भयकारणवत्तया ज्ञाते तत्र सञ्चारणे यदि गुरुनिर्देशादिस्तदा तदुल्लङ्घनादौ यादृशानिष्टसम्भावना, कथञ्चित् परित्राणस्यापि सम्भवेन सिंहादिभयकारणविशिष्टे भ्रमणं न तदपेक्षया अनिष्टानुबन्धीति औत्सर्गिकज्ञानेन, सिंहादिभयकारणवत्तया ज्ञाते यस्मिन् स्थाने भीरुपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपो हेतुरस्ति न तत्र भयकारणाभावप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूप साध्यमिति व्यभिचारेण निरुक्त साध्य न हेतोर्व्यापकम्, तथाच व्यापकाभावाद्व्याप्याभाव इति रीतेरत्रानुसरण दुरुपराहतमिति। ननु तादृशस्थले सिंहादभीतानां वीराणां भयकारणाभावप्रकारक यज्ज्ञानं तद्विशेष्यत्वरूपं साध्यमप्यस्तीत्यतो न व्यभिचार इति चेत्, तत्राह—शुन इति। अस्यायमभिप्राय, भीरुपुरुषीयानिष्टाननुबन्धीष्टसाधनभ्रमणकत्वरूपस्य हेतोर्गृहाङ्गणादौ सत्त्वेन तत्र वीरत्वेन सिंहादभीतानां वस्तुवैचित्र्याच्च शुनोऽपि भीतानाम् अशौचपिशाचाक्रान्तानां धार्मिकादीनां च भयकारणप्रकारकज्ञानविशेष्यत्वरूपस्य निरुक्तसाध्यविरुद्धधर्मस्य सत्त्वेन उक्तहेतो साध्यविरुद्धव्याप्तत्वरूप विरुद्धत्वमिति। अथ तथाप्युक्त विरुद्धत्वं न सङ्गच्छते, तथाहि उक्तहेतोरधिकरणमात्रे एव कस्यचिन् भयकारणाभावप्रकारकज्ञानसम्भवेन तद्विशेष्यत्वस्य तत्र सत्त्वाद् व्यभिचार एव न सम्भवति का कथा विरोधस्येति चेत्, तदुभयमपहाय असिद्धिरूप दोषान्तरमाह—गोदावरीतीरे सिंहसद्भाव इति। तद्ग्रन्थाशयस्तु—प्रतिपाद्यधार्मिकेण तावत् सद्धेतुस्थाने सिंहवत्तया ज्ञातत्वेन हेतुना अनिष्टसाधनभ्रमणकत्वमनुमाय ततो निवर्तितव्यम्, तस्य सिंहवत्ताज्ञानं तु शाब्दबोध, शाब्दबोधे अप्रामाण्यशङ्का तु तज्जनकशब्दे आप्तोक्तत्वानिश्चयेन भवति, गम्यस्त्रीप्रयुक्ते वचसि तु आप्तोक्तत्वनिश्चायका-

तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि, तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोग एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि। व्यक्तिवादिना च (A)अधमपदसहायानामेषां व्यञ्जकत्वमुक्तम्।

तथेति दूती उपनायकोपभुक्ता चन्दनच्यवनादिमत्त्वादित्यनुमाने व्यभिचार इत्यर्थः। न च चन्दनच्यवनादौ वैलक्षण्यविवक्षणात् न व्यभिचार इति वाच्यं शब्दात् तदनुपस्थितेः। नन्वीदृशात् ततः कथमुपभोगस्य व्यञ्जनाऽपीत्यत आह—व्यक्तिवादिना चेति व्यञ्जनावादिना चेत्यर्थः। अधमपदसहायानामिति दूतीत्वेनैवाधमत्वमित्यभिप्रायः। एतदपि दूतीप्रेषणकृतस्वकृतनायकाभिप्रायेणैवोक्तम्, तदन्यनायकपक्षे तु दूतीप्रेषणमपेक्षत्वेनाप्यधमत्वसम्भवात् न तत्सहायत्वबाधकम्।

भावेन तादृशबोधे अप्रामाण्यशङ्का औत्सर्गिकी। तथाच ज्ञानधर्मिकाप्रामाण्यसन्देहस्य विषयसंशयपर्यवसानवद् वचने आप्तोक्तत्वानिश्चयेन प्रतिपाद्यधर्मिकस्य सिद्धवत्तया ज्ञानमप्रामाण्यशङ्काकलङ्कितमिति मद्वृत्तान्तस्थानरूपः पक्षः अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितहेतुनिश्चय एव नास्तीति कथं तस्य एतत् स्थानं मम भ्रमणानर्हमित्यनुमिते सम्भव इति। अर्थनाप्रतिबन्धात् अर्थेन सह व्याप्यव्यापकभावरूपसम्बन्धविरहादित्यर्थः। एतेन प्रवृत्त्यौपयिकशाब्दबोधे वाक्यस्य आप्तोक्तत्वनिश्चयोऽपेक्षित इति सूचितम्।

अथ तथाऽपि अप्रामाण्यसन्देहकारणस्य तत्रानुपस्थितेरस्ति तस्य अप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दितहेतुज्ञानम्, ततश्चानुमितिर्निष्प्रत्यूहेति चेत्, एतदभ्यासेनैव निःशेषस्यादौ हेतोर्व्यभिचारप्रदर्शनमिति सुधीभिर्विभावनीयम्।

(A) अधमेति। अत्र दूतीप्रेषणसापेक्षतया यादृशमधमत्वं तदपेक्षया पूर्वकृतापराधमधमत्वस्य गरीयस्त्वं परिस्फुटमिति उभयसाधारणार्थप्रतिपादकं निःशेषच्युतेत्यादिपद्यापेक्षया अधमपदस्य प्राधान्येन सहायत्वमिति बोध्यम्। इदानीन्तनदूतीत्वेन प्राधान्यं तु प्रत्युक्तमधस्तात् (२९ पृष्ठे)।

न चात्र अधमत्वं प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्? एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशत इति व्यक्तिवादिनः पुनस्तद् अदूषणम्।

इति काव्यप्रकाशे ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णभेदनिर्णयो नाम पञ्चम उल्लास ॥५॥

नन्वेव मयाऽपि अधमसन्निहितप्रेषितत्वे सतीति हेतुविशेषणं देयमित्यत आह—न चेति, अत्रोष्यनिन्द्रियाऽध्यधमोक्तिसम्भवादिति भाव। ननु तथापि कथमेवं-विधादर्थादुपभोगप्रजनेत्यत आह—**एवंविधादिति**। 'उपपत्ति' अव्यभिचारादि। '**तददूषणमिति**, व्यञ्जनया प्रतिपादने अव्यभिचारादेरनपेक्षणादिति भाव'*।

इति श्रीमहेश्वरन्यायालङ्कारभट्टाचार्यकृते काव्यप्रकाशादर्शे गुणीभूतव्यङ्ग्यनिर्णयस्य पञ्चम प्रतिबिम्ब।

